

श्री. १०५ विप्रचन्दी प्रह्लादी

आर्यिका सुमतिमती दिगंबर जैन ग्रन्थमाला

प्रथम पुण्य

पूज्यपाद श्री देवसेनाचार्य विरचित

# भावसंग्रह



हिन्दी टीकाकार

पं. लालाराम शास्त्री

प्रकाशक

हिरालाल माणिकलाल गांधी, अध्यक्ष

आर्यिका सुमतिमती दिगंबर जैन ग्रन्थमाला

अकलूज (सोलापूर-महाराष्ट्र)

प्रस्तावनाकार

उपाध्याय मुनिश्री १०८ कनकनन्दि महाराज

वीर निर्वाण संवत्

इ. स.

वि. संवत्

२५१४

१९८०

२०४४

॥ श्री वर्धमानाय नमः ॥

## आचार्य श्री देवसेन का परिचय

श्रीमान् उद्भट विद्वान् दि० जैन वीतराग महर्षि आचार्य देवसेन भाव संग्रह के कर्ता महोदय का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

आचार्य देवसेन ने अपने बनाये हुए ग्रन्थ संग्रह में अपने विषय में यह लिखा है—

सिरि बिमलसेनगणहर सिस्सो णामेण देवसेणु त्ति ।  
अहुजणवोहुणत्थं तेणेयं विरइणं सुत्तं ॥

अर्थात् श्री बिमलसेन गणधर (गणी) के शिष्य देवसेन है। उन्हीं देवसेन आचार्य ने अज्ञ जनों को बोध कराने के लिये यह भाव संग्रह सूत्र ग्रन्थ रचा है उसमें भी उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

पुब्बारिय कथाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ ।  
सिरि देवसेण गणिणा धाराए संबसंतेण ॥ ४९ ॥  
रइओ वंसणसारो हारो भट्ठाण णवसए नयए ।  
सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे माहसुद्ध वसमीए ॥ ५० ॥

अर्थात् पूर्वाचार्यों की रची हुई गाथाओं को एक स्थान में संग्रह करके श्री देवसेन गणि ने धारा नगरी में निवास करते हुए पार्श्वनाथ भगवान् के मंदिर में माघ सुदी दशमी विक्रम संवत् ९९० में यह दर्शनसार ग्रन्थ रचा ।

इस उपर्युक्त कथन से दो बातें सिद्ध हो जाती हैं। एक तो यह कि आचार्य देवसेन स्वयं भी गणी थे अर्थात् गण के नायक थे और विक्रम संवत् ९९० में ये हुए हैं। इन्होंने अन्य अपने बनाये हुए ग्रन्थों में अपना परिचय नहीं दिया है। और न उन ग्रन्थों की रचना का समय बताया है।

यद्यपि इनके किसी ग्रन्थ में इस विषय का उल्लेख नहीं है कि किस संघ के आचार्य थे परन्तु दर्शन सार के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मूल संघ के आचार्य थे । दर्शनसार में उन्होंने काष्ठ सन्ध, द्राविड सन्ध, माथुर सन्ध और यापनीय संघ आदि सभी दिगम्बर सन्धों की उत्पत्ति बतलाई है और उन्हें मिथ्यात्वी कहा है । परन्तु मूल सन्ध के विषय में कुछ नहीं कहा है अर्थात् उनके विश्वास के अनुसार यही ( मूल सन्ध ) मूल से चला आया है और यही वास्तविक सन्ध है ।

### श्री देवसेन का आमनाय

श्री देवसेन गणि ने दर्शनसार की ४३ वीं गाथा में लिखा है कि—

अहं पउमणंविणाहो सीमंधरसामि देव्य णाणेण ।

ण वियोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

अर्थात् यदि आचार्य पद्मनंदि (कुंद कुंद स्वामी ) सिमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान के द्वारा बोध नहीं देते तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते । इस कथन से यह निश्चय हो जाता है कि आचार्य देवसेन गणि श्री कुंद कुंदआचार्य की आमनाय में थे ।

भाव सन्ग्रह में ( प्राकृत में ) जगह जगह दर्शन सार की अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं । और उनका उपयोग उन्होंने स्वनिर्मित गाथाओं की भाँति किया है । इस से इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता कि दर्शनसार और भावसन्ग्रह दोनों के कर्ता एक ही देवसेन हैं । इनके अतिरिक्त आराधनासार और तत्वसार नाम के ग्रन्थ भी इन्हीं देवसेन के बनाये हुए हैं ।

प० शिवलालजी ने इनके ' धर्म सन्ग्रह ' नामक एक और ग्रन्थ का उल्लेख किया है परन्तु वह अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है ।

नयचक्र के कर्ता भी श्री आचार्य देवसेन हैं परन्तु इस सम्बन्ध में

स्वामी विद्यानंद ने श्लोकवार्तिकालंकार में यह लिखा है कि नयों का वर्णन विशेष रूप में जानना हो तो नयचक्र को देखो । इससे यह जाना जाता है कि जिस नयचक्र को आचार्य देवसेन ने बनाया है उससे पहले और कोई नयचक्र था, उसी का उल्लेख स्वामी विद्यानंद ने किया है । जैसा कि नीचे लिखी बात से सिद्ध होता है—

माइल्ल धवल के बृहत् नयचक्र के अंत की एक गाथा जो बम्बई प्रति में पाई जाती है यदि ठीक हो तो उससे इस बात की पुष्टि होती है, वह गाथा इस प्रकार है—

द्रुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं जहा तिरं नट्टं ।

सिरि देवसेन मुणिणा तह नयचक्क पुणो रइयं ॥

इस गाथा का अभिप्राय यह है कि दुःषमकाल रूपी आंधी से जहाज के समान जो नयचक्र चिरकाल से नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनि ने फिर से रचा इससे विदित होता है कि देवसेन आचार्य के नयचक्र में पहले कोई नयचक्र था जो नष्ट हो गया था और बहुत संभव है कि देवसेन ने दूसरा नयचक्र बनाकर उसी का उद्धार किया हो ?

उपलब्ध ग्रंथों में नयचक्र नाम के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं और माणिक चन्द ग्रंथमाला में तीनों ही नयचक्र प्रकाशित हो चुके हैं । १— आलाप पद्धति, २— लघु नयचक्र, ३— बृहत् नयचक्र । इनमें पहला ग्रंथ—आलाप पद्धति संस्कृत में है और शेष दो प्राकृत में हैं ।

आलाप पद्धति के कर्ता भी देवसेन आचार्य हैं । डॉ० भांडार रिचर्स इन्स्टीट्यूट के पुस्तकालय में इस ग्रंथ की एक प्रति है उसके अंत में प्रति के लेखक ने लिखा है कि—

“ इति सुख बोधार्थं मालयपद्धतिः श्री देवसेन

चिरचिन्ता समाप्ता । इति श्री नयचक्रं सम्पूर्णम् ”

उक्त पुस्तकालय की सूची में भी यह नयचक्र नाम से ही दर्ज है । इसे नयचक्र भी कहते हैं और आलाप पद्धति भी कहते हैं । आलाप पद्धति के प्रारंभ में लिखा है कि आलाप पद्धति वचन रसनानुक्रमेण



नयचक्रयोपरि उच्यते । इसमें विदित होता है कि नयचक्र स ही आलाप पद्धति को संस्कृत रूप में किया गया है । और "देवसेन कृता" लिखा है अतः यह उन्ही देवसेन का रचा हुआ ग्रंथ है, यह सिद्ध है ।

### लघु नयचक्र

लघु नयचक्र श्री देवसेनाचार्य का बनाया हुआ है इस से पहले के कई नय विवेचक ग्रन्थों को देखकर आचार्य देवसेन ने इसका नाम लघु नयचक्र रखा है ऐसा विदित होता है ।

### आचार्य देवसेन की महत्ता और पूज्यता

द्रव्य-स्वभाव प्रकाश नामका एक सुन्दर ग्रंथ है उसकी गाथा रूपमें रचना माइल्ल धवल ने की है । ये माइल्ल धवल भी महा विद्वान् प्रतिष्ठित होते हैं । उन्होंने उक्त अपने " द्रव्यसहाय पद्याम् " नामक ग्रन्थ में लिखा है कि श्री देवसेन योगी के चरणों के प्रसाद से यह ग्रंथ बनाया गया । इस में स्पष्ट सिद्ध है कि आचार्य देवसेन मूलसंघ के एक महान योगी और महान विद्वान् थे । और मुनिगण तथा आचार्यों द्वारा पूज्य थे । नयचक्र के अंत में यह गाथा मिलती है—

सियसद् सुणय दुणय वणु देह विहारणेक्क वरवीरं ।

तं देवसेण देवं नयचक्कयरं गुहं जमह् ॥ ४२१ ॥

अर्थात् स्यात् शब्द सुनय द्वारा दुर्नय शरीर घारी दानव के विदारण करने में महान वीर जो नयचक्र के कर्ता आचार्य देवसेन देव है उन देवसेन गुह को नमस्कार करो ।

उपर्युक्त सभी कथन में यह बात सिद्ध हो जाती है कि आचार्य देवसेन गणी एक महान उद्भट विद्वान् आचार्य हुए हैं वे दशमी शताब्दि में हुए हैं और आचार्यवर्य कुंद कुंद स्वामी की आम्नाय मूलसंघ के आचार्य थे । ये आचार्य विमलसेन गणी के शिष्य थे । और वे स्वयं अनेक मुनियों के नामक गणी हुए हैं । आचार्य देवसेन ने भावसंग्रह महान ग्रंथ जो गंभीर एवं सूक्ष्म तत्त्वों से भरा हुआ है बनाया है इसके

सिवा उन्होंने आलाप पद्धति, दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नय-चक्र आदि सिद्धांत के महान ग्रंथों की रचना की है। श्लोक वार्तिक में आचार्य विद्यानन्दि ने जिन नयों का वर्णन किया है वह वर्णन पुरातन नयचक्र से मिलता है जिसके नष्ट होने पर आचार्य देवसेन ने लघु नय-चक्र रचा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि आचार्य देवसेन आचार्य विद्यानन्दि के परचात हुए प्रतिन होते हैं। इन आचार्य देवसेन की भगवत्कुंद कुंद आचार्य में दृढ़ श्रद्धा थी इस बात का उल्लेख उन्होंने दर्शनसार में किया है। उन्होंने मालवा प्रांत को अपने विहार से बहुत काल तक पवित्र किया था।

### वर्तमान मुनियों के विषय में स्पष्टीकरण

आजकल दक्षिण उत्तर में अनेक मुनिगण नग्न, दिगम्बर जैन साधु सर्वत्र विहार कर रहे हैं। यह समाज धर्म और देश के लिये कल्याण की बात है। दिगम्बर जैन शास्त्रों में उत्कृष्ट एवं तद्भव मोक्षगामिता की शक्ति रखने वाले तपस्वी साधुओं का स्वरूप और उनकी अचिन्त्य कठिन चर्या का वर्णन पढ़ कर अनेक स्वाध्याय शील बन्धु कहने लगते हैं कि जो गरमी में पहाड़ों पर माध्यमिक समय तपश्चरण करे शीत ऋतु में जो नदियों के किनारे पर ध्यान लगाये बैठे हो वर्षा में जो वृक्षों के नीचे टपकते हुए पानी में बाहे लुभाये खड़े हों और जो सिंह व्याध्र भाल आदि हिसक जानवरों से भरे हुए जंगलों में रहते हों वे ही साधु हो सकते हैं। आजकल नगरों में मन्दिरों मठों और धर्मशाला आदि में रहने वाले साधु, मुनि नहीं कहलाने योग्य हैं, आदि आक्षेपों और दुर्भावनाओं से अनेक लोग वर्तमान साधुओं को साधु ही नहीं समझते हैं। इस विषय में आचार्य सोमदेव आचार्य कुंद कुंद आदि महान आचार्यों स्वरचित शास्त्रों में बहुत अच्छा समाधान किया है, उन्होंने लिखा है—

काले कलौ चले चित्ते देहे चाश्रादि कीटके ।

एतच्चिन्नं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥

अर्थात् आज के इस पतनशील कलिकाल में और चित्त की क्षण क्षण में बदलने वाली चंचलता में साथ ही शरीर के अन्न का कीड़ा बन

जाने पर भी आश्चर्य है कि आज भी जिन रूप को धारण करने वाले साधु गण दीख रहे हैं ।

पाण्डित्य प्रवर आशाधरजी ने लिखा है कि वर्तमान मुनिराजों को चतुर्थ काल के मुनिराजों के समान ही समझ कर उनकी श्रद्धापूर्जा करना चाहिये ।

जो लोग मुनिराजों की परीक्षा में ही अपनी बुद्धि का समस्त संतुलन खो बैठते हैं और कहते फिरते हैं कि इनकी इयाँ समिती ठीक नहीं है । ये उद्दिष्ट भोजी हैं । आदि, इन तथ्य कुतर्कों का उत्तर देते हुए पूर्वजिार्य कहते हैं कि—

“ भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम् ” अर्थात् श्रावक लोगो ! वीतराग मुनिराजों को केवल आहार देने मात्र के लिये तुम क्या परीक्षा करते फिरते हो ? जब कि पंचम काल के अंत समय तक साधु गण पाये जाएंगे और वे चतुर्थ कालवत् ही अठ्ठावीस मूल गुण—धारी परम पवित्र शुद्धात्मा होंगे ऐसा सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमि—चन्द्राचार्य त्रिलोकसार में लिखते हैं । तब आज कल के मुनिराजों पर आक्षेप करना सिवा अशुभ कर्म बन्ध के और कुछ नहीं है ।

### आचार्य देवसेनजी का स्पष्ट वक्तव्य

आजकल के मुनिराजों के विषय में आचार्य देवसेन जी ने अपने द्वारा रचित इस भाव संग्रह में बहुत ही सुन्दर आगमोक्त सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया है वह इस प्रकार है—

दुविहो जिणेहि कहिओ जिणकछो सह य थविर कछो य ।

सो जिणकप्यो उसो उत्तमसंहणण धारिस्स ॥ ११९ ॥

जत्थण कंठय भगो पाए णयणम्मि रय पविठ्ठम्मि ।

फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हका ॥ १२० ॥

जल वरिसणवा याई गमणे भगो य जम्म छम्मासं ।

अच्छंति गिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥ १२१ ॥

एयारसंग धारी एआइ धम्म सुक्क झणीय ।  
यत्ता सेस कसाय सोणवई कंदरा वासी ॥ १२२ ॥

बाहिरंतर मंथ चहा धिण्णेहा णिण्णिहा य जइवइणो ।  
जिण इव विहरांत सया ते जीण कप्पट्टिया समणा ॥ १२३ ॥

थविरकप्पोवि कहिआं अजयाराणं जिणेण सो एसो ।  
पंचच्चेलच्चाओ अकिंसणत्तं च पडिलिहणं ॥ १२४ ॥

पंच महव्वय धाणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो ।  
भत्ति सरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥ १२५ ॥

दुविह तवे उज्जमणं छत्तिह् आवाएहि अणवरयं ।  
खिदिसयणं सिर लाओ जिणवर पडिहव पडिगहणं ॥ १२६ ॥

संहणणस्स गुणेण य दुक्खम कालस्स तव पहावेण ।  
पुरणयरत्ताम वासी थविरे कम्पे ठिया जाया ॥ १२७ ॥

उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियत्त ।  
गहियं पुत्थ य दाणं जोम्मं जस्स तं तेण ॥ १२८ ॥

समुदाएण विहारो धम्मस पदावणं ससत्तीए ।  
भविद्याण धम्मसवणं सिस्साण य पालनं गहणं ॥ १२९ ॥

संहणणं अइणिच्च कालो सो दुक्खमो मणो खलो ।  
तहवि दुधारी पुरिसा महव्वय भरधरण उच्छहिया ॥ १३० ॥

वरससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।  
ते संपइ वरिसेण ह् णिज्जरयइइणि संहणणे ॥ १३१ ॥

भावार्थ— मुनि दो प्रकार के होते हैं जिनकल्पी और स्थविरकल्पी जो उत्तम संहनन को धारण करने वाले हैं, जिनके पैर में कांटा लग जाय वा आंखों में धूल भर जाय तो स्वयं नहीं निकालते दूसरा निकाले तो मौन धारण करले । जो वर्षा आदि ऋतु में ६ महीने तक बिना आहार लिये बैठे वा खड़े रहे । जो ग्यारह अंग के पाठी हो धर्म वा शुबल ध्यान में लीन रहते हों जिनकी कषायें नष्ट हो गई हो, मौनव्रती हो, कंदरावासी हो, बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित हो, वीतराग निस्पृह

हों और जिनके समान विहार करे वे मुनि जिनकल्पी कहलाते हैं ।

जो मुनि पांचो प्रकार के वस्त्रों के त्यागी हो जिनके पास कोई परिग्रह न हो, पीछी हो, जो पांचों महाव्रतों के धारी हों खड़े होकर दिन में एक बार करपात्र भोजन करते हो, दोनों प्रकार के तपश्चरण में उद्यमी हों सहा छहों आवश्यकों का पालन करते हो लोच करते हो पृथ्वी पर शयन करते हो इस प्रकार अठ्ठाईस मूल गुणों का पालन करते हों । जो हीन संहनन के कारण इस दुःषम काल में पुर नगर वा गांव में (मन्दिर वा मठ आदि में) रहते हो उनको स्थविरकल्पी कहते हैं । जिनसे रत्नत्रय का भंग न हो ऐसे उपकरण रखते हैं अपने योग्य किसी के द्वारा दी हुई पुस्तक रखते हैं समुदाय से विहार करते हैं भयों को धर्म श्रवण कराते हैं शिष्यों को दीक्षा देते हैं और उनकी स्थिति का पालन करते हैं इस दुःषम काल में हीन संहनन होने पर भी धीर पुरुष महाव्रत धारण करते हैं यह आश्चर्य है । पहले के उत्तम संहनन से जो कर्म हजारों वर्षों में नष्ट होते थे वे कर्म इस समय हीन संहनन के द्वारा एक वर्ष में नष्ट हो जाते हैं ।

इस उपर्युक्त कथन में सिद्ध है कि आज कल के मुनिगण स्थविर कल्पी मुनि हैं वे हिंसक जंतुओं से भरे हुए जंगलों में रहकर निर्विघ्न धर्म ध्यान करने में सर्वथा असमर्थ हैं इसलिये वे नगरों में, उद्यानों में मन्दिरों में, मठों, बगीचों आदि में रहते हैं । यह वर्तमान शक्ति हीन संहनन के लिये समुचित शास्त्र मार्ग है । जो लोग वर्तमान मुनियों पर नाना आक्षेप करते हैं उन्हें इन महान पूर्वाचार्यों के शास्त्र विधानों से अपना समाधान कर वर्तमान मुनियों में उसी प्रकार श्रद्धाभक्ति से देखना चाहिये जैसी कि चतुर्य कालवर्ती मुनि में पर रहती है । शरीर सामर्थ्य को छोड़कर बाकी चर्चा और भावों की विस्तृद्धी वर्तमान मुनियों में भी प्राच्य काल के समान ही रहती है ।

इन दिगम्बर वीतराग महर्षि आचार्य देवसेन गणी का संक्षिप्त परिचय भाई नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा लिखा हुआ भाणिकचन्द ग्रंथ-माला के मुद्रित ग्रंथ नयचक्र संग्रह के प्राक्कथन का उद्धरण देते हुए हमने लिखा है ।

## आचार्य देवसेन की रचना में महत्त्व

आचार्य देवसेन ने अपने बनाए हुए ग्रन्थों में द्रव्य गुण पर्यायों का बहुत ही गंभीर विवेचन किया है। नगों के गहन एवं सूक्ष्म विवेचन में जिन अपेक्षावादों का निदर्शन किया है उनसे उनकी अगाध विद्वत्ता का परिचय सहज मिल जाता है। गुणस्थाने के स्वरूप के साथ उनका मार्गणाओं में संघटन भी उन्होंने बहुत स्पष्टरूप से किया है। स्थविर कल्पी जिन कल्पी साधुओं का स्वरूप बताकर ती आचार्य देवसेन ने मुनिराजों के सम्बन्धों में कुछ स्वाध्याय शील भ्रामक लोगों के भ्रम को सर्वथा दूर कर दिया है। हम श्रीमान परमाराध्य श्री आचार्य देवसेन गणी के पुनीत चरणों में नत मस्तक होकर अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रगट करते हैं। कल्याणमस्तु।

मैनपुरी ( यू० पी० )  
भाद्रपद वि० सं० २०१३

— आचार्योपासक —  
लालाराम शास्त्री



श्री वर्धमानाय नमः ॥

## टीकाकार का परिचय

उत्तर प्रदेशवर्ती आगरा नगर के निकट एक चावली ग्राम है । है छोटा पर है सुन्दर । इसी गाँव की पद्मावती पुरवाल सज्जाति में भूषण स्वरूप श्रीमान लाला तोताराम जी थे । वे जैसे धर्मात्मा थे वैसे ही अनुभवी निरपेक्ष वैद्य थे । तथा जैसे सज्जन थे वैसे ही परोपकारी थे । यही कारण था कि वह गाँव के शिरोमणि गिने जाते थे । आपने अपने नश्वर शरीर को विक्रम सं० १९६५ में छोड़ा था, आपके छह पुत्र हुए जिन-में

१-लाला रामलाल जी - आप आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करते हुए घर पर ही व्यवसाय करते रहे । आपका स्वभाव बहुत ही मिलन-सार और अतीव सरल था । आप बहुत धर्मात्मा थे । आपने विक्रम सं० १९७० में अपना शरीर छोड़ा ।

२-लाला मिट्टनलाल जी - आप घर पर ही रह कर व्यवसाय करते रहे । आपने वाल्यजीवन में कुछ समय अलीगढ़ की पाठशाला में संस्कृत का अध्ययन किया था । आप भी वैसे ही धर्मनिष्ठ थे । आपका स्वर्गवास विक्रम सं० २००७ में हुआ था ।

३-इस ग्रंथ के टीकाकार विद्वच्छिरोंमणि धर्मरत्न सरस्वती दिवाकर पं० लालाराम जी शास्त्री ।

४-श्री १०८ परम पूज्य आचार्य सुधर्म सागर जी महाराज । आपका पूर्व नाम पं० नन्दनलाल जी शास्त्री था । बीर निर्वाण संवत् २४५४ फागुन मास में जब कि श्री सम्मेद शिखर जी पर इतिहास प्रसिद्ध पत्रच कल्याण महोत्सव हुआ था उस समय आपने शुभमिती फागुन शुक्ला १३ त्रयोदशी के दिन परमपूज्य चरित्र चक्रवर्ती सिद्धांत पारंगत योगीन्द्र चूडामणि धर्म साम्राज्यनायक दिवंगत आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज से गृह विरत सन्तम प्रतिमा की दीक्षा

ली थी इसके एक वर्ष पीछे श्री कुंडलपुर क्षेत्र पर दशमी अनुमती विरत प्रतिमा ग्रहण की थी फिर अलीगढ़ में क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली । तदनंतर प्रतापगढ़ में आपने श्री जैनेश्वरी दीक्षा ( मुनिपद ) धारण की थी ।

आप संस्कृत भाषा के उद्भट शास्त्री थे ही । साथ में हिन्दी और गुजराती के भी प्रौढ लेखक थे । तथा प्रसिद्ध व्याख्याता भी थे । अपने चौबीस पाठ, दीपावली पूजन, आदि कविता मय ग्रंथ लिखे हैं । तथा सूर्यप्रकाश पुरुषार्थानुशासन आदि संस्कृत ग्रंथों की टीकाएं भी लिखी है उत्तमोत्तम उपदेशपूर्ण जीव कर्म विचार, यज्ञोपवीत संस्कार सदृश अनेक टुकड़ भी लिखे हैं । कितनी ही लेखमालाएं लिखी हैं और गुजराती भाषामें भी कितने ही ग्रंथ लिखे हैं । आप वैद्यक भी जानते थे । आप की लिखी एक नीतिवाक्यमाला नाम की पुस्तक मिली है जो बहुत ही उत्तम उपदेशों से पूर्ण है । उसमें आपने एक सदाचार नामकी पुस्तक का भी उल्लेख किया है । परन्तु वह हमारे देखने में नहीं आ सकी है ।

गृहस्थावस्था का अन्तिम जीवन आपने बम्बई में व्यतीत किया । श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन की उन्नती के मूल कारण आप ही थे । श्री आचार्य संघ को उत्तर प्रांत में लाने का मुख्य प्रयत्न आपका ही था । इसलिये आप संघ के साथ ही लिये थे । और फिर संघ में ही रह गये थे ।

श्री जैनेश्वरी दीक्षा लेकर आपने कितने ही बड़े काम किये थे । आपने नीमाड गुजरात बागड मालवा आदि प्रांतों में विहार कर शास्त्रोक्त मार्ग का अनुपम प्रचार किया था । तथा साथ में चतुर्विंशति तीर्थंकर महास्तुती, सुधर्म ध्यान प्रदीप और सुधर्म श्रावकाचार ऐसे संस्कृत भाषा में महाग्रंथों की रचना भी की थी । आपने कुलगढ़ में मुनि ऐलक क्षुल्लक महारक ब्रह्मचारियों के मध्य श्रृंखल समाधिभरण पूर्वक पौष शुक्ला द्वादशी सोमवार विक्रम सं० १९९५ के सन्ध्याकाल में इस नश्वर शरीर का त्याग किया ।

आप की इस यात्रा के समय कुलगढ़ स्टेट ने अपना वैचड ध्वजा



निशान आदि लवाजमा भेज दिया था, उनकी निषद्या बनाने के लिये स्टेट ने नदी के किनारे एक सुन्दर स्थान भी दिया है। ऑफिसर लोग नागरिक सब शवयात्रा के साथ थे। तथा स्टेट भर में सदा के लिये उस दिन की स्मृति में राज्य छुट्टी रखने और किसी भी जीव की हिंसा नहीं होने देने की घोषणा सरकार ने कर दी थी। यह स्टेट की सराहनीय भक्ति का नमूना है।

निषद्या स्थान पर कृआ, बाग धर्मशाला बन गई है, छतरी बन गई है और उस छतरी में उनके चरण कमल प्रतिष्ठित होकर स्थापन किये जा चुके हैं। उनके चरण कमलों की स्थापना स्वयं आचार्य श्री १०८ कुंथु सागर महाराज ने की थी। आचार्य श्री कुंथु सागर जी महाराज आचार्य श्री सुधर्म सागर जी को अपना विद्या गुरु मानते थे। तथा उन्होंने अपने समस्त स्वरचित संस्कृत ग्रंथों में आचार्य सुधर्म सागर जी को अपना विद्या गुरु के नाम से सर्वत्र उल्लेख किया है। आचार्य सुधर्म सागर जी के गृहस्थावस्था के पुत्र वैद्यराज पं० जयकुमार जी आयुर्वेदाचार्य नागौर ( राजस्थान ) में सकुटुम्ब रहते हुए अपना स्वतन्त्र वैद्यक व्यवसाय चला रहे हैं।

५-न्यायालंकार पं० भक्खनलालजी शास्त्री - आप संस्कृत के अद्वितीय विद्वान हैं। और हिन्दी भाषा के सम्मान्य लेखक और वक्ता हैं आपने देहली नगर में आर्य समाज के साथ लगातार छह दिन तक शास्त्रार्थ कर बड़ी शानदार विजय प्राप्त की थी। उसी समय वहाँ के अग्रवाल खण्डेलवान पश्चावली पुरवाल आदि समस्त पंचायत ने तथा प्रान्त और दूर से आय हुए समस्त जैनियों ने मिलकर 'वादिभ केसरी' यह मुप्रसिद्ध उपाधि आपको प्रदान की थी। इसके सिवा न्यायालंकार विद्यावारिधि की उपाधियाँ भी आपको प्राप्त हैं। भा० दि० जैन महासभा ने आपकी निःस्वार्थ अनुपम सेवा से प्रसन्न होकर धर्मवीर की सम्मान्य उपाधि प्रदान की है।

इस समय आप समस्त दि० जैन समाज में एक अच्छे माननीय विद्वान गिने जाते हैं। आपने वर्षों तक उक्त महासभा के मुख पत्र माप्ताहिक जैन गजट की सम्पादक का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य बड़ी

सुयोग्यता से किया था तथा अधार्मिक वातावरण को हटाते हुए धर्म का उद्घोष किया है ।

आपने पंचाध्यायी, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा उत्तरार्थ राजवाति कालंकार की अत्यंत विस्तृत स्वतन्त्र टीकाएँ लिखी हैं जिनसे प्रत्येक पदार्थ का विवेचन बड़ी योग्यता और सरलता के साथ किया है । आपने भा० दि० जैन महासभाश्रित परीक्षालय के मंत्रित्व का कार्य भी बड़ी योग्यता के साथ किया है ।

इस समय आपने श्री गो० दि० जैन सिद्धांत महाविद्यालय मोरेना का संचालन बहुत योग्यता और उत्तरादायित्व के साथ किया था । साथ में जैन धर्म के प्रौढ तत्त्वों को बतानेवाले तथा उनकी रक्षा करने वाले " जैन दर्शन " पाक्षिक पत्र का संपादन भी किया है । गवालियर स्टेट ने आपको आ० मैजिस्ट्रेट भी बनाया था, आपको सेकन्ड क्लास पावर के अधिकार थे उस कार्य को आपने करीब २० वर्ष तक प्रभावक एवं न्यायरूप में किया, फल स्वरूप राज्य ने आपको पोशाक और प्रमाण पत्र भेंट किये ।

६-बाबू श्रीलालजी जौहरी - आप इस समय करीब २५ वर्षों से जयपुर में जवाहरात का व्यापार करते हैं और सद्गुणदुम्ब वहीं पर रहते हैं । जवाहरात की पारख करने में आपकी जैसी प्रसिद्धी है वैसे ही आप जवाहरात के व्यवसाय में भी एक प्रसिद्धित प्रामाणिक जौहरी माने जाते हैं । विशेषता यह है कि सभी भाई और पूरा घराना ही दृढ धार्मिक हैं ।

इस ग्रंथ के टीकाकार-श्रीमान् धर्मरत्न, सरस्वतीदिवाकर विद्व-च्छिरोमणि, समाज में प्रसिद्ध एवं संस्कृत निष्ठा के पूर्ण मर्मज्ञ प्रभावक अनुभवी विद्वान् श्रद्धेय पं० लालाराम जी शास्त्री महोदय हैं ।

आपने अनेक गम्भीर महान् ग्रंथों की बड़े सरल रूप में हिन्दी टीकाएं की हैं । तथा ग्रंथों के मर्मस्थलों को बहुत ही उत्तमता के साथ स्पष्ट और विशद किया है । आपकी टीकाओं में ग्रंथ का कठीन भाग भी सरलता से समझाया गया है । आपकी बनाई हुई टीकाओं में खास

विशेषता यह है कि मूलग्रंथ के अनुसार ही आशय रहता है। ग्रंथ के बाहर की कोई भी बात स्वतन्त्र रूप से लिखी हुई आपकी टीकाओं में प्रक्षिप्त नहीं की जाती है।

आपके द्वारा टीका किये हुए बहुत से ग्रंथ हैं जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—आदि पुराण, उत्तरपुराण, शान्तिपुराण, धर्ममृत श्रावकाचार, सुबोधसार, चारित्र्यसार, आचारसार,, बोधा मृतसार, ज्ञानामृतसार, सुधर्मोपधर्मदेशामृतसार, प्रश्नोत्तर, श्रावकाचार, समन्तभद्र कृत जिनशतक, पात्र केशरी स्तोत्र संशयि वदन विदारण, गौतम चरित्र, सुभीम चरित्र, सूक्ता भुक्तावला, तत्त्वानुशासन, वैराग्यमुनिमाला, द्वादशानुप्रेक्षा, ( यशस्तिलक चम्पू स्थित ), बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, लघ्वीयस्त्र, चतुर्विंशतितीर्थकर महास्तुती, चतुर्विंशतितीर्थकर स्तोत्र, सुधर्मध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावकाचार, शान्ति सिंधु, मुनिधर्म प्रदीप, दशभक्त्यादि संग्रह, मोक्षशीस्त्र, भावसंग्रह, आशाधर सहस्र नाम, जिनसेन सहस्रनाम मूलाचार प्रदीप, सारसमुच्चय, आलाप पद्धति, दशलाक्षणिक जयमाला आदि।

इनके सिवा षोडश संस्कार,, क्रियामंजरी, बालबोध जैनधर्म तीसरा चौथा भाग, जैनधर्म, जैनदर्शन, आदि कितनी ही स्वतन्त्र पुस्तके श्रद्धेय धर्मरत्नजी ने लिखी है।

आचार्य शान्तिसागर पूजन, आचार्य शान्तिसागर छाणी पूजन, आचार्य कुंथुसागर पूजन, श्री सम्मेद शिखर पूजन, श्री अकंपन संघ, पूज्य विष्णू कुमार मुनि पूजन, भक्तासार शतद्वयी, नमस्कारात्मक सहस्रनाम शान्त्यष्टक, आदि संस्कृत पद्य रचनात्मक स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना भी आपने बहुत सुन्दर और प्रासाद गुणयुक्त की है।

आपने आदि पुराण समीक्षा की परीक्षा लिखी थी उसका प्रभाव भी जैन समाज में बहुत अधिक पड़ा था आपने इन ग्रंथों को लिखकर तथा अनेक ग्रंथों की सगल टीकाएं लिखकर समाज को जो लाभ पहुंचाया है तथा हिन्दी और संस्कृत साहित्य की जो उन्नति की है उसके लिये समाज आपका सदैव ऋणी रहेगा।

आप वर्षों तक भा० दि० जैन महासभा के साप्ताहिक मुखपत्र जैनसभा के सफल सम्पादक रह चुके हैं तथा भा० दि० जैन महासभा के सहायक मंत्री भी रह चुके हैं। उक्त महासभा ने आपकी दूरदर्शितापूर्ण निपटूह सेवा से प्रसन्न होकर आपको “ धर्मरत्न ” की महत्वशालिनी उपाधि से विभूषित किया है। आप भा० दि० जैन शास्त्री परिषद के सभापती तथा संरक्षक भी रह चुके हैं।

भा० दि० जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा का जो प्रथम अधिवेशन पैठण (औरंगाबाद निजाम) में हुआ था उसके आप ही सभापती नियत हुए थे तथा आपने उस अधिवेशन का कार्य बड़ी सफलता के साथ किया था। उसी सभा का दुसरा अधिवेशन श्री अंदेश्वर पार्श्वनाथ में ( जिला हुंगरपुर कुशलगढ़ के निकट ) हुआ था उसमें आपको उक्त सभा ने अपना संरक्षक बनाया है तथा उसी अधिवेशन में उस सभा ने आपको “ सरस्वती दिवाकर ” प्रभावशालिनी उक्त उपाधि प्रदान की है।

श्रीमान् सरस्वती दिवाकरजी की यह साहित्य सेवा जैन साहित्य के प्रचार के लिये पूर्ण सहायक हुई है। जैन समाज हृदयों से इन परोपकारी महा विद्वान का अभिनन्दन करेगा। हम भी शास्त्री जी का अभिनन्दन करते हैं।

भाद्रपद शु० २ वि० सं० २०१३

ब्रह्माचारी चांदमल धूडीवाल  
तागीर ( मारवाड )



## इस ग्रन्थ की विषयसूची

| विषय                                                     | श्लोक संख्या |
|----------------------------------------------------------|--------------|
| मंगलाचरण                                                 | १            |
| जीवों के भेद                                             | २            |
| भावों के भेद                                             | ४            |
| गुणस्थानों के नाम                                        | १०           |
| मिथ्यात्व गुणस्थान का लक्षण                              | १२           |
| मिथ्यात्व से होने वाले भाव                               | १५           |
| मिथ्यात्व के भेद                                         | १६           |
| विपरीत मिथ्यात्व                                         | १७           |
| जल शुद्धि के दोष                                         | १८           |
| मांस के दोष, श्राद्ध के दोष                              | २६           |
| गोयोनि बंदना के दोष                                      | ४६           |
| एकांत मिथ्यावृष्टि का स्वरूप                             | ६३           |
| वैतनिक मिथ्यात्व का स्वरूप                               | ७३           |
| संशय मिथ्यात्व का स्वरूप                                 | ८५           |
| सपरिग्रह मोक्ष का निषेध                                  | ८८           |
| स्त्री मुक्ति निषेध                                      | ९२           |
| कबलाहार निषेध                                            | १०३          |
| जिन कल्पी स्थविर कल्पी का स्वरूप                         | ११६          |
| श्वेताम्बरों की उत्पत्ति                                 | १३७          |
| अज्ञान मिथ्यात्व                                         | १६१          |
| मिथ्यात्व का त्याग करने का उपदेश और मिथ्यात्व से हानियाँ | १६५          |
| चार्वाकमत का निराकरण                                     | १७२          |
| सांख्यमत का निराकरण                                      | १७७          |
| सासादन गुणस्थान का स्वरूप                                | १९५          |
| मिश्रगुणस्थान का स्वरूप                                  | १९८          |
| ब्रह्मा के कार्य और उसका निराकरण                         | २०४          |

|                                              |     |
|----------------------------------------------|-----|
| विष्णु के कार्य और उनका निराकरण              | २२४ |
| महादेव के कार्य और उनका निराकरण              | २४१ |
| अविरत सम्यग्दृष्टी चतुर्थ गुणस्थान का स्वरूप | २५२ |
| सम्यग्दर्शन का लक्षण                         | २६२ |
| सम्यग्दर्शन के भेद                           | २६४ |
| परमात्मा और उसके भेद                         | २७२ |
| जीव का स्वरूप                                | २८६ |
| अजीवपदार्थ                                   | ३०३ |
| आश्रय                                        | ३१९ |
| संवर                                         | ३२१ |
| बन्ध                                         | ३२४ |
| निर्जरा                                      | ३४४ |
| मोक्ष                                        | ३४६ |
| विरताविरत का स्वरूप                          | ३५० |
| वारह व्रतों का स्वरूप                        | ३५३ |
| पांचवें गुणस्थान में होने वाले ध्यान         | ३५७ |
| भद्रध्यान                                    | ३६५ |
| धर्मध्यान के भेद स्वरूप                      | ३६६ |
| सालंबन धर्मध्यान और पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप | ३७४ |
| निरालंबन ध्यान                               | ३८१ |
| पुण्य के भेद और उसके फल                      | ३९९ |
| पुण्य के कारण                                | ४२५ |
| पूजा की विधी                                 | ४२६ |
| दान, दान के भेद, विधि और फल                  | ४८९ |
| प्रमत्त संयत गुणस्थान का स्वरूप              | ६०० |

|                                               |     |
|-----------------------------------------------|-----|
| अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप                   | ६१४ |
| अपूर्वकरण गुणस्थान का स्वरूप                  | ६३२ |
| अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का स्वरूप               | ६४९ |
| सूक्ष्मसाधारण नाम के दशवें गुणस्थान का स्वरूप | ६५२ |
| ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान का स्वरूप      | ६५५ |
| क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान का स्वरूप           | ६६१ |
| सयोग केवली तेरहवें गुणस्थान का स्वरूप         | ६६८ |
| अयोग केवली चौदहवें गुणस्थान का स्वरूप         | ६७९ |
| श्री आचार्य द्वारा अन्तिम मंगल                | ६९८ |
| भावसंग्रह के पढ़ने का फल                      | ७०० |
| संक्षिप्त प्रशस्ति                            | ७०१ |
| उपसहार तथा चौदह गुणस्थानों का स्वरूप          |     |
| परिशिष्ट                                      |     |
| टीकाकार का अन्तिम मंगलाचरण                    |     |



# समयसार का सार

## ( नमो समयसाराणं )

### शास्त्राध्ययन क्रम—

जैनागम रूपी महासमुद्र के चार भेद हैं । (१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग । ये चारों अनुयोग सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी अरिहन्त भगवान की दिव्यध्वनि से निसृत होने के कारण सत्य हैं, तथ्य हैं, और उपादेय हैं । चारों अनुयोगों का अध्ययन मनन, चिन्तन, एवं उपलब्धि क्रमशः सेही होती है ।

### यथा—अथेष्ट प्रार्थना—

प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः ।

शास्त्राभ्यासो— — — — — ।।

पहले प्रथमानुयोग का अध्ययन, मनन, चिन्तन, प्राथमिक साधक करें । उसके बाद करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का भी करें । अर्थात् साधक पूर्व—पूर्व अनुयोग एवं अपनी अवस्थानुसार कर्तव्य में दक्ष होते हुये उत्तरोत्तर अनुयोगों का अध्ययन, मनन, एवं अनुकरण करें ।

प्रथमानुयोग में गुण्य पुरुषों का चरित्र बोधि समाधि आदि समोचिन विषय का वर्णन है । उसको पढ़कर प्राथमिक साधक महापुरुषों के चरित्र के माध्यम से धर्म को सरल, सहन अवगत कर लेता है । इस लिये इस को प्रथम — अनुयोग — प्रथमानुयोग प्राथमिक साधकों का अनुयोग करणानुयोग जिस अनुयोग में लोक, अलोक, युग परिवर्तन, गुणस्थान, जीवसमास आदि का वर्णन है । उसे करणानुयोग कहते हैं । इस में आधिकतर गणित का अवलम्बन लेकर वर्णन है । इसमें सूक्ष्म रूप से गणितिक पद्धति से जीवों के विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म एवं अत्यन्त प्रामाणिक वर्णन है । इसमें जीव भावों का वर्णन है वह भाव अन्य अनुयोग के लिये मानदण्ड स्वरूप है । भाव किस तरह उत्तरोत्तर ज्ञान बुद्धि को प्राप्त होती है उसकी सूक्ष्म गणितिक एवं वैज्ञानिक वर्णन है । इस अनुयोग से ही अन्य तीन अनुयोग के वर्णित भावों की परीक्षा कि जाती है । यदि करणानुयोग इन भावों को सत्य साबित करता है तो सत्य है अन्यथा मिथ्या है । इसमें किसी प्रकार साहित्यिक, मनोरंजक, अतिशयोक्ति उपमा, अलंकारात्मक वर्णन नहीं है ।



चरणानुयोग में गृहस्थों के अनुव्रत, शिक्षाव्रत, द्विम्बतादि चारित्र्य तथा भुनिकों के महाव्रत, समिति आदि २८ मूलगुण-उत्तरगुणादि का वर्णन है। बारह अंग में प्रथम अंग आचारांग है। आचारांग का मूल कारण यह है कि बिना आचरण के रत्नत्रय की वृद्धि नहीं हो सकती है। तथा केवलमान और मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस लिये आचार (चात्रि) प्रथम एवं मुख्य धर्म हैं, इसलिये आचारारम्भ का वर्णन प्रथम किया गया है।

जिस अनुर्याग में लोभ, अजीवादि सारा तत्त्वों का वर्णन है उसको द्रव्यानुर्याग कहते हैं। द्रव्यानुर्याग अति इन्द्रिय विषयों का सूक्ष्म वर्णन करने के कारण नय ज्ञान विरहित प्राथमिक शिष्यों के लिये अत्यन्त दुरह, दुरासाध्य एवं क्लिष्ट है।

जिस ने विज्ञ अनुभवज्ञ अनेकान्त एवं पारंगत गुरु से क्रमशः प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग का अध्ययन मनन-चिन्तन एवं आचरण कर लिया है वह शिष्य गुरु के तत्वावधान में इस रहस्य पूर्ण नय उपनय से अकीर्ण सूक्ष्म अनुयोग का अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं आचरण करके शुद्ध परम उपादेयतत्त्व स्वातंत्र्य रूपी समयसार को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा साधक का विशेष उत्थान होना कठीन ही नहीं अशक्य है।

जैसे एक विद्यार्थी पहले गुरु के अवलम्बन से वर्ण माला को पढ़ता है उसके पश्चात् पद वाक्य शास्त्रादि का अध्ययन करते-करते आगे बढ़ता है। उसी प्रकार मुमुक्षु साधक पहले गुरु से प्रथमानुयोग पढ़कर उससे आत्मा का उत्थान-पतन जानकर संसार शरीर भोग से संवेग, वैराग्य को प्राप्त कर करणानुयोग के माध्यम से विभिन्न भावों को एवं उनके फल की जानकर चरणानुयोग के माध्यम से उत्तरोत्तर विशुद्ध भावों को प्राप्त करता हुआ, द्रव्यानुयोग में वर्णित स्व शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। यह चारों अनुयोगों का क्रम एवं विषय है। जब तक पहले-पहले के तीन अनुयोग रूप परिणमन नहीं करते हैं तब तक चतुर्थ अनुयोग में वर्णित शुद्ध तत्त्व भी अत्यन्त दूर है।

### समयसार—

महान् आध्यात्मिक योगी पुरुष आध्यात्मिक क्रांतिकारी एवं मूल आम्नाय के मुख्यस्तम्भ स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द के अनेक वाङ्मय में समयसार अन्यतम कृति है। इस शास्त्र में आचार्यवर्य ने समयसार स्वरूप शुद्धात्म द्रव्य सिद्ध भगवान् का वर्णन किया है।

समय प्राप्ते प्राकृतं सम्यक् अयः बोधो यस्य भवति का समय आत्मा, अथवा समं एकी भावेनायनं गमनं समयः । प्राभूतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्या मनः प्राभूतं समय प्राभूत, अथवा समय एव प्राभूत समय प्राभूत।

स. सार. जयसेनाचार्य त. वृ. / गा. १

समय प्राभूत ग्रन्थ को-सम्यक्-समीचं न अर्थ बोध, ज्ञान है जिस के वह समय अर्थात्, आत्मा । अथवा समम् एकी भावेनायनम्, समनं 'समयः' अर्थात् एकमेक रूप से जो गमन उसका नाम समयः प्राभूत अर्थात् सार शुद्धावस्था इस प्रकार समय नाम आत्मा उसका प्राभूत अर्थात् शुद्धावस्था वही हुआ समय प्राभूत । अथवा समय जो है वही प्राभूत सो समय प्राभूत ।

स्वरूपाद् प्रच्यवन्तान् टकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः समयः समयत एकत्वेन द्युगमज्जानाति ।

स. सा. अमृतचन्द्र आचार्य । गा. २

स्व स्वरूप से व्युत्पन्न न होने से टकोत्कीर्ण चित्स्वभाववाला जीव नाम पदार्थ है वही समयसार है । एक काल में ही जानना और परिणमन करना ये दो क्रियाये जिसमें हो वह समय है ।

“ स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूप न पुनः पर समय ”

स. सा. जयसेनाचार्य त. वृ. / गा. ३

स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वयम् है, पर समय शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं । अर्थात् शुद्धात्मा सिद्ध परमेष्ठी ही स्वसमय है । अन्य समस्त संसारी जीव परसमय है ।

बहिरंतरूप्य भेदं पर समयं सण्णयं जिणिदेहि ।

परमण्यो सगसमय तब्भेयं जाणं गुणं ठाणे ॥

मिस्सोति बहिरण्णा तरतमया तुरिय अंतरण्णं जहण्णा ।

संतोति भज्झिमंतरं रवीणुत्तमं परमं जिणं सिद्धा ॥

रयणसार । कुन्दकुन्दाचार्य / गा. १४८-१४९

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा बहिरात्मा एवं अंतरात्मा को परसमय कहा गया है, परमात्मा स्वसमय है उसको गुणस्थान के अनुसार जान लेना चाहिये ।

मिथ्य गुणस्थान पर्यन्त अर्थात् मिथ्यात्व, साक्षादन, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव तारतम्यसे बहिरात्मा है । चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि

जीव जघन्य अन्तरात्मा है । पाँचवे गुणस्थान अर्थात् देशव्रजा श्रावक से लेकर ग्याहुरवाँ उपशांत मोही महामुनि उत्तम अन्तरात्मा है । अरिहन्त भगवान् अयोग केवली भगवान् एवं सिद्ध भगवान् परमात्मा हैं । जैसे पंडित दौलतरामजी ने भी अपने छहडाला में कहा है ।

बहिरात्म अन्तर आत्म, परमात्म जीव त्रिधा है ।  
देह जीव को एक गिनै, बहिरात्म तत्त्व मृधा है ।  
उत्तम-मध्यम, जघन त्रिविध के अन्तर आत्म ज्ञानी ।  
द्विविध संग द्विन शुद्ध-उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानि ॥

पं. दौलतरामजी । छहडाला । इ. ३/४

जीवो चरित्र दंमण णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।  
पुग्गल कम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥

स. सा. । गा. २

जीवस्वारित्र दर्शनज्ञानस्थितौ यदा भवति तदा काले तमेव जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावे निज परमात्मनि यद्वचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादि रहित स्वसंवेदन ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूति रूपं वीतरागचारित्रमित्युक्त लक्षणैर्न निश्चय रत्नत्रयेण परिणत जीवपदार्थं हे शिष्य स्वसमयं जानीहि । पुद्गल कर्मोपदेश स्थितं च तमेव जानीहि परसमयम् । - - - पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रयाभावात् यदा स्थितौ अवस्थति जीवस्तदा त जीवं परसमयं जानीहि ।

स. सा. जयसेनाचार्य / त. वृ. गा. २

वह जीव जब चारित्र-दर्शन-ज्ञान में स्थित रहता है उस समय में उसे स्वसमय समझो । अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाले निज परमात्मामें रुचि रूप सम्यग्दर्शन और उसमें रागादि रहित स्वसंवेदन का होना वह सम्यग्ज्ञान तथा निश्चल स्वानुभूति रूप वीतराग चारित्र इस प्रकार कहे गये लक्षणवाले निश्चय रत्नत्रय के द्वारा परिणत जीवपदार्थ को ही शिष्य तू स्वसमय समझ । पुद्गल प्रदेश में स्थित उसी जीव को तू परसमय समझ । पूर्वोक्त रत्नत्रय न होने से उस काल में परसमय जानः ।

अथ शुद्ध परमात्म तत्त्व प्राप्त्यादन मुख्यत्वेन विभूतर रुचि शिष्य प्रति बोधनार्थं श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव निर्मिते समयसार प्रामृतग्रन्थः ।

स. सा. जयसेनाचार्य त. वृ. / गा. १

अब शुद्ध परमात्म तत्त्व को मुख्य लेकर विस्तार में रुचि रखने वाले

शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा बनाया हुआ समयसाराग्रन्थ है। समयसार रूप शुद्धात्म तत्त्व का वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस ग्रन्थ में विशेष रूप प्रतिपादन करने से इस ग्रन्थ का यथार्थ नाम समयसार है।

### समयसार के लिये योग्य पात्र—

समयसार ग्रन्थ में वर्णित जो आत्मतत्त्व उ का प्रत्यक्ष अनुभव निर्विकल्प समाधिस्थित निश्चयनय का अवलम्बन स्थित महामुनि को ही होता है। और समयसार में प्रतिपादित विषय उनके अनुभव भव्य एवं आचरण होने के कारण समयसार ग्रन्थ भी महामुनि के लिये ही विशेष प्रयोजनवान् अन्तः बाह्य चित्त चमत्काररूप समयसार को आत्मसाधन कर सकता है। जो अन्तरंग बहिरङ्ग ग्रन्थ रूपी परमसमय को त्याग किया है वह है, हृदयग्राम कर सकता है, आचरण में ला सकता है। परन्तु जो अन्तरंग बहिरंग ग्रन्थवान् (परिग्रही) पर सम्यग्गत जाव है वह केवल इस ग्रन्थ को ग्रन्थरूप से (परिग्रह) सिर पर धारण कर सकता है, परन्तु पूर्ण रूप से ग्रहण करके हृदय में ग्रहण नहीं कर सकता है। जैसे कि शेरणी (सिंहणी) का दूध जिस किसी पात्र में नहीं रहना उसे सुवर्ण पात्र ही चाहिये, अन्यथा पात्र छिन्न-भिन्न होता है उसे योग्य पात्र ही चाहिये। अतः सम्पूर्ण रूप से निर्मोह, निस्संग, निराग, निक्षेप, मुनि ही उस समयसार को जानने के समझने के, कथन करने के पात्र हैं, अन्यथा अपात्र होने पर भी इस समयसार को धारण करने लगे तो जीवन रूपी पात्र छिन्न-भिन्न होगा, तुकड़े तुकड़े होगा अर्थात् स्वच्छन्द त्रिषयी-कषायी होगा जैसे भोजन को योग्य व्यक्ति, योग्य रीति से भोजन करके पचाने पर वह भोजन शक्तिवर्धक होता है। परन्तु अयोग्य व्यक्ति अयोग्य रीति से भोजन करने पर अपचन होकर शक्ति क्षीण होती है, रोगों का कारण बनता है। भोजन फिर पर रखने पर केवल वह भार स्वरूप होता है, परन्तु योग्य रीति से भोजन करने से शक्ति वर्धक होता है। उसी प्रकार शास्त्र को केवल सिर पर रखने पर सिर का बोझ बढ़ता है एवं आत्मा को कोई लाभ नहीं मिलता है। इस समयसार में वर्णित शुद्धात्म तत्त्व का परिज्ञान एवं प्राप्ति किनकी होता है स्वयं जयसेनाचार्य ने प्रथम गाथा की टीका में कहा है—

“निर्विकार स्वसम्बेदन ज्ञानेन शुद्धात्म परिज्ञानं प्राप्तिर्वा  
प्रयोजनमित्यभिप्रायः।”

इस समयसार ग्रन्थ का प्रयोजन यह है कि निर्विकार स्वसम्बेदन ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का जानना व प्राप्ति है।

सद्दृष्टि जनः पुनरभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधिबलेन फलस्थानीय निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मा मनुभवतीत्यर्थः ।

स. सा. जयसेनाचार्य त. वृ. / गा. ११

सम्पददृष्टि जीव पुन अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि बल से स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है ।

**निश्चयनय किसके लिये—**

सुद्धी सुद्धादेशो नायव्वो परमभाव दरिसीहि ।

ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमे द्विदाभावे ।

स. सा. / गा. १२

भूतार्थों निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतवानां प्रयोजनान् भवति । किन्तु निर्विकल्प समाधि रहितानां पुनः षोडशवर्णिका सुवर्णलाभाभावे अधस्तन वर्णिका सुवर्णलाभवत्केषां चिन्मात्रमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्व विषय कषाय बुद्ध्यानिवृत्तनार्थं व्यवहारतयोपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति ।

तात्पर्यवृत्ति-सुद्धी शुद्धनय निश्चयनयः कथंभूत सुद्धादेशो शुद्धद्रव्यस्या-  
देशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः । नावध्वो ज्ञातव्यः भावयितव्यः कः  
परमभावदरसीहि शुद्धात्म भावदर्शिभिः । कस्मादिति चेत् यतः षोडशवर्णिका-  
कालस्वरलाभभेद भेद रत्नत्रय स्वरूप समाधिकाले प्रयोजनो भवति ।  
निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः । ववहार देसिदो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन  
परमार्थं दर्शितः कथित इति व्यवहार देसितो व्यवहार नयः पुनः पुनः  
अधस्तन वर्णिक सुवर्ण लाभप्रयोजनवान् भवति । केषां जे ये पुरुषा दु पुनः  
अपरमे मणुद्धे असंवत लम्पद्वृत्त्यपक्षया आशकापक्षया वा मराग सम्पददृष्टि  
लक्षणे शुभोपयोग प्रमत्ताप्रमत्त संयतापक्षयाच भेद रत्नत्रय लक्षणे वा  
द्विदा स्थिताः कस्मिन् स्थिता ? भवे जीव पदार्थे तेषामिति भावार्थः ।

स. सा. तात्पर्यवृत्ति / गा. १२

शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है, वह परम शुद्धात्मा की भावना में लगे हुये पुरुषों के द्वारा अंगिकार करने योग्य है । परन्तु जो पुरुष अशुद्ध वे नीचे के अवस्था में स्थित हैं । उनके लिये व्यवहार नय ही कार्यकारी है अर्थात् उपादेय है ।

शुद्ध निश्चयः नय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है वह शुद्धता को ज्ञान हुये आत्मदर्शियों के द्वारा जानने-भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य

है। क्यों कि वह सोलहवानी सुवर्ण के समान अश्वेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि काल में प्रयोजनवान होता है। किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प, पेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहार नय है वह पन्द्रह, चौदह आदि दानी के सुवर्ण लाभ के समान उन लोगों के लिये प्रयोजन हैं जो लोग अशुद्ध रूप शुभोपयोग में जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सरास सम्यग्दृष्टि लक्षणवाला हैं और प्रमत्त-अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षणवाला हैं ऐसे शुभोपयोग इन जीव पदार्थ में स्थित हैं।

### व्यवहार नय त्यागने से हानि—

यद्यपि व्यवहार नय बहिर्द्रव्यावलम्बनत्वेन भूतार्थस्तथापि रागादि बहिर्द्रव्यावलम्बन रहित विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव सहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचिता भवति यदा—पुनर्व्यवहार नयो न भवति तदा शुद्ध निश्चय नयेन तस्य स्थावर जीव न भवतीति मत्वा निःशकोपमर्दनं कुर्वति जनाः। ततश्च पुण्यरूप धर्माभाव इत्येकं दूषणं तथैव शुद्धनयेन राग द्वेष मोह रहितः पूर्वमेव मुक्ती जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततस्व मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं। तस्माद् व्यवहार नय व्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।

ग. सा. त. वृ. / भा. ५१

यद्यपि व्यवहार नय बहिर्द्रव्य का आलम्बन लेने से अभूतार्थ है किन्तु रागादि बहिर्द्रव्य के आलम्बन से रहित और विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव के आलम्बन सहित ऐसे परमार्थ का प्रतिपादक होने से इसका भी कथन करना आवश्यक है क्योंकि यदि व्यवहार नय को सर्वथा भुला (छाड़) दिया जाय तो फिर शुद्ध निश्चय नय से तो तस्य स्थावर जीव है ही नहीं। अतः फिर लोग स्वच्छन्द निःशंक होकर उनके मर्दन में प्रवृत्ति करने लगेंगे ऐसी दशा में पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायेगा एक दूषण तो यह आयेगा।

तथा शुद्ध निश्चयनय से तो जीव राग-द्वेष-मोह से रहित पहले से ही है अतः मुक्त ही है, ऐसा मानकर फिर मोक्ष के लिये भी अनुष्ठान कोई क्यों करेगा? अतः मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा, यह दूसरा दूषण आयेगा। इसलिये व्यवहार नय का व्यर्थमान परम आवश्यक है, निरर्थक नहीं है।

आचार्य ज्ञानसागर हिंदी टी. १ से उद्धृत

परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग-द्वेष मोह से भिन्न कहता कहता है। यदि किसी का एकान्त किया जावे, तब शरीर तथा राग द्वेष

मोह से भिन्न पुद्गलमय ठहरे और तब पुद्गल की बात से हिसार नहीं हो सकती है और राग-द्वेष-मोह से बंध नहीं हो सकता है इस प्रकार परमार्थ से ससार और मोक्ष दोनों का अभाव हो जायेगा ऐसा एकान्तद्वय वस्तु का स्वप्न नहीं है । वस्तु का अज्ञान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तु रूप ही है । इस लिये व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है । इस प्रकार स्थाव्याद से दोनों नयों का विरोध रहित श्रद्धाच करना सम्भव है ।

५ जयचन्द्रजीकृत हिन्दी टीका

### समयसार की दृष्टि से ज्ञानी व अज्ञानी-

यद्यपि सम्यग्दर्शन होते के बाद आगम अपेक्षा सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी है, परंतु अध्यात्मिक दृष्टि अर्थात् समयसार दृष्टि से सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय जनित विषय भोगों से रहित सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प से रहित अंतरंग बहिरंग परिग्रह रहित निर्विकल्प ध्यान स्थित महामुनि ही ज्ञानी है उससे अतिरिक्त उस अवस्था से हित नीचे-नीचे के गुणस्थानवर्ती जीव अज्ञानी है, क्यों कि जो शुद्धात्मानुभूती रूप निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान, अनुभूति रूप आत्मानंद का आस्वादन पूर्ण रूप से नहीं कर पाता है । यथायोग्य विषय कषाय पर पदार्थ में अनुरंजित होने के कारण वह अज्ञानी है । समयसार बाह्य शास्त्रीय ज्ञान को कोई प्रकार महत्त्व नहीं देता है अर्थात् ज्ञानी नहीं मानता है ।

पंडित-पंडित-पंडित कणु छंछि कि तूरा कडिया ।

अथे मथे तूदुठोसि परमस्थू ण जाणहि मूढो सि ।

बाहुद दोहा मुनि रामसिंह

हे शब्द-अर्थ ग्रंथ से संतुष्ट को प्राप्त करने वाला पंडित ! तू परमार्थ ज्ञा बिना केवल मूढ़ है, अज्ञानी है, मिथ्य दृष्टि है । जैसे कण रहित लूस की कूटने पर उसमें विशेष लाभ नहीं होता उसी प्रकार तू ने परमार्थ रहस्य को जाने बिना केवल शब्द ग्रन्थसे संतुष्ट होकर ग.य.ए. पढ़कर लज्जकदार भाषा से भाषण करके, पर मनोरंजन करके भी सुने कुछ विशेष लाभ प्राप्त नहीं कर पाया । कारण कि शब्द, ग्रन्थ में परमार्थ तत्त्व, धर्म अथवा अध्यात्मिक नहीं है वह केवल सूचना मात्र है । जैसे किसी रोगी ने औषधी का नाम लिखे हुए कागज को सेवन करने से उस रोग दूर नहीं होता है उसी प्रकार शास्त्र कण्ठस्थ करने से भवराग दूर नहीं होता है । जैसे चित्रित कूप से जल प्राप्त नहीं होता है एक प्यास भी नहीं बुझती है । चित्रित मिष्ठान्न व भोजन से जिह्वा को स्वाद नहीं मिलता है एवं पेट नहीं भरता है । जैसे माँ बेटे को हाथ की अंगुली से चंगूर को संकेत करती है, दिखाती

परन्तु चंद्र अंगुली में नहीं, है, इसी प्रकार शास्त्र में परम तत्त्व का संकेत है । परम तत्त्व को दिखाता है किन्तु परमतत्त्व नहीं है । जैसे पाणी के पात्र में सूर्य बिम्ब दिखाई देता है किन्तु सूर्य बिम्ब नहीं है किन्तु बहुत दूर में है उसको प्राप्त करने के किये तदनुकूल क्रिया करना आवश्यक है । जैसे मान-चित्र में देश-विदेशों का अचय है परन्तु हम उसमें ही देश विदेशों को ढूँढ़ेंगे तो उसमें देश-विदेश नहीं मिल सकता है । उसी प्रकार शास्त्र में तत्त्वों का मान चित्र है किन्तु अथार्थ तत्त्व उनमें नहीं है उस संकेत के अनुसार हम सम्यक् क्रिया करेंगे तो उस तत्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं जैसे रोड (रास्ते) पर मार्बल स्टोन में नगरों का नाम एवं दूरी एवं दिग् सूचित रहता है परन्तु उस मार्बल स्टोन को पकड़ कर बैठने पर उन-उन नगरों में नहीं पहुँच सकते हैं । उस मार्बल स्टोन को छोड़कर एवं गमन करने पर ही उन-उन नगरों की प्राप्ति कर सकते हैं उस प्रकार शास्त्र में मोक्षादि तत्त्वों का वर्णन है उस वर्णन के अनुसार यदि सम्यक् आचरण करेंगे तब मोक्षादि तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है । जैसे एक विद्यार्थी वाणिज्य विद्या ( कॉमर्स ) में स्नातकोत्तर ( M. Com. ) होने के बाद भी वह कुशल व्यापारी नहीं हो सकता है । वाणिज्य विद्या का विद्यार्थी होने मात्र से वह सेठ नहीं बन सकता है । उस विद्या के अनुकूल व्यापार करने पर ही धनोपार्जन कर सकता है । एक कुशल निरक्षर व्यापारी व्यापार के माध्यम से सेठ बन सकता है । परन्तु साक्षरी वाणिज्य विद्या विचारक भी उस निरक्षरी सेठ का नोकर होकर कार्य करता है ।

अखरडेहि जि गविव्या कारणु ते ण मुणति ।

वंस विह था डोम जिम परहम्पडा धुणति ॥

पाहुड दोहा मुनि रामगिह

कारण को नहीं जानने वाला अक्षरज मनुष्य का ज्ञान व्यर्थ है उससे वह आत्मोन्नति नहीं कर सकता है । वह स्वावलम्बी रूप आत्मावलम्बी नहीं हो सकता है । जैसे डोम बांस से सहित होने के कारण अपना खेल दिखाने एवं कार्य नहीं कर सकता है । केवल हाथ धुनते रहता है उसी प्रकार शास्त्र के रहस्य को हृदयगम नहीं करने वाला, आचरण में नहीं लाने वाला केवल हाथ मलते रहता है ।

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किञ्चि ।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विति ॥

सद्दी णाणं ण हवदि जम्हा सद्दी ण याणदे किञ्चि ।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दी जिणा विति ॥



शास्त्र और ज्ञान एक नहीं है क्यों कि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है वह तो जड़ है। इसलिये ज्ञान भिन्न वस्तु है और शास्त्र उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान कहते हैं।

शब्द भी ज्ञान नहीं है क्यों कि शब्द कुछ नहीं जानता है। इसलिये ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है। और शब्द उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान कहते हैं।

पुस्तकेषु च विद्या परहस्तेषु यदधनम् ।

उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तदधनम् ॥

साणक्यनीति दर्पण / श्लो. २०

जो विद्या कण्ठ में न रह कर पुस्तक में लिखी पड़ी है। जो धन अपने हाथ में न रहकर पराये हाथ में पड़ा है अतएव आवश्यकता पड़ने पर अपने काम नहीं आ सकती, वह विद्या न विद्या है और न वह धन, धन ही है।

जैसे एक कृषि विद्या में स्नातकोत्तर उत्तीर्ण होकर भी कृषि कार्य करने में अर्थात् हल चलाने में, मिट्टी खोदने में, मिट्टी ढाने आदि में असमर्थ भी हो सकता है। परंतु जो कृषक है जिसने कृषि विद्या संक्रान्ति विशेष व्यापक अभ्यस्य भी नहीं किया वह कृषि कार्य वक्ष होकर करता है। उसी प्रकार केवल शास्त्रज्ञ भी आत्मतत्त्व से, आत्म भावना से, धर्म-कर्म से दान पुजादि कर्तव्यों के पालन करने में असमर्थ भी हो सकता है, और परामुख भी हो सकता है। उसी प्रकार अक्षरज्ञ पंडित के लिये वह शास्त्र विशेष कार्यकारी नहीं है, परंतु जो विशेष शास्त्रज्ञ नहीं है किन्तु आचरण में धर्म को लाता है वह कृतकार्य हो सकता है। जैसे कि प्रथमानुयोग में शिवभूति, भीमसेन जैसे अनेक अक्षर ज्ञान से अनभिज्ञ मोक्ष को प्राप्त किये मिलते हैं। तथा ग्यारह अंग पाठी भी अपने कुकृत्यों से अघोर्गति-दुर्गति को प्राप्त हुये। जैसे केवल भोजन करने मात्र से शक्ति वृद्धि नहीं होती है। भोजन यथार्थ पाचन से ही शक्ति वृद्धि होती है। उसी प्रकार शास्त्र को आत्मसात करके तदनुरूप आचरण करने से ही आत्मविशुद्धि होती है। जैसे भोजन नहीं पचाने से उससे रोग ही बढ़ता है उसी प्रकार शास्त्र को भी नहीं पचाने पर अर्थात् आचरण में नहीं लाने पर वह भी अपायक आहार के समान अपत्त्य का अर्थात् विष का कार्य करता है।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम ।

लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति ॥

जिसका त्रियेकत्वा वशा चक्षु नहीं है । उसके लिये शास्त्र कोई कार्यकारी नहीं है । जैसे दृष्टि रहित अंध के लिये दर्पण कोई कार्यकारी नहीं है । अर्थात् दृष्टि शक्ति बिना मनुष्य स्वच्छ दर्पण में भी अपना मुख नहीं देख पाता है उसी प्रकार हिताहित विवेक रहित मनुष्य भी शास्त्र से अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है ।

विद्या विनादाय धन मदाय शक्ति परेषां परपीडनाय ।

खलस्य साधोर्विपरोतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

खल दुर्जन व्यक्ति विद्या प्राप्त करके विवाद करता है धन प्राप्त करके मदोन्मत्त होता है, शक्ति प्राप्त करके दूसरों को पीड़ा देता है, परन्तु साधु धर्मत्मा पुरुष विद्या प्राप्त करके हिताहित विवेक वित्त जानी बनता है, दान प्राप्त करके दान देता है, एवं शक्ति प्राप्त करके दूसरों की रक्षा करता है । जैसे अग्नि के द्वारा भोजन तयार करके उससे शरीर की पुष्टि कर सकते हैं, और आग्नि को शरीर के ऊपर डालकर नष्ट भी कर सकते हैं । उसी प्रकार शास्त्र के माध्यम से अत्तन विशुद्ध करने से शास्त्र, शास्त्र है अन्यथा वह शास्त्र है अर्थात् स्वयं काही घातक भी है ।

“ अज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिस्रष्टानां । ”

जो निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट है अर्थात् निर्विकल्प समाधि में स्थिर नहीं है वह अज्ञानी है । और जो निर्विकल्प समाधि में स्थित है वह ज्ञानी है ।

निर्विकल्प समाधि परिणाम परिणत कारक समयसार लक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारम्भापरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मप्रतीति संवित्युपलब्धानुभूति रूपेण ज्ञानमय एव भवति । अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्त भेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूति स्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः ।

जयसेनाचार्य । त. वृ / गा. १३४

निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम से परिणतर होने वाला जो कारण समयसार है लक्षण जिसका उस भेदज्ञान के द्वारा सभी प्रकार के आरंभ से रहित होने के कारण ज्ञानी जीव का वह भाव शुद्धात्मा की ख्याति प्रतीति, सवित्ति, उपलब्धि, या अनुभूति रूप से ज्ञानमय ही होता है । किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान न होने से शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप का अभाव होने से उसका वह भाव अज्ञानमय होता है ।

जो आत्मा अनंतज्ञान, दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य रूप चतुष्टय को प्राप्त है वह कार्य समयसार कहलाता है । किन्तु जो अनंत चतुष्टय को

प्राप्त न होकर उसकी प्राप्ति के लिये निर्विकल्प समाधि में लगता है वह उपर्युक्त कार्यसमयसार का सम्पादक होने से कारण समयसार कहलाता है। जो सब प्रकार आरंभ-परिग्रह आदि से रहित होकर अपनी शुद्धात्मा को अनुभूति लिये दृष्टे रहता है अतः उसके राग-द्वेषादि रहित शुद्ध ज्ञानमय भाव ही होता है। किन्तु जो समाधि से च्युत होकर अशुद्ध होता है। अतः उसका भाव उस समय अज्ञानमय होता है ऐसा आचार्य का कहना है।

म सा. आचार्य ज्ञान सागर हिंदी टीका का विशेषार्थ / गा. १२२

“आदा तावदु कृता सो होदि नाशब्दां तावत्कालं परमलभाधे भावान्  
म चाज्ञानी जीवः कर्मणा धारको भवतीति जातव्यः”

तब तक परम समाधि के न होने से वह जीव अज्ञाना होता है जो की कर्मों का कर्ता वाला होता है ऐसा समझना चाहिये।

निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणों भेद ज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावना दृढयति। यथा कोऽपि राजसेवकः पुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कुर्वाणः सन् राजाराधको न भवति तथा परमात्माऽराधकः पुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्वरागादिभिः परिणममानः परमात्माग्राधको न भवतीति भावार्थः।

समयसार। त. वृ. गा २०-२१-२२

निर्विकार स्वसंवेदन है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान में निमग्न होकर भावना करनी चाहिये। इसी बात को फिर दृढ़ करते हैं कि जैसे कोई राजपुरुष भी राजा के शत्रुओं के साथ संसर्ग रखता है तो वह राजा का आराधक नहीं कहला सकता। उसी प्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा की प्रतिपक्षभूत जो मिथ्यात्व व रागादि भाव हैं उन रूप परिणमन करने वाला होता है तब वह परमात्मा का आराधक नहीं हो सकता यह इसका निचांड ( तात्पर्य ) है।

जिस प्रकार आत्मा से इतर पदार्थों में अहंकार रखने वाले को भी अप्रतिबद्ध बनाया है उसी प्रकार उन में मग्न रहने वाला को भी अप्रतिबद्ध बताते हुये उन सब से दूर हटकर केवल निर्विकल्प समाधि में स्थित होने वाले जीव को ही अप्रतिबद्ध, ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि कहा है।

आचार्य ज्ञानसागरजी की हिन्दी टीका से उद्धृत

**निद्रचयज्ञ कौन-**

जा हृन्दि ये जिजित्ता जाणसहायार्थय मुणदि आदं ।

त खलु जिदिदियं ते भणंति जे निच्छिदा साहू ॥

समयसार गा. ३६ में शेषक / कर्ताकर्मधिकार

निश्चय से तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्मा का अनुभव करने वाले साधु लोग उसे जितेन्द्रिय कहते हैं। जो इन्द्रियों को दण्ड में करके अपने ज्ञानादि गुणों से परपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है।

यः कर्ता द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय विषयान् जित्वा शुद्ध ज्ञान चेतना गूणेनाधिक परिपूर्ण शुद्धात्मानं मनूते जानात्यनुभवति संवत्सति । तं पुरुषं खलु सफुटं जितेन्द्रियं भवन्ति ते साधवः के ते ? निश्चयज्ञा ।

स. सा. जयसेनाचार्य । त. वृ. गा. ३६

जो जीव द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय रूप पञ्चेन्द्रियों के विषयों को जीतकर शुद्धज्ञान चेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्धात्मा को मानता है, जानता, अनुभव करता है; संवत्सत करता है अर्थात् शुद्धात्मासे सम्बन्ध होकर रहता है, उस पुरुष को ही निश्चय नय के जानने वाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं।

यः पुरुष उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शनं ज्ञान चारित्र्येकाग्रयरूप निर्विकल्प समाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणैर्वाधितं परिपूर्णमन्मानं मनूते जानाति भावयति । तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थ विज्ञायका बुधन्ति कथयन्तीति ।

(स. सा. जयसेनाचार्यकृत. गा. ३६)

जो पुरुष रागमे आये हुए मोह की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र्य इन तीनों की एकाग्रता रूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर, अर्थात् दबाकर शुद्धज्ञान गुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आत्मा को मानता है, जानता है, और अनुभव करता है उस साधु को परमार्थ के जाननेवाले 'जित मोह' अर्थात् मोह से रहित जित, इस प्रकार कहते हैं।

(आचार्य जानमागर जी की हिन्दि टीका से उद्धृत)

उपरोक्त आगम प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वेदक शास्त्र-शास्त्र कण्ठस्थ करने से अध्ययन-अध्यापन करने से उपदेश देने से, शास्त्रों की रचना एवं टीका करने से अथवा आत्म तत्त्व (निश्चय नय) का वर्णन करने से कोई निश्चयज्ञ नहीं हो सकता। किन्तु जब भव्य सम्यग्दृष्टी जीव संसार-शरीर भोगों से विरक्त होकर अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह की त्याग कर पञ्चेन्द्रिय विषय कषाय को जाकर परिग्रह उपसर्ग को सहन कर, कषायों को क्षय वा उपशम करके, समस्त संकल्प-विकल्प से दूर होकर निर्विकल्प समाधि के माध्यम से स्व शुद्धात्मा को जानता है, मानता है, भावना करता है वही निश्चयज्ञ है अन्य नहीं। अर्थात् सात्त्विक सप्तम गुणस्थानवर्ती से ऊपर के

गुणस्थानवर्ती जीव निश्चयपन्न है। उसके नीचे के गुणस्थानवर्ती जीव निश्चयपन्न नहीं है। पूर्ण निश्चयपन्न तो केवलज्ञानी अरिहंत एवं सिद्ध ही है। जो परिग्रह दि धारण करके स्त्री भोगकर, विषय कषायों से स्वपच होते हुए अपने को निश्चयपन्न मानता है वह स्वयं को तो गलित माना है। और उसी प्रकार गृहस्थ-श्रावक को पंडितों को भी अथवा निर्विकल्प समाधिसे नीचे स्थित मनुष्यों को भी जो निश्चयपन्न मानता है, वह भी अज्ञान के रहस्य को नहीं जाना वह भी अवकारमय ही है।

### मुख्यरूप से समयसार किस के लिए—

“अत्र ग्रंथ वस्तुवृत्त्या वीतराग सम्यग्दृष्टे ग्रहणं, वस्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिस्तरय गीणवृत्त्या गृह्यते।”

स. सा. त. वृ. २. २ जयसेनाचार्य

इस ग्रंथ में वास्तविक वीतराग सम्यग्दृष्टि (ध्यानस्थ एवं श्रेणी स्थित मुनि) का ही ग्रहण है। परन्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि का कथन यहाँ गीण है।

ध्यान स्थित मुनि समयसारसे वर्णित विषयों का अनुभव करता है; आचरण करता है, अध्यान करता है, मानता है, जानता है, इगलिये सम-यसार का विषय मुख्य रूप से मुनियों के लिए है। उसके नीचेस्थ सम्यग्दृष्टि ज व जैसे छठों। गुणस्थान स्थित मुनि, पाँचवें गुणस्थानवर्ती देशयता श्रावक एवं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि जीव समयसार के पूर्ण आचरण नहीं कर पाते हैं। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव मुख्यवर्ती से अध्यान करता है किंतु आचरण में नहीं ला पाता है। उसके लिये समयसार गीण है। सम्यग्दृष्टि जीव केवल तत्त्वों का अध्यान करता है परन्तु पवेन्द्रियों के व्यवहार से विरत नहीं हो पाता है, भोग-उपभोग को भोगता रहता है, धनो-पाजन के लिये व्यापार घंघ्रा करके श्रम और स्थावर का भी बन्ध करता रहता है, मन सतत राग-द्वेष कामादि विषय वासना में रत रहता है, अत्यन्त स्थूल अणुव्रत भी धारण नहीं कर पाता है, उसका अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह रहने के कारण उसका मन क्षुब्ध रहता है। मन और इन्द्रियों की वश करने में वह समर्थ नहीं हो पाता है जिससे वह स्थूल परिग्रह त्याग नहीं कर पाता है। जब वह उत्कृष्ट धर्मध्यान व पुण्यकर्म, शुभोपयोग भी नहीं कर पाता है तब वह कैसे अत्यन्त सूक्ष्म अन्तरंग परिग्रहों को त्याग करके मन को वशवर्ती करके कैसे निर्विकल्प ध्यान कर सकता है? इसलिए समयसार के विषय को सम्यग्दृष्टि अध्यान करता है, किंतु आचरण नहीं कर पाता है,

परन्तु उसके योग्य अर्थ ज्ञान प्राप्ति के लिये उसे छोड़ते हुए जब ज्ञान अर्हते हुए अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को छोड़ते हुए आर्त-रीत्र ध्यान को नष्ट करते शुभ ध्यान की ध्याते हुए मुनि इन को ध्याण करते हुए निर्विकल्प समाधि में लीन होता है तब समयसार को प्राप्त कर सकता है। जब तक इस अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है तब तक यथायोग्य दान-पूजा-अभिषेक यज्ञश्रावण, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तीर्थ-यात्रा, देवदर्शन-जपतप-साधन आदि शुभ क्रियाएँ करना चाहिये, जो कि आत्म-विशुद्धि के लिए कारण है, पाप निर्जरा के लिये कारण, पुण्यबंध का कारण, एवं परंपरा मोक्ष के लिए कारण है। यदि श्रावक अवस्था में रहते हुए यथायोग्य श्रावकों की क्रियाओं को नहीं करता है वह इतोभ्रष्ट ततोभ्रष्ट उभयभ्रष्ट है। इस प्रकार मुनि भी निर्विकल्प समाधि को प्राप्त नहीं करता है तब तक रश्मिलगुण, देववदनादि षट् आश्रयक निर्देश पूर्वक पालन करना चाहिये, यदि इन शुभ क्रियाओं से पुण्यबंध होता है ऐसा मानकर त्याग कर देगा तो वह भी उभयभ्रष्ट है, क्योंकि धर्मद्वार स्त्री कुटुम्बादि को छोड़कर इहलोक सुख से वंचित है, तथा स्वकर्तव्य पालन नहीं करने से परलोक सुख से भी वंचित हो जायेगा। जो केवल संसारिक सुख भोगते हुए, परिग्रह की संन्य करते हुए, स्त्री कुटुम्ब का सुख लेते हुए भोग से योग मानते हुए भक्ति से मुक्ति मानते हुए, संभोग से समाधि मानते हुए स्वयं को मोक्षनामो मुमुक्षु वीतरागी मानते हैं वह अपने को धोखा दे रहा है। क्योंकि उदरोन्नयन कार्य अन्धता से विरहीत होने के कारण उससे मोहनीयादि तीव्र पाप बंध होने हैं जिससे केवल संसारिक घोर दुःख हो दुःख मिलता है।

" दो मुख पन्थी चले न पन्था, दो मुख मुई मिये न कन्था ।

दोय बात नहि होय सयाने, विषय भोग अरु मुक्ति हू पाने "

रागद्वेषके त्याग बिना यथास्थ पद नाही ।

कोटि ग्रन्थ पडो व्याख्या क रोसत्र अकारज जाहि ॥

**समयसार क्या ? उसका अनुभव कौन कर सकता है ?**

कम्म यद्धमद्ध जीवे तु जाण पयपक्खं ।

पक्खातिककंती पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥

समयसार । गा १५०

जीव में कर्म बन्धे हुये है अथवा नहीं बन्धे हुए हैं इस प्रकार तो भय पक्ष जानो और जो पक्ष से दुरवर्ती कहा जाता है, यह समयसार है निर्विकल्प शुद्धात्म तत्त्व है ।

" ततो य एव समस्तं तयपक्षमातिक्रमति स एव समस्तं विकल्पमति-

कामति, य एव समस्त विकल्पमत्रिकामति स गुरु सप्रयसाह विदति "

(श्रीमदाभूतचन्द्राचार्यकृत अ'त्मरुपाति)

इस लिये जो समस्त नयपक्षों को छाड़ता है, तथा वही समयसार का अनुभव कर सकता है। नयपक्षानिर्कानो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा। तद्यथा—व्यवहारेण बद्धो जीव इति नय विकल्पः शुद्ध जीव स्वरूपं न भवति निश्चयेनावद्धो जीव इति च नय विकल्पः शुद्ध जीव स्वरूपं न भवति निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्ध जीव इति वचन विकल्पः शुद्ध जीव स्वरूपं न भवति, कल्पविधिं हेतुः। श्रुत विकल्पा नया इति वचनात्। श्रुत-ज्ञानं च क्षायोपशमिक क्षायोपशमस्तु ज्ञानावरणीय क्षायोपशमजनित तत्वा-त। यद्यपि व्यवहार नयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवल ज्ञानपेक्षया शुद्धजीव स्वरूपं न भवती। तर्हि कथंभूत जीवस्वरूपमिति चेत् ? यौसौ नयपक्षपात रहित स्वसंवेदन ज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्ध मूढाः—मूढादि नय विकल्परहितं चिदानंदैक स्वभाव जीवस्वरूपं भवतीति।

(अयमेव आचार्यकी तात्पर्यवृत्ति दीक्षा गाथा १५)

शुद्धात्म तत्त्व के वास्तविक स्वरूप जो की समयसार नामसे कहा जाता है वह हैं तो इन दोनो पक्षोंसे भिन्न प्रकारका ही हैं; क्योंकि व्यवहार नयके कहने के अनुसार जीव कर्मोंसे बंधा हुआ है जो की शुद्धजीवका स्वरूप नहीं है और निश्चयनय के जीव कर्मोंसे अबद्ध है। वह भी नय का विकल्प है जो की शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है इसलिये निश्चय और व्यवहार के द्वारा जीव को बद्ध या अबद्ध कहना यह जीव मात्र का स्वरूप नहीं है। यह नय का विकल्प है। नय जितनेभी होते हैं वह सब भूतज्ञानके विकल्प रूप होते हैं वह सिद्धांत की बात है। और श्रुतज्ञान है सो क्षायोप-शमिक है। वह क्षायोपशम ज्ञानावरणीय कर्म के क्षायोपशमसे प्रकट होते के कारण यद्यपि व्यवहारनय के द्वारा छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से जीव का स्वरूप होता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से वह शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है तब फिर जीव का स्वरूप क्या है इस प्रश्न के होने पर आचार्य उत्तर देने हुये कहते हैं—नय के पक्षपात से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञानी जीव है उसके विचारानुसार जीव का स्वरूप बद्धाबद्ध या मूढामूढ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानंदस्वरूप होता है।

य एव मुक्ता नयपक्ष पातं स्वरूपं मुक्ता निवसन्ति नित्यं।

विकल्प जाल च्युत ज्ञात चिदास्तएव साक्षादभूतं विवति ॥ ६८ ॥

जो लोग तय के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आप के स्वरूप में सलीम रहते हैं एवं सभी प्रकार के विकल्प जालसे रहित शांतचित्त वाले होते हैं वे लोग ही माक्षात् अमृत का समयसार का पान करते हैं ।

एकस्य चक्षो न तथा परम्य चित्तिद्वयोर्द्विवित्तयश्च पातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युनपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलू चिच्चिदेव ॥६९॥

जीव व्यवहार तय की अपेक्षा में बड़ होता है और निश्चय तय की अपेक्षा में बड़ होता है । और निश्चय तय की अपेक्षा में वह बड़ नहीं होता है । अतः इन दोनों तयों के विचार में अपना-अपना पक्षपात है । इसलिये पक्षपात रहित तत्त्ववेदी पुरुषके ज्ञान में तो चेतन-चेतन ही है ।

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका । वर्तते बुद्धतत्त्वस्य म  
स्थस्यस्य निवर्तते ॥

हेयोपादेयतत्त्वे तु द्विनिश्चित्य नयद्वयात् । त्यक्त्वा हेयमपादेयस्थानं  
साधुसम्पत् ॥

(स. सा. जयसेनाचर्य त. वृ.)

आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों तयों की लेकर चलती है । किन्तु तत्व को जान लेने के बाद स्मरण हो जानेपर जहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है । निश्चय और व्यवहार इन दोनों तयों के द्वारा हेय और उपादेय तत्वका निर्णय कर लेने पर हेय का त्याग करके उपदेय तत्व में लगे रहना साधु-संतों की अभीष्ट है

**आह्वान—**

जिस करणी से हम हुए अरहंत हैं वह महान् ।

उस करणी तुम करो हम तुम दोनों समान ॥

**उपसंहारः—**

समयसार वस्तुतः शास्त्र नहीं है, जो कि कुछ स्वर व्यञ्जनात्मक वाक्य में निविबद्ध है । वह तो एक परमात्कृष्ट, अलौकिक, अभीतिक, अतिन्द्रिय, अद्वितीय, अनाकार, अनासीत परमतत्त्व है । वह परमज्ञान वचन के अगोचर, शब्द से अवर्णनीय, शास्त्र की सीमा में परे है, कोई भी उसकी हानि में लेकर देख नहीं सकता है । सूक्ष्म अणुवीज्य दूरदर्शक यंत्र से देख



नहीं सकता है, भौतिक विज्ञान शाला का अविषय है। वच, के अगोचर होते हुए भी जिसका कथन सनत आध्यात्मिक विचारदा करते हैं, शास्त्र की सीमा से परे होते हुए भी जिसका वर्णन समस्त आध्यात्मिक शास्त्र करता है, जिसका प्रदर्शन करवाना असंभव होते हुये भी समस्त आध्यात्मिक प्रशिक्षक जिसका ही प्रदर्शन कराते हैं, वह ही परमान्कृष्ट स्वतत्त्व समयसार है। जिसका दर्शन चक्षु आदि इन्द्रियों से, सूक्ष्म शक्तिशाली अणुदर्शक दूर दर्शक यंत्र से, तर्क, व्याकरण, छन्द, साहित्य, कान्य, नाटक, न्याय, दर्शन, आगम, आध्यात्मिक ग्रन्थ से भी नहीं हो सकता है; उसका दर्शन निःशंक निरालम्बी अकिञ्चन महामुनि सहज स्वभावी निर्विकल्प परम्पराधि के माध्यम से करते हैं। जो गुरु, प्रितर्क, कृतर्क, सुतर्क के अगम्य वाद विवाद कुवाद सुवाद के परे होते हुए भी जो सहज सरल महामुनि के वेदगम्य हैं। जो परम मुनियों का परम ध्यान का विषय होते हुए भी स्वयं ध्यानातीत, जो निश्चय-व्यवहार, द्रव्य-पयोवात्मक तय का विषय होते हुये भी स्वयं सर्व तथातीत है, जो निक्षेपों के विषय होते हुये भी स्वयं निक्षेपातीत है, जो सर्व ज्ञेय पदार्थ को जानते हुए भी स्वयं अन्य ज्ञेय स्वरूप नहीं, जो सर्व द्रव्य संयोग सहित होने हुये भी स्वयं असंयुक्त स्वरूप वह है, अतिविचित्र अतिगूढ़ शुद्ध स्वात्मतत्त्व। जो असूक्ष्म होकर भी त्रिलोक के मूल्य से भी खरीदा नहीं जा सकता, जो भुक्तता से (भारीपना) रहित होकर भी त्रिलोक के गुरु है, जो सूक्ष्म होकर भी लोकालोक से भी अनन्त गण (जानापेक्षा) बड़ा है वह है महान तत्त्व स्वशुद्धात्म तत्त्व। जो अगुरुलघु (न भारी, न हल्का) होते हुये भी जिसको चलायमान करने से त्रिलोक की शक्ति असमर्थ, जो दूसरों को प्रतिरोध (अव्याघात) नहीं करते हुये भी कोई उनकी बाधा नहीं पहुँचा सकता, जो मन वचन कार्य बल से रहित होकर भी अनन्तवीर्य है, वह स्वयम् सर्वशक्तिवान समयभार तत्त्व स्वशुद्धात्म तत्त्व है। जो समस्त चर चर का दर्शक होते हुये भी स्वयं सर्वदृष्टि के अगोचर, सर्व का दर्शन होते हुये भी जो स्वयं अनन्त क्षाणिक सम्यग्दृष्टि है वह शुद्ध बुद्ध सुदर्शन रूप आत्मतत्त्व समयभार स्वशुद्ध तत्त्व है। (जो मिथ्या देवादियों का दर्शन करता है वह मिथ्यादृष्टि परंतु शुद्धात्मा, अनन्तदर्शन से सबका दर्शन करते हुये भी धार्मिक अनन्त सम्यक्त्ववाला है) जो सुख के (काम-भोग इन्द्रिय जनित सुख से) भिन्न होता है जो त्रिकालवर्ती नर-नरेन्द्र, देव-देवेन्द्र, अमर-अमुरेन्द्रादियों के सुख से भी अन्त गुणित अतिन्द्रिय, अद्वय वाध, निराक्ष, आत्माभ, निराकुल, ज्ञानानन्द रूप अमित सुख को अनुभव करता है वह अन्त शान्ति, सुखी, आत्मोपमांशी, महेन्द्र, विष्णु, शंकर, शुद्ध-बुद्ध-प्रबुद्ध पञ्च अर्धोक्तिक चिज्ज्योतिस्वरूप, आनन्द धन स्वरूप

पैकार्त्तः ध्रुवतत्त्व स्वशुद्ध आत्मतत्त्व ही निम्नय से समयसार है । जो दूसरों का तो कभी स्मरण नहीं करता है परन्तु जिनका स्मरण मुनिन्द्र, देवेन्द्र नरन्द्रादि करते हैं वह परमेश्वर, प्रभुविभु अर्हन्, विष्णु पूज्यपाद, परमाराध्य त्रिलोक पूज्य स्वशुद्ध तत्त्व, उत्कृष्ट परमोपदेय द्रव्य समयसार है ।

यः स्मर्यते सर्व मुनीन्द्र वृन्दैः

यः सूयते सर्वतरामरेन्द्रैः ।

यो गीयते वेद पुराण शास्त्रैः

स देव देवी हृदये ममास्ताम् ॥ भा. द्वा. १२ ॥

यो दर्शनं जान सुख स्वभावः

समस्त संसार विकार बाह्यः

समाधिगम्यः परमात्मसजः

स देवदेवी हृदये ममास्ताम् ॥ भा. द्वा. १३ ।

यो व्यापको विश्व जमीन वृत्तेः

मिद्धी विवृद्धी द्युत कर्मबन्धः ।

व्याता घृणीतां सकलं विकार

य देवदेवी हृदये ममास्ताम् ॥ भा. द्वा. १३ ॥

निमलः केवलः सिद्धो विविधत प्रभुरक्षय ।

परमेष्टी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ समाधिगतकम् ६ ॥

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।

चित्स्वभावाय भावाय सर्व भावान्तरच्छिदे ॥ अमृतकलश १ ॥

उपाध्याय सुमिश्री कनकनन्दि

७-११-८७

**धर्मकी परीक्षा—**

यथा सुवर्णं परिक्ष्यते घर्षण छेदन ताप ताडनैः ॥

धर्मो विदुषाः परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपदयामुणैः ॥

जैसे सुवर्णकी घर्षण, छेदन, अग्निमें तपना, एवं ताडना से परीक्षा करके शुद्धसुवर्ण ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी धर्म को शास्त्रसे, शीलसे, तपसे एवं दया गुण से परीक्षा करके शुद्ध धर्म को ग्रहण करता है । अर्थात् जिस धर्म में अविरोध शास्त्र है, शील है, तपश्चर्या है, दया धर्म है वही धर्म मत्तधर्म है अन्य धर्म कुधर्म है । अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बुद्धिहीन जन दयादिहीन धर्मको स्वीकार करते हैं, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि ब्रुद्धिमान जन नहीं ॥

धर्मः कल्पवृक्ष—

धर्मः कल्पवृक्षस्य अहिंसा दृढमूलः

सुरत्न त्रयः स्कंधः क्षमादि दिव्य शाखाः ।

समिति सुमन शोभे गुप्तित्रयः परागः

अमृतफलं दिव्यः नित्यानन्द रसालः ॥

सरस्वती स्तव—

सर्वज्ञदेव तनुजा शुद्धशुभ्रगात्री

विज्ञान हंसवाहिनी वेद-चतुर्भुजी ।

स्याद्वादवीणा अनेकान्त धर्मधारिणी

जगत जतनी नमो अमृत वर्षणी ॥

सर्वज्ञहृदोद्भूतः पवित्र तीर्थः पूनी

अनेकान्तः बहुमि स्याद्वाद कलध्वनी ॥

अहिंसा स्वच्छगात्री भव्यानां तीर्थमूर्तिः

ससार ताप हर्त्री भव्यानां मोक्षदात्री ॥

अमृत नीति—

विनयसमं न नीति स्वाध्याय सम तपः

स्वरुचिसमस्वादः प्रेमसमान वन्धः

न क्षमापमं दम्भं लोभसमान पापं

वैर्यं समानं शक्तिः त्रैलोक्ये तान्य अन्य ॥

स्वाधीन सुरणं परमेव सुखं

भोगसमं रोग न अन्य क्वचित् ।

रत्नत्रयधारी समं न श्रीमान्

भारवाही पशुरेव धनवान् ॥

# देवसेन देवसेन आचार्य की अद्वितीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व की

## विषय-सूची

| -विषय-                          | पृष्ठ | -विषय-                         | पृष्ठ |
|---------------------------------|-------|--------------------------------|-------|
| दर्शनसार                        | १     | एकान्त नियतिवादी               | ४६    |
| जैनाभास                         | २     | प्रत्येक कार्य के लिए '५       |       |
| काष्ठासंध                       | २     | कारणों की आवश्यकता             | ४६    |
| श्वेताम्बर संध                  | २     | मिथ्यात्व में बन्ध             | ५०    |
| द्राविड संध                     | ३     | सासादन गुणस्थान                | ५४    |
| यापनीय संध                      | ३     | मिश्र गुणस्थान                 | ५४    |
| निर्पिच्छक संध                  | ४     | अद्विगत सम्बन्धित गुणस्थान     | ५५    |
| निमित्त उपादान से कार्य होता है |       | देश विस्त (श्रावक)             | ५९    |
| नयचक्र                          | ५     | अष्टगुणगुण                     | ६०    |
| नय                              | ७     | श्रावक के पद आवश्यक            | ६३    |
| निश्चय-व्यवहार नय               | १२    | देवपूजा                        | ६५    |
| आलाप पद्धति                     | १४    | जिनदर्शन महिमा                 | ६६    |
| श्रुतभवन दीपक नयचक्र            |       | जिन चैत्य-चै-यालय का स्वरूप    | ६८    |
| (आध्यात्मिक नय) नयपक्षातीत      | १५    | अकृत्रिम चैत्य                 | ६८    |
| तत्त्वसार                       | २४    | जिनेन्द्रपूजा विधि             | ७०    |
| पंचमकालमे भावलिङ्गी मुनियोंका   |       | अभिषेक पूजा का फल              | ७१    |
| सद्भाव (मुनि निवास)             | २५    | अरिहंत भवितसे तिर्यंकर नाम     |       |
| पंचम कालमे मुनियोंकी १ वर्ष का  |       | कर्म बन्ध                      | ७५    |
| तपस्या चतुर्थ कालमे १००० वर्ष   |       | गुरुपास्ति                     | ८०    |
| के समान है                      | २७    | वैयावृत्य न करने में दोष       | ८१    |
| पंचम कालके अन्तम तक भाव         |       | वैयावृत्य का प्रयोजन व फल      | ८१    |
| लिङ्गीमुनि                      | २८    | वैयावृत्यसे तिर्यंकर नामकर्मका |       |
| आराधना सार                      | ३०    | बन्ध                           | ८२    |
| ध्यान का पात्र                  | ३१    | स्वाध्याय                      | ८३    |
| भावसंग्रह (देवसेन के स्वयं देव  |       | संयम                           | ८४    |
| होने का प्रायोगिक मार्ग)        | ३७    | तप                             | ८५    |
| मिथ्यात्व में बन्ध              | ४२    | दान                            | ८५    |
| एकान्त कालवादी                  | ४६    | दानांश                         | ८७    |

| -विषय-                             | पृष्ठ | -विषय-                         | पृष्ठ |
|------------------------------------|-------|--------------------------------|-------|
| दान अभावसे दोष                     | ९०    | अपुनरत क्रिया निवृत्ति         |       |
| दान पूजादि कथा पाप बन्धका          |       | शुक्लध्यान                     | १३५   |
| कारण                               | ९०    | पंचम कालमें क्याभाव श्रुतकेवली |       |
| पाप-पुण्य                          | ९३    | हो सकते हैं?                   | १३५   |
| पुण्य का लक्षण                     | ९६    | शुभ क्रियाओंसे कर्म निर्जरा    | १४२   |
| शालम्बन एवं निरालम्बन ध्यान        | ९६    | शुभोग योगका स्वरूप             | १४४   |
| गृहस्थोंका उत्कृष्ट धर्मध्यान ही   |       | पुण्याश्रवको कारण              | १४५   |
| होनेका कारण                        | ९७    | पुण्य फल                       | १४६   |
| अग्रयन्त गुणस्थानमें मुनिओंको      |       | पापका स्वरूप                   | १४६   |
| निरालम्ब ध्यान                     | ९८    | पापान्नवका कारण                | १४७   |
| द्वारा गुणस्थान सकल संयमी          | १००   | पाप बन्ध का कारण               | १४७   |
| मुनिका स्वरूप                      | १००   | सम्यग्दर्शन प्राप्तक व्यक्ति   | १४८   |
| मुनियोंका कर्तव्य                  | १०२   | पाप फल                         | १५१   |
| यम नियमोंका फल                     | १०३   | पाप अत्यन्त हेय है             | १५२   |
| शमीपयोग एवं पुण्यपाप               | ११०   | पुण्य त्याग करने योग्य व्यक्ति |       |
| गृहस्थमनुमति                       | ११३   | कौन है?                        | १५२   |
| परमध्यान के पर्यायवाची             |       | किनके पुण्य हेय है?            | १६०   |
| शब्दार्थ                           | ११८   | पाप भी उपादेय हैं              | १६१   |
| वीतराग निर्विकल्प समाधी            | १२५   | ध्यानावस्था-अग्रयन्त गुणस्थान  | १६५   |
| पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थोंमें     |       | अपूर्वकरण गुणस्थान             | १६७   |
| होने योग्य ध्यान                   | १२९   | अनिश्चिनिकरण गुणस्थान          | १६७   |
| ध्याताका लक्षण                     | १३१   | सूक्ष्मसांपराध गुणस्थान        | १६७   |
| आज्ञाविचय धर्मध्यान                | १३३   | उपशान्तमोह गुणस्थान            | १६८   |
| अप्रायविचय धर्मध्यान               | १३३   | धीण मोह गुणस्थान               | १६८   |
| विप्राकविचय धर्मध्यान              | १३४   | जीवनमुक्त गुणस्थान             | १६९   |
| संस्थानविचय धर्मध्यान              | १३४   | शैलेश                          | १६९   |
| पुण्यकक्षवितर्क वीचार शुक्लध्यान   | १३४   | अरहत का विशेष वर्णन            | १६९   |
| एकत्ववितर्क वीचार शुक्लध्यान       | १३५   | सिद्धावस्था                    | १७१   |
| सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान | १३५   | उपसंहार                        | १७१   |

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

— तस्य भूषणेश्वर गुरुणो नमो अणेरन्तकायस्स —

## देवसम देवसेन आचार्य का अद्वितीय व्यक्तित्व और कृतित्व

परम जिनायम रहस्य ज्ञाता उभय भाषावित् नय चक्र संचारक धुरन्धर, अक्षुण्ण चारित्र्य पालनैक धीर, मूल संघ कुन्द कुन्द आम्नाय के समर्थ पोषक एवं प्रचारक महा प्राज्ञ देवसेन आचार्य जैन धर्मके एक अलौकिक ज्योतिपुंज थे। उनके वर्तमान उपलब्ध निश्चय व्यवहार समन्वयात्मक अनेक बेजोड ज्वलन्त कृतिसे उनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से प्रतिभाषित होता है। आचार्य प्रवर समन्वय अनेकान्तवादी होते हुए भी मिथ्या मत का सम्यक् खण्डन करके सत्य धर्म का प्रतिपादन स्पष्ट एवं निर्मय रूप से अपनी समस्त कृति में यत्र तत्र किये हैं। कृतित्वसेही व्यक्तिका व्यक्तित्व पहिचाना जाता है इस न्यायानुसार उनके द्वारा रचित वर्तमान उपलब्ध कुकृतियों के माध्यम से उनका व्यक्तित्व का हम अवलोकन करेंगे उनके द्वारा रचितशास्त्र निम्नलिखित हैं। १) दर्शनसार २) नय चक्र ३) आलाप पद्धती ४) श्रुत भवन दीपक नय चक्र ५) तत्त्वसार ६) भावसंग्रह ७) आराधनासार, इतने शास्त्र उपलब्ध हैं। धर्मसंग्रह पुस्तक अप्राप्य है।

### १) दर्शनसार

दर्शनसार एक लघुकृति प्राकृत दोहा बद्ध शास्त्र है। इसमें मूल आम्नाय के समर्थक प्रचारक एवं पोषक देवसेन आचार्यने जैना-भासियोंका उत्पत्ति काल एवं उनके शिथिलाचार के बारे में ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक वर्णन किये हैं। भाव संग्रह में आचार्यश्रीने समस्त मिथ्यामत एवं श्वेताम्बरी का सविस्तृत खण्डन किये हैं। दर्शनसार में आचार्य श्रीने पांच जैनाभासियोंका वर्णन किया है —

## जैनाभास

गोपुच्छक श्वेतवासा द्रविडोयापनीय ।

निषिच्छश्चेति चैसे पञ्च जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ।

- १) गोपुच्छक (काष्ठा संघ) २) श्वेताम्बर ३) द्राविड ४) यापनीय  
५) निषिच्छक (माथुर) ऐसे पांच प्रकार जैनाभास कहे गये हैं।

### १) गोपुच्छक ( काष्ठा संघ) -

प्रासीकुमार सेणो णंदियडे विणय सेणा दिक्खिओ ।

सण्णास भंजणेण अगहिय पुणदिक्खओ जादो ॥३३॥

सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।

णंदियडे वरगामे कट्टो संघो सुणेयव्वी ॥३४॥

णंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थ विण्णाणी ।

कट्टो दंसण भट्टो जादो सल्लेहणा काले ॥३५॥

आचार्य विनयसेन के द्वारा दीक्षित आचार्य कुमार सेन जो संन्यास से भ्रष्ट होकर पुनः गुरु से दीक्षा न ली और सल्लेखना के समय दर्शन से भ्रष्ट होकर नन्दितट ग्राम में (वि. सं. ७५३ में) काष्ठासंघी हो गए।

### काष्ठासंघ में मूलसंघ के विरुद्ध सिद्धांत -

कुमार सेन ने भयूर पिछी का त्याग कर तथा चमरी गाय की पूछ के बालों को ग्रहण कर सारे बागड़ प्रांत में उन्मार्ग का प्रचार किया। उसमें स्त्रियों को पूर्ण दीक्षा देना, क्षुल्लकों की वीर्य चर्चा, मुनियोंको कड़े बालों की पीछी रखना और रात्रि भोजन त्याग नामक छठे गुणव्रत का विधान किया। उन्होंने आगम, शास्त्र, पुराण प्रायश्चित्त ग्रंथों को कुछ और ही प्रकार रचकर मूर्ख लोगों में मिथ्यात्व का प्रचार किया। इस संघ में गोपुच्छ की पीछी रखने के कारण इसे गोपुच्छ संघ कहा जाता है।

### २) श्वेताम्बर संघ -

श्वेतवस्त्रधारी, स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहारी आदि को माननेवाले प्रसिद्ध श्वेताम्बर संघ का वर्णन स्वयं देवसेन आचार्य भाव संग्रह में वर्णन करेंगे इसलिये उसका विशेष कथन नहीं कर रहे हैं।

### ३) द्राविड संघ -

सिरि पुज्जपाद सीसो दाविड संघस्य कारगो दुट्ठो ।  
 णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥ दर्शनसार  
 अप्पा सुय चणयाणं मवखणदी वज्जिदी मुणिदेहि ।  
 परिइयं विवरीयं वग्गणं नोज्जं ॥२५॥ दर्शनसार  
 जीएणु मणि जीवो उल्लसणं णत्थि फासुगं णत्थि ।  
 सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिह कप्पियं अट्ठं ॥२६॥  
 कच्छं खेत्तं वसहि वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो ।  
 ण्हंतो सीयलणीरे पावं पडरं स संजदि ॥२७॥  
 पंचसय छब्बीसे विक्कम रायस्स मरणपत्तस्स ।  
 दक्खिण भहुराजो दाविड संघो महामोहो ॥२७॥ दर्शनसार

श्री पूज्यपाद या देवनंदि आचार्य के शिष्य दुष्ट व्रजनंदि दाविड संघ को उत्पन्न करनेवाले हुए । ये प्राभृत ग्रंथों के ज्ञाता और महान सत्त्वधारी थे । मुनिराजों ने उन्हें अप्रासुक या सचित्त चनों को खाने के लिये रोकें । परंतु वे नहीं माने और भ्रष्ट होकर विपरित प्रायश्चित्त आदि ग्रंथों की रचना की । उनके मतानुसार बीजों में जीव नहीं होते, मुनियोंको खड़े होकर भोजन लेने की विधि नहीं है । कोई वस्तु प्रासुक नहीं है । वह सावद्य भी नहीं मानते थे और गृह कल्पित अर्थ को भी नहीं मानते थे । कच्छार क्षेत्र वसतिका और वाणिज्य आदि कराके जीवन निर्वाह करते हुए और शीतल जल में स्नान करते हुए उन्होंने प्रचुर पापोंका संग्रह किये । विक्रम राजा की मृत्यु के ५२६ वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा में यह महामोहरूप द्राविड संघ उत्पन्न हुआ ।

### ४) यापनीय संघ -

कल्लाणे वरणयरे सत्तसय पंच उत्तरे जादे ।

जावणिय संघ भावो सिरि कलसादो हु सेवडदो ॥२९॥ दर्शनसार  
 यापनीयास्तु वेसरा इवो भयं मय्यन्ते, रत्तत्रयं, पूजयन्ति, कल्पंच  
 वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं केवलं जिनानां कवलाहारं, पर शासने  
 सग्रन्थानां मोक्षंच कथयन्ति ।



कल्याण नगर में विक्रम राजा की मृत्यु के ७०५ वर्ष बीतने के बाद तथा दूसरी प्रति के अनुसार २०५ वर्ष बीतने के बाद श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु द्वारा यापनीय संघ का उद्भव हुआ। यापनीय संघवाले दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों को मानते हैं, रत्नत्रय को पूजने हैं, कल्पश्रुत को पढ़ते हैं, स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष मानते हैं, केवलियों को कबलाहार मानते हैं। परमत वालों (मिथ्यात्ववादियों को) और परिग्रह धारियों को भी मोक्ष बताते हैं।

#### ५) निपिच्छिक संघ - (माथुर संघ)

ततो दुसए तीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो ।  
 णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥४०॥  
 सम्मत पयडि मिच्छंतं कहियं जं जिणिद बिबेसु ।  
 अण्य थरणिठिएसु य समत्त बुद्धीए परिवसणं ॥४१॥  
 एसो मम होऊ गुणो अवरो णत्थि त्ति चित्त परियरणं ।  
 सग गुरु कुलाहि माणो इयरेसु वि भंग करणंच ॥४२॥  
 काष्ठा संघ के २०० वर्ष पश्चात् विक्रम सं. ९५३ में माथुरा

नगरी में माथुर संघ के प्रधान गुरु रामसेन हुए। जिन्होंने निपिच्छ रहने का उपदेश दिए। उन्होंने अपने और पराये प्रतिष्ठित किए हुए जिनविम्बों की समत्व बुद्धि के द्वारा न्यूनाधिक भावों से पूजा वंदना करने एवं यह मेरा गुरु है दूसरा नहीं है इस प्रकार के भाव रखने और अपने गुरु कुल का अभिमान करने और दूसरे गुरुकुलों का मान भंग करने के लिये सम्यक्त्व प्रकृति रूप मिथ्यात्व का उपदेश दिये।

पिच्छे ण हु सम्मतं कर गहिए मीर चमर डंबरए ।  
 अण्णा तारइ अण्णा तम्हा अण्णा वि ज्ञायव्वो ॥१॥  
 सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य ।  
 समभाव भावियप्पा लहेय मोवखं ण संदेहो ॥२॥

मोर पंख या चमरी गाय के बालों की पिच्छ हाथ में लेने से सम्यक्त्व नहीं है। श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बुद्ध हो या अन्य कोई

भी हो, समभाव से भायी गयी आत्मा ही मोक्ष प्राप्त करती है इसमें संदेह नहीं ।

**निमित्त उपादान से कार्य होता है —**

इस संघ का मत सन्तुष्टः स्वच्छंदः शिल्पिजानारी निहन्तयाभासीय है, क्योंकि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यान्तर कारण से होता है ।

**जैसा कि तार्किक शिरोमणि स्वामी समन्त भद्रने स्वयंभू स्तोत्रमें कहा है—**

बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।

नैवान्यथा मोक्षविधिरश्च पुंसां, तेनाभिवंद्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥

**प्रभाचंद्राचार्य की टीका —**

बाह्येत्यादि । बाह्यच इतरश्चाभ्यन्तरः तौ च तौ उपाधीच हेतु उपादान सहकारि कारणे तयोः समग्रता संपूर्णता । इयं प्रतीयमाना क्वः कार्येषु घटादिषु । ते तत्र मते । कथम्भूता सा? द्रव्यगतः स्वभावः जीवादि पदार्थगतमर्थक्रियाकारि स्वरूपं । अन्यथा एतस्मात्तत्समग्रता-तत्स्वभावता प्रकारात् अन्येन तदस्वभावता प्रकारेण । नैव मोक्ष विधिरश्च । च शब्दोऽपि जब्दार्थः । न केवलं घटादि विधानं नैवान्येन प्रकारेण घटते किंतु मोक्षविधिरपि । पुंसां मुक्त्यर्थिनां । यत एवं तेन कारणेन अभिवंद्यस्त्वं बुधानां गणधरदेवादीनां विपश्चितां । कथम्भूतः? ऋषिः परमहि सम्पन्नः ॥

बाह्य कारण अर्थात् निमित्तकारण एवं आभ्यान्तर कारण अर्थात् उपादान कारणों की परिपूर्णता से ही कार्य की उत्पत्ति होना यह द्रव्य का स्व स्वभाव है अर्थात् जीवादि पदार्थगत अर्थ क्रियाकारित्व के लिये दोनों कारणों का समन्वय होना अनिवार्य है । जैसे घट रूप कार्य के लिये योग्य मिट्टी उपादान कारण है एवं कुंभार, चक्र, पानी, चीवर आदि बाह्य कारण है । यदि केवल योग्य मिट्टी है परंतु बाह्य योग्य कुंभारादि कारणों का अभाव होने पर मिट्टी घट रूप परिणमन नहीं करती है । उसी प्रकार योग्य कुंभारादि के सद्भाव होने पर भी योग्य

मिट्टी के अभाव में भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । यदि इसी प्रकार नहीं मानेंगे तो प्रत्यक्ष आगम विरोध प्राप्त होगा । बाह्यनिमित्त कारण के अभाव से भी मिट्टी स्वयमेव ही घट बनती है ऐसा मानने पर समस्त मिट्टी स्वयमेव घट रूप परिणमन हो जाना चाहिये किंतु इस प्रकार उपलब्ध नहीं है और अनुपलब्ध को ही उपलब्ध मानना मिथ्यात्व है । उसी प्रकार केवल बाह्य निमित्त से कार्य होता है । तो कुंभारादि बाह्य निमित्त से घट बनता है मानने पर मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती तथा कुंभारादि के हाथ, पैर आदि ही घट रूप परिणमन कर जाना चाहिए किंतु ऐसा भी उपलब्ध नहीं है । केवल लौकिक घटादि कार्य के लिये दोनों कारणों का सद्भाव चाहिये ऐसा नहीं किंतु अलौकिक अभूतपूर्व महान कार्य मोक्ष के लिये भी दोनों कारणों का समन्वय अनिवार्य है ।

मोक्ष के लिये रत्नत्रय परिणत स्वात्मा उपादान कारण है एवं बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, कालादि, निर्ग्रन्थ मुनि लिंग आदि निमित्त कारण है । अन्तरंग परिणाम एवं बहिरंग साधनों के माध्यम से मोक्ष रूप कार्य सिद्ध होता है । आध्यात्मिक सम्राट् मूल आम्नाय के कर्णधार कुन्दकुन्द आचार्य अष्टपाहुड में बताये हैं —

णवि सिज्जदि वत्थधरो जिणसासणे जह वि होइ तित्थयरो ।  
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

जिन शासन में वस्त्रधारी तीर्थंकर को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । एक केवल निर्ग्रन्थता ही मोक्ष मार्ग है अन्य सर्व उन्मार्ग हैं, कुमार्ग हैं । जैसे आचार्य कहे हैं —

कारण द्वयं साध्यं न कार्यमेकेन जायते ।  
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते वचचित् ॥

जो कार्य दो कारण से होता है वह कारण से नहीं हो सकता है । जैसे पुत्र उत्पत्ति रूप कार्य माता पिता रूप दो कारणों से होता है ।

इसी प्रकार अन्तरंग चारित्र्य एवं बाह्य चारित्र्य रूप कारण से ही मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य हो सकता है । अन्यथा नहीं ।

इन ऐतिहासिक एवं वैदिक में मूल कारण शिथिलाचार, मनो कल्पित सिद्धांत, हठग्राहितावादी । यदि अंतरंग में परिग्रह की इच्छा नहीं है तो बाह्य में परिग्रह कदापि नहीं हो सकता । यदि बाह्य में परिग्रह है तो अन्तरंग में मूर्च्छा है ही । इसी प्रकार प्रायः एकान्त निश्चय आध्यात्मवादी करण चरण को छोड़कर स्वच्छन्द होकर संसार वृद्धि करते हैं । इस प्रकार देवसेन आचार्य ने दर्शनसार में दर्शन विषयक कलंक धोकर निर्मल दर्शन प्राप्त करने का वर्णन किये हैं ।

## २) नयचक्र —

वर्तमान उपलब्ध नय विषयक स्वतंत्र कृति आचार्य देवसेन की है । आचार्य देवसेन द्वारा नय चक्र में गाथाएँ प्राकृत भाषा में हैं । इस नय चक्र में आचार्य श्रीने सम्पूर्ण नयों का आगमानुसार संक्षिप्त वर्णन किया है । आचार्य श्री अपने काल में नय विषयक ज्ञान में अत्यंत दक्ष थे । द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नय चक्र के कर्त्ता माइल्ल धवल ने देवसेनाचार्य कृत नय चक्र के अवलम्बन से ही नय चक्र की रचना की ।

सिय सल्लसुणय दुण्णय दणुदेह विहारणेवक वर वीरं ।

तं देवसेण देवं णय चक्कयरं गुहं णमहं ॥४२३॥

द्रव्य स्वभाव प्रकाशक

दव्व सहाव पयासं दोहय बंधेण आसि जं दिट्ठं ।

तं गाहा बंधेण रइयं माइल्ल धवलेण ॥४२४॥ " "

सुसमीरणेण पोयं पेयं संतं जहा तिरणट्ठं ।

सिरिदेवसेण मुणिणा तह णय चक्क पुणो रइयं ॥४२५॥ " "

स्यात् शब्द से युक्त सुनय के द्वारा दुर्नयरूपी दैत्य के शरीर को विहारण करने में एक मात्र वीर नय चक्र के कर्त्ता उन देवसेन नामक

गुरुदेव को नमस्कार हो । इससे सिद्ध होता है कि देवसेनाचार्य नय विषयक मर्मज्ञ महाप्राज्ञ विद्वान् थे उन्होंने सुनय चक्र के माध्यम से दुर्नय रूपी मोहान्धकार स्वरूप दैत्य को नाश किये थे अर्थात् जैन धर्म का सम्यक् प्रचार प्रसार उन्नयन किये थे ॥४२३॥

द्रव्य स्वभाव प्रकाशक दोहा में रचा हुआ था उसको माइल्ल धवल ने गाथाबद्ध किया ॥४२४॥

अनुकूल वायु के द्वारा प्रेरित हुआ जहाज तैरने में समर्थ होता है वैसे ही श्री देवसेन मुनि ने नयचक्र पुनः रचा । इससे सिद्ध होता है उस समय की परिस्थिति से प्रेरित होकर आचार्य श्रीने पुनः नयचक्र को रचा । अन्य प्रति में स्थित अन्य गाथा -

दुसमौरणेण पोयं पेरियसंतं जहा तिरं नट्टं ।

सिरि देवसेन मुणिणा तह् णय चक्कं पुणो रइयं ॥

दुःषम काल रूपी आंधी से संसार सागर से पार उतारने वाला जहाज के समान जो नय चक्र चिरकाल से नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनि ने पुनः रचा । इससे सिद्ध होता है कि नयचक्र विषयक उस समय शास्त्र था परंतु दुःकाल के कारण वह शास्त्र नष्ट होने से धर्म वात्सल्य से प्रेरित होकर जिन शासन की रक्षा प्रसार प्रचार के लिये एवं मिथ्या नयों का निरसन करने के लिये आचार्य श्रीने संसार से पार उतारने के लिये जहाज के समान, एक नवीन नय चक्र रचा ।

जैन धर्म एक पंथ व वाद नहीं है जैन धर्म वस्तु स्वभाव सहज सरल स्वभाव प्राकृतिक धर्म है । वस्तु सत् स्वरूप होने से त्रिकाल अबाधित एवं शाश्वत है । वस्तु अनादि अनंत है एवं जैन धर्म वस्तु स्वभाव धर्म है उसी कारण जैन धर्म शाश्वतिक अनादि अनंत प्राकृतिक सहज सरल धर्म है । प्रत्येक वस्तु अनंत गुण पर्याय होने से प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है इसलिये जैन धर्म भी अनेकान्तात्मक है । अनंत गुण पर्यायात्मक वस्तु को जानने के लिये अनंत ज्ञान भी चाहिये ।

जो अनंत ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ हैं वे ही वस्तु को पूर्ण यथार्थ रूप से जान सकते हैं अन्य कोई असर्वज्ञ नहीं जान सकते हैं। सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होनेसे वस्तु जैसी है उसी प्रकार है। परंतु दिव्यध्वनि में युगपत् सम्पूर्ण गुण पर्यायों का वर्णन नहीं हो सकता इसलिये दिव्यध्वनि भी नयात्मक है। जैसे कि स्याद्वाद्वास्ति सिद्धसेन दिवाकरने सन्मति सूत्र में कहा है—

तित्थयर वयण संगह विसेस पत्थार मूल वागरणी ।  
द्ववद्वियो य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सि ॥३॥

तीर्थंकर के वचन सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य रूप से मूल व्याख्यान करनेवाला वचन द्रव्याधिक नय है। विशेष रूप का प्रतिपादन करनेवाला मूल व्याख्यान पर्यायाधिक नय है। शेष सभी नय इन दो नयों के भेद है इसलिये द्रव्याधिक अर्थात् निश्चय नय भी सत्य है उसी प्रकार अवस्था नय पर्यायाधिक नय भी सत्य है।

नय :-

जं णाणीण वियप्पं सुयत्थेयं वत्थुयंस संगहणं ।  
तं इह जयं पउत्तं णाणि पुण तेहि णाणेहि ॥२॥ नय चक्र  
जह्वा ण णएण विणा होइ णस्स सियवाय पडिवत्ती ।  
तह्वा सो बोहव्वो एअंतं हंतुकामेण ॥३॥ नयचक्र

नय :- ज्ञानी का जो विकल्प है उसे नय कहते हैं अथवा श्रुत ज्ञान के भेद को नय कहते हैं अथवा वस्तु के एक अंश ग्राही को ज्ञानियों ने नय कहा है। इसलिये नय न पूर्ण ज्ञान है न अज्ञान है परंतु ज्ञानांश है। नय में द्रव्य का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और नय अन्यथा वस्तु का प्रतिपादन करता है केवल वस्तु अंशग्राही होता है ॥२॥

नय के बिना स्याद्वाद की सिद्धी नहीं होती है इसलिये स्याद्वाद सिद्धि के लिये एवं एकान्त खण्डन के लिये नय विषयक ज्ञान अनिवार्य है क्योंकि “णयमूलो अणेयंतो” अनेकांत का मूल नय है ॥३॥

वस्तु अनेकांत स्वरूप है। अनेकांत को जाननेपर ही वस्तु के स्वरूप को जान सकते हैं। जब वस्तु के स्वरूप को जानेंगे तभी सम्यगृष्टि हो सकते हैं। जब सम्यगृष्टि होंगे तभी मोक्षमार्गी होंगे।

जं णयदिट्ठि विहीणा तेसिं ण हु वत्थुरुव उवलद्धि ।  
वत्थु सहाव विहूणा सम्माइट्ठी कहं हुंति ॥१०॥ नय चक्र ।

नय दृष्टि से विहीन व्यक्ति वस्तु स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता है वस्तु स्वभाव रहित जीव सम्यगृष्टी नहीं हो सकता है ॥१०॥

एअंतो एअणओ होइ अणेयंतमस्स सम्मूहो ।  
तं खलु णाणदियप्पं सम्मं मिच्छं च णायद्वं ॥११॥ नयचक्र

एक नय एकांत स्वरूप है सम्पूर्ण नयों का सम्यक् समन्वय अनेकांत है। नय और अनेकांत दोनों ज्ञान के विकल्प हैं। तो भी एकांत नय मिथ्या है और अनेकांत सम्यक् है। वह भले द्रव्यार्थिक या निरुचय नय हो अथवा पर्यायार्थिक या व्यवहार नय हो ये दोनों निरपेक्ष होने से दोनों मिथ्या एवं अवस्तु स्वरूप हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति सूत्र में कहे हैं -

दब्बट्ठिय वत्तव्वं अवत्थु अवत्थु णियमेण पज्जव णयस्स ।  
तह पज्जव वत्थु अवत्थुमेव दब्बट्ठिय णयस्स ॥१०॥

द्रव्यार्थिक नय का सामान्य कथन पर्यायार्थिक नय के लिये नियम से अवास्तविक है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय का विषय द्रव्यार्थिक नय के लिये अवास्तविक है। क्योंकि विवक्ष भेद से दोनों नयों के विषय भिन्न भिन्न हैं। दोनों ही नय एक ही वस्तु के विभिन्न स्वरूप को ग्रहण करते हैं।

कथञ्चित्— दोनों नय परस्पर एक दूसरे के विषय को ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि दोनों नय सापेक्ष हैं। द्रव्यार्थिक नय सामान्य है और पर्यायार्थिक नय विशेष है। अतएव एक दूसरे के विषय को अवस्तु

मानने के कारण ये दोनों नय भिन्न भिन्न हैं। उदाहरण स्वरूप समयसार में कुन्द कुन्द देव कहते हैं—

व्यवहारेण वदिससइ णाणिसस चरित्तं दंसणं णाणं ।  
एवमि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं आणगा सुद्धो ॥७॥

From the vyavahara point of view, conduct, belief and knowledge are attributed (as different characteristics) of the knower, the self. But from the real point of view there is no (differentiation of) knowledge, conduct and belief, in pure self.

व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानी का चारित्र्य, दर्शन, ज्ञान है किंतु निश्चय नय की अपेक्षा ज्ञानी का ज्ञान दर्शन चारित्र्य नहीं है केवल एक जायक शुद्ध स्वभाव है ॥७॥

इस गाथा में दोनों नयों का विरुद्ध विषय प्रतिपादन है जैसे कि ज्ञानी का चारित्र्य आदि है किंतु निश्चय नय की अपेक्षा ज्ञानी का चारित्र्य आदि नहीं है तो निश्चय नय की अपेक्षा चारित्र्य आदि नष्ट हो गए क्या? यदि चारित्र्य आदि नष्ट हो जायेंगे तो आत्म द्रव्य ही नष्ट हो जायेगा, परंतु ऐसा है नहीं। सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा चारित्र्य आदि भेद है, तथा शुद्ध नय की अपेक्षा अभेद से एक जायक स्वभाव में अन्तर्भूत किया गया है। व्यवहार अपेक्षा तीन भेद होकर परस्पर अलग अलग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रहते हैं क्या? नहीं परंतु गुण-गुणी भेद से भेद है। इस प्रकार दोनों नयों का परस्पर विरोध और समन्वय हुआ। दूसरा उदा, —

“ सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया ” शुद्ध द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से प्रत्येक जीव शुद्ध, बुद्ध, नित्य निरंजन, अनंत दर्शन ज्ञान स्वरूप है। परंतु पर्यायाधिक नय की अपेक्षा अभव्य लब्ध पर्याप्तिक जीव अनंत भीही, अज्ञानी, दुःखी है। द्रव्य दृष्टिसे वह भी सिद्ध के समान होते हुए भी पर्याय रूप से वह कभी सिद्ध हो सकता है? कदापि नहीं। इससे सिद्ध होता है निरपेक्ष द्रव्याधिक नय भी सिद्धा है परंतु शक्ति



रूप से उस अभव्य में जो गुण हैं वे सर्वथा कभी लोप हो सकते हैं? कभी नहीं। यदि लोप होगा तो जीव ही अजीव बन जायेगा ऐसा कभी संभव नहीं है। इसलिये वस्तु का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये एवं धर्म प्रचार-प्रसार के लिये, आत्म उद्धार के लिये दोनों नयों की परम आवश्यकता है। यथा —

### निश्चय — व्यवहार नय

जइ जिणमयं पवज्जइ ता वा व्यवहार णिच्छए मुयह ।

एवकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

यदि जिनधर्म का प्रचार-प्रसार प्रवर्तन करना है एवं आत्म उद्धार करना है तो केवल एकांत व्यवहार का पक्षपाती मत बनो इसी प्रकार केवल एकांत निश्चय का भी पक्षपाती मत बनो। यदि व्यवहार को नहीं मानेंगे तब संसार से उत्तीर्ण होने रूप जो व्यवहार तीर्थ है उसका लोप हो जायेगा और जिसके कारण आत्मोपलब्धि रूप निश्चय धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि निश्चय को नहीं मानेंगे तो व्यवहार धर्म के माध्यम से जिस परम तत्व को प्राप्त करना है उस परम तत्व का लोप हो जायेगा फिर उस व्यवहार धर्म के द्वारा किस तत्व को प्राप्त करेंगे।

समयसार के गुप्त रहस्य को उद्घाटित करनेवाले, कुंदकुंद साहित्य रूपी सागर में अवगाहन करनेवाले समयसार के आद्य टीकाकार आध्यात्मिक संत अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थ सार में कहते हैं:-

निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।

तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। (१) निश्चय मोक्षमार्ग (२) व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य रूप है जिसे प्राप्त करना है जो कार्य स्वरूप है। द्वितीय व्यवहार मोक्ष मार्ग साधन स्वरूप है

जिसके द्वारा साध्य रूप निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है समर्थ कारण से कार्य होता है अर्थात् साधन से साध्य सिद्धि होती है इस न्यायानुसार व्यवहार मोक्ष मार्ग के द्वारा निश्चय मोक्ष मार्ग की उपलब्धि होती है। व्यवहार मोक्ष मार्ग बिना निश्चय मोक्ष मार्ग त्रिकाल में अनुपलब्ध ही रहेगा।

पंडित शिरोमणि चतुर अनुयोग पारंगत निश्चय—व्यवहारज्ञ आर्ष परम्परा संरक्षक संस्कृत के महान धर्माभूतादि अनेक मौलिक कृति के रचयिता आचार्यकल्प आशाधरजीने अनगर धर्माभूतमें लिखे हैं :-

व्यवहार पराचीनः निश्चयं यः चिकीर्षति ।

बीजादि बिना मूढः सः शस्यानि सिसृक्षति ॥

व्यवहार से जो विमुख होकर जो निश्चय को चाहते हैं वे मूढ़ हैं जैसे कि एक मूढ़ बीज के बिना वृक्ष को चाहता है अर्थात् जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष नहीं हो सकता है उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसलिये अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थ सिद्धि में कहते हैं -

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलम विकलं शिष्यः ॥२॥

पुरुषार्थ सिद्धि

जो व्यवहार और निश्चय में ज्ञानी होकर अर्थात् दोनों नयों को अच्छी तरह समझकर कोई भी नयों का पक्षपाती नहीं होकर मध्यस्थ होते हैं अर्थात् यथायोग्य दोनों को मानते हैं वही योग्य शिष्य हैं वही उपदेश प्राप्त करने के लिये योग्य हैं। अन्य हठग्राही, पक्षपाती जन उपदेश के पात्र नहीं हैं ॥८॥

देवसेन आचार्य नयचक्र को समाप्त करते हुए लिखते हैं -

जह इच्छह उत्तरिदुं अज्झाण महोवहि सुलीलाए ।

तो णादुं कुणह मइं णय चक्के दुणय तिमिर मत्तण्डे ॥२६॥

नयचक्र

यदि अज्ञान रूपी महासमुद्र को लीला से तरने की इच्छा है तो नयचक्र को जानने के लिये भक्ति को नयचक्र में प्रवेश कराओ । दुर्नय रूपी अंधकार को नष्ट करने के लिये सम्यक् नय सूर्य के समान है ॥२६॥

इसी प्रकार देवसेनाचार्यने गुरु परंपरा से प्राप्त सम्पूर्ण नयों उपनयों का वर्णन इस लघुकृति नयचक्र में समावेश किये हैं । सुप्रसिद्ध नीति-गागर में सागर यहाँ लागू नहीं होती किंतु बिंदु में सिधु है यह नीति इसनय चक्र में लागू होती है । जिस अनेकांतवाद को बड़ें बड़े दिग्गज आचार्य विनम्र नतमस्तक होते हैं उस भगवंत अनेकांत को को स्वलेखनीसे जीवंत प्रकट करनेवाले पूज्यपाद देवसेन आचार्य को मेरा विनम्र अनंत नमस्कार हो ।

### ३) आलाप पद्धति —

देवसेन आचार्य की तीसरी कृति संस्कृत सूत्र बद्ध नय विषयक शास्त्र आलाप पद्धति है । बहुशः देवसेन आचार्य ने नयचक्र लिखने के पश्चात् आलाप पद्धति की रचना की उसकी निम्नसूत्र से पुष्टि होती है —

आलाप पद्धतिर्वचन रचनाऽनुक्रमेण नय चक्रस्योपरि उच्यते ॥१॥

आलाप पद्धति अर्थात् वचन की पद्धति नय चक्र के आधार पर में (देवसेन आचार्य) कहता हूँ । इसको पुनः स्वतंत्र लिखने का कारण मंद बुद्धि जनों के सुखबोधन के लिये है । आचार्य श्रीने आलाप पद्धति की समाप्ति में कहा है —

इति सुखबोधार्थमालाप पद्धतिः श्रीमद्देवसेन विरचिता परि समाप्ता ॥

इसमें गुण, पर्याय, स्वभाव, नयों, उपनयोंका अनूठा वर्णन है । इसमें भी आध्यात्मिक नयों, आगम नयों का वर्णन है । जैसे —

णिच्छय ववहार णया मूलमभेया णयाण सव्वानं ।

णिच्छय साहण हेळ दव्वय यज्जस्थिया मुणह ॥४॥ आलाप पद्धति

सामान्य रूप से समस्त नयों के दो भेद हैं १) निश्चय नय २)

व्यवहार नय । उनमें से निश्चयनय की सिद्धि के लिये द्रव्यात्मिक और पर्यायात्मिक ये दोनों नय कारण हैं ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से नय दो प्रकार है । १) निश्चय २) व्यवहार तत्र निश्चयनयोऽभेद विषयो, व्यवहारो भेद विषय ॥२१६॥

१) निश्चय नय — अभेद विषयो ज्ञेयः यस्य सः निश्चय नयः ।

२) व्यवहार नय — भेदेन ज्ञातुं योग्यः सो व्यवहार नयः ।

निश्चय नय का विषय अभेद है । व्यवहार नय का विषय विशेष भेद स्वरूप है । जैसे :- गुण-गुणो पर्याय-पर्यायो, धर्म-धर्मो भेद नहीं करके अभेद रूप से जो नय ग्रहण करता है उसको निश्चय नय कहते हैं । जैसे:-आत्मा गुणी, ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि गुण हैं उन ज्ञान-दर्शनादि को अभेद करके केवल आत्मा ग्रहण करना निश्चय नय है ।

आत्मा में ज्ञान, दर्शनादि हैं इसी प्रकार भेद करके अथवा आत्मा ज्ञानवान्, दर्शनवान् ग्रहण करना व्यवहार नय का विषय है । सामान्य से आत्मा एक होते हुए भी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि से अनेक है । इसलिये दोनों नय स्वक्षेत्र में यथार्थ हैं ।

### आध्यात्मिक नय

(४) श्रुतभवन दीपक नय चक्र :-

नयचक्र धुरन्धर आचार्य देवसेनने पूर्वोक्त दोनों नय विषयक शास्त्रों में मुख्यतः आगम भाषा में तथा गौण रूप से आध्यात्मिक भाषा में नयों का वर्णन किये हैं । आगमज्ञ होने के पश्चात् आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश करने के लिये आचार्य श्रीने “ श्रुत भवन दीपक नय चक्र ” का प्रतिपादन किया किया है । यह नय चक्र संस्कृत गद्य पद्यात्मक शैली में है देवसेनाचार्यने शास्त्र प्रारंभ में इष्ट देव वर्धमान स्वामी को नमस्कार पूर्वक श्रुत भवन दीपक नय चक्र को प्रतिपादन करने के लिये प्रतिज्ञा की है । आचार्य श्रीने मंगलाचरणमें ही प्रतिज्ञा

की । “ गाथार्थस्याविरोधेन नयचक्रं मयोच्यते ” अर्थात् मैं गाथा के अर्थ से अविरुद्ध नय चक्र को कहता हूँ । एक छंद में कहते हैं :-

जिनेन्द्रमिमलमाहा रत्नशैलादपाषा, दिह हि समयसाराद्बुद्ध  
बुद्धया गृहीत्वा ।

प्रह्लाधन विमोहं सुप्रमाणादिरत्नं श्रुतभवनसुदीपं विद्धि  
तद्व्यापनीयम् ॥२॥

जिनेन्द्र भगवान के मत्स्थी भूमि में समयसार रूपा निर्दोष पवित्र रत्नपर्वत को बुद्धि के द्वारा अच्छी तरह समझकर, गाढ़ मोह को नाष्ट करनेवाले तथा सम्यक् प्रमाणादि रत्नोंवाले “श्रुत भवन दीपक नय चक्र” को प्रकाशमान करने के उद्देश्य से लिखता हूँ ॥२॥

इसके पश्चात् समयसार की ११, १२, १४३ वीं गाथाओं का उल्लेख किया है—

व्यवहारोऽभूदर्थो भूदर्थो देसिदो दु सुद्ध णओ ।  
भूदर्थमरिसदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥  
समयसार

प्रथम व्याख्यान की अपेक्षा :-

व्यवहार नय अभूतार्थ है किंतु शुद्ध निश्चय भूतार्थ है । भूतार्थ का अवलम्बन लेकर जीव सम्यग्दृष्टि होता है ॥११॥

द्वितीय व्याख्यान की अपेक्षा :-

द्वितीय व्याख्यानेन पुनः व्यवहारो अभूदर्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदर्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः । न केवलं व्यवहारो देशितः सुद्धणओ शुद्ध निश्चय नयोपि दु शब्दादयं शुद्धनिश्चय नयो पीति व्याख्यानेन भूता. भूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा शुद्ध निश्चयाशुद्ध निश्चय भेदेन निश्चयनयोपि द्विधा इति नय चतुष्टयं ।

(श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य वृत्ति)

व्यवहार नय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है ऐसे दो प्रकार का कहा गया है अब केवल व्यवहार नय ही दो प्रकार का नहीं है किंतु (सुद्धणवो) निश्चय नय भी शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय के भेद से दो प्रकार है ऐसा गाथा में आये हुए 'दु' शब्द से प्रगट होता है ॥ ११ ॥

अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थं नयाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टि-  
भवति । अत्र तु न केवल भूतार्थो निश्चय नयो निर्विकल्प समाधिरतानां  
प्रयोजनवान् भवति । किंतु निर्विकल्प समाधिरहितानां पुनः षोडशवर्णिका  
सुवर्णलाभाभावे अघस्तन वर्णिका सुवर्णलाभवत्केषांचित्प्राथमिकानां  
कदाचित् सावकल्पावस्थायां मिथ्यात्व विषय कषाय दुर्ध्यान वंचनार्थ  
व्यवहार नयोपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति -

( श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य वृत्ति )

यहाँ इस पूर्वोक्त गाथा में कहा गया है कि भूतार्थ नय को आश्रय  
लेकर ही सम्यग्दृष्टि होता है किंतु इस गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं  
कि निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहनेवाले सम्यग्दृष्टियों को भूतार्थ  
स्वरूप निश्चय नय ही प्रयोजनवान् हो ऐसा नहीं है परंतु उसी निर्विकल्प  
समाधिरतों को किन्हीं किन्हीं को कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व  
विषय कषाय रूप दुर्ध्यान को दूर करने के लिये व्यवहार नय भी प्रयो-  
जनवान् होता है जैसे किसी को सोलहवानी के सुवर्ण का लाभ न हो  
तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह चौदहवानी का सोना भी सम्मत समझा  
जाता है । ऐसा कहते हैं -

मुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरिसीहि ।

ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमें िठादाभावे ॥ १२ ॥ समयसार

सुद्धो शुद्धनयः निश्चय नयः कथंभूतः सुद्धादेसो शुद्धद्रव्यस्यादेशः  
कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः । णादव्वो ज्ञातव्यः भावयित्वः कैः परम-  
भाव दरिसीहि शुद्धात्मभाव दर्शिभिः । कस्मादिति चेत् यतः षोडशवर्णिका  
कार्तं स्वरलाभ वद भेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि काले सप्रयोजने भवति  
निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः । ववहार देसिदो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन

पर्यायेण दर्शितः कश्चित् इति व्यवहार देशितो व्यवहार नयः पुनः पुनः अधस्तनवर्णिक सुवर्ण लाम्बवत्प्रयोजनवान् भवति । जेथो जेथे पुनः पुनः अपरमें अशुद्धे असंमत सम्यग्दृष्ट्या पेक्षया आकापेक्षया वा सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोग प्रमत्ताप्रमत्त संयतापेक्षया च भेद रत्नत्रय लक्षणे वा ठिदा स्थिताः कस्मिन् स्थिताः ? भावे जीव पदार्थे तेषामिति भावार्थः ।

( श्री जयसेनचार्यकृत तात्पर्य वृत्तिः )

‘सुद्धोसुद्धादेशो’ शुद्ध निश्चय नय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है ( गादव्यो परम भाव दरसीहि ) वह शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों के द्वारा जानने भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है । क्योंकि वह सोलह वानी स्वर्ण के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि काल में प्रयोजनवान् होता है । ( व्यवहारदेशितो ) किंतु व्यवहार अर्थात् विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहार नय है वह ( पुण ) पन्द्रह, चौदह वानी के स्वर्णलाम्ब के समान उन लोगों के लिये प्रयोजनवान् है । ( जेथु ) जो लोग ( अपरमे ठिदा भावे ) अशुद्ध रूप शुभोपयोग में, जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा आका की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण वाला है और प्रमत्त अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षण वाला है ऐसा शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित है ।

अथ नय पक्षात्किं तस्य शुद्ध जीवस्य किं स्वरूपमिति पृष्टे सति पुनर्विशेषणं कथयति ।

दोण्हपि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।

ण दु णयं पक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्ख परिहीणो ॥१४३॥

समयसार

समयसार

योंसी नये पक्षपात रहितः स्वसंवेदन ज्ञाती तस्याविप्रायेण बद्धाबद्ध मूढामूढादि नये विकल्प रहित चिदानंदैक स्वभावं । दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ यथा भगवान् केवली निश्चेय व्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणित मय द्रव्य पर्याय रूप जानति । णवरि तु पडिबद्धो तथापि नवरि केवलं

सहज परमानन्दैक स्वभावस्य समयस्य प्रविद्ध आधीनः सन् णय पक्ष परिहीणो सतत समुल्लापन् केवलज्ञानरूपतया श्रुत ज्ञानावरणीय क्षयो-  
पशमं जनित विकल्प जाल त्वाग्नयद्वय पक्षपाताद् दूरीभूतत्वात् ण दु  
णय पक्षं गिण्हदि किंचि वि न तु नय पक्षं विकल्पं किमप्यात्म रूप तया  
गृण्हाति तथायं गणधर देवादि लक्ष्यस्थ जनोपि नयद्वयोक्तं वस्तु स्वरूपं  
जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानन्दैक स्वभावस्य समयस्य प्रविद्धत  
आधीनः सन् श्रुत ज्ञानावरणीय क्षयोपशमं जनित विकल्प जालरूपाग्नय  
द्वय पक्षपातात् शुद्ध निश्चयेन दूरीभूत त्वाग्नय पक्षपात रूपं स्वीकारं  
विकल्पं निविकल्प समाधिकाले शुद्धात्म स्वरूपतया न गृण्हाति । अथ  
शुद्ध पारिणामिक परमभाव प्रादुर्भावेन शुद्धद्रव्याधिक नयेन नय विकल्प  
स्वरूप समस्त पक्षपातेनास्तिकात् नय समन्तारे द्रव्येय सिद्धति ।

( श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य वृत्तिः )

‘दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ’ जो कोई नयों के पक्षपात से दूर  
स्वसवेदन जानी है वह बद्ध अबद्ध मूढ़ अमूढ़ आदि नय के विकल्पों से  
रहित चिदानन्दमयी एक स्वभाव को उसी प्रकार जानता है जैसा भग-  
वान् केवली, निश्चय नय तथा व्यवहार नय के विषय द्रव्य पदार्थ रूप  
अर्थ को जानते हैं । ‘णवरि तु समय पडिवद्धो’ किंतु सहज परमानन्द  
स्वभाव जो शुद्धात्मा उसके आधीन होते हुए केवली भगवान् ( नय  
पक्ष परिहीणो ) निरन्तर केवल ज्ञान के रूप में वर्तमान होने से श्रुत  
ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले विकल्प जाल रूप  
जो निश्चय नय और व्यवहार नय उन दोनों नयों के पक्षपात से रहित  
होने के कारण ( ण दु नय पक्षं गिण्हदि किंचि वि ) किसी भी नय के  
पक्षरूप विकल्प को कभी स्वीकार नहीं करते अर्थात् उस छूते नहीं है ।  
वैसे ही गणधर देव आदि लक्ष्यस्थ महर्षि लोग भी दोनों नयों के द्वारा  
बताये हुए वस्तु के स्वरूप को जानते अवश्य हैं फिर भी चिदानन्दैक  
स्वभाव रूप शुद्धात्मा के आधीन होते हुए अर्थात् शुद्धात्म स्वरूप का  
अनुभव करने में लीन होते हुए श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से  
उत्पन्न विकल्पों का जाल रूप जो दोनों नयों का पक्षपात उस से शुद्ध  
निश्चय के द्वारा दूर होकर नयों के पक्षपात रूप विकल्प को निविकल्प  
समाधिकाल में अपने आत्म रूप से ग्रहण नहीं करते हैं ।



इस से सिद्ध होता है कि निश्चय नय का अवलम्बन ध्यानावस्था में स्थित अप्रमत्तादि गुणस्थान वर्ती महाभुक्ति के लिये है जब तक वह अवस्था प्राप्त नहीं होती है तब तक उस अवस्था को प्राप्त करने के लिये व्यवहार नय आवश्यक है। व्यवहार रत्नत्रयका प्रतिपादक व्यवहार नय है एवं निश्चय रत्नत्रय का प्रतिपादक निश्चय नय है। व्यवहारोऽसत्कल्पना निवृत्त्यर्थं सद्व्यवहारसिद्ध्यर्थं । सद्व्यवहारयोगे तु परमार्थसिद्धिः ।

( श्रुतभवन दीपक नयचक्र )

व्यवहार से असद्व्यवहार की निवृत्ति होती है एवं सद्व्यवहार की सिद्धि होती है।

स्वभावसिद्धस्य परमार्थस्य कथं तेन सिद्धिरिति वक्तव्यं । सद्व्यवहारात्सर्वथा भेदे निश्चय भावः । सर्वथात्वादभेद व्यवहारो मा भूदिति कथंचिद्भेदेन तेन सिद्ध इति वचनं ।

( श्रुतभवन दीपक नयचक्र )

शंका :- स्वभावसिद्ध परमार्थ की सिद्धि व्यवहार से कैसे हो सकती है ?

समाधान :- व्यवहार का सद्व्यवहार से सर्वथा भेद मानने पर निश्चय का भी अभाव हो जायेगा, तथा सर्वथा भेद को मानने पर अभेद का व्यवहार भी नहीं हो सकेगा, अतः कथंचित् भेद मानने पर ही उसकी सिद्धि होती है - ऐसा आचार्यों का वचन है।

एवमात्मा यावद् व्यवहार निश्चयाभ्यां तत्त्वानुभवति तावत्परोक्षानुभूतिः । प्रत्यक्षानुभूतिर्नय पक्षातीता ।

( श्रुतभवन दीपक नयचक्र )

जब तक वह आत्मा व्यवहार और निश्चय इन नयों के द्वारा तत्त्व का अनुभव करता है, तब तक परोक्षानुभूति रहती है, प्रत्यक्षानुभूति नय पक्षातीत है।

तह्येवं द्वावपि सामान्येन पूज्यतां गतौ न ।

ह्येवं व्यवहार पूज्यतरत्वाभिश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात् ।

( श्रुतभवनदीपक नयचक्र )

शंका:— यदि ऐसा है तो दोनों ही नय सामान्यरूप से ही पूज्यत्व को प्राप्त होंगे ।

समाधान:— नहीं, व्यवहार नय तो पूज्यतर है, लेकिन निश्चय नय पूज्यतम है । नयपक्षातीत:—

यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्या व्यवहारो निवर्तते तथा निश्चयन व्यवहार विकल्पोति निवर्तते । यथा निश्चयनयनेन व्यवहारो विकल्पोपि निवर्तते तथा स्वपर्यवसित भावेनेकत्व विकल्पोपि निवर्तते । एवं हि जीवस्य यो सो स्वपर्यवसित स्वभाव स एव नय पक्षातीतः ।

( श्रु. भं. दी. नय. )

जिस प्रकार सम्यक् व्यवहार से मिथ्या व्यवहार का निराकरण होता है, उसी प्रकार निश्चय के द्वारा व्यवहार का विकल्प भी निवृत्त होता है तथा जिस प्रकार निश्चय नय द्वारा व्यवहार का विकल्प निवृत्त होता है उसी प्रकार स्वपर्यवसित स्वभाव ( परम निरपेक्ष स्वाश्रित स्वभाव ) के अबलम्बन से एकत्व का विकल्प भी छूट जाता है । इस प्रकार जीव का जो स्वपर्यवसित स्वभाव है वह नय पक्षातीत है ।

शुभाशुभ संवर हेतु क्रममाह :-

जह व निरुद्धं असुहं सुहेण सुहमपि तहेव सुद्धेण ।

तम्हा एण कमेण य जोई आएउ णियआदं ॥ ३४७ ॥

द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र ॥

जैसे शुभ के द्वारा अशुभ का विरोध होता है शुद्धोपयोग के द्वारा शुभ कर्मों का भी विरोध होता है । इसलिये योगी को पहले अशुभ का त्याग कर शुभोपयोगी होना चाहिये शुभोपयोग बढ़ते बढ़ते आत्म विशुद्धि बढ़ती है और शुद्धोपयोग में स्थिर हो जाता है तब शुभ कर्मों का भी संवर हो जाता है ।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।

परमात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥ ८६ ॥

समाधि शतक

अव्रती सराग चारित्र्य रूप मूर्ति धर्म को स्वीकार करके भेद ज्ञान सम्पन्न होकर आत्मा में लीन होता है उस समय स्वयमेव ही समस्त सकल्प विकल्प व्रत, अव्रत निश्चय व्यवहार से परे होकर निर्विकल्प रूप परमात्म स्वरूप बन जाता है । यह परमात्म पद प्राप्त करने का त्रिकाल अबाधित परम सत्य सिद्धांत है । अभी तक जो अनंत सिद्ध हुए, सिद्ध हो रहे हैं, आगे होंगे, वे सभी इसी मार्ग के द्वारा ही हुए हैं अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है ॥

उदा. :- आमरस का आस्वादन करना लक्ष्य है तो उसके लिये पहले बीज चाहिये । बीज से वृक्ष, योगावस्था, प्राप्त होनेपर वृक्ष में फूल आते हैं फूल से कैरी, कैरी से अणक आम, उसमें रस पश्चात् आस्वादन होगा । जिस समय रस का आस्वादन होता है उस समय न वृक्ष, न फूल न कच्चा आम, न गुठली आदि रहती है केवल वहां रस ही रस है । रसावस्था में अन्न अन्य प्रारंभिक अवस्थाएं नहीं रहने पर भी बिना प्रारंभिक अवस्था के बिना रस की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

यदि विचार करे कि हमें तो रस चाहिये । बीज, वृक्ष, फूलदि नहीं चाहिये । बीज के बिना वृक्ष कैसे होगा, वृक्ष के अभाव में फूल कैसे होगा, फूल के बिना फल कैसे होगा ? यदि हम सोचें कि फूल में तो आम रस नहीं है इसलिये फूल को तोड़कर फेंक दे तो फल की प्राप्ति हो सकती है क्या ? फल के अभाव में रस की प्राप्ति कैसे होगी ? परंतु बीज अंकुर होकर वृक्ष रूप परिणित हो जाता है तो स्वयमेव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार फूल से फल बन जाता है तब स्वयमेव फूल योग्य समय में गिर जाता है फूल को तोड़ना नहीं पड़ता है । यदि योग्य समय के पूर्व ही फूल को तोड़ देंगे तो फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है । इसी प्रकार निर्विकल्प आत्मानुभव रूप रस प्राप्त करने के लिये आत्म रूप भूमि में सम्यक्त्व रूप बीज रोपण करना होगा । इसके लिये मिथ्यात्व हिंसा, झूठ, चोरी, अन्याय, अत्याचार, दुराचार, कुशील, अतिकांक्षा,

शोषण, कालावाजारी, संग्रहवृत्ति, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, मद्यपान, मांसभक्षण, रात्रिभोजन, अमक्ष भोजन, ईर्ष्या-द्वेष, मात्सर्य, आदि अशुभ भावों का त्याग करके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, समता, शांति, क्षांति, ऋजुता, मृदुता, विश्वमैत्री, उदारता, वात्सल्य, गुणानुराग, धर्मानुराग, अनुकम्पा आदि शुभ भावों को धारण करना चाहिये। इनमें सतत लक्षण होकर जब आत्मा में विशेष निर्मलता आती है, तब वह महा संयमी आत्मानन्द रूप रस को निर्विकल्प होकर आस्वादन करता है। उस समय व्रत अव्रतों का विकल्प स्वयमेव छूट जाता है, जिस प्रकार रस अवस्थामें पूर्व की अवस्थाएं नहीं रहती हैं।

**शंका:—** काम रस के लिये बीज, वृक्षादि की क्या आवश्यकता है बाजार से पका आम खरीदकर लाकर उसमें रस निकालकर अथवा रस खरीदकर लाकर रस का आस्वादन कर सकते हैं।

**समाधान:—** हे भाई धर्म कभी भी रुपये के माध्यमसे नहीं खरीदा जा सकता है। धर्म को तो आद्योपान्त स्वयमेव ही आचरण करके प्राप्त कर सकते हैं। आध्यात्मिक संस्थाट अमृतचन्द्र सूरी अमृतकलश में कहते हैं:—

य एव मुक्त्वा नय पक्षपात, स्मरूप गुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।  
विकल्प जालद्व्युत शान्तिचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥२४॥  
( अमृत कलश )

जो समस्त प्रकार नय पक्षपात से रहित होकर समस्त संकल्प-विकल्प जालों से रहित होकर शान्ति चित्त में स्वरूप में ही सतत निवास करते हैं वे साक्षात् आत्मानन्द रूप अमृत का पान करते हैं। जो समय-सार रूप शुद्ध आत्म द्रव्य है वह समस्त नय पक्ष से अतीत है।

देवसेनाचार्य इसी प्रकार आध्यात्मिक प्रधान्य नय चक्र को समाप्त करते हुए लिखते हैं:—

निश्चयव्यवहारयोरविनाभावित्व निर्णीति कथनो नाम तृतीयोऽध्यायः  
समाप्तः । ॥ द्वारक श्री देवसेन आचार्य

( कर्म रूप शत्रु को नाश करने वाले विशेष ज्ञानी मुनि )

विरचित व्योम पंडित को प्रतिबोध करने वाले श्रुतभवन दीपक नय चक्र में निश्चय व्यवहार का अविनाभाव का कथन करनेवाला तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ ।

“ निश्चयव्यवहारयोविनाभावित्व ” यह वाक्यांश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । समस्त आगम और आध्यात्मिक रहस्य को उद्घाटित करने वाली एक गुरु चाबी है अर्थात् निश्चय व्यवहार परस्पर विरोधी नहीं है दोनों परस्पर सापेक्ष, उपकारक, सहायक है । दोनों सापेक्ष होने पर ही सम्यक् है और निरपेक्ष होने पर दोनों मिथ्या हो जाते हैं ।

#### ५) तत्त्वसार:-

आचार्य प्रवर की अन्य एक ध्यान प्रधान कृति तत्त्वसार है इस शास्त्र में गाथाएं प्राकृत में हैं । इसमें ७४ गाथाएँ हैं । इसमें स्वतत्त्व, परतत्त्व, सविकल्प तत्त्व, अविकल्प तत्त्व, अपरमतत्त्व परमतत्त्वों का आध्यात्मिक भाषा में वर्णन है । आचार्य श्री ने वृण्डावसपिणी पंचम-कालस्थ में वक्र जड़ स्वभावी भ्रष्ट मिथ्यादृष्टियों का जो एक ध्यान संबन्धी शका है उसका स्पष्टीकरण किये हैं यथा:-

पंचम काल मे भाव लिंगी मुनियों का सदाभाव :-

संकाकरवा गहिया विसय वसत्था सुमगयबभठ्ठा ।

एवं भणंति केई णहु कालो होइ ज्ञाणस्स ॥ १४ ॥ तत्त्वसार

सदेह शील विषय सुख के प्रेमी मोक्षों में आसक्त एवं विषय भोगों में अपना हित मानने वाले जिनेन्द्र प्रणीत रत्नत्रय रूपी सुमार्ग से भ्रष्ट कितने ही इस प्रकार कहते हैं कि वर्तमान पंचम काल ध्यान योग्य काल नहीं है, इस काल में मोक्ष नहीं है, ध्यान भी नहीं होता है, यदि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है तो मुनि होकर क्या करना है । पूर्वोक्त समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :-

अज्जवि तिरधणवंता अप्पा ज्ञाऊन अंति सुरलोचं ।

तत्थ चुया मणुयस्से उप्पज्जिय लह्हि णिव्वाणं ॥ १५ ॥ (तत्त्वसार)

आज भी इस पंचम काल में रत्नत्रयधारी मुनि आत्मा का ध्यान कर स्वर्ग लोक को जा सकते हैं वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानव कुल में जन्म लेकर मुनि होकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकते हैं ।

**मूनि निवास :-**

कलेः काले वने वासो वर्जनीयो मुनीश्वरैः ।

स्थीयतेच जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥ (इन्द्रनंदि नीतिसार)

कलि काल में मुनिश्वरों को वनवास छोड़ने योग्य है, विशेषतः जिन मंदिर, ग्रामादिक में रहना चाहिये ॥

कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड में कहते हैं :-

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं ह्वेइ साहुस्स ।

तं अप्पसहाव ठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

अज्ज वि तिरयण सुद्धा अप्पा काए बिलहइ इंदत्तं ।

लोपंतिय देवस्स तत्थ चुआ णिव्वुवि जंति ॥७७॥ (सम्यसार)

भरत क्षेत्र में दुःषम काल में मुनियों को धर्म ध्यान होता है वे धर्मध्यान के माध्यम से आत्मा में स्थित रहते हैं जो इस प्रकार नहीं मानता है वह भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है ॥७६॥

अभी भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र से शुद्ध मुनि आत्म ध्यान कर इन्द्रत्व एवं लौकान्तिक देव होता है वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानव पर्याय को प्राप्त कर मुनि होकर परम निर्वाण को प्राप्त करते हैं ।

**शंका :-** वर्तमान काल में मुनियों को शुक्ल ध्यान नहीं होता है तो क्या चारित्र भी नहीं हो सकता है ? " वीतराग चारित्राभावे कथं गौणत्व मित्या शंभयाह :- "

**समाधान :-** माइल्ल धवल "द्रव्य स्वभाव प्रकाशक" में इसका निर्णय करते हैं ।

मज्झिम जहाणुक्कस्सा सराय इव धीयराय सामग्गी ।

तम्हा सुद्धचरित्तं पंचमकाले वि देसदो अत्थि ॥३४४॥

"द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र"

जिस प्रकार सरागदशा के भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते हैं । अतः एक देश वीतराग चारित्र पंचम काल में भी होता है ॥३४४॥

श्री नागसेन मुनि भी कहते हैं :-

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।

धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विद्वतिनां ॥८३॥

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।

श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तस्मादस्तन्निषेधकं ॥८४॥

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यश्नन्तु सागरपारगाः ।

तत्किमल्पश्रुतेन ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥८५॥

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति ।

तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥८६॥

सम्यग्गुरुपदेशेन समभ्यस्यन्नारतः ।

धारणासौष्टवद्विधानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणिस्युर्महान्त्यपि ।

तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनां ॥८८॥

श्री जिनेन्द्र भगवान् ने इस पंचम काल में यहाँ पर भरत क्षेत्रमें शुक्ल ध्यान का अभाव बताया है। उपशम-क्षपक श्रेणी से नीचे रहने वालों को धर्मध्यान होना बताया है। वज्रकायधारी उत्तम संहननवालों को जो ध्यान आगम में कहा है वह श्रेणी की अपेक्षा में कहा है। अधस्तन ध्यान के लिये निषेध नहीं है। यद्यपि वर्तमान में श्रुतकेवलीसमान ध्यानी मुनी नहीं हो सकते हैं, तो भी क्या अल्पश्रुत के ज्ञाताओं को अपने शक्ती के अनुसार ध्यान नहीं करना चाहिये? अर्थात् अवश्य करना चाहिये। तत्त्वार्थ सूत्र से “शक्तीतस्त्यागतपसी” शक्ती के अनुसार त्याग और शक्ती के अनुसार तपस्या करना चाहिये। यद्यपि वर्तमान काल में यथाख्यात चारित्र्य के आचरण करनेवाले नहीं हो सकते हैं, तो क्या तपस्वियोंको यथाशक्ती सामायिक-छेदोस्थापनादि सराग चारित्र्य नहीं पालन करना चाहिये अर्थात् अवश्य ही पालन करना चाहिये। जो साधक भले प्रकार गुरु के उपदेश से भले प्रकार आध्यात्मिक अभ्यास निरंतर करते रहेगा, तो उसकी वारणा उत्तम हो जायगी तो वह अनेक चमत्कार को भी देख सकेगा। जैसे बड़े बड़े

शास्त्र भी अभ्यास के बल से समझने में आते है उसी प्रकार अभ्यास करनेवालों का भी ध्यान स्थिर हो जाता है । इसलिये पंचम काल में भी यथाशक्ति प्रमाद रहित होकर काम भोग, पंचेन्द्रिय के विषयों से, स्त्री, कुटुम्ब, व्यापारादि से विरक्त होकर, स्थातिपूजा लाभादि से रहित होकर धर्मध्यान पूर्वक आत्मध्यान करना चाहिये । इससे पाप कर्मों का सबर, निर्जरा होगी ॥ निरिच्छक सातिशय पुण्य बंध होगा, जिससे परम्परा स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होगी । जैसे करोडपति, अरबपति स्वमूल-धन के अनुसार व्यापार करते है, उसी प्रकार साधारण व्यक्ती स्वशक्ति अनुसार व्यापार करता है । अधिक धन नहीं रहने पर निरुद्यम होकर बैठा नहीं रहता है, यदि बैठा रहेगा तो पेट पोषण भी नहीं हो पायेगा, श्रीमंत होने की बात तो दूर रही । इसी प्रकार पंचम काल में स्वशक्ति अनुसार श्रावक दान पूजा शील व्रत, उपवासोदि जघन्य शुभ्र देश चारित्र्य पालन नहीं करेंगे तो प्राप संचय के कारण नरक निगोद ही मिलेगा, संसार वृद्धि होगी, मोक्ष तो अत्यन्त दूर की बात है; सुस्वर्ग की भी प्राप्ति नहीं होगी ।

पंचम काल में मुनियों की एक वर्ष की तपस्या चतुर्थ काल में १००० वर्ष के समान :-

इस अत्यंत विपरीत हुण्डावसपिणी रूप इस पंचम काल में अत्यंत दुर्द्धर महाव्रतादि धारण कर अत्यन्त भौतिक भोग विलास वातावरण में विचरण करना लोहा के चना चवाने के समान है । यह कोई बच्चों का खेल नहीं है, अथवा बहुरूपीयों का खेल नहीं है, वाग्विलास नहीं है । वातानुकूल ( एयरकण्डिशन ) कमरे में बैठकर वातानुकूल ( स्वयं के अनुकूल वात ), अध्यात्मिक शुष्क बौद्धिक चर्चा नहीं है । जो धीर, वीर है, वही पंचम काल में जिनेन्द्र भगवान का निर्ग्रन्थ लिंग को धारण कर सकता है ।

सहणणं अहणीचं कालो सो दुस्समो मणो चवलो ।

तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वय भर धरण उच्छहिया ॥१३०॥

(भाव संग्रह)

वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्म हणह तेण काएण ।

तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीण सहणणे ॥१३१॥

(भाव संग्रह)



इस पंचम काल में संहतन अत्यन्त हीन है, काल अत्यन्त दुःषम है । मन अत्यन्त चंचल है, तथापि जो धीर वीर पुरुष महाव्रत रूपी महाभार को धारण करने के लिये उत्साहित है वह महान प्रशंसनीय वंदनीय, पूज्यनीय है ॥ १३० ॥

चतुर्थ काल में जिस उत्तम संहतन युक्त शरीर माध्यम से तपश्चरण द्वारा जो कर्म एक हजार वर्ष में नष्ट होता था, उतना ही कर्म वर्तमान दुःषम काल में हीन संहतन युक्त हीन शरीर से एक वर्ष की तपश्चरण द्वारा नष्ट होता है । इसमें सिद्ध होता है, चतुर्थकाल अपेक्षा पंचम काल में मुनिव्रत, व्रत, पातक, तपश्चरणादि १००० गुणा दुष्कर है । निर्ग्रथ रूप की दुर्बलता के लिये भगवान् जिनसेन स्वामी आदि पुराण में बताये हैं :-

अशक्य धारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् ।

जतं निस्संगता मुख्यं रूपं धीरैः निषेव्यते ॥

जिसमें यथाज्ञात रूप अन्तरंग-बहिरंग संग रहितता मुख्य है ऐसा निर्ग्रथ लिंग उसी प्रकार दुर्धर, दुरासाध्य अत्यन्त कठीण रूप को कातर कायर, मन एवं इन्द्रियों के दास, भोगों के कीड़ों के द्वारा धारण करना अत्यन्त अशक्य है । जो धीर, वीर, गंभीर, दमी, यमी होते हैं उनके द्वारा ही निर्ग्रथ लिंग धारण किया जा सकता है । जैसे-चक्रवर्ती के चक्र को कायर पुरुष प्रयोग नहीं कर सकता है, केवल वीर पुरुष, पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकता है । उसी प्रकार इस निर्ग्रथ रूप को धीर, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकते हैं ।

अन्तर विषय वासना करतें बाहर लोक लाज भय भारी ।

घातें परम विगम्बर मुद्राधर नहीं सकें दोन संसारी ॥

ऐसी दुद्धर नगन वरिषह जीतें साधु शील व्रतधारी ।

निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों छोक हमारी ॥७॥

(२२ परिषद)

पंचमकाल के अंतिम समय तक भाव लिंगी मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका रहेंगे, यह त्रिलोकसार में सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचंद आचार्य कहते हैं :-

अथ चरम कल्की स्वरूप गाथा पञ्चकेनाह :-

इवि पडि सहस्र वस्सं वोसे कक्कीणविवक्के चरिमो ।

जल मथणो भविस्सदि कक्की सम्मग्ग मंथणओ ॥८५७॥

इह इंद्राय सिस्सो वीरगद साहु चरिम सब्बसिरो ।

अज्जा अग्गिल सावय वरसाविय पंगुसेणावि ॥८५८॥

पंचम चरिमे पक्खड माततिवासो वसेसए तेण ।

मुणिपट्ठम पिड गहणे सणसणं करिय दिवस तियं ॥८५९॥

सोहम्मे जायंते कत्तिय अमवास सादि पुब्बज्जे ।

इगि जलहि ठिदी मुणिणो सेसतिए साहियं पल्लं ॥८६०॥

तव्वा सरस्स आदी मज्झंते धम्मराय अग्गीणं ।

णासो तत्तो मणुसा णग्गा मच्छादि आहारा ॥८६१॥

इस प्रकार एक एक हजार वर्ष बाद एक एक कल्की होगा, तथा २० कल्कियों के अतिक्रम अर्थात् पूर्ण होने के पश्चात् सन्मार्ग का मंथन करने वाला जलमंथन नाम का अंतिम कल्की होगा । उसी काल में इन्द्रराज नामक आचार्य के शिष्य वीराङ्गद नामक अंतिम साधु, सर्वश्री नाम की आर्यिका, अग्गिल नामक उत्कृष्ट श्रावक, पंगुसेना नाम की श्राविका होगी । पञ्चमकाल के अंत में तीन वर्ष, ८ माह और १ पक्ष अवशिष्ट रहने पर उस कल्की द्वारा पूर्वोक्त प्रकार मुनिराज के हस्तपुट का प्रथम ग्रास शुल्क स्वरूप ग्रहण किया जायेगा । तब वे चारों तीन दिन के सन्यास पूर्वक कार्तिक वदी अमावस्या को स्वाति नक्षत्र, एवं पूर्वाषाढ़ काल में मरण को प्राप्त हो सौधर्म स्वर्ग में मुनि तो एक सागर आगु के धारी, शेष तीनों साधिक एक पत्न्य की आयु के धारी उत्पन्न होंगे । उसी दिन आदि मध्य और अंत में क्रम से धर्म, राजा एवं अग्नि का नाश हो जायेगा इसलिये उसके बाद मनुष्य मत्स्यादि का भक्षण करनेवाले और नग्न होंगे ॥८५७ - ८६१॥

पंचमकाल २१ हजार वर्ष प्रमाण है । वर्तमान केवल २५१३ वर्ष ( १९८७ में ) प्रमाण व्यतीत हो रहा है । यह तो केवल पंचम

काल की शैश्व अवस्था है । अर्थात् प्राथमिक अवस्था है । अभी प्रायः १८४८४ वर्ष प्रमाण और भाव लिङ्गी मुनि रहेंगे । उपरोक्त सिद्धांत से ज्ञात होता है कि पहले धर्म का जीवन्त स्वरूप मुनि आदिका श्रावक श्राविका का पूर्वाण्ह में अंत होगा, उनके अंत में धर्म का भी अंत होगा क्योंकि "न धर्मो धार्मिकेर्विना", मध्यान्ह में राजा का लोप, एवं सन्ध्याकाल में अग्नि का लोप होगा । इसमें सिद्ध होता है भरत क्षेत्र में जब तक अग्नि है तब तक भाव लिङ्गी मुनि भी है । जो पंचम काल में भाव लिङ्गी मुनियों का अस्तित्व नहीं मानता, वह जिनवाणी को नहीं मानता, जिनवाणी के न मानने के कारण मिथ्यादृष्टी है । भाव लिङ्गी मुनियों के सद्भाव के लिये स्वयं अग्नि ही साक्षीभूत है ।

धर्मादिक के नाश का कारण :-

पद्मल अद्भुतलादो जलग धम्मे गिरासएण हदे ।

असुर वडणा णरिदे सयलो लोओ हवे अंधो ॥८६२॥

पुद्गल द्रव्य में अत्यन्त कक्षता आ जाने से अग्नि का नाश, समीचीन धर्म के आश्रयभूत मुनिराज का अभाव हो जाने से धर्म का नाश तथा अमुरेन्द्र द्वारा राजा का नाश हो जाने से सम्पूर्ण लोक अंधा हो जाएगा अर्थात् मार्गदर्शक कोई नहीं रहेगा ।

आचार्य श्री ने अंत में आशिर्वादात्मक अपना नाम देकर इस शास्त्र की समाप्ति की है :-

सोऊण तत्त्वसारं रह्यं मुणिणाह देवसेणेण ।

जो सद्दिदृष्टो भावइ सो पावए सासयं सोवखं ॥७४॥ (तत्त्वसार)

मुनिराज देवसेन रचित तत्त्वसार को सुनकर जो सम्यग्दृष्टी भावना करेगा वह शाश्वतिक सुख को प्राप्त करेगा ।

(६) आराधनासार :-

आचार्य श्री के द्वारा प्रतिपादित आराधनासार में प्राकृत गाथाएँ ११५ हैं । इसमें निश्चय एवं व्यवहार दोनों आराधनाओं का संक्षिप्त एवं मौलिक वर्णन है । निश्चय आराधना साध्य और व्यवहार

आराधना साधन है । जब तक व्यवहार आराधना नहीं करेंगे तब तक निश्चय आराधना नहीं हो सकती है ।

### — निश्चय व्यवहार आराधना —

ननु निश्चयाराधनायां सत्यां किमनया व्यवहाराधनया साध्यमिति वदन्त प्रत्याह —

पञ्जय णयेण भणिया चउव्विहाराहणं हुं जा सुत्ते ।

सा पुणु कारणं भूवा णिच्छयजयदो चउक्कस्स ॥१२॥

(आराधनासार)

जो निश्चय से आत्मा से अभिन्न रूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, आराधना है उसके कारणभूत व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य तप आराधना है । कारण बिना कार्य कभी भी संभव नहीं है । इस न्याय के अनुसार जब तक साधक व्यवहाराधना रूप परिणमन नहीं करता है तब तक निश्चयाराधना को प्राप्त नहीं कर सकता है ।

कश्चिद्भूव्यः प्राथमिकावस्थायां निश्चयाराधनायां स्थितिमलभमान स्तावद् व्यवहाराधनामाराधयति पश्चान्मनसो दाढ्यं प्राप्य क्रमेण निश्चयाराधनामाराधतीत्यभिप्रायः ॥ (आराधना सार)

अनादि कुसंस्कार के कारण इन्द्रिय और मन की बहिर्मुखता के कारण पुनः पुनः पूर्व में आत्मतत्त्व की भावना से रहित होने के कारण जब एक प्राथमिक आत्म तत्त्व की आराधना करता है तब वह व्यवहाराधना को पुनः पुनः आराधना करते हुए जब चंचल मन दृढ़ हो जाता है बाह्य विषय वासनाओं से विरत होता है, आत्म भावना स्थिर होती है तब क्रमशः निश्चयाराधना की आराधना करता है ।

**ध्यान का पात्र :-**

देवसेन आचार्य ने शून्य ध्यान का विशेष वर्णन किया है । शून्य ध्यान अर्थात् निर्विकल्प शुक्ल ध्यान है ।

जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स ज्ञाण जुत्तस्स ।

ताम ण सुण्णं ज्ञाणं चिंता वा भावणा अहवा ॥ ८३ ॥

(आराधनासार)

ध्यान युक्त भुनि को जब तक कोई स्फार विकल्प उत्पन्न होते रहते है तब तक शून्य अर्थात् संकल्पातीत ध्यान अर्थात् निर्विकल्प ध्यान नहीं हो सकता है । किंतु चिंता, भावना, अनुप्रेक्षा, मनन चितन होता है, तब तक निर्विकल्प ध्यान नहीं होता है, चिंता भावनादि ध्यान के लिये साधन है । इस प्रकार ध्यान सबको प्राप्त नहीं होता है । उसके लिये विशेष साधक चाहिये ॥ यथा—

चङ्कण सव्वसंगं लिगं धरिऊण जिण वरिवाण ।

अप्पाणं झाऊणं भविषा सिज्झंति नियमेण ॥ ११२ ॥

( आराधनासार )

समस्त अंतरंग बहिरंग ग्रंथों को त्याग करके यथाजात रूप जिनेंद्र लिग को धारण कर जो आत्मा का ध्यान करेंगे वे भव्य सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके नियम से सिद्ध परमेष्ठी पद को प्राप्त करेंगे । इस प्रकार सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द्र आचार्य ने भी कहा है ।

तव सुखवचं वेदा सागरत घुरंधरी हवे जम्हा ।

तम्हा तत्तिर्यणिरदा तल्लब्धीए सदा होइ ॥ ५७ ॥

( द्रव्य संग्रह )

ध्यान रूपी घुरा को धारण करने के लिये वही धीर पुरुष समर्थ हो सकता है जो अन्तरंग बहिरंग तपश्चरण को धारण किया है, जिन-वाणी का अवगाहन किया है, महाव्रतों का पालन किया है । जो तप, एवं व्रतों की आराधना नहीं करता है, वह भीरु पुरुष ध्यान रूपी घुरा को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकता है । यदि ध्यानामृत के पान करने की इच्छा रखता है तो वह व्रत, श्रुत, एवं तप में रत रहे, निर-तिचार पूर्वक सेवन करें । ध्यान के लिये योग्य पात्रता चाहिये, बिना पात्रता के ध्यान की सिद्धी नहीं हो सकती है । आचार्यों ने कहा है—

ध्यान का पात्र अपात्रः—

वैराग्य तत्त्वविज्ञान नर्ग्रथ वसचित्तता ।

परिवह जयश्चेति पंच ते ध्यान हेतवा ॥

ध्यान के लिये पांच कारण हैं :— १) वैराग्य २) तत्त्वविज्ञान

४) निर्गन्धता ४) मनवशता ५) परिषह जय । जहाँ पर उपरोक्त ५ कारण है वहाँ पर ध्यान हो सकता है । जो परिग्रहधारी, तत्त्व विज्ञान से रहित, काम भोग विषय वासना में रत, शरीर पोषण करनेवाले है उसको प्रिकाल में भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है । ज्ञानार्णव में कहा है :-

भुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तश्चित्तो वशी स्थिरः ।

जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ६ ॥

(ज्ञानार्णव चतुर्थ सर्ग)

(१) जो मोक्ष का इच्छुक है, (२) जो संसार से विरक्त है, (३) मोह शोक रहित शांतचित्त है, (४) मन वश में है, (५) अयोपांग दृढ़ होने के कारण व्यायासन में स्थिर हो, (६) इन्द्रियों को जीतकर उनके विषयों से विरक्त हो, (७) संवर सहित हो, (८) अपसर्ग परिषह सहन करने में धीर हो वही ध्यान के लिये योग्य पात्र है । उपरोक्त गुण अथवा विशेषण केवल निर्ग्रन्थ मुनि में ही पाये जा सकते हैं । किंतु जो उपरोक्त विशेषण से रहित, भुमुक्षु, बकध्यानी, संसार-शरीर-भोग-धनसंपत्ति, स्त्रीकुटुम्ब में आसक्त है, चंचल मन वाले है, पंचेन्द्रिय के दास है, व्रत-नियम-त्याग-तपश्चरण करने में तपुंसक के सदृश कायर है, वे कभी भी ध्यान के लिये योग्य पात्र नहीं हो सकते हैं ।

मिथ्यादृष्टि की बात तो दूर रही किंतु सम्यग्दृष्टि और श्रावक भी जब तक गृह-बंधा में लीन रहता है तब तक उसको भी ध्यान की सिद्धि नहीं सकती है ।

(१) नवदेवता स्तवन ( संस्कृत )

लेखक -- पू. कनकनन्दि महाराज

- (१) धर्मवक्त्रधरः जिनं ज्ञानार्णवः चतुष्टयम् ।  
चत्वार वदन् ध्यायेत् सर्व मोहोषो शान्तये ॥
- (२) ज्ञानाम्बर धरः सिद्धं वर्णतिलं गुणाष्टयम् ।  
प्रणष्ट कर्माय स्मरेत् सर्वकर्म प्रणाश्रयाये ॥

दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहं बन्धिना ।

प्रमादं मदमुत्सृज्य निःक्रान्ता योगिनः परम ॥८॥ (ज्ञानार्णव)

महामोहरूपी अग्नि से जलते हुए इस जगत में से केवल मुनिगण ही प्रमाद को छोड़कर निकलते हैं, अन्य कोई नहीं ।

न प्रमादजयं कर्तुं धी धनैरपि पायते ।

महाव्यसनं संकीर्णं गृह्वासेऽतिनिन्दिते ॥९॥ (ज्ञानार्णव)

अनेक कष्टों से भरे हुए अतिनिन्दित गृह्वास में बड़े २ बुद्धिमान् भी प्रमाद से पराजित करने में समर्थ नहीं हैं । इस कारण गृहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती ।

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः ।

अतश्चित्तं प्रशान्त्यर्थं सद्भिस्तत्प्रवृत्ता गृहे स्थिति ॥१०॥ (ज्ञानार्णव)

गृहस्थ गण घर में रहते हुए अपने चपल मन को वश करने में असमर्थ होते हैं, अतएव चित्त की शांति के अर्थ सत्पुरुषों ने घर में रहना छोड़ दिया और वे एकांत स्थान में रहकर ध्यानस्थ होने को उद्यमी हुए ।

प्रतिक्षणे द्वन्द्वशतार्त्तं चेतसां नृणां दुराशाग्रहं पीडितात्मनाम् ।

नितम्बिनी लोचनं चौरं संकटे गृहाश्रमे स्वात्महिते न सिद्ध्यति ॥११॥

( ज्ञानार्णव )

सैकड़ों प्रकार के कलहों से दुःखित चित्त और घनादिक की दुराशाक्षी पिशाची से पीडित मनुष्यों के प्रतिक्षण स्त्रियों के नेत्ररूपी चौरों का है उपद्रव जिसमें ऐसे इस गृहस्थाश्रम में अपने आत्म हित की सिद्धि नहीं होती ॥

निरन्तरार्त्ता नलबाहू दुर्गमे कुवासनाध्वान्त विलुप्त लोचने ।

अनेकं चिन्तां ज्वरं जित्स्थितात्मनां नृणां गृहेनात्महितं प्रसिद्ध्यति ॥१२॥

निरन्तर पीडा रूप आर्त्तध्यान की अग्नि के दाह से दुर्गम, बसने के अयोग्य तथा काम क्रोधादि की कुवासना रूपी अंधकार से विलुप्त हो गई नेत्रों की दृष्टि जिसमें ऐसे घरों में अनेक चिन्तारूपी ज्वर से

त्रिकार रूप मनुष्यों के अपने आत्मा का हित कदापि सिद्ध नहीं होता  
ऐसे गृहस्थावास में उत्तम ध्यान कैसे हो ?

विपन्महापङ्कक निमग्न बुद्धयः प्ररुद्धरगज्वरयन्त्रपीडिताः ।

परिग्रहव्यालविषाग्नि भूच्छिता विवेकबीभ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी ॥१३॥  
(ज्ञानार्णव)

गृहस्थ अवस्था की आपदा रुपी महान कीचड़ में जिनकी बुद्धि  
फँसी हुई है, तथा जो प्रचुरता से बड़े हुए राग रुपी ज्वर के यंत्र से  
पीडित हैं, और जो परिग्रह रुपी सर्प के विष की ज्वाला से मूर्च्छित  
हुए हैं, वे गृहस्थ गण विवेकरुपी बीथी में (गली में) चलते हुए स्खलित  
हो जाते हैं अर्थात् च्युत हो जाते हैं । अथवा समीचीन मार्ग से (मोक्ष  
मार्ग) भ्रष्ट हो जाते हैं ।

हिताहित विमूढात्मा स्वं शब्दद्वेष्टयेद्गृही ।

अनेकारम्भजैः पापं कोशकारः कृमियथा ॥१४॥ (ज्ञानार्णव)

जैसे रेशम का कृडा अपने ही मुख से तारों को निकालकर अपने  
को ही उसमें आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार हिताहित में विचार  
शून्य होकर यह गृहस्थजन भी अनेक प्रकार के आरंभों से पापोपार्जन  
करके अपने को शीघ्र ही पाप जाल में फँसा लेते हैं ।

जेतुं जन्म शतेनापि रागाद्यरिपताकिनी ।

बिना संयम शस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥१५॥ (ज्ञानार्णव)

रागादि शत्रुओं की सेना संयमरुपी शस्त्र के बिना बड़े बड़े  
सत्पुरुषों से (राजाओं से) सैकड़ों जन्म लेकर भी जब जीती नहीं जा  
सकती है, तो अन्य की कथा ही क्या है ।

३) अष्टाचारं धरः सूरिं गुण निधिः संघाधिपम् ।

गम्भीररूपाम ध्यायेत् शुद्ध चारित्र्य प्राप्तये ॥

४) आगमरथः पाठकं ज्ञान निधिः गुणाधारः ।

प्रशान्त रूपाय ध्यायेत् विनयाचारप्राप्तये ॥



प्रचण्ड पवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभृतः ।

तत्राङ्गनाविध. स्थान्तु निसर्गैतरलं न किम् ॥१६॥ (ज्ञानार्णव)

स्त्रियां प्रचंड पवन के समान है । प्रचंड पवन बड़े बड़े भूभृताँ (पर्वतों) को उड़ा देता है और स्त्रियाँ बड़े बड़े भूभृताँको राजाओं को चला देती है । ऐसी स्त्रियों से जो स्वभाव से ही चंचल है ऐसा मन क्या चलायमान नहीं होगा ?

भावार्थ :— स्त्रियों के समान में ध्यान की योग्यता कहाँ ? ॥

खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।

न पुनर्वेश कालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७॥ (ज्ञानार्णव)

आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं । कदाचित किसी देश वा काल में ध्यान की सिद्धि होनी हो तो किसी देश वा काल में संभव नहीं है ॥१७॥

जो विषय वासना में लीन होकर गृहस्थ में रहकर स्वर्ग को उत्कृष्ट ध्यानी मानता है वह आत्मव्रंचन है । वह एक ध्यानी के समान विषयों का ही ध्यान करता है न कि आत्मध्यान । यदि अंतरंग में विषयों के प्रति अनुराग नहीं है तो बाह्य में सेवन भी नहीं सकता है ।

रागद्वेष निवृत्ते हिंसादि निवर्तना कृता भवति ।

अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुच्छः सेवते नृपतोन् ॥४८॥

(रत्नकरण्ड श्रावका.)

अन्तरंग रागद्वेष की निवृत्ती से बाह्य हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशोल, परिग्रहादि बाह्य पापों से निश्चित रूप से निवृत्ती हो जाती है । जब तक अन्तरंग में रागादि भाव रहेंगे तब तक बहिरंग में उसके कार्यरूप धन सम्पत्ती के ऊपर लालसा, काम भोग, सेवन आदि रहेगा । अन्तरंग बहिरंग परिग्रह रहने के कारण श्रावक उत्कृष्ट ध्यान का पात्र नहीं हो सकता ।

देवसेन आचार्य महाप्राज्ञ होने पर भी अत्यन्त निगर्वी थे । 'गुणी विद्वान न करोति गर्वम्' इस न्याय के अनुसार आराधना सार को

समाप्त करते हुए लघुता प्रगट किये है :-

अपणिय तच्चेण इमं भणियं जं किपि देवसेणेण ।

सो हंतु तं मुणिदा अत्थि हं जइ पवयग विरुद्धम् ॥११५॥

(आराधना सार)

तत्त्व को नहीं जाननेवाला मैं देवसेन आचार्य जो कुछ कहा है उसमें यदि निश्चय से आगम के विरुद्ध कुछ भी हो तो द्रव्य भाव श्रुत के धारी श्रुत केवली महामुनि सशोधन करें। ये भावश्रुतविरहिताः केवल द्रव्यश्रुतावलंबिनस्तेषां पुनरिहाराधनासार शोधने नाधिकारः। ये पर-ब्रह्माराधनातत्परास्त एवात्राधिकारिण इत्यर्थः ॥

जो भावश्रुत से रहित होते हुए जो द्रव्यश्रुत का आश्रय लेते हैं वे इस आराधनासार ग्रंथ के सशोधन करने के अधिकारी नहीं हैं। किंतु जो परम ब्रह्म की आराधना में तत्पर हैं वे ही इस आराधना सार के सशोधन करने के अधिकारी हैं। इससे सिद्ध होता है कि भावश्रुत ज्ञान से रहित द्रव्यश्रुत ज्ञानी का कोई महत्व नहीं है क्योंकि स्वमत या स्वाभिप्राय के विरोध में कुछ जिनागम में परिवर्तन करके स्वभावानुसार प्रतिपादन करेगा उससे जिनागम का हनन एवं सत्य का नाश होगा।

**भावसंग्रह :-** देवसेन के स्वयं देव होने का प्रायोगिक मार्ग (भाव संग्रह) देवसेन आचार्य की बृहत्तमकृति यह भाव संग्रह है। इसमें प्राकृत गाथा बद्ध ७०१ गाथाएँ हैं। इसमें कुशल, निर्मीक आचार्यश्री ने मिथ्या मान्यताओं व परम्पराओं का सशक्त मुक्त कंठ से विरोध किया है। आचार्यश्री ने किसी प्रकार कलुषित मनाभाव से अथवा पक्षपात से अथवा सम्प्रदाय व्यामोह से अथवा दूसरों को अपमानित करने के लिये कुठार घात नहीं किये किंतु वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये अथवा सम्यक् मार्ग से भ्रष्ट हुए प्राणियों के ऊपर दया भाव कथन

५) मौनव्रतधरः मुनि रत्ननिधिः निर्विकारम् ।

निर्वाणरूपाय ध्यायेत् आत्मप्राप्तिं संसिद्धये ॥

६) दिव्यध्वनि धारिणी देवी शुभ्रवर्णा ज्ञानरूपम् ।

सर्वतो वदनो ध्यायेत् अज्ञान ध्वान्त नाशये ॥

किये है। जो भव्य सम्यग्दृष्टि है उनके लिये इनकी वाणी अमृततुल्य है जिसका पान कर वह अमृत पद अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त कर सकता है। परंतु जो अभव्य है वह इस अमृत को प्राप्त नहीं कर सकता है -

शास्त्राग्नी मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।

अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥१७६॥

(आत्मानुशासन.)

शास्त्ररूपी अग्नि में भव्य (सम्यग्दृष्टि) रूपी मणि विशुद्धी को प्राप्त कर निर्वाण सुख को प्राप्त करता है परंतु जो अभव्य रूप अंगार है वह शास्त्र रूपी अग्नि में गिरकर पहले थोड़ा प्रकाशवान होता है पश्चात् मलीन हो जाता है अथवा भस्म हो जाता है। यहां पर शास्त्र को आचार्य गुणधर स्वामी ने अग्नि की उपमा दी है क्योंकि अग्नि पक्षपात रहित होकर योग्य ईंधन को जलाती है एवं प्रकाश देती है उसी प्रकार शास्त्र रूप अग्नि निरपेक्ष से ज्ञान रूपी प्रकाश देती है जैसे पुष्प रागादि रत्न अग्नि के माध्यम से किट्टकालिमा से रहित निर्मल हो जाता है उसी प्रकार भव्य रूपी रत्न शास्त्र रूपी अग्नि के माध्यम से कर्म कलंक से रहित होकर निर्मल चित्त्वमत्कार ज्योति रूप में परिणमन करता है। जिस प्रकार लकड़ी अग्नि के माध्यम से पहले प्रकाशमान होती है बाद में मलीन रूप कोयला रूप परिणित होती है या भस्मरूप परिणित करती है उसी प्रकार अभव्य मिथ्यादृष्टी शास्त्र अग्नि से के माध्यम से पहले प्रकाशवान होता है अर्थात् क्षयोपशम के माध्यम में शास्त्रज्ञ हो जाता है परंतु मिथ्यात्व के कारण मिथ्याज्ञानी होकर आगम का विरोध करते हैं। अनंतानुबंधीं क्रोधादि कषायों के कारण अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचारों का प्रचार प्रसार करके ज्ञान शून्य होकर पाप संचय कर संसार में परिभ्रमण करते हैं।

विकासयन्ति भव्यस्य मनोभुङ्कुलमंशवः ।

खेरिवार विन्दस्य कठोराश्च गुरुवक्तव्यः ॥१४२॥

(आत्मानुशासन)

जिस प्रकार सूर्य की कठोर भी किरणें कोमलसी कली को प्रफुल्लित करती है उसी प्रकार कठोर भी गुरु के वचन भव्य जीव के मन रूप कमल को प्रफुल्लित करते हैं अर्थात् भव्य जीव कठोर भी गुरु के वचन सुनकर अपने दोष को दूर कर अभ्युदय एवं निःश्रेयस सुख को प्राप्त करते हैं। नीति प्रसिद्ध है:—“ हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः ” संसार में हितकर मनोहारी वचन दुर्लभ है जैसे रोग को दूर करने के लिये वैद्य कड़वी औषध देता है, उसी प्रकार भव्य जीवों के भवरूप रोग दूर करने के लिये भवरोग वैद्य गुरुदेव भी कठोर वचन रूप कड़वी औषध देते हैं उसका पान करके भव्य भव रोग से दूर होकर परम स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।

यह शास्त्र का नाम अन्वयार्थक संज्ञा वाला है क्योंकि इस शास्त्र में समस्त संसारी एवं मुक्त जीवों का भाव संग्रहित है अर्थात् वर्णित है। “उपयोग लक्षणं जीवः” इस सूत्रानुसार समस्त जीव राशि उपयोगमय हैं। परंतु कर्म सापेक्षता एवं कर्म निरपेक्षतानुसार अनेकानेक भेद प्रभेद हो जाते हैं। सामान्यपेक्षा उपयोग एक, विशेषापेक्षा-शुद्ध-अशुद्ध की अपेक्षा दो, शुद्ध, शुभ, अशुभरूप से तीन, गुणस्थानापेक्षा १४ इसी प्रकार संख्यात-असंख्यादि भेद प्रभेद हैं। मध्यम प्रतिपत्त के अनुसार उपयोग तीन प्रकार है जिसमें समस्त भाव गभित हैं। यथा—

जीवो परिणमति जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।

सुहेण तदा सुहो ह्यवि हि परिणाम सम्भावो ॥ ९ ॥

( प्रवचन सार ) ( जयसेनाचार्य कृत टीका )

यथा स्फटिक मणि विशेषो निर्मलोऽपि जपा पुष्पादि रक्त कृष्ण श्वेतोपाधिवेशन रक्त-कृष्ण श्वेत वर्णो भवति, तथाऽयं जीवः स्वभावेन

७) अहिंसा धर्मरूपाय अनेकात्प्रकाशने ।

रत्नत्रयगुणांगाय नमो बुद्धविनाशाय ॥

८) प्रशान्तरूपरूपाय कृतकृत्यः स्वरूपाय ।

परमात्मनिर्देशाय नमो चैत्यजिनालये ॥

शुद्धबुद्धैक स्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासम्भवं सराग सम्यक्त्व पूर्वक दान-पूजादि शुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तर गुणादि शुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो जातव्य इति । मिथ्यात्वविरति-प्रमाद-कषाय योग पञ्च प्रत्ययरूपाशुभोपयोग नाशुभो विज्ञेयः । निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो जातव्य इति । किं च जीवस्या संख्येयलोक मात्र परिणामाः सिद्धान्ते मध्यम प्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादि चतुर्दश गुणस्थान रूपेण कथितः । अथ प्राभूत शास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभ शुभांशयोग रूपेण कथितानि । कथमिति चेत्-मिथ्यात्व-सासादन-मिथ्य गुणस्थान त्रये तारतम्येना-शुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयत सम्यग्दृष्टि-देश-चरित-प्रमत्तसंयत गुण-स्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीणकषायान्त गुणस्थान षट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्य योगीजन गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोग फलमिति भावार्थः ॥

माथार्थः— जब उपयोगात्मक जोव शुभ भाव से परिणमन करता है तब वह स्वयं ही शुभ होता है । जब अशुभ से परिणमन करता है, तब वह स्वयं ही अशुभ होता है, और जब शुद्ध भाव से परिणमन करता है तब वह स्वयं शुद्ध होता है क्योंकि जोव परिणमन शील एक चैतन्य द्रव्य है ।

टीकार्थः— जैसे स्फटिकमणि निर्मल होने पर भी जया पुष्पादि लाल काला श्वेत उपाधि के वश से लाल काला श्वेतरंग रूप परिणत करता है वैसे ही यह जीव स्वभाव से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहार से गृहस्थापेक्षा यथासंभव सराग सम्यक्त्व पूर्वक दान-पूजादि शुभानुष्ठान को करने से तथा मुनि की अपेक्षा मूल एवं उत्तर गुणादि शुभानुष्ठान रूप परिणत होने से शुभोपयोग वाला जानना चाहिये (मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय, योग ऐसे पांच कारण रूप अशुभ योग में सहित होता हुआ अशुभोपयोग जानना चाहिये निश्चय रत्न-त्रयात्मक शुद्धोपयोग में परिणत करता हुआ शुद्ध जानना चाहिये) सिद्धान्त में विस्तार प्रतिपत्ति अपेक्षा असंख्यात लोक मात्र परिणाम है । मध्यम प्रतिपत्ति अपेक्षा मिथ्यादृष्टी आदि चतुर्दश गुणस्थान अपेक्षा

वर्णन है। इस प्राभृत शास्त्र में उन्हीं गुणस्थान को संक्षेप में शुभ-अशुभ तथा शुद्धोपयोग रूप से कहा गया है। (१) मिथ्यात्व, (२) सामान्य, (३) मिथ्य इन तीन गुणस्थान में तारतम्य रूप से अशुभ उपयोग है। इसके आगे (४) असंयत सम्यग्दृष्टि, (५) देशविरत श्रावक, (६) प्रमत्त संयत मुनि इन तीन गुणस्थान में तारतम्य रूप से शुभोपयोग है। इसके आगे (७) अप्रमत्त, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्म साम्प्रदाय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीण कषाय में तारतम्य रूप से शुद्धोपयोग होता है। उसके बाद (१३) सयोगी, (१४) अयोगी गुणस्थान इन दो में शुद्धोपयोग का फल है। ऐसा इस गाथा का भावार्थ है।

इस आर्षवचन से निश्चित होता है कि शुभोपयोग का प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होता है एवं पांचवा, छठठा, सातवां गुणस्थान में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। उत्कृष्ट शुभोपयोग श्रावक को नहीं हो सकता है वह यावत् लिंगी सातवे गुणस्थानवर्ती मुनि को ही हो सकता है। शुद्धोपयोग (शुक्लध्यान नहीं है) मुनि की ध्यानावस्था से आरंभ होकर १२ वें गुणस्थान तक रहता है। १३ वाँ, १४ वाँ गुणस्थान में पूर्ण शुद्धोपयोग प्रगट होता है जो शुद्धोपयोग का फल है।

प्रत्येक जीव स्वभाव से स्वयं सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध बुद्ध निर्लेप निरंजन अनंत ज्ञान दर्शनवान् होते हुए भी कर्म के कारण इसमें जीव अनेक अवस्थाओं में रहता है। वह सामान्य १४ प्रकार है।

**गुणस्थान :-** गुणस्थान का अर्थ है आध्यात्मिक सोपान। जिस सोपान के माध्यम से जीव संसार रूपी भूपृष्ठ से ऊपर ऊपर चढ़ता हुआ मोक्षरूप महल में पहुँच जाता है। त्रिकाल में इस आध्यात्मिक सोपान के माध्यम से ही जीवात्मा परमात्मा बनता है, अन्य कोई उपाय न

९) समवशरण स्वरूपाय धर्मायतनबीजाय ।

नमो जिन चैत्यालय चैतन्यरूपप्राप्तये ॥

१०) नवलब्धिप्राप्ताय नवदेव स्तवोऽयम् ।

सच्चिदानंदसिद्धये बाह्याभ्यन्तर धर्मोऽयम् ॥

भूतो न भविष्यति । जीवकी अत्यन्त आध्यात्मिक सुप्त एवं निम्नश्रेणीय अवस्था मिथ्यात्व गुणस्थान है । इस पतित आत्मान्धकार अति नीच अवस्था में जीव अनादि काल से पतित होकर रच पच रहा है । जब अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपी निमित्त एवं उपादान का सम्यक् समन्वय रूप समवाय होता है एवं सद्गुरु का उपदेश मिलता है तब जाकर उसकी सुप्त अवस्था नष्ट होकर, अर्थात् जाग्रत होकर खड़ा होता है एवं स्वयं को अवलोकन करता है । एवं स्वस्वरूप को प्राप्त करने के लिये मोक्ष की ओर उत्साह पूर्वक आगे पुरुषार्थ में सुदृढ़ कदम उठाता है । आगे बढ़ते बढ़ते मोक्ष महल को प्राप्त करता है । इस अलौकिक मोक्ष महल की यात्रा को ही गुणस्थान कहते हैं ।

### १) मिथ्यात्व गुणस्थान :-

सत्य से विपरीत मान्यता, श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास रूप परिणाम व भावोंको मिथ्यात्व कहते हैं । सत्य का पूर्ण साक्षात्कार सर्वज्ञ बीतरागी देव है । सर्वज्ञ भगवान ने दिव्य ध्वनी मूलक उस परम सत्य का प्रमाण नय, निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादन किये हैं, उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य अर्थात् जो उनके द्वारा कहे हुए द्रव्य, तत्व, पदार्थों में विश्वास नहीं, श्रद्धा नहीं, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसकी श्रद्धारूप दृष्टी विपरीत होने के कारण वह पदार्थ को भी विपरीत रूप श्रद्धान करता है सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द आचार्य गोभट्टसार में कहते हैं :-

मिच्छाइहो जीवो उवइठ्ठं पवयणं ण सद्दहवि ।

सद्दहवि असम्भावं उवइठ्ठं वा अणुवइठ्ठं ॥ १८ ॥

( गो. सार )

The wrong-believing soul does not believe in the noble doctrine preached (by the conquerors) and believes in the nature of things as it really is not whether it be preached or not by ( the teaching or description of ) any one.

मिथ्यादृष्टिजीवः उपदिष्टं - अहंदादिभिर्व्याख्यातं, प्रवचनं आप्तागम पदार्थत्रयं न श्रद्दधाति-ताप्युपगच्छति । प्रकृष्टं वचनं यस्यासौ

प्रवचनः आप्तः, प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनं — परमागमः, प्रकृष्टमुच्यते—  
प्रमाणेन अभिधीयते इति प्रवचनं पदार्थः, इति निरुक्त्या प्रवचनं शब्देन  
तत्प्रमाणपरिधानात् । पुनः स मिथ्यादृष्टिः असद्भावं मिथ्यारूपं प्रवचनं  
आप्रागम पदार्थ उपदिष्टं — आप्ताभासीः प्रकथितं अथवा अनुपदिष्टं—  
अकथितमपि श्रद्धाति ।

मिथ्यादृष्टि जोष 'उपदिष्ट' अर्थात् अहंस्त आदि के द्वारा कहे  
गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान  
वहीं करता है । प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त,  
प्रकृष्ट का वचन प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता  
है व प्रवचन अर्थात् पदार्थ । इन निरुक्तियों से प्रवचन शब्द से आप्त,  
आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं । तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव  
अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप्त आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट'  
अर्थात् आप्राभासी के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान  
करता है ।

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्त णिदिट्ठं ।

सेसं रोचंतो वि हू मिच्छादिट्ठी मुणेयब्बा ॥३९॥

(भगवती आराधना)

विजयोदया टीका— पदमक्खरं इति । पद शब्देन पद शब्दस्य  
सहकारी पदस्यार्थ उच्यते । अक्खरं च इति स्वल्प शब्दोपलक्षणं स्वल्प-  
मप्यर्थं शब्दश्रुतं वा । जो यः । ण रोचेदि न रोचते । सुत्त णिदिट्ठं  
पूर्वोक्त प्रमाण निदिष्टम् । सेसं इतरश्रुतार्थं श्रुतांशं । रोचंतोऽपि ।

(२) भंगलाचरणं

( सुमण पुष्प संचयण ) प्राकृत

भंगलं भयवदो आदा भंगलं अणयंत धम्मो ।

भंगलं रणत्तयं भंगलं वत्थु सहावो ॥ १ ॥

भंगलं विसुद्ध आदा भंगलं आसं परमेठ्ठी ।

भंगलं साधयत्तयं भंगलं शयणत्तयं ॥ २ ॥



मिच्छादिदृष्टीं मिथ्यादृष्टिरिति । मुणेदब्बो ज्ञातव्यः । महति कुंडे स्थितं बब्हपिपयो यथा विषकणि का दूषयति । एवम श्रद्धानकणिका मलिन यत्यात्मनमिति भावः ।

श्रुत में कहा गया है कि एक पद का अर्थ अथवा एक अक्षर का भी अर्थ जो प्रमाणभूत मानकर श्रद्धा नहीं करता है वह बाकी के श्रुतार्थ को या अश्रुतांश को प्रमाण जानता हुआ भी मिथ्यादृष्टी ही है । बड़े पात्र में रखे हुए बहुत दूध को भी छोटी सी विषकणिका बिगाड़ती है । इसी तरह अश्रद्धा का छोटा सा अंश भी आत्मा को मलीन करता है ।

मवि सुवणाण बलेण दु सच्छब्बं बोल्लेवे जिणुद्दिठं ।

जो सो होवि कुद्दिठ्ठी ण होवि जिण मग लगखो ॥ २ ॥

( रयणसार कुदकुंदाचार्य )

जो मतिज्ञान-श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम से प्राप्त हुए मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के कारण उद्धत होकर स्वयं वे मनमाने ज्ञान द्वारा अपने मत अर्थात् पक्ष को लेकर स्वच्छंद होकर कपोल कल्पित मत का प्रतिपादन करते हैं, जिनवाणी को नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जिनबर्म से बाह्य हैं । यदि जिनागम को दिखाने पर यथार्थ वस्तु का श्रद्धान करने लगता है और पूर्व कल्पित मत-पक्ष का त्याग करता है वह सम्यग्दृष्टी वन जाता है । अन्यथा मिथ्यादृष्टी रहता है ।

मिच्छसं वेदंतो जीवो विवरीय वंसणो होदि ।

ण य धम्मं रोचेदि हु मधुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ १७ ॥

( गोम्ममसार जीवकांड )

मिथ्यात्वं उदयागतं वेदयन्-अनुभवन् जीवः विपरीत दर्शनः अतत्त्व श्रद्धा युक्तो भवति न केवलं अतत्त्वमेव श्रद्धदत्ते अनेकांतात्मकं कर्म वस्तु-स्वभावं रत्नत्रयात्मकं साक्षकारणभूतं धर्मं न रोचते ( नाभ्युगच्छति ) अत्र दृष्टान्तमाह-यथाज्वरितः पित्तज्वराकान्हो, मधुरं-क्षीरादिरसं न रोचते तथा मिथ्यादृष्टीर्धर्मं न रोचते इत्यर्थः ॥ १७ ॥

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला

जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म, वस्तु स्वभाव, मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता।

**दृष्टांत :-** पित्त ज्वर में ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध-रसादि को पसन्द नहीं करता, उसी तरह मिथ्या दृष्टि को धर्म नहीं रुचता है।

इदिव विसय सुहादिसु मूढमदी रसादि न लहति तत्त्वं ।

बहुबुद्धमिवि ण भित्तिं सो चेव ह्यदि बहिरप्पा ॥ १२९ ॥

(रयणसार)

जो मूढमति इन्द्रियजनित मुख में रमण करता हुआ उसको सुख मानता है, बहुदुःखप्रद नहीं मानता है, वह आत्म तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

पूर्व संचित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो स्वयंमेव विपरीत भाव होता है उसे निसर्ग व अगृहीत मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जो कुगुरु के उपदेश में विपरीत भाव होते हैं उसे अधिगमज व गृहीत मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव अवस्तु में वस्तु भाव, अधर्म में धर्मभाव, कुगुरु में गुरु भाव, कुशास्त्र में सुशास्त्र भाव, धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है, अतिन्म्रिय आत्मोत्थ सुख से यहिर्मुख होकर विषयसुख में ही लीन रहता है। बाह्य-भौतिक हानी-वृद्धि में अपनी हानी-वृद्धि मानकर सुखी दुःखी होता है। सामान्य में मिथ्यात्व एक प्रकार होते हुए भी विशेष अपेक्षा अर्थात् द्रव्य-भाव में दो प्रकार एकान्त, विपरीत, संशय, विनय, अज्ञान की अपेक्षा ५ प्रकार भी होता है। इनमें सांख्य-चार्वाक मत मिलाने से ७ प्रकार का मिथ्यात्व होता है। विशेष रूप में क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और वैयनिकवादियों के ३२ इस

जमो आप्त परमेष्ठिणं जमो निष्कम्माणं जमो साधयाणं ।

जमो रयणत्तयाणं जमो लोघे सच्च देवाणं ॥ ३ ॥

मंगलं जयवद्धो पारस मंगलं आइरिय बोरी ।

मंगलं संति कुंयुय मंगलं सिरि जिण धम्मो ॥ ४ ॥

प्रकार मिथ्यावादियों के ३६३ भेद होते हैं ।

कोई एकांत से काल, ईश्वर, आत्मा नियति और स्वभाव स्वांत्र स्वतंत्ररूप से कर्त्ता मानते हैं ।

कुछ मिथ्यावादियों का स्वरूप :-

**एकांतकालवादी:-** काल ही सबको उत्पन्न करता है, काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों को काल ही जगाता है सो ऐसे काल को ठगने में कौन समर्थ हो सकता है ? इस प्रकार काल से ही सब कार्य मानना, कालवाद कहलाता है ।

**एकांत नियतिवादी:-** जो जिस समय जिससे जैसा जिसको नियम से होता है वह उस समय उससे वैसे उसके ही होता है ऐसा नियम से सभी वस्तु को मानना नियतिवाद कहलाता है ।

किसी भी कार्य के लिये पंच कारणों की आवश्यकता:-

इसी प्रकार कोई मिथ्यावादी एक एक कारण से कार्य उत्पत्ति को मानते हैं परंतु प्रत्येक कार्य सम्यक् अन्तरंग-बहिरंग भावों के सद्भाव से एवं विरोधी कारणों के अभाव से होता है । यथा:-

कालो सहाय णियइ पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता ।

मिच्छतं ते चेव उ समासओ होंति सम्मतं ॥ ५३ ॥

( सन्मतीसूत्र )

प्रत्येक कार्य के लिये १) काल २) स्वभाव ३) नियति ४) पूर्वकृत ५) पुरुषार्थ । इन पांच कारणों का सम्यक् समन्वय चाहिये और प्रत्येक कार्य के लिये पांचों को मानना सम्यक्त्व है । एक एक को कार्योत्पत्ति में कारण मानना मिथ्यात्व है । कालरूपी कारण केवल बाह्य उदासीन कारण है, उपादान अथवा प्रेरक कारण नहीं है ।

यदि काल को ही सम्पूर्ण कार्यों का कर्त्ता मानेंगे तब काल को ही कर्म बंध होना चाहिये, काल को ही सुख दुःख होना चाहिये, काल को ही मोक्ष पद की प्राप्ति होनी चाहिये ? परंतु यह आगम, प्रत्यक्ष अनुमान विरुद्ध है क्योंकि इस प्रकार उपलब्ध नहीं है ।

इसी प्रकार नियति को ही यदि कार्य के लिये कारण मानेंगे तब काल, स्वभाव, पूर्वकृत, पुरुषार्थ रूप चार कारणों के लोप का प्रसंग प्राप्त होता है परंतु विकल अर्थात् शून्य कारण से कार्य नहीं हो सकता है। द्रव्य में परिणमन के लिये उदासीन रूप काल का अभाव होने पर द्रव्य में परिणमन नहीं होगा, स्वभाव के अभाव से द्रव्य का ही लोप होगा। पूर्वकृत के अभाव से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक एवं मिथ्यात्व से चौदह गुणस्थान तक जीव की अवस्था विशेष का अभाव होने से संसार का अभाव हो जायेगा, जिससे प्रत्येक जीव शुद्ध-बुद्ध, नित्य निरंजन स्वरूप जायेंगे जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

कर्म नहीं है तो कर्म नष्ट करने के लिये पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है? संसार के अभाव से प्रतिपक्ष भूत मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। संसार-मुक्त जीवों का अभाव होने से प्रतिपक्ष भूत अजीव द्रव्य का अभाव ही जायेगा, तब सर्व शून्यता का प्रसंग आयेगा जो कि अनुपलब्ध है।

यदि केवल नियति को ही कार्य में कारण मानेंगे तो पुरुषार्थ के अभाव होने से लौकिक व अलौकिक कार्य के लिये जीव बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक क्रिया करता है उसका लोप होगा, पुरुषार्थ के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। परंतु अनंत केवली हुए वे सभी पुरुषार्थ पूर्वक, बुद्धिपूर्वक, गृहस्थ जीवन का त्याग कर, शरीर स्थित पोषाक निकालकर, केशलोच कर, निर्ग्रन्थ रूप धारणकर, कठोर अन्तरंग-बहिरंग तपश्चरण कर मोक्षपदवी प्राप्त किये है।

धूय सिद्धि तित्थयरो चउणाण जुवो करेइ तवयरणं ।

णाऊण धुवं कज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥ (अष्टपाहुड)

उदय लोय हिययर अणंत सुहसंति दातारो ।

विस्ससंति पवातारो जो सो हवई धम्मो ॥ ५ ॥

(३) सुमण पुष्प संचयण

— जिण धम्मो —

जत्थ अण्यंत जत्थ सियादाय जत्थ रघणत्तय होई ।

जत्थ जीवदया जत्थ उहय णया तत्थ जिण धम्मो होई ॥६॥

तद्भव मोक्षगामी, चरमशरीरी, निश्चितरूप से तद्भव में मोक्ष जानेवाले, जन्म से ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि, मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक होते हैं और अन्तरंग-बहिरंग कारण मिलने पर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर "नमः सिद्धेभ्यः" बोलकर केशलोंच कर दीक्षा लेते हैं तब अनेक ऋद्धि-सिद्धि सहित मनःपर्यय ज्ञान प्रगट होने पर चार ज्ञान धारी होने के कारण उन्हें स्पष्ट अवगत है कि मैं निश्चित मोक्ष जाऊंगा तो भी तीर्थंकर भगवान् कठोर-कठोर अन्तरंग-बहिरंग तपश्चरण करते हैं, मासोपवासी होकर पर्वत के शिखर पर ग्रीष्म ऋतु में, जिस समय पर्व के नीचे पृथ्वी जलती है और सूर्य ऊपर अत्यन्त संताप देता है, चारों ओर ऊष्ण वायु शरीर को शोषण करती है, तब भी कर्म शत्रु को नष्ट करने के लिये अन्तरंग बहिरंग तपश्चरण करते हैं, अन्यथा कर्म नष्ट नहीं हो सकता है, कर्म नष्ट हुए बिना शाश्वतिक आत्मोत्थ अतिन्द्रिय ज्ञानानन्द सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

तीर्थेश्वरा जगज्जेष्ठा, यद्यपि मोक्षगामिना ।

तथापि पालितं तैश्च चारित्रं मुक्ति हेतवे ॥

जगत् में ज्येष्ठ तीर्थ के ईश्वर जो निश्चित मोक्षगामी हैं तो भी वे मुक्ति के हेतु चारित्र को पालन करते हैं ।

जवि ण वि कुव्ववि छेदं ण मुच्चवे तेण बंधणवसो सं ।

कालेण दु बहणेण वि ण सो णरो पाववि विमोक्खं ॥२८९॥

(मोक्ष अधिकार समयसार)

जह बंधे छेतूण य बंधण बद्धो दु पाववि विमोक्खं ।

तह बंधे छेतूण य जीवो संपाववि विमोक्खं ॥२९०॥

(मोक्ष अधिकार समयसार)

As a person, who has been in shackles for a long time may be aware of the nature of his bondage, intense or feeble, and also its duration still so long as he does not make any effort to break them, he does not, get him self free from the chains, and may have to remain so for a long time without obtaining free-

dom Similarly a person with karmic bondage, even if he has the knowledge of the extent, the nature, the duration, and the strength of the karmic bondage, does not get liberation ( by this mere knowledge ) but he gets complete liberation if pure in heart -289

As one bound in shackles gets release only on breaking the shackles, so also the self attainmentse emancipation only by breaking ( Karmic ) bondage 292-

**अयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिः-** ज्ञानन्नपि यदि बंधच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्म बंध विशेषेणामुच्यमानः सन् पुण्यो बहुतर कालेऽपि मोक्षं न लभते ॥ २८९ ॥

यथा बंधन बद्धः कश्चित्पुरुषो रज्जुबंधं शृंखला बंधं काष्ठि निगल बंधं वा कमपि बंधं हित्वा कमपि बंधं हित्वा कमपि मित्वा कमपि मुक्तवा स्वकीय विज्ञान पौरुष बलेन मोक्षं प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान । युधेन बन्धं छित्त्वा द्विधाकृत्वा मित्वा विदार्य मुक्त्वा छोऽयित्वा च निज शुद्धात्मोपलभ्य स्वरूप मोक्षं प्राप्नोतीति ॥२९२॥

कोई एक पुरुष धातु निर्मित शृंखला से बंधन होकर पड़ा है, वह उस शृंखला का वर्ण, स्वभाव, गुण धर्म के बारे में जानता है, मानता है और मनन चिंतन भी करता है, तो भी तब तक उस बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है, जब तक वह उस बंधन को छेदन, भेदन, खण्डन नहीं करेगा । उसी प्रकार संसारी जीव कर्म रूपी बंधन में पड़ा है विषय

- अधम्मो -

अण्णाणं दुठ्ठचारिय विसदिठ्ठो एयंत पक्कववाई ।

सपर उहय लोयझाणी सुहसंति विधधकर हवई अधम्मो ॥ ७ ॥

- आदा धम्मो -

जे णासेण सगदोसो मोहो णात्थि निच्चयेण ।

ते णासेण धम्मो होदि तु निच्चयेण ॥ ८ ॥

में जानता है, मानता है, और बंधन से मुक्त होने के लिये चिंतन मनन भी करता है, परंतु जब तक कर्म बंधन को नष्ट करने के लिये दृढ़ पुरुषार्थ रूप क्रिया नहीं करेगा, वह पुरुष बहुकाल तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे रज्जु (रस्सी), लोह, स्वर्ण, काष्ठ रूप बंधन को तोड़कर फोड़कर, खोलकर, नष्ट कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बंधन से मुक्त हो सकता है। उसी प्रकार मुमुक्षु वीर भी स्वविज्ञान, पुरुषार्थ रूपी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से उस बंधन को छेदकर, भेदकर, खोलकर, तोड़कर, नष्ट कर, विदारण कर अपने शुद्धात्मा के उपलब्ध स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है, वही परम पुरुषार्थ है।

बिना पुरुषार्थ मोक्ष नहीं होता, केवल नियति को मानना, परम पुरुषार्थ का तिरस्कार करना, भवहेलना करना, नकार करना है। इसलिये एकान्त नियतिवाद घोर मिथ्यात्व है, शिथिलाचार भ्रष्टाचार का पोषण है। यदि नियति से सब कुछ होता है तो धनसम्पत्ति के लिये व्यापार, पुत्र उत्पत्ति के लिये विवाह, रोग निवारण के लिये औषध सेवन, ज्ञानार्जन के लिये विद्यालय जाना, शास्त्र अध्ययन, प्रवचन, शिविर आदि की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार सम्पूर्ण मिथ्यात्व के कारण वस्तु स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान एवं आत्म स्वरूप का विपरीत श्रद्धान होने से मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, कर्म बंध का प्रधान कारण है, अधर्म का आधार है, आत्म पतन के लिये मूल हेतु है।

**मिथ्यात्व में बंध :—**

**“ मिथ्यः दर्शनाऽविरतिप्रमाद कषाय योगाबंध हेतवः ” ॥**

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु है क्योंकि इन कारण पूर्वक ही बंध होता है। “ त एते पञ्च बंध हेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति । तद्यथा मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिता बंध हेतवो भवन्ति ” ये पाँचों स्वतंत्र स्वतंत्र बंध के हेतु है और समुदाय से भी बंध के कारण है जैसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पाँचों बंध के लिये

कारण है। सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन स्थान में मिथ्यात्व को छोड़ अन्य अविरति आदि चारों प्रत्यय बंध के कारण है। जब तक मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति उदय में रहती है तब तक मिथ्यात्वादि १६ प्रकृतियों का बंध होता है उसके आगे बंध व्युच्छित्ति हो जाती है।

मिच्छत हुंड संढाऽसंपत्तेयकष थावरादाबं ।

सुहृमतिर्यं वियलिंदिय गिरयबु गिरयाउगं मिच्छे ॥१५॥

( कर्मकाण्ड )

मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तासपाठिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकामु इन १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्त मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में होती है।

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायं जोगा य बोद्धव्वा ॥१०॥

( समयसार )

सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कर्त्ता है अर्थात् जिस समय में मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है उस समय उदयगत मिथ्यात्व कर्म के कारण जो भाव होता है उसके माध्यम से पुनः नवी कर्म बंध होता है इसी प्रकार अविरति आदि से जानना चाहिये। यहाँ पर प्रमाद को आचार्यश्री ने नहीं गिनाया है तो क्या प्रमाद बंध के लिये कारण नहीं है, अवश्य कारण है किंतु प्रमाद को कषाय में अन्तर्भूत कर दिया है क्योंकि कषाय के कारण प्रमाद होता है। द्रव्य संग्रह में “जोगा पण्डि प्रदेशा टिट्ठि अनुभाग कसायदो होदि” इस में कसाय को ही स्थिति और अनुभाग का कारण बताया

जे णासेण रागदोसो मोहो आत्थि णिच्चयेण ।

ते णासेण अधम्मो होदि हु णिच्चयेण ॥

आदा अधम्मो बुद्धिहं सायार अणायार भयेण ।

सायार साधयं पुणो अणायारं साज्ज ॥ १० ॥



है। तो मिथ्यात्व और अविरति बंध के कारण नहीं है, अवश्य है, किंतु संक्षेप से कषाय में मिथ्यात्वादि को अन्तर्भूत कर दिया है। यहाँ पर कषाय प्रत्यय अंत दीपक है, इसलिये उसके पहले पहले के सभी कारण उससे ग्रहण किये गये हैं।

सूत्र:-

सर्ववृत्तित्वाणुभागा मिच्छतस्त उक्कत्साणु भागुदीरणा ।

अनंतानुबंधोणमण्णदरा उक्कत्साणु भागुदीरणा

मुत्ता अणंत गुण होवा ॥

ज. घ. पु. ११ पे. १२३-१२४

सब से मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है। अर्थात् सब से तीव्र शक्ति से संयुक्त है। उससे अनंतानु-बंधीयों की अन्यतर (कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान होकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंत गुणी होन है।

शंका :- मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा सबसे तीव्र क्यों है।

समाधान :- "सर्व दब्ब विसय सद्वहण गुण पडि बंधित्तादो"

अर्थ, - सर्व द्रव्य विषय श्रद्धान गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है।

ज. घ. पु. ११ पे. १२३

मिच्छतपच्चयो खलु बन्धो उवसास यस्य बोधव्वो ।

उवसंते सासणे तेण परं होदि भय निज्जो ॥ (धवल)

मिथ्यात्व का उपशान्त अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता है अन्य स्थान भी भजनीय है। अर्थात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव को मिथ्यात्व निमित्तक बंध होता है। अन्य गुणस्थान प्राप्त जीव को बंध नहीं होता। एक विचारणीय विषय है कि ४० कोडा कोडी सागर स्थिति वाला चारित्र मोहनीय (अनंतानुबंधी आदि) ७० कोडा कोडी सागर स्थिति प्रमाण दर्शन

मोहनीय को कैसे बंध कर सकता है । यदि कषाय को ही स्थिति बंध का कारण मानेंगे तो दर्शनमोहनीय का स्थिति बंध मात्र कषाय के रहने पर ७० कोड़ा कोड़ी सागर का और मिथ्यात्व मे १६ प्रकृतियों का जो बंध होता है वह नहीं हो सकता है । अनंतानुबंधी भी मिथ्यात्व के सहाय से ही अनंत संसार का कारण हो सकती है अन्यथा नहीं ।

अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ कषाय आत्मनः सम्यक्त्व परिणामं कषन्ति अनंत संसार कारणत्वात् अनन्त-मिथ्यात्वं, अनंत भव संस्कार कालं वा अनुबन्धन्ति मुषट्चन्तीत्यनन्तानुबन्धिन इति ॥

( गो. सार. टीका माथा २८३ ॥ )

अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम को घातती है क्योंकि अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यात्व कर्म को अनंत कहते हैं । उस अनंत भव के संस्कार काल को बांधती है इसलिये उसे अनंतानुबंधी कहते हैं । एक क्षण के लिये भी सम्यक्त्व हो जाता है तो संसार अनंत नहीं रहता है संसार परीत हो जाता है जो कि अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है ।

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्यं त्रिजगत्यपि ।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तन् भूताम् ॥३४॥

( रत्नकरण्ड धाव )

In the three periods of time and the three worlds there is nothing more auspicious than Right Faith for the living beings, nor any thing more iniquitous than a false conviction

— सावय —

अट्ठ मूल गुण जुत्तो सत्तविसणं परिमुक्को ।

दिवा भोयणं सुद्ध जलं देव दंसणं सावय धम्मो ॥ ११ ॥

— समण —

अट्ठावीस गुण जुत्तो निम्मम आणज्झयण संयुत्तो ।

परिसह उपसग्ग ज्जयो सममारुखी हवई समणो ॥ १२ ॥

तीन जगत् में तीन काल में सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर जीवों के लिये अन्य कुछ नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है ।

## २) सासादन :-

आविम सम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे ।

अण अण्णवरुदयादो णासिय मम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥१९॥

सासादन अर्थात् असादन सहित । जिसने उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर सम्यक्त्व के काल में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट में ६ आवली शेष रहने पर अनंतानुबन्धी संबंधी क्रोधादि एक कषाय का उदय होनेपर जिसने सम्यक्त्व रुपी रत्न पर्वत के शिखर से गिरकर मिथ्यात्व रुप भूमि के सन्मुख हुआ है परंतु मिथ्यात्व रुप भूमि में अभी तक पहुँचा नहीं, उस पतनभिमुख आत्मीक परिणाम विशेष को सासादन गुणस्थान कहते हैं ।

## ३) मिश्र गुणस्थान :-

सम्मामिच्छुदएण य जत्तंतर सब्बधादि कज्जेण ।

ण य सम्भं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥

( गो. सार )

जात्यंतर सर्वधाति के कार्य रुप सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के एक साथ सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रुप मिश्र परिणाम होता है उस समय में शुद्ध न सम्यक्त्व रहता है न मिथ्यात्व रहता है जिस प्रकार मिले हुए दही-गुड में खट्टा और मोठा दोनों गुणतप मिले हुए रहते हैं उनको अलग-अलग कतना शक्य नहीं है उसी प्रकार मिश्र अवस्था में सम्यग्मिथ्यात्व भाव रहते हैं । जिस प्रकार घोड़ी गधा से उत्पन्न हुआ संतान न घोडा होता है और न गधा होता है, खच्चर होता है उसी प्रकार मिश्र परिणाम होते हैं । “ गंगा गये गंगादास, जमना गये जमनादास ” नीति के अनुसार सम्यक् देव गुरु शास्त्र को भी मानता है और मिथ्या देव गुरु शास्त्र को भी मानता है ।

#### ४) अविरत सम्यग्दृष्टि :-

इस गुणवत्ता से वास्तविक मोक्ष का मंगलाचरण होता है। अन्तरंग-बहिरंग समस्त कारणों के सद्भाव से मिथ्यात्व एवं अनतानु-बन्धी चतुष्क का उपशम, क्षयोपशम, क्षय से यथाक्रम उपशम, क्षयोपशम, आधिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। जो कि मोक्षफल के लिये बीजभूत है। जिस प्रकार बीज के अभाव से बीज की उत्पत्ति वृद्धि नहीं हो सकती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूप बीज के अभाव से मोक्ष रूपी वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि नहीं हो सकती है। सम्यग्दर्शन सहित ही ज्ञान व चरित्र सम्यक् है अन्यथा मिथ्या है। सम्यग्दर्शन एक अंक प्रमाण है और ज्ञान चारित्र्य दो शून्य समान है जैसे स्वतंत्र शून्य का कोई मूल्य नहीं है परंतु एक के आगे जोड़ने पर १०० संख्या हो जाती है। वर्तमान शून्य में विशेष मूल्य है जिसके कारण एक का मूल्य बढ़कर सौ हो गया। यदि सौ पूर्ण मोक्ष मार्ग है तो स्वतंत्र एक एक संख्या रूपी सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग नहीं है, दशक स्थान स्थित शून्य रूपी सम्यग्ज्ञान पूर्ण मोक्ष-मार्ग नहीं है तथा एक-एक स्थान स्थित चारित्र्य रूप शून्य पूर्ण मोक्ष-मार्ग नहीं है, परंतु सम्यग्दर्शन रूप एक के आगे सम्यग्ज्ञान रूप शून्य जोड़ने पर दश तथा सम्यक्चारित्र्य रूप शून्य जोड़ने पर सौ हो जाता है जो कि पूर्ण मोक्षमार्ग है। वर्तमान काल के संस्कृत जैनवाङ्मय के आद्य सूत्रकार उमास्वामी प्रथम सूत्र में कहते हैं :-

“सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्षमार्गः”। इस सूत्र में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि ” बहुवचन है और मोक्षमार्ग एकवचन रखने का एक महान रहस्य छिपा हुआ है। जिसका अर्थ है स्वतंत्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य मोक्षमार्ग नहीं है परंतु तीनों का सम्यक् समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। सूत्र में जो पद क्रम रखा गया है

मोक्ष ज्ञानाक्षयण निम्मम निरहंकार संजुसो ।

आसा संकप्प भुवको जो सो हवई सो समणो ॥ १३ ॥

समदारस सेई सव्व जीवे समभाअ सया भाई ।

क्षव्व सग सच्चासो जो सो समणो होई ॥ १४ ॥

उसमें भी एक महान् आगमिक एवं आध्यात्मिक सूक्ष्म रहस्य भरा है अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र्य होता है । अन्य भी एक कारण है जो कि सम्यग्दर्शन पूर्ण होने के बाद भी साक्षात् तत्काल मोक्ष नहीं मिलता है, जैसे क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में पूर्ण होने पर तत्क्षण मोक्ष नहीं होता है । कोई जघन्य से एक भव और उत्कृष्ट से ४ भवों तक परिभ्रमण करता है ।

सम्यग्ज्ञान १३ वे गुणस्थान में पूर्ण हो जाता है तो भी तत्क्षण मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है जबन्य से अन्तर्मुहुर्त से लेकर उत्कृष्ट में से कुछ कम एक पूर्व कोटी वर्ष तक संसार में रुका रहता है । चौदहवें गुणस्थान के अंत में शैलेश अवस्था प्राप्त होती है एवं चारित्र्य पूर्ण होता है सम्पूर्ण कर्म नष्ट होकर शाश्वतिक मोक्ष पदवी प्राप्त होती है । इस सिद्धांत को जब हम सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं कि सम्यग्दर्शन की पूर्णता मोक्षमार्ग की पूर्णता नहीं है, किंतु सम्यक्चारित्र्य की पूर्णता नहीं है, सम्यग्ज्ञान की पूर्णता भी मोक्षमार्ग की पूर्णता नहीं है, किंतु सम्यक्चारित्र्य की पूर्णता ही मोक्षमार्ग की पूर्णता है । इसलिये सूत्र में पहले सम्यग्दर्शन को उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान और शेष में सम्यक्चारित्र्य को रखा है । मोक्ष मार्ग का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से एवं पूर्णता सम्यक्चारित्र्य से होती है । जहां पर सम्यक्चारित्र्य है वहां सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान निश्चित रूप से रहेंगे ही, किंतु जहां पर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है वहां पर चारित्र्य भजनीय है अर्थात् हो भी सकता है और नहीं भी । जैसे किसी के पास दस हजार रुपये हैं उसके पास सौ रुपये, दस रुपये हैं ही । किंतु जिसके पास दस रुपये और सौ रुपये हैं उसके पास हजार रुपये हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं । इसलिये मोक्षमार्ग का घनी सम्यक्चारित्र्यवान् जीव है ।

जो इन्द्रियसु विरदो जो जीवे थावरे तसे चापि ।

जो सद्विचि जिनुत्तं सम्माद्विठी अविरदो सो ॥ २९ ॥

( गो. सार. )

जो इंद्रिय के विषयों से विरत नहीं है तथा उस और थावर जीवों की हिंसा से भी विरत नहीं है केवल जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रति-

पादित तत्त्वों के ऊपर श्रद्धा रखता है, इसलिये वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टी है। अपि शब्द से संवेगादि गुण प्रगट होते हैं।

सम्माइठ्ठी जीवो उवइठ्ठ पवयणं तु सइहहि ।

सइहवि असम्माधं अजाणभाणो गुरुणिवाणा ॥ २७ ॥

( गो. जी. )

सुत्तावो तं सम्मं वसिसिज्जतं जवा ण सइहवि ।

सो चेव हवइ मिच्छाइठ्ठी जीवो तवो पडुडि ॥ २८ ॥

( गो. जी. )

जो जीव अर्हन्त आदि के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ इनकी श्रद्धा रखता है, साथ ही उनके विषय में असद्भाव अर्थात् अतत्त्व भी स्वयं के विशेष ज्ञान से शून्य होने से, केवल गुरु के नियोग से जो गुरु ने कहा वही अर्हन्त भगवान की आज्ञा है ऐसा श्रद्धा रखता है, वह भी सम्यग्दृष्टी ही है। अर्थात् अपने को विशेष ज्ञान न होने से और गुरु भी अल्पज्ञानी होने से वस्तु स्वरूप अन्यथा कहे और यह सम्यग्दृष्टी उसे ही जिनाज्ञा मानकर अतत्त्व का श्रद्धा रख ले तब भी वह सम्यग्दृष्टी ही है, क्योंकि उसने जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं किया ॥ २७ ॥

उक्त प्रकार से असत् अर्थ का श्रद्धा रखता हुआ आज्ञा सम्यग्दृष्टी जीव जब अन्य कुशल आचार्यों के द्वारा पूर्व में उसके द्वारा गृहीत अस-  
त्यार्थ से विपरीत तत्व गणधरादि द्वारा कथित सूत्रों को दिखाकर सम्यक्-  
रूप से बतलाया जावे और फिर भी वह दुराग्रह वश उस सत्यार्थ का

### — सज्जण —

सख जीव हिये तत्पर पर दुख सुख समभाई ।

बसण कुटोल च्चागी समबरसी हवई सज्जणो ॥ १५ ॥

### — दुज्जणो —

पर सुहे दुःखी पर दुःखे हवई ओ सुहि ।

बसण कुटोल सेई विसम दिठ्ठी दवई कुटो ॥ १६ ॥

श्रद्धान न करे तो उस समय से वह जीव मिथ्यादृष्टी होता है, क्योंकि गणधरादि के द्वारा कथित सूत्र का श्रद्धान न करने से जिनाज्ञा का उत्लंघन सुप्रसिद्ध है । इसी कारण वह मिथ्यादृष्टी है ॥ २८ ॥

भयवसण मल विवज्जिव-संसार सरीर भोग निव्विण्णो ।

अठ्ठ गुणंग समग्गो वंसण सुद्धो हु पंचगुरु भत्तो ॥ ५ ॥

( रयणसार )

जो सप्त भय से रहित, सप्त व्यसन से रहित, सम्यग्दर्शन के २५ अतिचार मल दोष से रहित है, संसार शरीर भोग से विरक्त है, सम्यग्दर्शन के ८ अंग सहित है एवं पंच परमेश्वरी की जो भक्ति करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टी है ।

सम्यग्दर्शन सामान्य से एक प्रकार है सराग सम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन अपेक्षा दो प्रकार है । १) उपशम २) क्षयोपशम ३) क्षायिक की अपेक्षा तीन प्रकार का है ।

१) आज्ञा २) मार्ग ३) उपदेश ४) सूत्र ५) बीज ६) संक्षेप ७) विस्तार ८) अर्थ ९) अवगाढ १०) परम अवगाढ भेद से सम्यक्त्व १० प्रकार भी है । उसमें से प्रथम सम्यक्त्व आज्ञा सम्यग्दर्शन है । यथा—

आज्ञासम्यक्त्व मुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव ।

त्यक्त ग्रन्थ प्रपंच शिवममृतपथं श्रद्धधन्मोहशान्तेः ॥

( आत्मानुशासन )

दर्शनमोहनीय के उपशान्त होने से ग्रन्थ श्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से ही जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है उस को आज्ञा सम्यग्दर्शन कहते हैं क्योंकि उसका श्रद्धान होता है सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान कभी भी अन्यथा उपदेश नहीं करते हैं जो भी कथन करते हैं वह सत्य ही कथन करते हैं ।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।

आज्ञा सिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिना ॥ ५ ॥

धीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व त्रिकाल अबाधित परम सत्य एवं सूक्ष्म है। जो कि परोक्ष भक्तिज्ञान श्रुतज्ञान के अवयवभूत हेतु, तर्क, उदाहरण से खण्डित नहीं होता है। जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते हैं। इसलिये उनकी आज्ञा ग्रहण करनेयोग्य है, यहाँ से ही सम्यग्दर्शन का प्रारंभ होता है, आज्ञा सम्यक्त्व तलहटी ( आधारशिला ) है उसके ऊपर अन्य अन्य सम्यग्दर्शन रुपी महल अवस्थित है।

कुछ वर्ष पूर्व जैन धर्म के अनेकांतवाद स्याद्वाद, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, कालद्रव्य, परमाणुवाद, वनस्पति एकेन्द्रिय है इत्यादि सिद्धांत अन्य कोई दर्शन एवं विज्ञान नहीं मानते थे वर्तमान वैज्ञानिक शोध से उपरोक्त समस्त विषय को आज वैज्ञानिक जगत एवं साधारण जन भी मानने लगे हैं। विज्ञान की नवीन नवीन शोध से जैन धर्म की प्रामाणिकता अधिक अधिक दुनिया के सम्मुख स्पष्ट स्पष्ट होता जा रहा है, इससे सिद्ध होता है कि जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत समस्त सिद्धांत सत्य पूर्ण और तथ्यपूर्ण है, इसलिये जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है।

#### ५) देशविरतः—

सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव की सुप्त अवस्था नष्ट होती है। विपरीत श्रद्धान नष्ट होने के पश्चात आत्मा की उन्नति के लिये अथवा मोक्ष प्रयाण के लिये उठकर खड़ा होता है परंतु पूर्व संस्कार के कारण चारित्र्य मोहनीय के तीव्र उदय से मोक्ष मार्ग के साधनभूत किसी प्रकार का चारित्र्य धारण नहीं कर पाता है। जब देश चारित्र्य प्रतिबंधक अप्र-

— पुरिसो —

पुरु गुणा पुराई पुरु साध्ये जो होई लीण ।

पर णिव अप्पा पसंस्ता रहियो जो सो हवाई पुरिसो ॥ १७ ॥

— इत्थो —

साया काम मुत्ति कलहो दुहु धवणाणु २१ई ।

पर दोस संसणो पण्णा अप्पा दोस छाहणा इत्थो ॥ १८ ॥



त्याख्यान कथायों का उपशम या क्षयोपशम होता है तब आत्मिक शक्ति कुछ वृद्धि होने के कारण मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिये कदम उठाता है । मोक्ष के साधनभूत सम्पूर्ण व्रतों को पालन करने के लिये आत्मशक्ति नहीं होने के कारण देश व्रतों को धारण कर मन्थरगति से मोक्षमार्ग में बढ़ता है ।

जो तस ब्रह्मो विरदो अघिरदओ तह य थावर ब्रह्मओ ।

एकक समयम्मि जीओ विरदाघिरदो जिणेक्कमई ॥ ३१ ॥

( गो. जी. )

( He ) Who vows against the killing of mobile ( trasa ) Souls, and ( is ) vowless as to the killing of immobile ( sthavara ) souls, and is entirely devoted to the conqueror ( Jina ), is vowful and vowless ( Virata - avirata ) at one and the same time.

पंचम गुणस्थानवर्ती जीव एक ही काल में अस वध से विरत होने के कारण एवं स्थावर वध से अविरत होने के कारण वह विस्ताविरत सार्थक नाम से सहित है । अ शब्द से सूचित होता है कि प्रयोजन के बिना स्थावर हिंसा भी नहीं करता है, उसकी श्रद्धा अर्थात् रुचि भक्ति जिन भगवान में रहने के कारण वह जिनैकमति होता है, यहाँ से संयम अथवा विरत का प्रारंभ होता है यह आदि दोषक हाने के कारण आगे भी गुणस्थान में यह विशेषण जोड़ना चाहिये । इस गुणस्थान में श्रद्धा रहते हुए भी आत्मा के घातक विषय कथायों से सम्पूर्ण विरत नहीं हो पाता है ।

अनाद्य विद्या दोषोत्थ श्रुतुःसंज्ञाश्चरातुराः ।

शश्वत्स्वज्ञान विमुखः सागरा विषयोन्मुखाः ॥ २ ॥

( सागर धर्मामृत )

अनाद्यविद्यानुस्यूतां ग्रंथसंज्ञमपासितुम् ।

अपारयन्तः सागराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥ ३ ॥

( सागर धर्मामृत )

अनादि कालीन अविद्यारूप दोषों से उत्पन्न होने वाली चारों

संज्ञाओं रूपी ज्वर से पीड़ित होकर और उसके सहन करने में असमर्थ होकर उस आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, संज्ञा रूप दाह को योंन करने के लिये विषय समुद्र में स्नान करता है। उस समय में वह क्षिप्तचित्त विवेक से शून्य होकर, निरन्तर आत्म ज्ञान से विपुल होकर विषयों को भोगता है। बाह्य जड वस्तुओं का संग्रह करता है। धन-सम्पत्ति आदि के क्षय से भयभीत होता है, श्रुष्टि पुष्टि कर इन्द्रियों को उत्तेजित कर आहारादि का भी सेवन करता है। अनादिकालीन अज्ञान के कारण परंपरा से आनेवाली परिग्रह संज्ञा को त्याग करने में असमर्थ प्रायः विषय काम भोग में मूर्च्छित श्रावक होते हैं। इसी प्रकार मध्य मम्य-सदृष्टी जीवों की दीन अवस्था को देखकर स्वपर उपकारी मोक्ष मार्ग के पथिक यथाशक्ति उसका आत्मउद्धार के लिये उपदेश देते हैं -

विषयविषयप्राशनोत्थित मोहज्वरजनित तीव्रतृणस्य ।

निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥ १७ ॥

( आत्मानुशासन )

विषय रूपी विषय अपथ्य भोजन से उत्पन्न हुआ मोह रूप ज्वर के निमित्त से जो तीव्र स्त्री संभोगरूप तृष्णा धन सम्पत्ति उपार्जन सरक्षणादि लालसा, विलासतादि तीव्र तृष्णा से सहित होने के कारण जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है ऐसे तेरे लिये प्रायः सुपाच्य पेय के योग्य अणुव्रतादि सदृश पथ्य प्राथमिक अवस्था में चिकित्सा के लिय अधिक श्रेयस्कर होगी -

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जानु गृह्णाति ।

तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ १७ ॥

- बालयो -

हियाहिम परिमुक्को पर बब्बे सया अणुरत्तो ।

पर दब्ब णासे आऊलो जो सो हवई बालयो ॥ १९ ॥

- फोड -

जो सो विवेय सीलो अप्पाबब्बे सया अणुरत्तो ।

पर दब्ब विमुत्त कुसलो जो सो हवई फोडो ॥ २० ॥

He, who is not prepared to adopt the order of saints should be persuaded to enter the life of a virtuous house holder, who practises partial renunciation and gradually prepares himself for the higher orders.

प्रथम भव्यों को समस्त विरति रूप मोक्ष का प्रधान कारणीभूत महाव्रतस्य मुनि धर्म का उपदेश देना चाहिये और ग्रहण करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये । यदि वह भव्य इस महान व्रतों को धारण करने के लिये असमर्थ होगा तब एक देशविरति रूप गृहस्थ धर्म का उपदेश देना चाहिये । यदि मुनि धर्म का उपदेश न देकर, मुनि धर्म को स्वीकार करने रूप उत्साह नहीं देकर केवल गृहस्थ धर्म का उपदेश देंगे तब वह मुनि प्रायश्चित्त का भागी है । क्योंकि गृहस्थ धर्म में सम्पूर्ण विषय कषाय, परिग्रह से विरति नहीं है, सम्पूर्ण पाप कर्मों से विरति नहीं है निराकुलता रूप धर्म शुक्ल रूप आत्मध्यान भी नहीं होता है, उससे भव्य का आत्म उत्पत्ति में बाधक होता है ।

अष्टमूल गुणः—

मधु मज्ज मंस विरई चाओ पुण उबरान पंचण्हं ।

अट्ठई मूलगुणा हवन्ति फुट्ट देसविरवम्मि ॥ ३५६ ॥

( भाव-संग्रह )

मद्य, मांस, मधु एवं पंच उदुम्बरों को त्याग करना देश विरतिओं के ८ मूल गुण है ।

मद्यदलमधु निशाशन पंचफली विरति पंचकास्तनुतो ।

जेवदयाज्जग्गलनमिति च ववच्चिदष्टमूलगुणा ॥ १८ ॥

( आशाधरकृत सागार धर्मावृत )

१ मद्य त्याग २) मांस त्याग ३) मधु त्याग ४) रात्रि भोजन त्याग ५) पंच उदुम्बर फलों का त्याग ६) त्रैकाल्य पंचपरमेष्ठी भगवान् की वंदना ७) जीव दया ८) पानी छानकर पीना । इस प्रकार प्रकारान्तर से ८ मूलगुण है । जो श्रावक उपरोक्त मूलगुणों को पालन नहीं करता वह श्रावक ही नहीं है । श्रावकों के लिये मद्य, मांस, मधु, पंचउदुम्बर फल, सप्त व्यसन, रात्री भोजन, ७. नछना पानी पीना आदि त्याग करना

अनिवार्य है । तथा जीव दया, पंचपरमेष्ठी प्रतिभक्ति, देव-दर्शन, शास्त्र श्रवण, गुरु वंदना, आहार दान, देव पूजा, संयम, तप, अहिंसागुणव्रत, सत्यान्व्रत, अचौर्यानुव्रत, ब्रह्मचर्यानुव्रत, परिग्रह परिमाणु अणुव्रत पालन करना अनिवार्य है तथा अन्याय, अत्याचार, शोषण, लोक विरुद्ध, समाज विरुद्ध, पर निंदा, आत्म प्रशंसा, द्वेष भावसर्य आदि पापात्मक अशुभ परिणामों को त्याग करके पुण्यात्मक शुभ परिणाम को धारण, पोषण स्वर्धन करना चाहिये ।

अध्यावनिष्ट दुस्तर दुरित्त यतनान्यमूनि परिवर्ज्ये ।

जिनधर्म देशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धयिः ॥ ७४ ॥

( पुरुषार्थ सिद्धि )

मद्य, मांस, मद्य एवं पच उदुम्बर फल अत्यन्त अनिष्ट कर पाप वृत्त, तरक निगोदियादि दुर्भेति के कारण आत्मपतन के कारण मानसिक शारीरिक, वाचनिक आध्यात्मिक मलीनता के कारण होने से जो उनको यत्नपूर्वक त्याग करता है वही भव्य सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध मनोभाव वाला होकर जिनधर्म सुनने के लिये, शास्त्र सुनने के लिये शास्त्र पढ़ने पढ़ाने, उपदेश करने का पात्र होता है अन्य नहीं हो सकता है ।

श्रावक के षट् आवश्यक :-

देवपूजा गुरुपासितः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्मणि विने विने ॥ ६ ॥

( पद्मनंदि पंचविंशति )

१) देवपूजा २) गुरुसेवा ३) स्वाध्याय ( भाव द्रव्यरूप श्रुता-  
व्यास ) ४) संयम ( ५ प्रकार प्राणी संयम, मन संयम, इन्द्रिय संयम )

- सीच -

भावि भोग पदात्ये जो ण ठवदि ममत्ति भावं ।

सो सीच मृण्येय्व ण बहिंसं मासेण ॥ २१ ॥

सव्व असुचि चीजं लोह कसय्य होदि णियमेण ।

चीजं णासेण पुणो असुचि ऋक्ख ण हवदि ॥ २२ ॥

५) तप (यथायोग्य इच्छा निरोध हा अन्तरंग-बहिरंग ता), ६) दान ये गृहस्थों के दैनन्दिन अवश्य करने योग्य कर्तव्य है।

देवपूजा दया दानं, तीर्थयात्रा जपस्तपः ।

शास्त्रं परोपकारत्वं मर्त्यं जन्म फलाष्टकम् ॥

१) देवपूजा २) दया ३) दान ४) तीर्थ यात्रा ५) जप ६) तप  
७) शास्त्र अध्ययन ८) परोपकार ये गृहस्थ जन्म के उत्तम ८ फल हैं।

“ दानं पूजा शीलमुपवासो चेति चडव्विहो सावय धम्मो ”

( ज. ध. पु. १ पे २१ )

१) दान २) पूजा ३) शील ४) उपवास ये चारों श्रावकों के धर्म हैं।

दानं पूया मुखं सावय धम्मो ण सावया तेण विणा ।

ज्ञाणाज्झयणं मुखं जदि धम्मो तं विणा तहा सोवि ॥ ११ ॥

( रयणसार )

श्रावकों के अनेक कर्तव्यों में से षट् आवश्यक मुख्य है। उनमें भी दान-पूजा अत्यन्त मुख्य है। यदि श्रावक दान-पूजा नहीं करता है तो वह श्रावक ही नहीं है। उसी प्रकार मुनि धर्म में ध्यान अध्ययन मुख्य है, यदि मुनि ध्यान, अध्ययन नहीं करता है तो मुनि नहीं है।

दानं ण धम्मं ण चागं ण भोगं ण बहिरप्प जो पयंगो सो ।

लोहं कसायगिगमूहे पळिदो मरिदो ण संदेसो ॥ १२ ॥

( रयणसार )

जो दान, धर्म, त्याग नहीं करता है तथा अन्तर्गल पूर्वक आयाति पूर्वक भोग करता है, परंतु संयम पूर्वक नहीं रहता है, वह बहिरात्मक मिथ्यादृष्टी, अज्ञानी है, वह लोभकषाय रूप अग्नि में पतंग के समान पड़ता है, मरता है, संसार में दुःखी होता है।

जिण पूया मुणिदानं करेदि जो वेदि सत्तिरुवेण ।

समादिठ्ठी सावय-धम्मो सो होदि मोकजमग रदो ॥ १३ ॥

( रयणसार )

जो शक्ति-भक्ति अनुसार देव पूजा करता है, मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टी श्रावक धर्म को पालन करने वाला धर्मात्मा मोक्षमार्ग में रत है, निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त करने वाला है ।

दाणु ण विण्णउ मुणिवरहं ण वि पूज्जिउ जिण्णहाहु ।

पंथे ण वंदये परम गुरु किमु होसइ शिवलाहु ॥

( नरमात्म प्रकाश )

आध्यात्मिक आचार्य योगीन्द्र देव बताते हैं, हे भव्य तू मुनियों को भक्ति पूर्वक दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं किया, पंच परम गुरुओं की सेवा-वंदना-भक्ति आदि नहीं किया तो किस प्रकार तुझे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।

देवपूजा :-

पुण्यस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देव पूजाय ।

कायव्या भत्तीए सावय वग्गेण परमाए ॥ ४२५ ॥

( भाव संग्रह )

पुण्य प्राप्ति के लिये देवपूजा निश्चय से प्रथम कारण है इसलिये श्रावक धर्म अतिशय भक्ति से प्रतिदिन देव पूजा करना चाहिये ।

देव पूजा से अशुभ कर्मों का संवर एवं निर्जरा होती है, अतिशय आत्म विशुद्धि होती है, जिससे सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है और उससे सातिशय पुण्य बंध होता है, जो कि स्वर्ग मोक्ष का कारण है, इसलिये योग्य श्रावक मन-वचन-काय शुद्धि पूर्वक द्रव्य-भावात्मक पूजा नित्य करनी चाहिये ।

— नपुंसक —

इह परलोक कुसल रहियो भोग रागे अणुत्तो ।

खजचिह पुरुमास्थ चिहीणो नपुंसक होई अण्णाणी ॥ २३ ॥

— सामान्य धम्मो —

रयणत्तयं य धम्मं अणेयंत सिग्गवाय धम्मो ।

धम्मो वत्थु सहावो उत्तमवत्तमावी दस पिहो धम्मो ॥ २४ ॥

जिन दर्शन महिमाः -

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम् ।  
 दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम् ॥  
 दर्शनेन जितेन्द्राणां साधूनां बन्धनेन च ।  
 न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोक्तम् ॥  
 वीतरागमुखा वृष्टवा पद्मराग समग्रभम् ।  
 नैकजन्म कृतं पापं दर्शनेन विनश्यति ॥  
 दर्शनं जिनसूर्यस्य संसार ध्वान्तनाशनम् ।  
 बोधनं चित्तपद्मस्य समस्तार्थ प्रकाशनम् ॥  
 दर्शनं जिनचन्द्रस्य सद्गुणमितवर्धनम् ।  
 जन्मबाह्विनाशाय वर्धनं सुखवारिधेः ॥  
 जन्म जन्म कृतं पापं जन्मकोटयामुपाजितम् ।  
 जन्म मृत्युजरा रोगं हन्यते जितदर्शनात् ॥

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेण ।  
 पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिः परंपरा सुहाणं ॥ ७४९ ॥

( भगवती आराधना )

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो धासमग्गएण विणा ।  
 आराधण मिच्छन्तो आराधण भतिम करंती ॥ ७५० ॥

अकेली जिनभक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है, इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है, और मोक्ष प्राप्ति होने तक इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है, इससे इन्द्र पद, चक्रपती पद, अहमिन्द्र पद, और तीर्थंकर पद के सुखों की प्राप्ति होती है ॥ ७४३ ॥

जो भगवान की भक्ति-आराधना नहीं करना चाहता है तथा रत्नत्रय सिद्धि रूप फल की इच्छा रखता है, वह पुरुष बीज के बिना धान्य प्राप्ति की इच्छा रखता है, अथवा मेघ के बिना जलवृष्टी की इच्छा करता है ॥ ७५० ॥

तोहि कारणेहि पढम सम्मत्त सुप्पा देसि-केइ जाइस्सरा ।

केइ सोऊण, केइ जिणविब्वं द्दट्ठूण ॥ सूत्र २२ ॥

( अ. पु. ६ पे ४२७ )

पूर्वों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं — कितने ही तिर्यञ्च जाति स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिब दर्शन करके सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं । कथं जिनबिब वंसण पदम सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ?

जिनबिब वंसणोण मिथस निक्काचिदस्स वि मिच्छसाविक कम्म-  
कलावस्स क्षय वंसणादो । तथा चोक्तं :-

वर्शनेन जिणेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम् ।

शतधा भेदमायादि गिरिर्वज्रहतो यथा ॥ १ ॥

( व. पु. ६ पे ४२७-४२८ )

शंका:- प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है ?

समाधान:- जिनबिब के दर्शन से मिथत्त और निक्काचित रूप भी मिथ्यात्ववादी कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है जिससे जिनबिब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है । कहा भी है:-

जिनेन्द्रों के दर्शन से पाप संघात रुपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं ।

प्रत्येक कार्य अन्तरंग — बहिरंग कारणों से होता है । सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिये अन्तरंग कारण सम्यग्दर्शन प्रतिबन्धक कर्मों का उपशम क्षयोपशम, क्षय, निमित्त है तथा बहिरंग कारण जिनबिब दर्शन, जाति स्मरण, धर्म उपदेश, दैर्घ्यदर्शन, वेदनानुभवादि है । जिनबिब अचेतन होते हुए भी मूर्ती की वीतरागता, सौम्यता आदि माध्यम से जो आत्म

- जीव -

अस्थित वत्थुथ पमेयत्त अगुरु लहु भावो ।

उप्पाद यह धुव्व सव्व दब्बाण सामणो धम्मो ॥ २५ ॥

चेदण जाणं वंसणं सुह अणंत विरीय अद्वावाहं ।

णिम्मम गिरापेक्खं जीवाणं उत्तमो धम्मो ॥ २६ ॥



विशुद्धी होती है उसके कारण जो वज्र के समान निकाचित — निश्चित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार वज्रपात से पर्वत भी टुकड़े टुकड़े हो जाता है ।

**निकाचित-निश्चित कर्म :-** जो कर्म उदय, उपवर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण योग्य नहीं हो उसी कर्म को निकाचित कर्म कहते हैं । वह स्थिति पूर्ण होने पर ही उदय में आकर फल देता है ।

उपरोक्त प्रकार कर्म अकृत्रिम, कृत्रिम अथवा साक्षात् भगवान् के दर्शन से नष्ट हो जाता है तो सामान्य कर्म की बात क्या है । इसलिये भव्यजीव भक्तिपूर्वक भगवान् के दर्शन — पूजा — अभिषेकादि करना चाहिये । यह कोई रूढ़ी अथवा मिथ्यात्व नहीं है और पुण्य बंध का मात्र कारण नहीं है, परंतु साक्षात् आत्म विशुद्धी एवं सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिये भी कारण है । जिन मंदिर, जिन प्रतिमा, जिनदर्शन, जिनपूजा प्रतिष्ठादि अर्वाचीन पद्धति नहीं है, अन्य परम्परा से आगत नहीं है ।

**जिन चैत्य — चैत्यालय का स्वरूप:-**

जैनियों के परमपूज्य परमोत्कृष्ट प्रातः स्मरणीय नव देवता है । यथा— १) अरहंत २) सिद्ध ३) आचार्य ४) उपाध्याय ५) सर्व साधु ६) जिन चैत्य ७) जिन चैत्यालय ८) जिनधर्म ९) जिनागम ।

जिन चैत्य एवं जिन चैत्यालय कृत्रिम एवं अकृत्रिम दोनों प्रकार के होते हैं । जिन चैत्य अर्थात् जिनबिंब पंच परमैष्ठियों का भी होता है ।

**अकृत्रिम चैत्य:-**

चमर करणाग जक्खग बत्तीसं मिहुण गेहि पुह जुत्ता ।  
सरिसोए पंतोए गबभगिहे सुठ्ठु सोहंति ॥ ९८७ ॥ त्रिलोकसार  
सरिदेवी सुदवेवी सखाण्ह सणकुमार जक्खाणं ।  
रुधाणि य जिनपासे मंगलमट्टु बिहमवि होवि ॥ ९८८ ॥ त्रिलोकसार  
भिगार कलस वप्पण बीय ण धय आमराव वत्तमहा ।  
सुवट्ठठ मंगलाणि य अट्ठहिय समाणि पसेयं ॥ ९८९ ॥ त्रिलोकसार

वे जिन प्रतिमाएँ, चरमधारी, नागकुमारों के ३२ युगलों और यक्षों के ३२ युगलों सहित पृथक् पृथक् एक एक गर्भगृह में सदृश पक्षि से मली प्रकार शोभायमान होती है । उन जिन प्रतिमाओं के पार्श्वभाग में श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाङ्ग यक्ष और सानत्कुमार यक्ष के रूप अर्थात् प्रतिमाएँ हैं, तथा अष्टमंगल द्रव्य भी होते हैं । झारी, कलश, दर्पण, पंखा, ध्वजा, चामर, छत्र और ठोना ये ८ मंगल द्रव्य हैं । ये प्रत्येक मंगल द्रव्य १०८, १०८ प्रमाण होते हैं ॥ ९८७-९८८-९८९ ॥

तिलोपपण्णत्ति में कहा है :-

सिरिमुददेवीण तहा सव्वाण्ह सणक्कुमार जक्खलणं ।

सर्वाण पत्तेक्कं पडिवर रयणाइ रद्धवणिं ॥ १८८१ ॥

( चतुर्थ अधिकार )

प्रत्येक प्रतिमा के प्रति उत्तम रत्नादिकों से रचित श्रीदेवी, श्रुत देवी तथा सर्वाङ्ग व सानत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ रहती हैं ।

कृत्रिम चैत्यः-

प्रातिहार्याष्टकोपेतं, सम्पूर्णावयवं शुभम् ।

भावद्वयानु सिद्धांग, कारयेव बिम्बमर्हता ॥ ६९ ॥

प्रातिहार्येविना शुद्धं, सिद्धं बिम्बमपीदृशः ।

सूरीणां पाठकानां च, साधूनाम च यथागमम् ॥ ७० ॥

( वसुनन्दि प्रतिष्ठा पाठ तृतीय प्रतिच्छेद )

अष्ट प्रातिहार्य से युक्त सम्पूर्ण अवयवों से सुन्दर तथा जिनका

- पुद्गल -

फास रस गंध वण्ण पुरण गलण येव ।

सद् छाया प्पकास पुग्गल वव्वाणं धम्मं ॥ २७ ॥

- धर्म -

अमुत्त णिच्च सुद्धं लोयायासे प्पमाण द्विदं ।

गई परिणयाणं जीव दव्वीणं गमणे णिमित्त धम्मं ॥ २८ ॥

सन्निवेश ( आकृति ) भाव के अनुरूप है ऐसे अरिहंत विभव का निर्माण करें ।

सिद्ध प्रतिमा शब्द एवं प्रातिहार्य से रहित होती है आगमानुसार आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की प्रतिमाओं का भी निर्माण करें ।

**जिनेन्द्र पूजा विधि:-**

द्रव्य सहित भाव पूजा:- लोभ कषाय के उदय के कारण श्रावक सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर नहीं पाता है इसलिये वह परिग्रहधारी है परिग्रह के ऊपर अशक्ति ही बंध का कारण है ।

“ रत्तो बंधयि कम्मं भुञ्जदि जीवो विराग सम्पण्णो ”

इस सिद्धांतानुसार बाह्य वस्तु में जो आशक्ति है वह बंध का कारण है और वैराग्यभाव, निर्मोहभाव विमुक्ति का कारण है । वैराग्य भाव को प्रगट करने के लिये लोभ कषाय परित्याग पूर्वक द्रव्य पूजा सहित भाव पूजा करे । श्रावक कषायवान्, इच्छावान्, कामीभोगी होने के कारण उसका मन निरालम्बन ध्यान और पूजा में स्थिर नहीं हो सकता है । यदि स्थिर होता है तो वह काम भोगों के लिये बाह्य द्रव्यों का अवलम्बन क्यों लेता है ? परिग्रह संचय क्यों करता है ? बाह्य परिग्रहों के हानि वृद्धि में सुख-दुःख का अनुभव करता है ।

इसलिये आचार्य ने द्रव्य सहित भाव पूजा करने के लिये कहे हैं:-

द्रव्यस्य शुद्धि मधिगम्य यथानुरूपं

भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः ।

आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वलगन्

भूतार्थ-यज्ञ-पुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥ ११ ॥

मैं यथागम्य द्रव्य भाव शुद्धि पूर्वक विभिन्न अवलम्बन को लेकर परमपूज्य, परमआराध्य, वीतराग सर्वज्ञ भगवान् का भूतार्थ यज्ञ (पूजा) करता हूँ ।

द्वेषापि कुर्वतः पूजां जितानां जितजन्मनाम् ।

न विद्यते द्वये लोके दुर्लभं वस्तुपूजितम् ॥ १५ ॥

( अध्याय १२ अमित गति श्रावकाचार )

संसारको जितने वाले जिनेन्द्र देव की द्रव्य और भाव से पूजा करने वाले पुरुष को यह लोक परलोक में कोई भी श्रेष्ठ वस्तु पाना दुर्लभ नहीं है । "सुद परिचिदाणुमूदा सबस्स वि काम भोग बन्ध कहा" काम भोग बन्ध की कथा इस जीव ने सुना, परिचय लिया, अनुभव लिया, रचा, पथा उसमें ही लीन रहा इसिलिये मन उसके ओर ही दौड़ता है । उस अत्यन्त चंचल अशुभ मन को आत्मा की ओर परिवर्तन करने के लिये प्रशस्त द्रव्यों का अवलम्बन चाहिये । जिस प्रकार बच्चे व बन्दर मनमोहकारी वस्तु को प्राप्तकर उसमें रमायमान हो जाते है उसीप्रकार मन भी उत्तम देव, शास्त्र, गुरु एवं उनकी प्रतिकृति (मूर्ती) सुन्दर, सरस, सुगन्धित, प्रशस्त पूजा द्रव्यों के माध्यम से धर्म में रमायमान होता है । यह श्रावक अवस्था से अवलम्बन भूत है । जब श्रावक दूढ़ होकर मुनि हो जाता है तब उस बाह्य पूजा द्रव्य की विशेष आवश्यकता नहीं रहती है जब तक श्रावक है तब तक द्रव्य पूर्वक भाव पूजन करना अनिवार्य है ऐसा जिनाज्ञा है ।

उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणउ वेधदेवस्स ।

णीर धय खीर दहियं खिवउ अणुवकमेण जिण सीसे ॥ ४४१ ॥

( भावसंग्रह )

पहवणं काऊण पुणो अमलं गंधोदयं च वंदित्ता ।

सय लहणं च जिणिंवे कुणउ कस्सीर मलएहि ॥ ४४२ ॥

( भावसंग्रह )

अभिषेक के श्लोक और उनके मंत्र बोलकर जिन प्रतिमा का भस्तक से पानी, घी, दूध, दही से अनुक्रम से अभिषेक करें, अभिषेक के

— अधम्म —

अमुत्त णिच्चसुद्धं लोयायासं प्यमाणं द्विवं ।

विठ्ठी परिणयाणं जीव खयीणं द्विदि णिमित्तमधम्मं ॥ २९ ॥

— आगास —

अमुत्त णिच्च सुद्धं सव्व वापि महायादव्वं ।

सग पर ओगास दाणं आगास दव्वरणं धम्मं ॥ ३० ॥

पश्चात् भक्ति पूर्वक अपने शिर पर गंधोदक को धारण करें उसके बाद केशर, चंदन आदि सुगन्धित पदार्थों से जिनेन्द्र प्रतिमा का लेपपूर्वक अभिषेक करे ।

जिनेन्द्र भगवान् अभिषेक विधिः--

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तविलां पीठयां चतुष्कुम्भयुक् ।

कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्थान्तमाप्येष्टदिक् ।

मीरज्याम्बुर साज्य दुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तन

सिक्तं कुम्भजलैस्त्रय गन्धसलिलैः सम्पूज्यनुत्वा स्मरेत् ॥२३॥

( षष्ठ अधिकार सागार धर्मामृत )

अभिषेक करने की प्रतिज्ञा करके जहाँ पर भगवान् का अभिषेक करना है वहाँ की भूमि की विशुद्धि करके चतुष्कुम्भ से युक्त है कोणा जिनकी ऐसी तथा त्रिग पर की लिखा हुआ है तथा कुश रखा हुआ है ऐसी पीठिका पर (सिंहासन) जिनेन्द्र भगवान् को स्थापित करके आरती उतारकर इष्ट दिशा में अर्थात् पूर्व दिशा में स्थित होकर जल, फलरस घृत, दुग्ध, दधि के द्वारा अभिषेक किया है उद्वर्तन अर्थात् चंदन का अनुलेपन करके चारों कोण के कलशों में तथा सुगन्धित जल से अभिषेक करे । तथा जल-चन्दनादि अष्ट द्रव्य से पूजा करके और नित्य वन्दनादि विधि से नमस्कार करके अपने हृदय में भगवान् की विराजमान करके अपने शक्ति के अनुसार भगवान् का ध्यान करें य जप करें ।

कुब्जंते अभिसेयं महा विभूदीहि ताण देविदा ।

कञ्चन कलसगदेहि विमल जलेहि सुगन्धेहि ॥ १०४ ॥

( तिलोपपण्णत्ति )

देवेन्द्र महान् विभूति के साथ इन प्रतिमाओं का सुवर्ण-कलशों में भरे हुए सुगन्धित निर्मल जल से अभिषेक करते हैं ॥ १०४ ॥

कुंकुम कप्पूरेहि चंदन कालागर्दहि अण्णेहि ।

ताण विलेखणाइ ते कुब्जंते सुगन्धेहि ॥ १०५ ॥

( तिलोपपण्णत्ति )

वे इन्द्र कुंकुम, कर्पूर, चंदन, कालागरु और अन्य सुगन्धित द्रव्यों से उन प्रतिमाओं का विलेपन करते हैं ।

कुन्देन्दु सुन्दरैहि कोमल विमलेहि सुरभिगंधैहि ।

वर कलन तंडुलैहि पूजति जिणिंद पडिमाओ ॥ १०६ ॥

( तिलोपपण्णत्ति )

ये कुन्द पुष्प व चन्द्रमा के समान सुन्दर, कोमल निर्मल और सुगन्धित उत्तम कलम धान्य के तंडुलों से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं ।

सयवंतगा य र्वपयभाला पुण्णाथ तणाय पहुदोहि ।

अच्चंति ताओ देवा सुरहीहि कुसुममालाहि ॥ १०७ ॥

( तिलोपपण्णत्ति )

वे देव सेवती, चम्पकमाला, पुनाग और नागप्रभृति सुगन्धित पुष्प मालाओं से उन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं । १०७

बहु विहर सवत्तेहि वर भखेहि विचित्त खेहि ।

अमय सरिच्छेहि सुरा जिणिंद पडिमाओ महयंति ॥ १०८ ॥

( तिलोपपण्णत्ति )

ये देवगण बहुत प्रकार के रसों से संयुक्त, विचित्र रूप वाले और अमृत के सदृश उत्तम भोज्य पदार्थों से ( नैवेद्य ) जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं ।

विपफुरिद किरण मंडल मडिद भवणेहि रयण दीर्घेहि ।

णियकज्जल कलुसेहि पूजति जिणिंद पडिमाओ ॥ १०९ ॥

( तिलोपपण्णत्ति )

— काल —

अमूत्त णित्थ सुद्ध प्पत्तेय लोयाप्पवेसे द्विदं ।

सग पर परिणयाणं णिमित्तं काल दव्वस्स धम्मं ॥ ३१ ॥

( ४ ) लघु द्वादश अनुप्रेक्षा दोहा ( हिन्दी )

सब धर्म का सार है सर्व चारित्र का सार ।

सर्व ज्ञान का सार है तत्त्वों का विचार ॥

देदीप्यमान किरण समूह से जिन भवनों को विभूषित करनेवाले और कज्जल एवं कलुषता से रहित ऐसे रत्नदीपकों से इन प्रतिमाओं की जापू करते हैं ।

वासिद विमंतरेहि कालागरु पमूह विविह धूर्वेहि ।

परिमलिव मंदिरेहि महयंति जिणिव बिबाणि ॥ ११० ॥

( तिलोपपण्णत्ति )

देवगण मंदिर एवं दिमंडल को सुगन्धित करने वाले कालागरु प्रभृति अनेक प्रकार के धूपों से जिनेन्द्र विम्बों की पूजा करते हैं ।

ववखा बाडिम कवली णारंग य माहल्लिग वूदेहि ।

अण्णेहि वि पक्केहि फल्लेहि पूजति जिणणाहं ॥ १११ ॥

दाख, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके हुए फलों से वे जिननाथ की पूजा करते हैं ।

णिस्सेण कम्मक्खणेक्क हेवुं मण्णंतया तत्थ जिणिव पूजं ।

सम्मत्त विरथा कुट्थंति णिक्खं देवा महानंत विसोहि पुब्बं ॥ १२८ ॥

( तिलोपपण्णत्ति )

वहाँपर अविरत सभ्यगृहीटी देव जिन पूजाको समस्त कर्मोंके क्षय करने में एक अद्वितीय वारण समझकर नित्य ही महान अनंत मूर्णी विशुद्धिपूर्वक उसे करते हैं ॥ १२८

अभिषेक पूजा का फल :-

जलधारा णिक्खेवेण पापमलं सोहणं हवे नियमं ।

चन्दनलेवेण णरो जावई सोहणं संपण्णो ॥ ४२३ ॥

( वसु ध्रा. )

पूजनके समय नियम से जिन भगवान के आगे जलधारा के छोड़नेसे पाप रुपी मैल का संशोधन होता है । चन्दन रस के लेप से मनुष्य शोभाय से संपन्न होता है ।

जायइ अक्खयणिहि रयणसामिओ अक्खण्ढही अक्खोहो ।

अक्खोण लुहिद जित्तो अक्खय सोक्खं च पावेइ ॥ ४८४ ॥

( वसु. )

अक्षताओं से पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और १४ रत्नोंका स्वामी चक्रवर्ती होता है। सदा अक्षय अर्थात् रोग, शोक रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धि से संपन्न रहता है और अंतमें अक्षय मोक्ष सुखको पाता है।

कुसुमेहि कुसुसेय वयणु तरुणी जन नयण ।

कुसुम वरमाला वलारणच्चयवेहो जयद्द कुसुमाजहो चैव ॥ ४८५ ॥

( व. सु. था. )

पुष्पों से पूजा करनेवाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर सुखवाला तरुणी जनों के नयनों से और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से समर्चित देहवाला कामदेव होता है।

जायद्द णिविज्ज दाणेण सत्तिगो कंति-तेय संपण्णो ।

लावण जलहि वेला तरंग सण्णविय सरीरे ॥ ४८६ ॥

( वसु. )

नैवेद्य के चढ़ाने से मनुष्य शक्तिमान, कांति और तेज से सम्पन्न और सौंदर्यरूपी समूहकी बेला ( तट ) वर्ती तरंगों से संप्लावित शरीर वाला अर्थात् अतिसुन्दर होता है।

दीर्घेहि दीविया सेस जीव द्दव्व इतच्च सम्मावो ।

सम्माव जणिय केवल पइवत्तेण होइणरो ॥ ४८७ ॥

( वसु. )

दीपसे पूजा करनेवाला मनुष्य सद्भावों के योग से उत्पन्न हुए केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीव द्रव्यादि तत्त्वों के सदस्य

अनित्य ( अनित्स )

राम गये रावण गये, गये तीर्थकर ।

जो आत्मा में स्थिर भये, ताके न हेर न फेर ॥

— अशरण —

पाद्वर पर उपसर्ग भये, कोई न रखना हार ।

जो अपना आश्रय लहे ताके न मारन हार ॥



को प्रकाशित करनेवाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है ।

धूवेण सिसिरयर धवलकित्ति धवलजयसओ पुरिसो ।

जायइ फलेहि संपत्त परमणिब्बाण सोक्ख फलगे ॥ ४८८ ॥

धूप से पूजा करनेवाला मनुष्य चंद्रमा के समान धवल किर्ती से जगत्रय को धकल करने वाला अर्थात् त्रैलोक्य व्यापी यशवाला होता है फलों से पूजा करने वाला मनुष्य परम निर्व्राण का सुख रूप फल पाने वाला होता है ।

घंटाहिं घंटा सदाउलेसु पवर ष्णमच्छाम्मि ।

संकीउइ सुर संघाय सेविओ वर विमाणेसु ॥ ४८९ ॥

जिन मंदिर में घंटा समर्पण करने वाला मनुष्य घंटाओं के शब्दों से आकुल अर्थात् व्याप्त, श्रेष्ठ विमानों में सुर-समुह से सेवित होकर प्रवर अप्सराओं के मध्य में कीश करता है ।

छत्तेहि एयदनं भुंजेह पुट्ठयी सवत्त परिहिणो ।

चामर बाणेण तहा धिज्जिज्जइ चमरणस्सि हेहि ॥ ४९० ॥

छत्र पूजन करने से मनुष्य शत्रू रहित होकर पृथ्वी को एक छत्र भोगता है । तथा चमरों के दान से चमरों के समुहों द्वारा परिविजित किया जाता है, अर्थात् उसके उपर चमर ढोरे जाते हैं । ४९०

अहिसेय फलेण णरो अहिसिचज्जइ सुन्दसणस्सुवरि ।

रक्षीरोय जलेण सुरिबप्प मुह वेवेहि भत्तीए ॥ ४९१ ॥

जिन भगवान् के अनिषेक करने के फल से मनुष्य सुदर्शन मेरु के उपर क्षीर सागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के माध्य अभिषिक्त किया जाता है ॥ ४९१ ॥

विजय पट्टाएहिणरो संगाय भुहेसु विजइओ होइ ।

तवखंड विजयणाहो णिप्पडिवक्खो असस्सी य ॥ ४९२ ॥

जिन मंदिर में विजय पताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है । तथा षट्खंडरूप भारतवर्ष का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है ।

किं अपि एण बहुणा तीसु विलाएसु किं विजं सोक्खं ।

पूजा फलेण सत्त्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥ ४९३ ॥

अधिक कहने से क्या लाभ है, तीनों ही लोकमें जो कुछ भी सुख है वह सब पूजाके फल से प्राप्त होता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिदुर्गति निवारयितुम् ।

पुण्यानि च पूरयितुं दातुं भुक्तिश्रियं कृत्तिनः ॥ ८ ॥

( पूज्यपाद समाधिभक्तिः )

एकही परम जिनभक्ति भक्त का समस्त दुर्गतियों का निवारण करने के लिये सात्त्विक पुण्य को संपादन करने के लिये एवं मोक्ष पदवी देने के लिए समर्थ होता है ।

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।

कामदुहि कामवाहिनी परिचिनु यावावृत्तो नित्यं ॥ ११९ ॥

( रत्नकरंड )

The worshipping of the feet of the Deva of devas (Holy Tirthankara) the bestower of desired good and the consaner of Cupid's Shatis, is the remover of all kinds of Pain (For this reason it) should be performed reverently every day,

श्रावक को आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और काम वेदना को भस्म करने वाले इन्द्रादिक द्वारा बंदनीय अरहंत भगवान के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली भगवान की पूजा करें ।

— संसार —

संसार हे उल्टा यामे सम्यक् सार नहीं ।

अमृतामति से विष झरें हैं यशोधर अयश फंलाई ॥

— एकत्व —

बो मैं हूँ बंधन विवाह, बो मे हो संसार ।

एकत्व में सब नशे, पाये सच्चिदानन्द सार ॥

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्

राजेंतु चक्रमभवनीन्वशिरोऽर्चनीयम् ।

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्

लब्ध्वा शिवंच जितभक्तिरूपेति श्रव्यः ॥ ४१ ॥

( रत्नकरण्ड )

जिनेन्द्र भगवान् में सातिशय अनुराग को रखनेवाला जिनेन्द्र भक्त सम्यग्दृष्टी जीव अपरिमित प्रतिष्ठा और ज्ञान से सहित इन्द्र समूह की महिमा को प्राप्त करता है । ३२ हजार मुकुट बद्ध राजाओं से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्नों को प्राप्त करके चक्रवर्ती बनता है । केवल इस प्रकार अभ्युदय सुख का अधिकारी नहीं होता है परन्तु समस्त लोक से पूजनीय धर्म चक्र के अधिपति होकर अर्थात् तीर्थंकर बनकर शेष त्रिलोक का प्रभू स्वरूप सिद्ध भगवान् बनकर मोक्ष साम्राज्य को प्राप्त करता है ।

अरहंत णमोऽकारं भावेण य जो करेदि पयदमदि ।

सो सख बुक्ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

( मूलाचार )

जो उत्कृष्टमतिवाला अरहंत भगवान् को भावपूर्वक नमस्कार करता है । वह समस्त दुःख से अचिरकाल से अर्थात् अतिशीघ्र मुक्त होकर मुक्त अवस्था का प्राप्त करेगा ।

अरिहंत भक्तिमें तीर्थंकर बन्धः—

अरिहंतभत्तीए — खवीद घाविकम्मा केवलणाणेण

ट्टिवसब्बवा अरहंतणाम । अथवा णिट्ठ विव ठु कम्माणं

धाइदघादि कम्माणंच अरहंतेत्ति सण्णा अरिहणणं पडि दोण्हं भेदा भावादो । तेसु भत्ती अरहंत भत्ती । ताए तिथयर कम्म बज्झइ । कथमेत्थ मेसकारणार्णं संभवो ? बुच्चदे अरहंत वुत्ताणु दाणणु वत्तणं तदणु ट्ठाण पासो वा अरहंत भत्तीणाम णच एसा दंसण विसुज्झवादीहि विणा संभवइ, विरोहाइ । तदो एसा एक्कार सम्मं कारणं ।

अरहंत शक्ति से तीन लोकका क्षुभित करनेवाला सातिशय पुण्य स्वरूप और परंपरा मोक्ष के लिये निश्चित कारण है इसी प्रकार तीर्थ-नाम कर्म बंधता है । जिन्होंने घातियां कर्म को नष्ट कर केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको देख लिया है । वह अरहंत अथवा ८ कर्मों को नष्ट करनेवाले सिद्ध और घातियां कर्मों को नष्ट करनेवालों का नाम ( अरहंत सकल परमात्मा ) है क्योंकि कर्म शत्रू के नाश के प्रति दोनों में कोई भेद नहीं है उन अरहंतों में जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है वह ही अरहंत भक्ति कहलाती है । इस अरहंत भक्ति से तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है ।

**शंकाः—** केवल अरहंत भक्ति में अन्य भावनाओं की संभावना कैसे है ? ( क्योंकि १६ भावनाओं से तीर्थकर नाम कर्म बंधता है । तो केवल अरहंत भक्ति से किस प्रकार बंध हो सकता है ? )

**समाधानः—** अरहंत के द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उस अनुष्ठान के स्पर्शों को अरहंत भक्ति कहते हैं । और यह दर्शन विशुद्धि आदि के बिना ऐसा संभव नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है । अतएव अरहंत भक्ति तीर्थकर प्रकृति बंध का ११ वां कारण है ।

उपरोक्त सिद्धांत से सिद्ध होता है कि जहां अरहंत भक्ति है वहां दर्शन विशुद्धि विनय संपन्नता आदि संपूर्ण भावना का सद्भाव है क्योंकि अरहंत भक्ति जब होती है जब हृदय में सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ अरहंत भक्ति हो ही नहीं सकता है । उपरोक्त समस्त सिद्धांत से सिद्ध होता है । देव दर्शन अरहंत भक्ति सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिये कारण पाप कर्मों की निर्जरा के लिये कारण निधत्ति, निकाचित वज्र

— अन्यत्त्व —

अन्य सर्वदा अन्य रहे ताते दुःख साधना ।

अप्या सदा अप्या रहे ताते सुख खजाना ॥

— अशुचि —

सर्व अशुचि की बेह मेह सर्व अशुचि का यंत्र ।

भक्त वस्तु मल होय स्पर्श वस्तु असार ॥

कर्म के लिये कारण, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, तिर्थंकर प्रकृति के लिये कारण है इसलिये मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए कारण है। इसलिये आचार्य ने बताया है “ वन्दे तद्गुण लब्धये ” भक्त ही भक्ति के माध्यम से संपूर्ण कर्म को नष्ट करके भगवान बन जाता है।

“ दासोऽहं रटता प्रभो ! आया जब तुम पास ।

दे वर्दान ही हट गयो “ सोऽहं ” रहो प्रकासु ॥

“ सोऽहं सोऽहं ” ध्यावतो रह नहीं सकी सकार ।

‘ दीप ’ ‘ अहं ’ मम हो गयो अविनाशी अधिकार ॥

**गुरुपास्ति:- ( साधु सेवा )**

जैन धर्म रूपी रथ-श्रावक क्षीर मुनि चक्र रूपी अवलंबन से गती-शील होता है। उसमें से एक भी चक्र के अभाव में धर्म रूपी रथ आगे नहीं बढ़ सकता-जब तक जिवंत धर्म स्वरूप मुनियों का सद्भाव रहेगा तब तक धर्म रहेगा, - तब तक श्रावक भी रहेंगे। क्योंकि, “ न धर्मो धार्मिकोर्वीना ” इसीलिये दूरदृष्टी एवं सूक्ष्मदृष्टी धर्म प्रवर्तकों की एवं प्रचारकों के धर्म की स्थिरता एवं धर्म की गतीशीलता के लिये विनय वैयावृत्य, वात्सल्य, उपगूहन, स्थितिकरण और प्रभावनादि धर्मप्रचार-प्रसार का उपाय रखे है।

सेज्जागासणिसेज्जा उवधिपडिलेहणा उयग्गहिदे ।

आहारो सह वायण वि किं चणुत्तभादीसु ॥ ३०५ ॥

( भगवती आराधना )

अद्धाण तेण सावयरायणदोरा धे गासिबे ऊमे ।

वेज्जावच्चं उत्त सगहणारक्खणी वेवं ॥ ३०६ ॥

शयनस्थान, बैठनेका स्थान, उपकरण इनका शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देकर उपकार करना, स्वाध्याय अर्थात् उपदेश ( व्याख्यात ) करना, अशक्त मुनि का सँझा उठाना, उसे करबट दिखाना बैठाना वगैरह कार्य करना, थके हुए साधु के हात पैर दवाना, नदी से रुखे हुए अथवा रोग पिडीत का उपद्रव विद्या आदि से दूर करना भुक्षित पिडीत को सुमिक्ष देश में लाना ये सब कार्य वैयावृत्य कहलाते हैं।

## वैयावृत्य न करने में दोष

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहधाय ।  
 अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्जयं चेव कुदंतो ॥३२९॥  
 आणिग्हिद बलविरओ वेज्जावच्चं जिणो व देसेण ।  
 जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदी णिद्धम्मो ॥३०६॥  
 तित्थयराणा कोधो सुदधम्म विराधणा अणायारो ।  
 अप्पापरो पवयणं च तेण णिजू हिदं होदि ॥३०८॥

भगवती आराधना

समर्थ होते हुए तथा अपने बल को न दिवांते हुए भी जिनोप-  
 दिष्ट वैयावृत्य जो नहीं करता है यह धर्म भ्रष्ट है ।

जिनाजा का भंग, शास्त्र कथित धर्म का नाश, अपना साधु  
 वर्गका व आगमका त्याग ऐसे महादोष वैयावृत्य न करनेसे उत्पन्न  
 होते हैं ॥३०६॥

**वैयावृत्यका प्रयोजन व फल :-**

गुण परिणामो सद्गता वच्छल्लं भक्तिं पत्त लंभोय ।  
 संघाण नवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥३०९॥  
 आणा सजम सखिल्लाध य दाणं च अविदिग्गिदाय ।  
 वेज्जा वच्चस्स गुणा पभावण्णा कज्ज पुण्णानि ॥३१०॥

भगवती आराधना

गुण ग्रहण के परिणाम श्रद्धा, भक्ति वात्सल्य, पात्र की प्राप्ति  
 विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि का पुनः संघान, नव, पूजा तीर्थ, अव्युच्छित्ति,  
 समाधी ॥३०९॥

जिनाजा, संन्यस, सहाय, दान निविचिकित्सा प्रभावना, कार्य  
 निर्वाहण ये वैयावृत्यके १८ गुण हैं ।

समाध्याधान विचिकित्सा भाव प्रवचन वात्सल्याद्याभि  
 व्यक्त्यर्थम् ॥ राजवातिक ॥ सर्वार्थ सिद्धी ४४२

यह समाधिकी प्राप्ति विचित्रताका अभाव और प्रवचन वात्सल्य की अभिव्यवृत्ती के लिए किया जाता है ।

**वैयावृत्तीसे तिर्थंकर नामकर्म का बंध :-**

साहुणं वेज्जावच्च जोग जुत्तदाए-व्यावृत्ते यत्कियते तद्धे यावृत्त्यम् । जेण सम्मत्त-णाण-अरहंत-बहुसुद भत्ति पवयण वच्छे ल्लादिणा जीवो जुज्जइ वेज्जावच्चे सो वेज्जावच्च जोगो दंसणविमुज्जदादि तेण जुत्तदा वेज्जावच्च जोग जुत्तदा । ताए विहाए एक्काए वि तिस्थयराणा कम्म बंधइ । एत्थ सेसकार णाणं जहा सन्वेण अंत भावो क्तव्वो । एवमेद दसय कारणं ।

साधुओं के वैयावृत्त्य योग युक्तता से तिर्थंकर नामकर्म बंधता है । वैयावृत्त अर्थात् रोगादि व्याकुल साधु के विषय में जो सेवा औषधादि देना, उपसर्ग, परिषद दूर किया जाता है उसका नाम वैयावृत्त्य है ।

जिम सम्यक्त्व-ज्ञान-अरिहंत भक्ति-बहुश्रुत भवती एवं प्रवचन वात्सल्यादि से जीव वैयावृत्त्य में लगाता हो वह वैयावृत्त्य योग है अर्थात् दर्शन विगुदतादि गुण हैं उनमें संयुक्त होते का नाम वैयावृत्त्य योग युक्तता है इस प्रकारकी उस एकही प्रकारकी वैयावृत्त्य युक्ततासे तिर्थंकर नाम कर्म बंधलं है । यहाँ शेष कारणोंका यथा संभव अंतर्भाव करना चाहिए । इस प्रकार यह दसवा कारण है ।

कुंदकुंद स्वामी प्रवचन सारमें बताये हैं की, मुनि यो की अपेक्षा श्रावकों का मुख्य कर्तव्य है ।

जो अंतरंगमें अहंकारी, अविनयी है और जिनकी धमके प्रति, गुरु के प्रति प्रीति नहीं है वह साधू सेवा नहीं कर सकता है । वैयावृत्त्यसे अभिमान, अविनयता दूर होता है । ऋजुता, नम्रता कोमलता आदी गुण प्रगट होते हैं । वैयावृत्त्य अंतरंग तप है । एक सतत ज्ञानोपयोगी साधूसे भी वैयावृत्त्य करनेवाला साधू श्रेष्ठ है । क्यों कीं वह स्व पर उपकार करता है । परंतु स्वाध्यायवाला केवल स्वउपकार करता है स्वाध्याय करने वाले पर विपत्ती आयेंगी तो उसे वैयावृत्त्य वाले के मुख तरफ ही देखना पड़ेगा ऐसा भगवती आराधना में ३२९ गाथामें कहा है ।

## स्वाध्याय :-

स्वाध्याय केवल शब्द आगम अर्थात् द्रव्य श्रुतका पढ़ना रटना स्वाध्याय नहीं है । परंतु द्रव्य श्रुत के माध्यमसे भाव श्रुतद्वारा स्व आत्म द्रव्यका अध्ययन करना, जानना, शोध करना, प्राप्त करना यथार्थ स्वाध्याय है ।

प्रज्ञातिशय तपस्ताध्यायव्रतः परमसंयमस्तपोवृद्धिरतिचार  
विशुद्धि रित्येवमाद्यर्थः ।

प्रज्ञा में अतिशय लानेके लिये अध्यावसाय को प्रशस्त करने के लिए परम संवेग के लिये, तपवृद्धिच अतिचार शुद्धि के लिये ( संशयोच्छेद व परवादियों की शंकाका अभाव राजवार्तिक ) आदिके लिए स्वाध्याय तप आवश्यक है ।

द्रव्य सुयादो भावं भावदो होइ सब सण्णानं ।

संवेयण वित्ति केवल णाणं तदो भणियो ॥१॥ नय चक

गाहिओ सोसुदणाणे पच्छा संवेयणेण कायव्वो ।

जोणहु सुदमवलंबइ सो मुज्झइ अप्प सम्भावे ॥२४ नयचक्र

द्रव्य श्रुतसे भावश्रुत होता है । भावश्रुत से भेद विज्ञान होता है । उससे संवेदन, आत्मसंवित्ति और केवल ज्ञान होता है ॥१॥

पहले श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको ग्रहण करके संवेदन के द्वारा उसका ध्यान करना चाहिये । जो श्रुत ज्ञानका अवलंबन नहीं लेता है वह आत्मस्वभावमें मूढ़ रहता है ।

जिणवयण मोसहमिणं विसय सुह विरेयणं अमिद भूयं । जर  
मरण वाहि हरण रवय करण सब्ब दुक्खण ॥ दंसण पाहुइ

यह जिन वचन रूप औषधि इंद्रिय विषय से उत्पन्न सुखको दूर करनेवाला है । तथा जन्म मरण रूप रोग को दूर करने के लिए अमृत सादृश है और सर्व दुःखों के शय का कारण है ।

शास्त्रं बदोडे शांति सैरने निगर्व नीति मेलवानु सुवती स्त्रीचिते  
निजात्म चितने मिल वेलक तल्लदा शास्त्रदि ॥



दुस्त्रीचित्तने दुर्मुखं कलहमुं गर्वं मनंगोंडज ।

शास्त्रं शास्त्र मे शास्त्रिकनला रत्नाकरा धीस्वरा ॥

रत्नाकर शतक

शास्त्रका ज्ञान प्राप्तकर शान्ति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकारसे रहित होना, धार्मिक बंधन, मूढ़ बातें करना मोक्ष चिन्ता तथा स्वात्म चिन्ता में विरत रहना श्रेष्ठ कर्तव्य है । इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियों की चिन्ता, क्रोध, मान, माया आदिसे विकसित स्पर्धा और अहंकार के उपयोग से शास्त्र शस्त्र बन जाता है । और शास्त्रज भी शस्त्रधारी हो जाता है । अभिप्राय यह है की, शास्त्र ज्ञान का उपयोग आत्महित के लिये करना चाहिये ।

जिस स्वाध्याय के माध्यमसे आत्मतत्त्वका परिज्ञान होता है, हिताहित ज्ञान प्रगट होता है, कषाय इंद्रियोंका दमन होता है, संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है, मोक्ष मार्गमें प्रवृत्ति होती है, वात्सल्य, प्रेम, विनय, सरलता देव, गुरु, शास्त्र प्रति बहुमान, शान्ति प्रगट होती है । उसको स्वाध्याय कहते हैं अन्यथा उसका स्वाध्याय केवल द्रव्य स्वाध्याय है जो मोक्ष मार्ग के लिए अकिन्कर है

**संयम :-**

जिस प्रकार एक कार के लिए गति चाहिए, प्रकाश चाहिए उसी प्रकार गति रोधक शक्ती-ब्रेक भी चाहिए । ब्रेक नियंत्रण के बिना कार बेकार है । उसी प्रकार मानवी जीवनमें उन्नति रूप गति चाहिए, साथ साथ भी इंद्रिय और मनको नियंत्रण करने रूप ब्रेक भी चाहिए नहीं तो वह मानव भी बेकार है । उस नियंत्रण शक्ती को ही संयम कहते हैं । " सम्यक् ययो वा संयमः " सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियंत्रण सो संयम है । उस संयमरूपी अस्त्र ( सम + यम ) के माध्यमसे संसार रूपी यम को नष्ट कर सकते हैं । अन्यथा नहीं । पूर्ण संयमी यमी महामुनी हो सकते हैं । किंतु श्रावकको भी आंशिक रूप संयम पालन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है । इस लिये श्रावक को देश संयमी कहते हैं । संयम १२ प्रकारके

५. इन्द्रिय का निरोध एक मननिरोध और षड्काय जीओं का संरक्षण को सम्यक कहते हैं ।

तपः—

इच्छा आकाश के समान अनंत है । जिस इच्छा रूपी आकाश में संपूर्ण विश्व एक सरसों के समान है । जब एकही जीव की इच्छा रूपी खड्ग में यह संपूर्ण विश्व सरसों के दाने के समान है । तो अनंत जीवों के लिए उस सरसों समान विश्व का भाग करने से एक जीव के भाग में कितना प्राप्त होगा । अथवा जिस प्रयार अग्नि के ऊपर घृत डालने से अग्नि बढ़ती जाती है । अग्नि संतुष्ट नहीं होती उसी प्रकार इच्छा रूपी व आशा रूपी अग्नि में पारंग्रह रूपी घृत डालने से आशा रूपी अग्नि शांत नहीं होती किंतु बढ़ती ही जाती है । इसीलिये जानी श्रावक उस इच्छारूपी अग्नि को शांत करने के लिये तपरूपी में पानी डालते हैं । उसको महान शांती मिलती है । इसलिये “ इच्छानिरोध तपः ” महर्षियों ने बताया है । वह भी यथायोग्य अतरंग बहिरंग १२ प्रकारका तप धारण करता है ।

दानः—

चारित्र्य मोहनीय कामों के उदय में लोभ कषाय के बशवर्ती होकर श्रावक संपूर्ण बाह्य परिग्रह को त्याग नहीं कर पाता है वह गृह में रह कर असि मषि कृषि व्यापारादि आरंभ करके परिग्रह संचय करता है । भोग उपभोग भी करता है । उसे जो पाप संचय होता है उसे पाप का नष्ट करने के लिये, कषायों की क्षीण करने के लिये, देव, गुरु, शास्त्र के सेवा संरक्षण के लिये आत्म विशुद्धि के लिये सात्त्विक पुण्य संपादन

— आत्मव —

पानी के प्रवेश तें नाव जैसे डूबे अथाह सागरे ।

कम के सयोगे जं व बावरा डूबे अपार ससारे ॥

— संवर —

पानी के निरोधे यथा नाव मे प्रवेश नहीं करे पानी ।

आत्मव द्वारों को निरोध जब जीव संवर भाव हें मणि ॥

के लिये और परंपरा से आत्मोत्थ सहज सरल अतीन्द्रिय के लिये जाना मृत का आस्वादन के लिये १) आहार २) औषध ३) शास्त्र ४) अभयदान शक्ति के अनुसार दान देता है। जो यथाशक्ति दान नहीं देता है वह " दाणं पूजा मुखं सादय धर्मेण सावया तेण विणा " इस सूत्र के कारण श्रावक ही नहीं है। पुरुषार्थ सिद्धी उपाय में अध्यात्मिक महर्षि अमृतचंदजी कहते हैं -

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परात्र पीडयते ।

वितरति यो नाडतियये स कथं नहीं लोभवान् भवति ॥

जो रत्नत्रय एवं मूल गुणादि से सहित और अन्य को पीडा नहीं देते हुए मधुमक्खीके समान जो आहार ग्रहण करते हैं उसी प्रकार महान गुण संपन्न महामुनि जब घर पर आते हैं। उनका जो श्रावक आहार दान नहीं देते हैं वह कैसे लोभी नहीं है अर्थात् वह निश्चय से महालोभी कंजूस है।

विष्णु सुपत्त दाणं विसेसतो होई भोग सगमही ।

णिवाण सुहुं कमसो णिहिठ्ठं जिणवरि बेहि ॥ १६ ॥

( रयणसार )

रवेत्तविसेस काले वविय सुवियं फलं जहां पिडलं ।

होई तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाण फलं ॥ १ ॥

इह णियसु सुवित्तबीजं जो ववई जिणुत्तसत्तरवेसेसु ।

सो तिहुवण रज्जफलं भुंजवि कल्लाण पण्णफलं ॥

जो भक्तिपूर्वक सुपात्र को दान देता है विशेष से उन्हें भोगभूमी स्वर्गसुख मिलता है और क्रमशः परम निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार स्वयं जिनेन्द्र भगवान् कहे हैं।

जैसे उत्तम खेत में बोया हुआ उत्तम बीज काल विसेस को प्राप्त होकर विपुल फल को देता है उसी प्रकार पात्र विषेस को दिया हुआ बीज स्वरूप अल्प दान भी काल प्राप्त होने पर स्वर्ग मोक्ष रूपी विपुल फल को प्राप्त करता है।

जो अपने न्यायपूर्वक उपार्जित धनरूपी बीज को जिनेन्द्र भगवान्

द्वारा प्रतिपादित ( जिन प्रतिमा - जिन मंदीर जिन गुरु सप्त क्षेत्र में बोता है उसको त्रिभुवनरूपी राज्यफल मिलता है एवं पंचकल्याणक धारी तिर्थंकर पद को प्राप्त करता है ।

जो मुनिजुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजाए जिणुषदिद्ध ।

ससार सार सोक्खं कमसो णिव्वाण वर सोक्खं ॥११॥ (रयण.)

जो भव्य मुनिश्वरों के आहार दान के पश्चात् अवशेष अन्न को भक्तिपूर्वक खाता है वह संसार के सारभूत उत्तम सुख को प्राप्त करता है । और क्रमशा निर्वाण सुख भी प्राप्त करता है ।

सर्वोवांछति सौख्यमेव तनुचत्तन्मोक्ष एवं स्फूर्तं ।

वृष्टयावित्रय एवं सिद्धयति स तस्मिन्निर्गथ एव स्थितम् ॥

( पद्मनंदी पंच वि. - - - - )

तदव्यतिर्बन्धुषोऽस्य वृत्ति रक्षता सहीयते श्रावकःकाले ।

किलङ्कर तरेऽपि मोक्षपवनी प्रायस्ततो वर्तते ॥ ८ ॥

सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं, वह सुख स्पष्टतया मोक्षमे ही है । वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रय के होनेपर ही सिद्ध होता है । वह रत्नत्रय साधुके होता है । उक्त साधुकी स्थिति भोजन के निमित्त से होती है । और वह भोजन श्रावकों के द्वारा दिया जाता है । इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल में भी मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावकों के निमित्तसे ही हो रही है ।

बानांशः—

तूर्यांशो वा षडंशो वा दशांशो वा निजार्थतः ।

बोध्यते यातु सा शक्तिर्वर्या मध्या कनीयस ॥

( धर्मरत्नाकर अ० १२ )

— निर्जरा —

नाब से नाबिक निकाले पानी है यथा हल्का हुये है नाब ।

तथा जीव भी निर्जरे कर्म को आत्मा का विशेष भाव ॥

— लोक —

अनादि अतंत लोको शाश्वतिक याके कर्ता न कोय ।

अज्ञान मोह वश जीव भर में करता धरता होई ॥

जो अपने धन में अर्थात् दैनिक आय में से चतुर्थ भाग दान देता है वह उत्कृष्ट दानी है जो षष्टांश दान देता है वह मध्यम दानी है । जो दशांश दान देता है वह जगन्य दानी है ।

धर्मस्थैर्यं स्यात्कस्यचिच्चञ्चलस्य ।

प्रीढं वात्सल्यं बृहणं सद्गुणानाम् ॥

दानेन श्लाघा शासनस्यातिगुर्वी ।

दातॄणामित्थं वर्शनाचारशुद्धिः ॥

( धर्मरत्नाकर )

दान देने से किसी चञ्चल धर्म मार्गी से प्रभूत होते हुए सा धार्मिक की उसमें स्थिरता होती है, धार्मिकों में प्रीढ (अतिशय) वात्सल्य प्रगट होता है । धार्मिकों में सद्गुणों की वृद्धि होती है तथा दान देने से जिन शासन की बड़ी प्रशंसा होती है । इस प्रकार दाता जन के दर्शनाचर की शुद्धि होती है ।

औदार्यवर्यं पुण्यं वक्षिष्यमन्यत् ।

समशुद्धो बोधः पातकात्स्याज्जगुप्सा ॥

आरुधातं मुख्यं सिद्धधर्मस्य ।

लिंगं लोकभेदस्तदातुरेवोपपन्नम् ॥ १०८ ॥

( धर्मरत्नाकर )

श्रेष्ठ उदारता, पवित्र मृदुता या सरलता, निर्मलता पापसे रक्षानी तथा लोक प्रियता ये अनादि सिद्ध धर्म के चिन्ह कहे गये हैं और ये सब गुणदाता की ही प्राप्त होता है ।

तीर्थोन्नतिः परिणतिश्च परोपकारे ।

ज्ञानादि निर्मल गुणावल्लिकाभिर्बुद्धिः ॥

विस्तारि वस्तुविषये च विनाश बुद्धिः ।

संवाविता भवति दानवतात्मशुद्धिः ॥ १०९ ॥

( ध र )

दान देनेसे तीर्थकी उन्नति, दाताकी परोपकार परिणती (प्रवृत्ति) ज्ञानादि निर्मल गुण समूह की वृद्धि धन आदि वस्तुओं में नश्वरता का विचार और दाता की आत्मशुद्धि भी है । ॥ १०९ ॥

सोदन्ति पश्यतां येषां ज्ञानानामपि साधवः ।

न धर्मो लौकिकोऽप्येषां दूरे लोकोत्तराः स्थितः ॥ ११० ॥

( धर्मरत्नाकर )

दुःखको दूर करने में समर्थ होकर जो श्रावक साधूजन को कष्ट में देखकर भी उनके दुःख को दूर नहीं करते हैं । उनके लौकिक धर्म भी संभव नहीं है । फिर भला लोकोत्तर धर्म तो उनसे बहुत दूर है । ऐसा समझना चाहिये ।

ज्ञानपान ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।

अन्नदाना त्सुखी नित्यं निर्व्याधिभेषजा द्रुवेत् ॥

ज्ञान दासने दानी विशिष्ट क्षायोपशमके माध्यमसे मति श्रुत अवधि मनःपर्याय ज्ञानी होता है । श्रुत केवली होता है । एवं शेष में केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाता है । अभय दान से इहलोक परलोक में निर्भय होता है । अन्न दान से इहलोक परलोक में सुखी होता है । औषध दान देने से शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक रोग से रहित होकर परम स्वास्थ्य रूप अमृत पद को प्राप्त करता है ।

यस्यान्नपानैः संतृप्ताः साधवः साधयन्त्यमी ।

स्वाध्यायादि क्रिया साध्वी तस्य पुण्यं तदुद्भवम् ॥

( धर्मरत्नाकर )

जिस दाता के अन्न पानी से तृप्त हुए मूनिजन आत्म हितकर सब स्वाध्यायादि क्रियाओं को करते हैं, उससे उत्पन्न हुआ पुण्य उस

— बोधि बुलभ —

जनम भरण मोह राग द्वेष अत्यन्त सुलभ साई ।

संसार नाशक मोह प्रणाशक सुज्ञान सुलभ होई ॥

— धर्म भावना —

सर्वेच्छा पूरक सर्वार्थ साधक अनंत सुख के बाई ।

तीन लोक के सार चित्तमणी आत्म धरम होई ॥

यह विधि द्वादश भावना बल से आत्मा परमात्मा होई ।

दुःख सुख में है समता बल से कर्म कलंक न सई ॥

दाता को प्राप्त होता है ।

दान शभाव से दोष -

सीदंतो यतयो यदप्यनुचितं किञ्चिज्जलाद्यादिकं ।

स्वीकुर्वन्ति विशिष्ट भक्ति विकलाः कालादि दोषादहो ।

मालिन्यं रचयन्ति यज्जिनमतस्यास्थानशय्यादिना ।

श्राद्धानामिदमेति दूषण पदं शक्तानुपेक्षा कृणाय ॥ ॥ ४०१ ॥

( धर्मरत्नाकर )

रोगादिसं पीडित साधूजन विशिष्ट भक्ति से रजित होते हुए काल आदिके दोष से यदि अपने पदके अयोग्य जल व अन्नादिक का स्वीकार करते हैं तथा अयोग्य वसति व शय्या आदिका ग्रहण करके जिनमत से मलिनता को उत्पन्न करते हैं तो यह दोष शक्ती होने पर भी उपेक्षा करनेवाले श्रावक पर आता है - इसे श्रावकों का दोष समझना चाहिए ।

दान तीर्थ और धर्म तीर्थ की अपेक्षा तीर्थ दो प्रकारका है । दान तीर्थ के माध्यम से शरीर की रक्षा होती है और शरीर के माध्यम से धर्म पालन होता है । " शरीर माध्यम खलु धर्मशासनम् " धर्म पालन से इहलोक पर एवं अलौकिक सुख मिलता है । इसलिये श्रावकों को धर्मतीर्थ प्रप्तन के लिये दान देना चाहिये ।

**दान पूजावि क्या पाप बंध का कारण:-**

शंका:- पूजा दानादिक से आरंभ होने से हिंसा होती है । और उससे पाप बंध होता है । इसलिये दान पूजादिक नहीं करना चाहिए ।

ननुदधिदुग्ध गंधमाल्यादिना भगवतः पूजाभिदाने पापमप्युपाज्यते लेशतः सावद्य सद्भावात् इत्याशक्याह ।

श्री जिनेंद्र भगवान की दही-दूध-गंध-फूल मालादिसे पूजा करने से पाप उत्पन्न होता है क्योंकि उस पूजादिसे (में) सावध है (पापात्मक आरंभादिक)

**समाधान:-** हे पूजातिशय पूज्य भगवान आपकी पूजा करने से भव्य जीवों को सातिशय महत् पुण्य उपार्जन होता है । यद्यपि पूजादिक सामुग्री लाना, धोना, स्वच्छतादि करने से पाप उत्पन्न होता है तथापि

वह पाप इतना कम है कि, पूजादीसे उत्पन्न पुण्य से उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वे अपना कार्य करने के लिये अशुभ कर्म फल देनेके लिये असमर्थ हो जाता है। जैसे स्पर्शन इंद्रिय को तृप्त करनेवाले ठंडे पानी से भरा समुद्र में एक कण विष गड़ने से उस संपूर्ण समुद्र को वह विष कण दूषित नहीं कर पाता है।

प्रारम्भोऽप्येष पुण्याय वेधाद्युद्देशतः कृतः ।

सामग्यंतर पातित्वा जजीवनाय विषं यथा ॥ ३३९ ॥

( धर्मरत्नाकर )

देव, शास्त्र, गुरु के उपदेश से किया गया महान आरंभ भी उसकी सामग्री के अन्तर्गत होने से पुष्प के लिये होता है। जैसे विष इतर सामग्री से युक्त होने पर जीवन के लिये प्राण रक्षा का कारण भी होता है।

भिन्न हेतुक एवायं भिन्नात्मा भिन्न गोचरः ।

भिन्नागु बंधस्तेन स्यात्पुण्यबंधनिबंधनम् ॥ ३४० ॥

( धर्मरत्नाकर )

### ( ५ ) ईशस्तवनम्

|                         |                         |
|-------------------------|-------------------------|
| सत्यं शिवम् सुन्दरम्    | चिदानन्दमंगलम्          |
| सर्व कर्म रहितम्        | सर्वगुणः सण्डितम्       |
| परिभ्रमः रहितम्         | लोक अग्रे संस्थितम्     |
| सदा स्थिरः निष्कम्पं    | व्यो द्वादः सहितम्      |
| सिद्धः शुद्धः ज्ञायकः   | बुद्धः विष्णुः महेशः    |
| पुरुः हः शंकरः          | स्तुत्यः पूज्यः श्रीधरः |
| एकानेकः ईश्वरः          | सूक्ष्मस्थूलः ध्यापकः   |
| आदिअन्त रहितम्          | आत्ममध्ये संस्थितम्     |
| वेह मनः रहितम्          | ज्ञान सुखं सहितम्       |
| राग द्वेष रहितम्        | शम शान्ति शायितम्       |
| स्वच्छं सौम्यः गम्भीरम् | आत्मभावा स्वरूपम् ॥     |



इस आरंभ का चूकी हेतु भिन्न स्वरूप, भिन्न विषय, भिन्न संबंध भी भिन्न है। इसलिये वह पुण्य बंध का कारण होता है।

लोभादि हेतुकः पापारंभो गेहादि गोचरः ।

पापानुबंधी संत्याज्यः कार्योऽन्यः पुण्य साधनः ॥ ३४१ ॥

( घ. रत्नाकर )

लोभ के कारण जो गृह कुटुंबादीके विषय में आरंभ किया जाता है वह पाप का बंधक होने से छोड़ने के योग्य है। परंतु दूसरा जिनगृह व जिनप्रतिमा के निर्माणादि तथा आहार दानादि विषयक आरंभ पुण्य का बंधक होनेसे आचरणीय है।

धर्मारंभस्तस्य रज्यति जनः किर्त्तीः पराजायते ।

राजानोऽनुगुणा भवन्ति रिपवो गच्छन्ती साहायकम् ॥

चेतः कांचन निर्वृत्तिं च लभते प्रायोऽयमलाभःपरः ।

पापारंभ भरा घनार्य विरतिश्चेति प्रलिता गुणाः । ३४२ ॥

( घ. रत्नाकर )

जो भव्य धर्म के निमित्त आरंभ में निरत होता है, उससे लोग प्रेम करते हैं। उसे उत्तम किर्त्ती का लाभ होता है, राजा उसको अनुकूल होता है, शत्रु सहायक होता है। उसका चित्त किसी अप्रत्यूष शांति को प्राप्त होता है। उसे प्रायः बहुत धन का लाभ होता है। तथा वह प्रचूर पापारंभ से परिपूर्ण अनर्थोंसे - निरर्थक कर्मोंमें विरक्त होता है। इस प्रकार धर्मारंभ भी तत्पर भव्य के ये प्रसिद्ध गुण हुआ करते हैं।

न मिथ्यात्वात्प्रमादाद्वा कषायाद्वा प्रवर्तते ।

आहो द्रव्यस्त्वै हेन तस्य अंधोऽस्ती नाशुभः ॥ ३४३ ॥

श्रावक चूंकि मिथ्यात्वसे, प्रमादसे, अथवा कषायसे द्रव्यस्त्व में पूजा-प्रतिष्ठा एवं दानादिरूप बाह्य संबन्ध में प्रवृत्त नहीं होता है, इसलिये उसको अशुभ का बंध नहीं होता है से करना चाहिये।

कृष्यादि कर्म बहुजंगम जंतुवृत्तिः ।

कुर्वति ये गृह परिग्रह भोगसक्ताः ॥

धर्माय रंधनकृतां किलपापमेवा ।

मेवं वदन्नापि न लज्जित एव दुष्टः ॥

( धर्मरत्नाकर )

जो गृहस्थ घर, परिग्रह, तथा भोगोंमें आसक्त होकर बहुतसे त्रस जीओं के धान के कारणभूत खेती आदिक कार्यों को करते हैं उन्हें धर्म के लिये भोजन के तैयार करने में पाप का भागी कहनेवाले दुपर को लज्जा नहीं आती ? ( तात्पर्य मुनियोंका आहार देने के लिए जो आरंभ होता है उससे पाप अल्प और पुण्य महान होता है अतः ऐसे आरंभ का निषेध करना अनुचित है ।

एवं विधस्याप्य बुधस्य वाक्यं सिद्धांतं बाह्यं बहु बाधकं च ।

मूढा दूढं श्रद्धधत्ते कदर्याः पापे रमन्तेऽमतयाः सुखेन ॥

( ध. रत्नाकर )

जो अज्ञानी जन लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार बोलनेवाले मूर्ख के भी आगमबाह्य और अतिशय बाधक वचनपर स्थिर श्रद्धा करते हैं वे दुर्बुद्धि पाप में आनंद से रममाण होते हैं ऐसा समझना चाहिए ।

पुण्य पापः—

वांकाः— भले पूजादी से पाप बंध से बच सकते हैं किंतु पुण्य बंध से नहीं बच सकते हैं । पुण्य भी संसार का कारण है । यथा कम्ममसुहं

कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।

किह त होवी सुसीलं जं संसार पवेवेवि ॥ १४५ ॥

( समयसार )

अशुभ कार्य कुशील पापरूप है । शुभ कर्म पुण्य सुशील स्वरूप है ।

( ६ ) अद्वितीय वस्तु

वीतरागास्त्रापरो वेदः आगमस्त्रापरो वेदः ।

निग्रन्थास्त्रापरो गुरुः अहिंसास्त्रापरो धर्मः ॥ १ ॥

न ज्ञानात् परो ज्योतिः न अज्ञानं समं तमः ।

न समता समं सुखं न तृष्णात्परो दुःखम् ॥ २ ॥

ऐसा साधारण जन कहते हैं। परंतु शुभ कार्य सुशील कैसे है। जो की संसार रूप कारागार में प्रवेश करने के लिये कारण है।

जई भणइ कोवि एवं गिह वावारेसु बह माणोवि ।

पुण्णे अम्हण कज्जं जं संसारे सुवाडेई ॥ ३८९ ॥

( भावसंग्रह )

गृहवास में रहते हुए भी और गृह व्यापार में प्रवृत्त होते हुए भी कोई कहता है की हमको पुण्य नहीं चाहिये क्योंकि पुण्य संसारमें गिराने वाला है।

समाधान:-

मेहुणसण्णाखो मारइ णवलक्खसुहुम जीवाई ।

इद जिणवरेहि भणियं बज्झंतर णिगंथं रुवेहि ॥ ३९० ॥

( भावसंग्रह )

गेहे बट्ट तस्स य वावरसयाइ सया कुणंतस्स ।

आसवइ कम्ममसुहं अट्टर ठेउट्टे पवत्तस्स ॥ ३९१ ॥

जाम ण छडइ गेहं तामण परिहरइ इंतयं पावं ।

पावं अपरिहतो हेउ पुण्णस्स भाचयउ ॥ ३९२ ॥

उपरोक्त कुशंका का समाधान देते हुए आचार्य प्रवर देवसेन ने नय एवं अवस्थाओं का अवलंबन लेकर स्याद्वाद पद्धति से उसका समर्थन एवं आगतिक उत्तर दिये हैं।

बाह्य अभ्यंतर ग्रंथों से रहित जिनैंद्र भगवान ने बताये हैं की एक बार मैथुन संज्ञासे सहित होकर मनुष्य जब भोग करता है तब लिंग और योनि के लिये संघर्षण से ९ लाख पंचेद्रिय मनुष्य जातिय लब्ध्य पर्याप्तक जीवों का घात करता है।

पहले जीव मैथुन मोह कर्म के उदय से निर्मल ब्रह्मचर्य रूपी आत्म स्वल्प का घात करता है। उस समय जिस प्रकार सरसों से भरा हुआ पात्र में संतप्त लोह शलाका डालने पर सरसों जल जाते हैं उसी प्रकार योनी गत ९ लाख कब्ध्य पर्याप्त मनुष्य जीव भी जल जाते हैं।

गृह में रहते हुए हजारों गृहव्यापारोंके सदा करते हुए अत्यन्त अशुभ आर्द्र-रौद्र परिणाम से अशुभ कर्म का आश्रय करता है जो की एकांश से संसारका कारण होने से अत्यन्त हेय स्वरूप है ।

जब तक आर्द्र-रौद्र ध्यानोंका निवासस्वरूप गृहवास को त्याग नहीं करते है तब तक अत्यन्त इन पापों का त्याग नहीं हो सकता है । यदि पाप का त्याग न होता है तो पुण्य कारणों को मत छोड़ो ।

पुण्यं कुरुत्व कृतपुण्यमनीहशोऽपि ।

ना पदवोऽभिभवति प्रभवेच्च भर्त्य ॥

संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः ।

पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥

( आत्मानुशा. )

हे भव्य जीव ! तु पुण्य कर्म को कर, क्योंकि पुण्यवान प्राणी के ऊपर असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते है । इतना ही नहीं बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिये संपत्तीका साधन बन जाता है । देखो, समस्त संसार को संतप्त करनेवाला भी सूर्य कमलों में विकासरूप लक्ष्मी को ही करता है ।

यथांगमध्यक्ष सुखे हि धर्मस्तथा परोक्षऽपिच मौक्ष सौख्ये ।

भोगाय भोगाक्षी सुखाय धर्मो मित्रात्रि यत्नोऽपि निमित्तमात्रम् ॥ ३२ ॥

( धर्म रत्नाकर )

धर्म जैसा प्रत्यक्ष सुखका कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मोक्षसुख का भी कारण है । भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है । इस सुख के लिये मित्रादिकों का यत्न भी निमित्तमात्र है ।

रत्नत्रय समं धनं णमोकार समं मंत्रं ।

आत्म तीर्थं समं तीर्थं न भूतो न भविष्यति ॥ ३३ ॥

आत्मविद्या समं विद्या आत्महिंसा समं हिंसा ।

आत्ममित्रं समं मित्रः न त्रिकाल लोके सन्ति ॥ ३४ ॥

### पुण्य का लक्षण:—

पुनात्यात्मानं पुन्यतेऽनेनेति वा पुण्यम् । ( सर्वार्थं सिद्धि )

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है ।

यस्तु शुद्धात्म भावना साधनार्थं बहिरंग व्रत तपश्चरण ।

दानपूजादिकं करोति स परंपराया मोक्षं लभते इति भाषार्या ॥

शुद्धात्माभावना को सिद्ध करने के लिये अथवा प्राप्त करने के लिये बहिरंग व्रत तपश्चरण, दान पूजादिक को जो करता है वह परंपरा से मोक्ष को प्राप्त करता है ।

( समयसार १५ म. गा. जयसेनाचार्य तात्पर्यवृत्ति )

पापागम वाराहं अणद्वयद्वि याहं जीवस्मि ।

तत्प मुहसवदारं उग्रादेतेकड सवोसो ॥ ५७ ॥

( जय धवला )

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है तब तक जीव अनादि काल से बंध ही करता है । सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही सातिशय पु-य का आश्रव होता है । जीव से अनादि काल से पापाश्रव के द्वार स्थित है । उनके रहते हुए जो जीव शुभाश्रव द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात् पापाश्रव के कारणभूत मिथ्यात्व, विषय, कषाय, हिंसादि त्याग करके शुभाश्रवके कारण भूत सम्यग्दर्शन, दया, दानादि में प्रवृत्त होता है । वह कैसे सदोष हो सकता है ? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकता है । इस-लिये प्राथमिक जीव को परंपरा से मोक्ष के साधनभूत पुण्य को निदान रहित होकर सतत उपार्जन करना चाहिये ।

### सालम्बन एवं निरालम्बन का ध्यान:—

शंका:— अवलम्बन ध्यान से पुण्य होता है और अशुभ ध्यान से पाप होता है ये दोनों संसार के कारण है इसलिये दोनों विकल्पों से उपरम होकर शुद्धात्मानुभूतिरूप निरालम्ब ध्यान क्यों नहीं करना चाहिये ?

समाधान:—

जो भणइ पोरैई एवं अस्ति गिहस्थान गिचचलं ज्ञान ।

सुखं च निरालम्बं न मुणइ सो आयसो जइणो ॥ ३८२ ॥

( भाव-संग्रह )

कहियाणि विट्ठिवाए पडुच्च गुण ठाव जाणिं ज्ञाणाणि ।

तह्या स देस विरओ भुक्खं धम्मं न ज्ञाएई ॥ ३८३ ॥

( भाव-संग्रह )

जो कोई कहता है कि गृहस्थों को निश्चल निरालम्ब, शुद्ध ध्यान होता है वह यतियों के आगम को नहीं जानता है दृष्टीवाद अंग में जो गृहस्थान को लेकर ध्यान का वर्णन है उससे सिद्ध होता है कि देश-विरत पंचम गुणस्थान श्रावकों को मुख्य ( उत्कृष्ट ) धर्म ध्यान नहीं होता है ।

गृहस्थों को उत्कृष्ट धर्म ध्यान नहीं होने का कारण :-

कि जं सो गिहवन्तो बहिरंतरं गन्थं परिमिओ गिचचं ।

बहु आरंभ पडत्तो कहं आयइ सुखं सम्पाणं ॥ ३८४ ॥

( भाव-संग्रह )

धरवायारा केई करणोया अस्ति तेण ते सज्जे ।

ज्झाणद्विधस्स पुरओ चिट्ठंति णिमोलियच्छिस्सं ॥ ३८५ ॥

( भाव-संग्रह )

गृहस्थ सतत बाह्य धन धान्य, स्त्री-पुत्र परिग्रह एवं कामक्रोधादि अन्तरंग परिग्रह से वेष्टित रहता है । कृषि व्यापारादि आरंभ से लीन रहता है इसी प्रकार बाह्य विषय में लीन रहनेवाला गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान किस प्रकार कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता ।

न धर्मकल्पवृक्ष समं तत्र

न भावतीर्थं समं अस्ति तीर्थं ।

मनसमानं नान्यं शंचलास्ति

आत्मशक्ति समं न शक्तिमस्ति ॥ ५ ॥

विवेक समं न राजहंसः मधुर वचनं समं नहि विकः ।

गुण ग्राहक समं मधुमक्षिः निन्दक समं नही गदुपक्षिः । ६ ॥

गृहस्थ व्यापार को करता हुआ उसका मन, इन्द्रियों, भाव उस ही तल्लीन रहता है जिस समय में वह ध्यान करने के लिये आँख बंद कर बैठता है उसी समय में सम्पूर्ण संसार-व्यापार मनरूपी चल चित्र पगड़े पर अंकित होते हैं । वह उस समय में हाथ में तो माला फिराता है और मन बाजार में घूमाता है ।

ख पुष्पमयवा शृंगं स्वरस्यापि प्रतीयते ।

न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥ १७ ॥

( ज्ञानार्णवः )

आकाश के पुष्प और शृंग के सींग नहीं होते हैं । कदाचित् किसी देश वा काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परंतु गृहस्थाय में ध्यान की सिद्धि होना किसी देश वा काल में संभव नहीं है ॥ १७॥

अप्रमत्त गुणस्थान में मुनि को निरालम्ब ध्यान होता है:-

अं पुणं वि निरालम्बं तं क्षाणं गयपमाय गुण ठाणे ।

चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणं लिगं रुयस्स ॥ ३८१ ॥

( भाव-संग्रहः )

ओ गृह त्याग करके निर्ग्रन्थ जिनलिग को धारण किया है इसी प्रकार अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनियों को निरालम्ब ध्यान हो सकता है गृहस्थों को नहीं ।

अरसमख्यमगंधं अव्यक्तं चेदणागुणमसद्वं ।

जाण अलिगगहणं जीव मणिदिठ्ठं संठाणं ॥ १२७ ॥

( पंचास्तिकायः )

अलिगगहणं यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्ष ज्ञानेन व्यवहारनेन घूमादग्निवदशुद्धात्मा जायते तथापि रागादि विकल्परहित स्वसंवेदन-ज्ञानसमुत्पन्न परमानंदरूपानुकूलत्वं सुस्थित वास्तव सुखामृतजलेन पूर्णकलशवत्सर्वं प्रदेशेषु भग्नितावस्थानां परमयोगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथैतराणां न भवतीत्यलिगग्रहणः

( श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिः )

गाथार्थः— शुद्ध आत्मा रस रूप, गन्ध रहित है । संसारी जीव के समान शुद्ध जीव प्रगट नहीं है इसलिये अप्रगट है । चैतन्य गुण से पूर्ण है शब्द रहित है, इन्द्रियादि चिन्हों से ग्रहण करने में अयोग्य है, निराकार है ।

टीकाार्थः— रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान से समुत्पन्न परमानंद रूप अनाकूलत्व सुस्थित, वास्तविक, सुखामृत जल के द्वारा पूर्ण कलश के समान सर्व प्रवेश में भरे हुए अवस्था को प्राप्ता परम मुनियोंको जैसे शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार अन्यो को शुद्धात्मा का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है । किंतु अनुमान लक्षण के द्वारा परोक्ष ज्ञान से व्यवहार तब से धूम से अग्नि का ज्ञान जैसे होता है उसी प्रकार आत्मा का परोक्ष ज्ञान परमयोगी ( ध्यानावस्थापन्न मुनि ) को छोड़कर यथा योग्य अन्यो को होता है । जैसे दूरस्थ पर्वतादि के ऊपर धूम अग्नि का साक्षात् दर्शन नहीं होता है परंतु बिना अग्नि से धूम नहीं होता है इस न्याय के अनुसार अनुमान से ज्ञात होता है । वहां पर अग्नि है इसी प्रकार गुरु के उपदेश से, शास्त्राध्ययन, मनन, चिंतन, अनुप्रेक्षा से परम मुनि को छोड़कर अन्यो को अशुद्धात्मा का अनुमान से ज्ञान होता है ।

उपसंहारः—

लहिऊणवेस संजम सयलंवा होइ सुरोत्तमोसग्गे ।

मोत्तूण सुहे रम्मे पुणो वि अवयरइ मणुयत्ते ॥ ५९६ ॥

तत्थ वि सुहाइं भुत्ता विक्खा गहिऊण भविय णिगंग्यो ।

सुक्कज्झाणं पाविय कम्मं हणिऊण सिज्जोइ ॥ ५९७ ॥

जो देश संयम को अर्थात् श्रावक के व्रतों का पालन करता है । अथवा मुनिधर्म को पालन करता है उस सातिशय पुण्य के कारण उत्तम स्वर्ग में जन्म लेता है वहां पर रम्य, मनोहर भोगों को भोगकर

सुगुण समं नहि गन्धमस्ति न धीर्यं समं प्रतापमस्ति ।

न रागसमानं बन्धनमस्ति न क्रोध समानं अनलमस्ति ॥ ७ ॥

विषयसमानं विषं मोह समानं रिपुः ।

कुभाव समानं हिंसा त्रैलोक्य मध्ये नहि ॥ ८ ॥



पुनः उत्तम मनुष्य को प्राप्त होता है । वहाँ पर उत्तम भोग को भोगकर पूर्व संस्कार के कारण सातिशय पुण्य के प्रभाव से दीक्षा लेकर मुनिव्रत को धारण कर शकल ध्यान को प्राप्त करके कर्म नष्ट करके सिद्धगति को प्राप्त करता है इसी प्रकार गृहस्थ के व्रत में सातिशय पुण्य प्राप्त होता है, पापों का संवर निर्जरा होती है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है ।

**७ वाँ गुणस्थान-सकल समयी-मोक्ष मार्ग के उत्कृष्ट यात्री:-**

जब भव्य सम्यग्दृष्टी देश संयम रूपी पुरुषार्थ से कर्म शक्ति को नष्ट करके आत्मशक्ति की वृद्धि करता है तब उसकी मोक्ष मार्ग की यात्रा तीव्र हो जाती है । तब वह अवशेष बाह्य परिग्रहों को पूर्णरूपसे त्याग सहित अन्तरंग परिग्रह को त्याग कर वह जिनेन्द्र भगवान के यथा जात रूप को धारण करता है । वह शीर्षकर का लघुनंदन बन जाता है ।

वत्तावत्तपमादे जो निवसइ पमत्त सज्जो होइ ।

सयल गुणसील कालिओ महत्त्वई चित्तलायरणो ॥ ६०१ ॥

( भाव-संग्रह )

जो महाव्रतधारी मुनि व्यक्त अथ्य त प्रमाद से सहित है, सर्व गुण सील मण्डित है, चित्तलाधरण से सहित है ( प्रमाद के कारण आचरण में मिश्ररूप परिणाम ) उनके प्रमत्तविरत ६ ठाँ गुणस्थान होना है ।

**मुनि का स्वरूप:-**

णाह होमि परेसि ण मे परे पत्थि मज्झमिह किंचि ।

इदि णिच्छिदां जिणिंदो जादो जध जादएव घरो ॥ २०४ ॥

( प्रवचनसार )

मैं दूसरों का नहीं हूँ पर मेरे नहीं है इसलोक में मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा निश्चय करके जितेन्द्रिय होता हुआ यथा जात रूप धारी निर्ग्रन्थ मुनि बन जाता है ।

**शंका:-** आत्म, द्रव्य, त्याग, आदान, व्रत, अव्रत, संकल्प विकल्प से रहित है । तब इसी प्रकार बाह्य द्रव्यों अर्थात् संसार स्त्री कुटुंब का त्याग एवं व्रतों आदि का पालन रूपी संकल्प विकल्प क्यों करना चाहिये?

समाधान:-

“गडिवज्जदु सामणं जदि इच्छदि दुक्खं परिमोक्खं” ॥ २०१॥

( प्रवचनसार )

यदि सम्पूर्ण दुःख में प्रकृष्ट रूप से विमुक्त होना चाहते हो तो आप ही दीक्षा को अंगीकार करो । अन्यथा मोक्ष नहीं मिल सकता है ।

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइठ्ठं परमजिगवरिदेहि ।

एक्को वि मोक्खमग्गो सेसाय अमग्गया सव्वे ॥ १० ॥

( अष्टपाहुड )

परम जितेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित अचेलकटव एव पाणिपात्र स्वरूप की प्राप्त करो । क्योंकि ये ही प्रकृष्ट मोक्ष का प्रकृष्ट मार्ग है । शेष मार्ग उन्मार्ग है, मिथ्या मार्ग है ।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धि चरणस्य सिद्धौ ।

बुद्ध्वेति कर्मा विरताः परंऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥ १३ ॥

( अमृतचन्द्रटीका )

द्रव्य की सिद्धी में चरण की सिद्धी है । और चरण की सिद्धी में द्रव्य की सिद्धी है ज्ञान में आत्मविशुद्धि होती है उससे विवेक प्रगट होता है हेय को त्याग करता है, उपादेय को ग्रहण करता है, बाह्यद्रव्यों से उपेक्षा भाव धारण करता है । आत्म स्वरूप की जानने के बाद ज्ञानी आत्म स्वरूप से विरोध कार्य अर्थात् आचरण नहीं करता है बाह्य कर्मों से विरक्त होकर आत्मशुद्धि के लिए चारित्र्य पालन करता है । जब तक

नहि नहि अमृतं अहिंसा समं क्वचित्

नहि नहि भोजनं सुज्ञानं समं क्वचित् ।

नहि नहि व्यापारं सुध्यानं समं क्वचित्

नहि नहि सुवीरः मुमुक्षुसमं क्वचित् ॥ ९ ॥

विनयं समं न नोति स्वाध्यायं समं तपः

स्वरुचिं समं स्वादः प्रेमं समानं बन्धः ।

न क्रमा समं शस्त्रं लोभं समानं पापं

धैर्यं समानं शक्तिः त्रैलोक्येनान्य अन्य ॥ १० ॥

आत्म अविच्छेद चारित्र्य पालन नहीं करेंगे तब तक सर्व कार्य से निवृत्त होकर आत्मोपलब्धि रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं ।

**मुनियों का कर्तव्यः—**

मायइ धम्मज्झणं अठ्ठं पि य णोकसाय उदयाओ ।

सज्जाय भावणाए उवसामइ पुणु वि ज्ञाणम्मि ॥ ६०३ ॥

( भाव-संग्रह )

मन धर्मध्यान को धाता है कभी कभी तो कषाय के उदय से आर्त ध्यान भी हो जाता है । उस आर्तध्यान को उपशमन के लिये स्वाध्याय, अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करते हैं । प्रमादवशतः मूल गुण उत्तर गुण में अतिचार आदि लगने पर निंदा, गद्गर् प्रतिक्लमणादि करता है । जब मन धर्मध्यान में स्थिर नहीं रहता है, तब स्वाध्याय स्तुति वंदनादि करता है ।

**शंकाः—** मुनि गूहादि क्रिया को छोड़कर मूलगुण रूप क्रिया को करता है । क्रिया की अपेक्षा दोनों समान होने से बंध भी समान है । अशुभ को छोड़कर अहिंसाव्रत देववन्दनादि शुभ क्रियाओं से पुण्य बंध होता है क्योंकि शुद्ध की अपेक्षा शुभ अशुभ है बन्ध की अपेक्षा पुण्य-पाप समान है । मुनि धर्म ही बन्ध स्वरूप है । और बन्धस्वरूप होने के कारण संसार का कारण है ।

**समाधानः—**

सेतु सुद्धो भावो तस्सुबलभो य होइ गुणणे ।

पणवह प्रमाद रहिये सयलवि चारित्त जुत्तस्स ॥ ६ ॥

( भाव-संग्रह )

शुद्ध भाव आत्म का स्वरूप होने से अत्यन्त उपादेय एवं ग्रहण करने योग्य है । इस शुद्ध भाव की प्राप्ति १५ प्रमाद से रहित सकल-चारित्र्य से शोभित महामुनियों को अप्रमत्तगुणस्थान आदि में होती है ।

छट्ठमए गुणढाणे वट्ठसो परिहरेइ छावासं ।

जो साहु सो ण मुणई परमायमसार संबोह ॥ ६०६ ॥

( भाव-संग्रह )

अहं मृणतो छंछइ सब्बावासइ सुत्तवद्धाई ।

तो सेण होइ चत्तो सुआयमो जिनवरिइस्स ॥ ६०७ ॥

( भाव-संग्रह )

जो ६ ठा गुणस्थान में प्रवर्तन करते हुए देव बंदना, स्तुति, स्वाध्याय, प्रतिक्रमणादि का त्याग करता है वह परमानन्द के रहस्य को नहीं जानता है । अथवा जानता हुआ भी सूत्र निबद्ध आवश्यकों का त्याग करता है वह जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित आगम को ही त्याग किया । और जिनागम के त्याग के कारण सम्यक्त्व को ही त्याग कर दिया इसलिये वह मिथ्यादृष्टी है । इसलिये जब तक मन निश्चल रूपसे निश्चल ध्यान नहीं होता है तब तक षट् आवश्यक क्रिया को व्रतसहित पालन करना चाहिये ।

यम नियमों का फल:-

णाणादिरयण तियमिह सज्जां तं साधयंति जमणियमा ।

अथ जमा सस्यदिया णियमा णियतप्प परिणामः ॥ २ ॥

( मूलाचार कुंद कुंदा )

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य रूप साध्य है । यम और नियम इस रत्नत्रय रूप साध्य को सिद्ध करनेवाले हैं । साधन के बिना साध्य सिद्ध नहीं होती है । इसलिये महाव्रतादि यम सामायिकादि नियम के बिना रत्नत्रय की सिद्धि नहीं हो सकती है । इसलिये मोक्ष के लिये

स्वाधीन सुखं परमेव सुरणं

भोग समं रोग न अन्य वचिन् ।

रत्नत्रय धारी समं न भीमान्

भारवाहि पशु रेव धनवान् ॥ ११ ॥

— मर पशुः —

धर्मः विवेकः नीति ज्ञानं हीन

वात्सल्य बन्धुत्व समता हीन ।

मनुष्य समानं न पशुरस्ति

परोपकारी पशुरेव श्रेष्ठः ॥ १२ ॥

कृतादि अनिवार्य है । जो महाव्रतादि आजीवन पालन किया जाता है उसे यम कहते हैं । सामायिकादि अल्पकालावधि होने से यम कहलाते हैं ।

मूलगुणेषु विमुद्धे वंदित्ता सख सजदे सिरसा ।

इह पर लोग छिदत्ये मूलगुणे कित्तइस्तामि ॥ १ ॥

( मूलाचार ) शि. च. वसुनन्दी टीकाकार

इह शब्दः प्रत्यक्षवचनः परशब्द उपरतेन्द्रिय-जन्म वचनः लोक शब्दः सुरेश्वरादि वचनः । इह च परश्चेहपरी तीव्र तौ लोकी च इह पर लोकी ताभ्यांतयोर्वा हितं सुरेश्वर्यपूजा सत्कार चित्त निवृत्तिफलादि तदेवाधेः प्रयोजनं फलं येषां ते इहपरलोक हितार्थास्तान् इह लोक परलोक सुरेश्वर्यादि निमित्तान् ।

इहलोके पूजां सर्व जनमान्यतां गुरुतां सर्वजनमैत्रीभाववादिके च लभते मूलगुणानाचरन्, परलोक च सुरेश्वर्यतीर्थकरत्वं चक्रवर्ती बल देवादिकत्वं सर्वजनकान्त-तादिकं च मूलगुणानाचरन् लभते इति । मूल-गुणान् सर्वोधार गुणधारतां गतानाचरणविशेषान् ।

‘ इह ’ शब्द प्रत्यक्ष को सूचित करनेवाया है ‘ पर ’ शब्द इन्द्रियातीत जन्म को कहनेवाला है और ‘ लोक ’ शब्द देवों के ऐश्वर्य आदि का वाचक है ।

‘ हित ’ शब्द में सुख, ऐश्वर्य पूजा सत्कार और चित्त की निवृत्ति फल आदि कहे जाते हैं और ‘ अर्थ ’ शब्द से प्रयोजन अथवा फल विवक्षित है । इस प्रकार से इहलोक और परलोक के लिये अथवा इन उभय लोकों में सुख ऐश्वर्य आदि रूप ही हैं प्रयोजन जिनका, वे इहलोक पर हितार्थ कहे जाते हैं । अर्थात् ये मूल गुण इहलोक और परलोक में सुख ऐश्वर्य आदि के निमित्त हैं । इन मूलगुणों का आचरण करते हुए जीव इस लोक में पूजा, सर्वजन से मान्यता गुरुता ( वडप्पन ) और सभी जीवों में मैत्री भाव आदि को प्राप्त करते हैं तथा उन मूलगुणों को धारण करते हुए परलोक में देवों के ऐश्वर्य, तीर्थकर पद, चक्रवर्ती, बलदेव, आदि के पद और सभी जनों में मनोज्ञता, प्रियता आदि प्राप्त

करते हैं। ऐसे मूलगुण जो कि सभी उत्तर गुणों के आधारपते को प्रति आचरण विशेष है।

एता पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थानं ।

चरिया परेत्ति भण्डा वाएव परं लह्णि सोवत्थं ॥ २५४ ॥

( प्रवचनसार )

तपोधनः शेषतपोधनानां वैयावृत्यं कुर्वाणा सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्यं कुर्वन्ति । वचनेन धर्मोपदेशं च । शेषप्रोषधान्नापाना—  
दिकं गृहस्थानामधीन तेन कारणेन वैयावृत्त्यरूपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः  
तपोधनानां गौणः । द्वितीयं च कारणं निर्विकारचिच्चमस्कारभावना  
प्रतिपक्षभूतेन विषय कषाय निमित्तोत्पत्तेनास्ति रौद्रध्यानद्वयेन परिण-  
ताणां गृहस्थामात्माश्रित निश्चय धर्मस्यावकाशो नास्ति वैयावृत्यादि  
धर्मेण दुर्व्याप्तं वञ्चना भवति तपोधन संसर्गेण निश्चय व्यवहार मोक्ष  
मार्गोपदेशलानी भवति । तदश्च परंपरया निर्दिष्टं ऊनत इत्यभिप्रायः ॥

( जयचन्द्राचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिः )

गाथार्थः— यह प्रशस्त भूत चर्या श्रमणों के होती है और गृहस्थों  
के तो मुख्य होती है जास्त्रों में ऐसा कहा गया है। उसी से गृहस्थ परम  
सौख्य को प्राप्त होता है।

तपोधन हमारे साधुओं की वैयावृत्ति करते हुए अपने शरीर के  
द्वारा जो कुल भी वैयावृत्त्य करते हैं वह पापारंभ व हिंसा से रहित

— दुर्जन —

परोपकारदुग्धं पाने सोऽपि

कुतश्चन विषप्रदाने संलग्नः ।

दुर्जनं समं नहि विषधरः

मंत्रेण शाम्यति दुर्जनं नरः ॥ १३ ॥

सुगुणं शतेऽपि समाश्रितोऽपि

कुगुणं कुरक्तः ग्रहणे शक्तः ।

दुर्जनं समानं नहि जलौकः

दूरेऽपि कुगुणः ग्रहणे शक्तः ॥ १४ ॥

होती है तथा वचनों के द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। शेष औषधि अन्नपात्र आदि की सेवा गृहस्थों के अधीन है, इसलिये वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है किन्तु साधुओं का गौण है। दूसरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी तथा इन्द्रिय विषय और कषायों के निमित्त से पैदा होनेवाले आसं आर रात्रिध्यान में परिणमनेवाले गृहस्थों को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नहीं है। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप श्रमोपयोग धर्म से वर्तन करें तो छोटे ध्यान से बचते हैं तथा साधुओं की संगति से गृहस्था निश्चय तथा व्यवहार मोक्ष मार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ परपरा निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

धम्मो दयाविमुद्धों पस्वज्जा सव्वसंग परिचिता ।

देवो वयगधमोहो उदय करो भव्वजीवाण ॥ २५ ॥

( अट्ठ पाहुडं ) कुन्द कुन्द

दया से विशुद्ध जो धर्म सर्वसंग से रहित प्रवज्जा अर्थात् मुनि दीक्षा, मोह से रहित देव भव्य जीवां के लिये उदय कर रहा है।

वर वय तवेहिं सग्गो मा दुक्खं होऊ णिरइ इयरेहिं ।

छायातविट्ठायाणं पडिवालंताण गुरु भवे ॥ २५ ॥

( अट्ठ पाहुडं कुन्द कुन्द )

जब तक रत्नत्रय की पूर्णता नहीं होती है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है तब तक व्रत तपों का पालन करके स्वर्ग प्राप्त करना श्रेष्ठ है। परन्तु अव्रती होकर नरक तिर्यचगति संबंधी दुःख प्राप्त करना श्रेष्ठ नहीं है। जिस प्रकार एक पथिक को पीछे आनेवाले अपने साथी की राह देखने के अत्यन्त उष्ण धूप में बैठने की अपेक्षा शीतल वृक्ष की छाया में बैठना श्रेयस्कर है ऐसा कौन मूर्ख होगा जो शीतल छाया को छोड़कर अत्यन्त उष्ण धूप में बैठेगा।

अवसानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः

त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ ८४ ॥

( समाधिवाक्य )

हिंसा पापादि अव्रतों को छोड़कर अहिंसादि व्रत में अत्यन्त निष्ठा जान होना चाहिये । उस व्रत के माध्यम से जो परमात्मा पद की प्राप्ति हो जायेगी तब उन व्रतों को भी त्यागना चाहिये । जिस प्रकार मंजिल के ऊपर चढ़ने के लिये सीढ़ी की आवश्यकता होती है बिना सीढ़ी के चढ़ा नहीं जा सकता है परन्तु मंजिल के ऊपर जाने के बाद सीढ़ी स्वयं-मेव छूट जाती है अथवा सीढ़ी की शेष सीमा के बाद उस सीढ़ी को त्याग कर मंजिल में प्रवेश करते हैं जैसे हम आगे बढ़ जाते हैं पीछे का रास्ता छूट जाता है उसी प्रकार हम गुणश्रेणी आरुढ़ होकर बढ़ जाते हैं तो पीछे की गुणश्रेणी जूट जाती है । जेमे मुनि होनेपर श्रावक के व्रत छूट जाते हैं, उसी प्रकार परमात्म पद की प्राप्ति करते हैं तो व्रतादि के विकल्प नहीं रहते हैं जैसे दूध से दही, घी बनता है जब तक घी नहीं बनता है तब तक दूध दही का संरक्षण कारण आवश्यक है परन्तु घी बनने के बाद दूधादि अवस्था नहीं रहती है । जैसे फूल से फल बनता है फल होनेपर स्वयं फूल खिर जाता है ।

अशुभाच्छुभायातः शुद्धः स्यादयभागमात् ।

खेर प्राप्त संध्यस्य तमसो न सुमुद्गमः ॥ १२२ ॥

विद्युत तमसो रागस्तपः श्रुत निबन्धन् ।

संध्याराग इवाकंस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥ १२३ ॥

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः ।

रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमुच्छति ॥ १२४ ॥

( आत्मानुशासन )

ईर्ष्यक समानं नहि इन्दुरः

सन्त सुगुणः कर्त्तने चतुरः ।

भुषिकः लूनन्ति निकटं यस्तु

ईर्ष्यकः लूनन्ति दूरे स्थितेऽपि ॥ १५ ॥

बुज्जनं शिष्य समं नहि अग्नि

बहति शिक्षाः अशिक्षारपि ।

ईन्धन हीन दूरस्थ अग्नि

न बहति ( कु ) शिष्यः उभयरेपि ॥ १६ ॥



अर्थ:- यह आराधक भव्य जीव आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभ स्वरूप असंयम अवस्था से शुभ रूप संयम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्ममल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य जब तक प्रभात काल को प्राप्त नहीं होता है तब तक वह अन्धकार को नष्ट नहीं कर सकता है।

अज्ञान असंयमरूप अंधकार को नष्ट करनेवाले प्राणी के जो तप और शास्त्र विषय का जो अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभात कालीन राग ( लालिमा ) के समान अभ्युदय के लिये होता है।

जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अंधकार को आगे करके जब (अस्त) राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता है। अर्थात् अस्त हो जाता है। उसी प्रकार जो प्राणी वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले ज्ञान रूप प्रकाश को अज्ञान असंयम को स्वीकार करता हुआ संसार-शरीर-भोग सम्बन्धी राग को प्राप्त होता है तब वह पाताल तल अर्थात् आत्म पतन रूप अवस्था को प्राप्त होता हुआ नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है।

आत्मारूपी सूर्य अनादिकाल से अज्ञान असंयम मोहरूपी अन्धकार से व्याप्त संसाररूपी रात्री में संचरण कर रहा है। उसको चिन्मयोति स्वरूप मुक्ति लोक को प्राप्त करता है उसको पहले अज्ञान-असंयम रूपी अंधकार को छोड़कर देव शास्त्र गुरु व्रत नियम सम्बन्धी राग रूपी दिग्वलय में आना ही होगा। उस समय में पूर्ण अंधकार नहीं प्रकाश भी नहीं परन्तु उस राग आत्मा रूपी सूर्योदय के लिये कारण है। जिस प्रकार सूर्योदय के पूर्व पूर्ण प्रकाश नहीं पूर्ण अंधकार नहीं परन्तु वह लालिमा सूर्योदय के अभ्युदय का सूचक है परन्तु जब जीव देव-शास्त्र-गुरु-तप-संयम को छोड़कर संसार शरीर प्रति अनुराग करता है वह राग उसके पतन का ही कारण है जिस प्रकार सायंकालीन राग (लालिमा) पतन का सूचक है अर्थात् प्रभात कालिमा और सायंकालीन दोनों राग समान होते हुये भी प्रभात कालीन अभ्युदय के सूचक है और सायंकालीन राग पतन के सूचक है। उसी प्रकार देव-शास्त्र-गुरु प्रति और संसार-शरीर भोग प्रतिराग समान होते हुए एक उत्थान का कारण हो तो दूसरा पतन का कारण है।

शिञ्जावगो य नाणं वादो ज्ञाणं चरित्ता वा हि ।

भवसागरं तु भविष्या तरन्ति त्रिहिसण्णपायेण ॥ १०० ॥

मूलाधार - ' समयसाराधिकार '

अर्थ:- खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है और नौका चरित्र है ।

तीनों के संयोग से ही भव्य जीव भवसागर को तिर जाते हैं ।

विषयधिरतिः संमत्प्रागः कषाय विनिग्रहः

शम-दम दमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोधनः ॥

नियमित मनोवृत्तिभक्तिजिनेषु दयालुता ।

भवति कृतिः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥ २२४ ॥

( आत्मानुशासनम् )

अर्थ:- इन्द्रिय विषयों से विरक्ति परिग्रह का त्याग कषायों का दमन राग-द्वेष की शान्ति यम-नियम इन्द्रिय दमन सात तत्त्वों का विचार मन की प्रवृत्ति पर निग्रहण जिन भगवान को भक्ति और प्राणियों पर दया भाव से सब भाव उस पुण्यात्मा पुरुष के होते हैं । जिसके कि संसार समुद्र का किनारा निकट आ चुका है । अर्थात् निकट भव्य सम्यग्दृष्टी जीव उपरोक्त व्रतादि स्वस्व नौका में बैठकर संसार रूपी स्वरूप को शीघ्र रूप से पार करता है ।

यथा यथा समायाति सविती तत्त्वमुत्तमम् ।

तथा तथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ॥ ३७ ॥

निन्दक समं नहि चित्रकारः

समं सुगुणे विषमः आकारः ।

मूर्तिक द्रव्यं समो असमः

किंतु अमूर्तिक गुणे निन्दकः ॥ १७ ॥

— सज्जनः —

सज्जन समानं न कदा सरोजः

मित्रागमे विकाशितः रात्रौ म्लानमुखः ।

अहो ! सज्जन सरोज सदा विकाशितः

निन्दा प्रशंसा सर्वत्र शत्रु किम्वा मित्रे ॥ १९ ॥

यथा यथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ।  
तथा तथ. समायाति तत्स्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

( इष्टोपदेश )

अर्थ:- जैसे जैसे विशुद्ध आत्मस्वरूप की संवित्ति बढ़ती जाती है वैसे वैसे सुलभ भी इन्द्रिय विषय रुचता नहीं है जैसे जैसे सुलभ भी इन्द्रिय विषय रुचकर नहीं लगता है वैसे वैसे आत्मसंवित्ति बढ़ती होती जाती है ।

प्रिय अप्पणाण ज्ञाणञ्जयण सुहामियर सायण्णं पाणं ।  
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजदि सोहु बहिरप्पा ॥ १२६ ॥

अर्थ:- जो ज्ञानध्यान अध्ययन और सुखामृत रसायण पान से विमुख होकर इन्द्रिय सम्बन्धी सुख भोगता है वह निश्चित बहिरात्मा मूढ़ है ।

शुभोपयोग एवं पुण्यपाप:-

शंका:- व्यवहार नय अपेक्षा शुभोपयोग के प्राधान्यता से जो व्रत संयमादि अरिहन्त भक्ति आदि भाव है वे सब पुण्य बन्ध के कारण होने से एवं रागात्मक होने के कारण हेय है ? पुण्य से संसार बढ़ता है इसलिये व्रत, संयमादि अरिहन्त भक्ति संसार के कारण है ?

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावन्ति भणिवमण्णेसु ।  
परिणामो णण्णगदो बुक्खक्खय कारणं समये ॥ १८१ ॥

( प्रवचनसार )

अपने आत्मा से भिन्न अन्य द्रव्य में जो शुभ रूप परिणाम है उससे पुण्य होता है और अशुभ भाव से पाप होता है जो दोनों भावों से रहित होकर स्व स्वरूप में प्रवर्तमान होता है उसका सम्पूर्ण दुःख क्षय हो जाता है ।

अरहंत सिद्ध चेदीय पययण गण णाण भसि संपण्णो ।  
बन्धदि पुण्णं बहुसोण ह्म सो कम्मक्खयं कुणवि ॥ १६६ ॥

( पंचास्तिकाय )

अर्थ :- अरिहन्स-सिद्ध-चैत्यालय-प्रवचन-मुनिगण-भेद-विज्ञानादि बहुश्रुत की भक्ति आदि से अत्यधिक पुण्य बन्ध करता है । परन्तु कर्म अंग नहीं करता है ।

इस आर्ष वचन से सिद्ध होता है व्यवहार स्वरूप शुभ क्रियायें हेय हैं ।

समाधान:- ण च व्यवहारणओ चपलओ तत्तो व्यवहाराणुसारि सिस्साणं पडत्ति दसणादो । जो बहुजीवाणुसहकारी व्यवहारणओ सो चैव समस्सिदध्वो तिसण्णेषावहारिय गोद गयेरेण मगलं तत्थ कयं ।

अर्थ:- यदि कहा जाय कि व्यवहार नय असत्य है सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है । अतः जो व्यवहार नय बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला है उसी का आश्रय करना चाहिये ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्वविर ने चौबीस अनुयोग के द्वारों के आदि में मंगल किया है ।

वीरसेनाचार्य । ज. घ. पु. पृष्ठ ७-८

ण च अप्पमाणपुरस्सरो व्यवहारो सच्चत्तमल्लियइ । ण च एवं बाहविवज्जिय सत्थ व्यवहाराणं सच्चत्तुवलंभादो ।

अर्थ:- अप्रमाण पूर्वक होनेवाला व्यवहार सत्यता को प्राप्त नहीं हो सकता है । यदि कहा जाय कि सभी व्यवहार अप्रमाण पूर्वक होने से असत्य मान लिये जाय सो भी बात नहीं है, क्योंकि जो व्यवहार बाधा रहित होते हैं उन सब में सत्यता पाई जाती है ।

सज्जन समानं नहि कवापि सलिलः

अग्नि संपर्केन उष्णमेव अतिशीघ्रः ।

वावालन अग्नि सम कुर्जनः सम्पर्के

सज्जन स्वशीतलता न त्यजे त्रिकाले ॥ २० ॥

मिन्दा प्रशंसा प्रसंगी शत्रू मित्र वर्गे

लाभालाभे जीवित मरणे सर्वकाले ।

समुद्रवत् गम्भीरं मेरुवत् स्थिरं

यः तिष्ठत सयैव सज्जनः धीरः धीरः ॥ २१ ॥

पुण्य कर्म बन्धवर्णीयं देसव्यवर्णं मंगलं कारणं जुत्तं ण मुणीणं  
कम्मवत्तकं कसुवाणमिदि ण वात्तुं जुत्तं; पुण्यबन्ध हेतुत्तं पडि विसेस-  
भावादो मंगलस्सेव सराग संयमस्स वि परिच्चागप्प संगदो; ण च एव  
तेण संजम परिच्चागप्प सग भावेण विव्वुद्दगमणाभावप्पसंगदो । सराग  
संयमो गुणसेदि णिज्जराण् कारणं, तेण बंधादो मोक्खो अमंखेज्ज गुणो  
त्ति सराग संयमे गुणोणं वट्टणं जुत्तमिदि णं पच्चवठागं कायव्वं; अरहं  
णमोक्कारो सेयहिय बन्धदो अमंखेज्ज गुण कम्मवत्तय कारणो त्ति तत्थ  
वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगदो उत्तं च ।

अरहंत णमोक्कारं यात्रेण रा जो करेदि पयडमदो ।

सो सव्व दुक्ख मोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥

यदि कहा जाय कि पुण्य कर्म के बान्धन के इच्छुक देशत्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के श्रय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पुण्य बन्ध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है । अर्थात् पुण्य बन्ध के कारणभूत कार्यों को जैसे देशत्रती श्रावक करते हैं वैसे ही मुनि भी करते हैं, मुनि के लिये उनका एकान्त से निवेध नहीं है । यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिये पक्ष कहा जा रहा है उसी प्रकार उनके सराग संयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है क्योंकि देशत्रत के समान सराग संयम भी पुण्य बन्ध का कारण है ।

यदि कहा जाय कि मुनियों के सराग संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होवो सो भी बात नहीं है क्योंकि मुनियों के सराग संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होते में उनके मुक्तिगमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है ।

यदि कहा जाय कि सराग संयम गुणश्रेणी निर्जरा का कारण है क्योंकि उससे बन्ध की अपेक्षा मोक्ष अर्थात् कर्मों को निर्जरा असंख्यात गुणी होती है ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि अरहन्त नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण है इसलिये सराग संयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है ।

भी है-

जो विवेक जीव भावपूर्वक अरहन्त को नमस्कार करता है वह तत्क्षणीय समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

( ज. घ. पु. १ पृ ७-८ )

किं फलमेवं धम्मज्झाणि? अक्खवएसु विउलामर सुहफलं गुण-  
सिद्धिं कम्मणिज्जरं फलं च । खवएसु पुण असंखज्ज-गुण मेडीण कम्म  
प्रदेशे णिज्जरण फलं सुहकामाण मुक्कस्साणुभागविहाण फलं च । अत-  
एव धम्मदिनपेतं धम्मं ध्यानमिति- सिद्धम् ।

एतत् गाथाओ-

होति सुहासव-सवर-णिज्जरामर सुहाई विउलाई ।

ज्झाण धरस्स फालई सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ५६ ॥

जह वा घण संधान रवणेण णरणाह्या विलिज्जति ।

ज्झाणप्प वणोवहया तह कम्म घणा विलिज्जति ॥ ५७ ॥

अर्थ:- शंका - इस धर्म-ध्यान का क्या फल है ?

समाधीन:- अक्षपक जीवों को देव पर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलता उसका फल है और गुण श्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है; तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यात गुण श्रेणी का से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है । अतएव जो धर्म से अनुप्रेत है वह धर्मध्यान है,

यदि सूर्यः कदापि पश्चिमे उदिष्यति

अग्नि शीतलता याति चन्द्र तापयति ।

समुद्र यदि कदापि स्वमर्यादा त्यागे

तथापि सज्जनः स्वस्वभाव न त्यागे ॥ २२ ॥

पर स्त्री दर्शने अन्धः गमनेच नपुंसकः

विकथा निन्दा श्रवणे वधिरमेव भावः ।

असत्य भाषणे मूकः कुकार्येच पंगुः

सुगंध कुचिचारे अहो कृति सज्जनस्य ॥ २३ ॥

यह बात सिद्ध होती है ।

इस विषय में गाथाएँ—

उत्कृष्ट धर्मध्यान के सुख आथव संवर, निर्जरा और देवी का सुख  
मे शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं ॥ ५६ ॥

अथवा जैन मेघपटल ताडित होकर क्षण मात्र मे विखीन हो जाते  
है वैसे ही ध्यानरुपी पवन से उपहन होकर कर्ममेघ भी विहीन हो  
जाते हैं ॥ ५७ ॥

( घ. पू. ५ पृ ७७ )

मोह सञ्ज्वसग्गो पुण धम्मज्झाण फलं; सकसायत्तणेण धम्मज्झा-  
णिणो सुहम सांपराइयस्स चरिम स्मए मोहणीयस्स सत्त्वसमुत्तल्लभादो  
तिण्णं धादि कम्माणं णिम्मूल विणास फल मेपत्तविदक्क अविचारज्झाणं  
मोहणीय विणासो पुण धम्मज्झाण फलं, सुहम सांपराय चरिम समए तस्स  
विणासुबलंभादो ।

अर्थ:— मोह का सर्वोपशम करना धर्म ध्यान का फल है; क्योंकि  
कषाय सहित धर्मध्यानी के सूक्ष्म एवं सांपराय गुणस्थान के अन्तिम  
समय मे मोहनीय कर्म की सर्वोपशमता देखी जाती है । तीन ध्यानी  
कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का फल  
है । परन्तु मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्यों कि  
सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता  
है ।

( घ. पु. ५ पृ. ८१ )

प्राथमिकानां चिन्तास्थिति करणार्थं विषय दुर्ध्यान वंचनार्थं च  
परंपरया मुक्ति कारणमर्हदादि परद्रव्य ध्येयम् पश्चात्चित्ते स्थिरी  
भूते साक्षान्मुक्ति कारणं स्वशुद्धात्मतत्त्वमेव ध्येयं नास्त्येकांतः एवं साध्य  
साधक भावं ज्ञात्वा ध्येय विषये विवादो न कर्तव्यः इति ।

( “ परमात्म प्रकाश अध्याय २ गाहाटीका ३३ ब्रह्मदेव ” )

अर्थ:— ध्यान के प्राथमिक साधकों को चित्त के स्थिर करने के  
लिये और विषय कषाय स्वरूप दुर्ध्यान से बचने के लिये परम्परा मुक्ति

कारण स्वरूप अरिहन्तादि ध्यान करने योग्य है । अर्थात् ध्येय है । ज्ञात चित्त स्थिर होने पर साक्षात्भुक्ति का कारण जो निज शृद्धात्मक है वही ध्यावने योग्य है । पर द्रव्य होने से अरिहन्तादि ध्यावने योग्य नहीं है यः एकान्त से ठीक नहीं है । अतः सविकल्प अवस्था में अरिहन्तादि उपादेय ही है । इस प्रकार साध्य - साधन जानकर ध्यावने योग्य वस्तु में विवाद नहीं करता पंचपरमेष्ठी का ध्यान साधक है, और आत्म ध्यान साध्य है, यह निःसंदेह जानना । वैयावृत्यादि स्वकीयावस्था योग्यो धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति ।

( टीका प्रवचनसार २५० )

अर्थः— वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म कार्य की अपेक्षा से नहीं चाहता है उसके तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है । मुनि व श्रावकपना तो दूर हो रहा ।

यद्यपि व्यवहार नयेन गृहस्थावस्थाणं विषय कषाय दुर्ध्यानि वंच-  
नाथं धर्मवर्धनार्थं च पूजाभिषेक दानादि व्यवहारोऽस्ति तथापि वीतराग  
निर्विकल्प समाधि रतानोत्तकाले बहिरंग व्यापाराभावात् स्वमेव  
नास्तीति ।

अर्थः— यद्यपि व्यवहार नय कर गृहस्थ अवस्था में विषय कषाय  
रूप छोटे ध्यान के हटाने के लिये और धर्म बढ़ाने के लिये पूजा अभिषेक

— ज्ञानं —

ज्ञान समान नहि कोटि रश्मिः

क्षेत्रा कालावधि प्रकाशयति ।

ज्ञानं तु पुनः चैतन्य रश्मिः

सर्व क्षेत्र काल प्रकाशयति ॥ २४ ॥

— ज्ञानी —

ज्ञानी समान नहि अक्षरतो

क्षेत्र कालावधि प्रभूत्ये स्थिति ।

ज्ञानी जयन्ति समस्त विश्वम्

अनन्त सुख ईशत्ये स्थिति ॥ २५ ॥



दान आदि का व्यवहार है । तो भी बीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन हुए योगीश्वरों को उस समय में बाह्य व्यापार के अभाव होने से स्वयं ही द्रव्य पूजा का प्रसंग नहीं आता भाव पूजा में ही तन्मय है ।

( टीका परमात्म प्रकाश । १२३-२ )

**शुद्धात्मानुभूतिः—**

सम्यग्दृष्टी जनः पुनरभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधिवलेन कतकफल स्थानीयं निश्चय नयाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः ।

(स. सा. ता. वृ. - पृ. १३)

अर्थः— जो सम्यग्दृष्टी जन होता है वह तो अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधी के बल में कतक स्थानिक निश्चय नय का आश्रय लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है । ननु-बीतराग संवेदन विचार काले बीतराग विशेषण किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः किं सरागमपि स्वसंवेदन ज्ञानमस्तीति ?

अत्रोत्तरं विषय सुखानुभवानन्द रूप स्वसंवेदन ज्ञानं सर्वजन प्रसिद्धं सरागमप्यस्ति । शुद्धात्मसुखानुभूतिरूप संवेदनज्ञानं बीतरागमिति । इदं व्याख्यानं स्वसंवेदन ज्ञान व्याख्यान काले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः ।

स. सा. ता. वृ. १०३ - पृ. ८९

**शंकाः—** बीतराग संवेदन विचार काल में आप ने जो बार बार बीतराग विशेषण दिया है वह क्यों देते आ रहे है क्या कोई सराग स्व संवेदन ज्ञान भी होता है ?

**समाधानः—** इस के उत्तर में आचार्य उत्तर देते है कि भाई विषय सुखानुभव के आनंदरूप स्वसंवेदन होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है । अर्थात् वह सब लोगों के अनुभव में आया करता है, वह सराग होता है किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह बीतराग होता है । इसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल में सब ही स्थान पर समझना चाहिये ।

विषय कषाय निमित्तोत्पन्नेनार्त रौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां

स्थानामात्माश्रित निश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति ।

(प्र. सा. ता. वृ. २५४ - पृ. ३४७)

विषय कषाय के निमित्त से उत्पन्न आर्त-रौद्र ध्यानों में परिणत स्थानों को आत्माश्रित निश्चय धर्म का अवकाश नहीं है ।

असंयत सम्यग्दृष्टी आवक प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग-साधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोग वर्तते तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीण-कषायपर्यंत जघन्य मध्यमोत्कृष्ट भेदेन विवक्षितेकदेश शुद्धनय रूप शुद्धोपयोग वर्तते ।

(प्र. सं. टी. ३८)

असंयत सम्यग्दृष्टी से प्रमत्त तक के तीनों गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऐसे उत्तरोत्तर विशुद्ध शुभोपयोग वर्तता है । और उसके अनन्तर अप्रमत्तादि क्षीण कषाय के गुणस्थानों में जघन्यः मध्यमः उत्कृष्ट भेद को लिये विवक्षित एकदेश शुद्ध नय रूप शुद्धोपयोग वर्तता है ।

ये गृहस्थापि सन्तः मनागात्म भावनामासाद्य धर्मं ध्यानिन इति भूवन्ते ते जिनधर्म विराधकः मिथ्यादृष्टयो जातव्याः ।

जो गृहस्थ होते हुए भी मनाक (थोड़ा) आत्म भावना को प्राप्त करके "हम ध्यानी है" ऐसा कहते हैं, वे जिनधर्म विराधक मिथ्या-दृष्टी जानना चाहिये ।

(मो. पा. अध्याय - ३०५)

### - कालरात्रि -

मोह रेव महा मद्यः अज्ञानमेव काल रात्रिः

इच्छारेव महास्वप्नं स्वजागृते दिनश्यति : २६ ॥

मोहमहा मद्यं पानेन जीवः

अज्ञान रात्री मध्ये स्पश्यति ।

आकाक्षां स्वप्नं पश्यति सर्वदा

आत्म जाग्रते समस्तं नश्यति ॥ २७ ॥

परम ध्यानों के पर्यायवाची शब्दः—

मा चिद्वह मा जंघह मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो ।  
अप्पा अप्पामि रओ इणमेव परं हवे आणं ॥

नित्य निरंजन निष्क्रिय निज शुद्धात्मानुभूति प्रतिबन्धक शुभाशुभ  
चेष्टारूपं कायव्यापारं, तथैव शुभाशुभान्तर्वहि जलपरूप वचन व्यापारं  
तथैव शुभाशुभविकल्प जाल रूपं चित्तव्यापारं च किमपि मा कुरुते हे  
विवेकि जनः ।

येन योगत्रय निरोधेन स्थिरो भवति । स क - - - - आत्मा ।  
कथम्भूतः स्थिरो भवति ?

सहज शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्म तत्त्व सम्यक् श्रद्धानुज्ञा-  
नानुचरणउपायेन रत्नत्रयात्मक परम समाधि समुद्भूत सर्वप्रदेशाल्हाद  
जनक सुखास्वाद परिणति रुहिते निजात्मनि रतः परिणतिस्तल्लीयमान  
स्तच्चित्तस्तन्मयो भवति - - - इदमेवात्म सुखरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन  
परमुत्कृष्टं ध्यानं भवति ।

तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागं परमानन्द सुखं प्रतिभाति,  
तदेव निश्चय मोक्षमार्गं स्वरूपम् ।

तच्च पर्याय नामान्तरेण - - - शुद्धात्म स्वरूपं - - - तदेव परम  
स्वात्मोपलब्धि लक्षणं सिद्ध स्वरूप - - - तदेव निर्मल स्वरूपं तदेव स्व-  
संवेदन ज्ञान - - - तदेव शुद्धात्म स्वरूपं - - - तदेव परमात्म दर्शनं - - -  
तदेव शुद्ध चारित्र्यं - - - तदेव शुद्धात्म द्रव्य - - - स एव शुद्धात्मानुभूति  
- - - स एवात्म प्रतीति, स एव आत्म संवित्तिः - - - स एव परम समाधि  
- - - स एव शुद्धात्मपदार्थस अध्ययन रूपं एव निश्चय मोक्षोपायः स एव  
चैकाग्रचिन्ता निरोधः - - - स एव सुद्धोपयोगः स एव परम योगः - - -  
स एव भूतार्थः - - - स एव निश्चय पंचाचारः - - - स एव समयसार  
- - - स एव अध्यात्मसारः - - - तदेव समतादि निश्चय पडावश्यक  
स्वरूपं, - - - तदेवाभेद रत्नत्रय खलरूपं, तदेव वीतराग सामायिक - - -  
स एव परमात्म भावना; - - - स एव शुद्धात्मभावनोत्पन्न सुखानुभूति  
रूपं परम कला - - - तदेव परमामृत परम धर्म ध्यानं - - - तदेव शुक्ल

ध्यान - - - तदैव रागादि विकल्प शून्य ध्यानं - - - तदैव परम वीत-  
रागत्वं, परम भेद ज्ञातं इत्यादी समस्त रागादि विकल्पोपाधि रहित  
परमात्मादेक सुख लक्षण ध्यानरूपस्य निश्चय मोक्ष मार्गस्थ वाचका-  
न्यान्यपि पर्याय नामानि विज्ञेयानी भवन्ति परमात्म तत्त्वविद्धिरिति ।

द्र. सं. टी. ५६ - पृ १६६-१८८

हे जानी जनो ! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो अर्थात् काय के  
व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो, और कुछ भी मन विचारों  
जिस से कि तुम्हारा आत्मा अपने आत्मा में तल्लीन स्थिर होवे; क्यों  
कि जो आत्मा में तल्लीन होना है वही परम ध्यान है ।

नित्य निरंजन और क्रिया रहित, ऐसा जो निजशुद्ध आत्मा का  
अनुभव है उसको रोकनेवाला जो शुभ-अशुभ चेष्टा रूप कार्य का व्यापार  
है उसको उसी प्रकार शुभ अशुभ अन्तरंग तथा बहिरंगरूप वचन के  
व्यापार को और इसी प्रकार शुभ अशुभ विकल्पों के समूहरूप मन के  
व्यापार को कुछ भी मत करो जिन मन वचन काय रूप है तीनों योगों  
के रोकने से स्थिर होता है वह कौन है ? आत्मा ! कैसा स्थिर होता  
है ? सहज शुद्ध आत्मज्ञान और दर्शन स्वभाव को धारण करनेवाला जो  
परमात्मतत्त्व है उसके सम्प्रक् श्रद्धा-ज्ञान तथा आचरण लाने रूप जो अभेद  
रत्नत्रय है उस स्वरूप जो परम ध्यान है उससे उत्पन्न और सब प्रदेशों  
को आनंद उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो सुख उसके आस्वादरूप परिणति  
सहित निज आत्मा में परिणत तल्लीन, तन्मय तथा तच्चित्त होकर स्थिर  
होता है । यही जो आत्मा के सुखरूप में परिषमन होता है वह निश्चय

### (७) सरस्वती स्तोत्रम्

जगन्माता वागीश्वरी शारदा ब्रह्मचारिणी ।

आत्मविद्या संपादने सिद्धिर्भवतु मे सदा ॥

सर्वज्ञदोद्भुतः पवित्र तीर्थं धूनी ।

अनेकान्तो बहुभि स्पर्द्धादः कलध्वनि ॥

अहिंसा स्वच्छ गात्री भव्यानां तीर्थं मूर्तीः ।

संसार ताप हृत्री भव्यानां मोक्षदात्री ॥

से परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान होता है। उस परम ध्यान में स्थित हुए जीवों को जो वीतरागपरमानंद सुख प्रतिभासित है वही निश्चय मोक्षभाग स्वरूप है।

वह दूसरे पर्याय नामों से क्या क्या कहलाता है अर्थात् उसको किन किन नामों से लोग कहते हैं सो कथन किया जाता है। वही शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। वही स्वात्मोपनिषि स्वरूप है। वही निर्मल स्वरूप का धारक है। वही स्वसंवेदन ज्ञान है। वही शुद्धात्म स्वरूप है। वही परमात्म का दर्शन है। वही शुद्ध चारित्र है। वही शुद्धात्म द्रव्य है। वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है। वही शुद्धात्मा कि प्रतीति है, वही स्वसंबित्ति है, वही परम समाधि है, वही शुद्धात्म पदार्थ है, वही शुद्धात्म पदार्थ का अध्ययन है, वही निश्चय मोक्ष उपाय है, वही एकाग्र चिन्ता स्वरूप ध्यान है, वही शुद्धोपयोग है, वही परम योग है, वही भूतार्थ-उपादेय है, वही निश्चय पंचाचार है, वही आत्म स्वरूप है, वही आत्म सार है, वही समतादि निश्चय नय से षडावश्यक है, वही अभेद रत्नत्रय है, वही वीतराग परम सामायिक, वही परमात्म भावना है, वही शुद्धात्म के भावना से उत्पन्न सुखानुभूति स्वरूप परम कला है, वही परमामृत स्वरूप परम ध्यान है, वही सकल ध्यान है, वही रागादि विकल्प से रहित ध्यान है, वही परम वीतरागत्व है, वही जा परम भेद ज्ञान है ऐसे समस्त रागादि विकल्पों से रहित परम आनंद सुख रूप लक्षण का धारक जो ध्यान है उस स्वरूप जो निश्चय मोक्ष मार्ग है उसको कहने वाले अन्य भी बहुत से जीव पर्यायी नाम परमात्म तत्त्व को अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को जानने वाले जो भव्य जीव हैं उनको जान लेने चाहिये।

आर्त्त-रौद्र परित्याग लक्षण निर्विकल्प सामायिक स्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवलोकनमुपलब्धिः संवित्रिः प्रतीतिः रूपातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चय चारित्राविनाभाकि निश्चय सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व भन्यते तदेव च गुणगुण्यभेद रूप निश्चय नयेन शुद्धात्म स्वरूपं भवतीति।

स. सा. त. वृ. — जीवाधिकार पीठिका

आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्वि-

कल्प समाधि में स्थिर रहनेवाले जो जीव है उनको जो शुद्धात्मा के स्वरूप का दर्शन है, अनुभव है, अवलोकन है, उपलब्धि है, सविस्ति है, प्रतीति है, रूपाति है, अनुभूति है, वही निश्चय नय में निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् (उसे वीतराग चारित्र को) साथ में लिये हुए रहता है। और वही गुण-गुणी में अभेद जो निश्चय नय है उनसे शुद्धात्म का स्वरूप कहा जाता है।

वीतराग चारित्रानुकूलं शुद्धात्मानुभूत्य विनाभूतं वीतराग सम्यक्त्व  
(म. प्र. टी. ७६)

वीतराग चारित्र के अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूति रूप वीतराग सम्यक्त्व है।

संवेदना ज्ञानेन परं परमात्मानं भावय

पं. दौलतरामजी । भाषा टीका (म. प्र. टी. १३)

जो वीतराग संवेदन कर परमात्मा जाना जाता था, वही ध्यान करने योग्य है।

शंका:— जो स्वसंवेदन अर्थात् अपने कर अपने को अनुभवना इसमें वीतरागता विशेष क्यों कहा है ?

समाधान:— विषयों के आस्वादन में भी उन वस्तुओं के स्वरूप का जाननापना होता है, परन्तु राग भाव कर दूषित है इसलिये बीज

एकान्त अध्यात्मवाद ( ८ )

यावत् जीवाय सुखी जीयात् पंचेन्द्रिय भोग सदा कुर्यात् ।

शरीर क्रिया शरीरे भवति आत्मा सदा निर्लिप्त भवति ।

यावत् जीयात् सुखी जीयात् पंचेन्द्रिय भोग सदा कुर्यात् ।

भोगते निर्जरा भवति अध्यात्म योग यह भणन्ति ॥

यावत् जीयात् सुखी जीयात् निर्गल भाव सदा कुर्यात् ।

संयमे भावे कर्म बन्धन्ति सद्गुरुदेव सदा भणन्ति ।

यावत् जीयात् सुखी जीयात् दान तपादिक दान कुर्यात् ।

पुण्य बन्धेत् संसार वर्धन्ति भग्वी तिर्यंश सदा भणन्ति ॥

रस का आम्बुवादन नहीं है, और वीतराग दशा में स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है । आकुलता रहित होता है । तथा संवेदन ज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे, पाँचवें गुणस्थान वाले गृहस्थ के भी होता है, वहाँपर सराप देखने में आता है, इसलिये राग सहित अवस्था के निषेध के लिये वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है । राग भाव है वह कषाय रूप है । इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टी अनन्तानुबन्धि कषाय है तब तक तो वहिरात्मा है, उस के स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है । चतुर्थे गुणस्थान में सायद्दृष्टी के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धि के अभाव से सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषाय की तीन चौकड़ी बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं होता, और श्रावक के पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी का अभाव है, इसलिये राग भाव कुछ कम हुआ, वीतराग भाव बढ गया, इस कारण से भी स्वसंवेदन ज्ञान प्रबल हो गया, परन्तु दो चौकड़ी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नहीं हुआ । मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है, इसलिये राग भाव तो निर्वल हो गया । तथा वीतराग भाव प्रबल हो गया । वहाँपर स्वसंवेदन ज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ, परन्तु चौथी चौकड़ी बाकी है, इसलिये छठे गुणस्थानवर्ती मुनि सरास सयमी है ! उसका वीतराग सयमी के जैसा प्रकाश नहीं है । सातवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी मन्द हो जाती है । वहाँपर आहार-विहार आदि क्रिया नहीं होती । ध्यान में आरुढ़ रहते हैं । सातवें से छठे गुणस्थान में आते तब वहाँपर आहारादि क्रिया है । इसी प्रकार छठे सातवाँ गुणस्थान करते रहते हैं । वहाँपर अन्तर्मुहूर्त काल है । आठवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी अत्यन्त मन्द हो जाती है । वहाँ राग भाव कि अत्यन्त क्षीणता होती है । वीतराग भाव पुष्ट हो जाता है । स्वसंवेदन ज्ञान का विशेष प्रकाश होता है । श्रेणी मांडमें में शुक्ल ध्यान उत्पन्न होता है ।

श्रेणी के दो भेद हैं । एक क्षपक दूसरा उपक्षपक, क्षपक श्रेणी वाले तो उसी भव से केवल ज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं, और उपक्षम वाले आठवें नवमें-दसवें से ग्यारहवाँ गुणस्थान तक पहुँच पीछे पड़ जाते हैं । अर्थात् नीचे के गुणस्थानों में आते हैं क्योंकि उसका काल अन्तर्मुहूर्त है । किन्तु कुछ एक भव भी धारण करते हैं । तथा क्षपक वाले

दसवें से नवमं गुणस्थान में प्राप्त होते हैं, वहाँ कषायों का सर्वथा नाश होता है, एक संज्वलन लोभ रह जाता है इसलिये स्वसंवेदन ज्ञान का बहुत आदा प्रकाश होता है, परन्तु एक संज्वलन लोभ बाकी रहने से वहाँ साराग चारित्र ही कहा जाता है। जब दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ नहीं रहता है तब मोह की अठ्ठावीस प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से वीतराग चारित्र की सिद्धि हो जाती है। दसवें से बारहवें में जाते हैं। बारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते हैं। वहाँ निर्मोह वीतरागी के शुक्ल ध्यान का दूसरा पाया ( भेद ) प्रकट होता है। यथाख्यात चारित्र हो जाता है। बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण-दर्शनावरण अन्तराग इन तीनों का भी विनाश कर डाला, मोह का नाश पहले ही ही चुका था। तब चारों घाति कर्मों के नष्ट हो जाने से तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रकट होता है। वहाँपर ही शुद्ध परमात्मा होता है अर्थात् उसके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय है।

वह चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानतक तो अन्तरात्मा है, उसके गुणस्थान प्रति चढ़ती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता परमात्मा के है, यह सारांश समझना।

रागादि मल जुवाणं, निघणरुवं ण विस्सेवे किं पि ।

समला वरिसे रुवं ण विस्सेव जह सहा णेयं ॥

( रयणसार - १०२ )

### स्वरूप स्तोत्रम् ( १ )

जितं शुद्ध ज्ञानी सिद्ध आत्म रूपं

सूक्ष्मं परं श्रेष्ठं परमार्थ रूपम् ।

अध्यक्तं अध्ययं अनादि अनन्तं

चिदानंद रूपं नमो स्वस्वरूपम् ॥ १ ॥

स्वयम्भूः श्रीधरः अच्युतो माधवः

सुगतः कामारि निरंजनरूपम् ।

पूर्णं शून्यरूपं द्वैताद्वैत रूपं

खिवानंदरूपं नमो स्वस्वरूपम् ॥ २ ॥



जिस प्रकार झलील दर्पण में अपना मुख नहीं दिखता है, उसी प्रकार चित्र रागादि भावों से मलीन है, उसे अपने निज आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता ।

राग-द्वेषादि कल्लोलैरेलोलं यन्मनो जलम् ।

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं, तत्तत्त्वं नेतरो ॥ ३५

( स. श. - पृ. ८१ )

जैसे समुद्र का जल जब पवन के द्वारा उठनेवाले तरंगों से चंचल होता है तब उसमें पदार्थ निर्मलता के साध नहीं दिखाता है । परन्तु जब वही जल स्थिर होता है तब उस निर्मल जल में अपना मुंह या अन्य कोई पदार्थ साफ-साफ दिखता है । वैसे ही जब यह, मन, क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी भावों से चंचल होता है तब उसमें आत्मा का स्वभाव नहीं झलकता है । परन्तु जब उसमें क्रोधादि भाव नहीं होते हैं तब उस निर्मल मन में आत्मा का जो स्वरूप है सो बराबर दिखता है । तात्पर्य यह है कि जिस के मन से राग-द्वेषादि विकारी भाव हैं वे आत्मा के स्वरूप को नहीं पा सकते और मोह सहित सम्यग्दृष्टी योगी अपने स्वरूप के अनुभव में ऐसे दत्तचित्त होते हैं ।

तमात्मानं कोऽसौ जानाति । योगी कोऽर्थः त्रिगुणित्तिविकल्पं समाधिस्थ इति ।

( प. प्र. टी. १० - पृ. ८५ )

शंका:- आत्मा को कौन जानता है ?

समाधान:- योगी जानता है ।

शंका:- वह योगी कैसा है ?

समाधान:- त्रिगुणित्ति स्वरूप समाधिमें लीन होनेवाला योगी आत्मा को जानता है ।

अथ समभावस्थितानां योगिनां परमानन्द जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति तमाह-

जो समभाव परिठियहं जोइहं कोइ फुरेइ ।

परमाण्डु जणंतु फुडु सो परमण्णु हवेइ ॥

( प. प्र. ३५ )

समभाव अर्थात् जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रू-मित्र  
 इन् सब में समभाव को परिणत हुए परम योगीश्वरों के अर्थात्  
 शत्रू-मित्रादि सब समान हैं, और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्य-  
 रूप अभेद रत्नत्रय जिसका स्वरूप है, ऐसी वीतराग निर्विकल्प  
 में तिष्ठे हुए हैं, उन योगीश्वरों के हृदय में वीतराग परमानन्द  
 करता हुआ जो स्फुरायमान होता है वही प्रकट परमात्मा है  
 जानो । अर्थात् उपरोक्त गुणों से युक्त होनेवाला योगी ही शुद्धात्मा  
 स्फुरायमान सुखानुभव कहता है ।

वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थो अन्तरात्मा परस्वरूपान् जानतीति  
 ( प. प्र. ८९ टी. )

वीतराग निर्विकल्प समाधि स्थित अन्तरात्मा पर स्वरूप को  
 जानता है । अर्थात् भेदविज्ञान के बल से परद्रव्य से स्वद्रव्य पृथक्  
 करता है ।

वीतराग निर्विकल्प समाधि विषयं च परमात्मानं प्रतिपादयति :-

वेद्यहि सत्स्थहि इद्विषहि जो जिय मुणहु ण जाइ ।

चिन्मल-झाणहुं जो पिसउ जो परमणु अणाई ॥ २३ ॥

वेदैः शास्त्रैरिदिये यो जीवमस्तु न प्राति ।

निर्मलध्यानस्थ यो विषयः स परमात्मा अनादि ॥ २३ ॥

अर्थात्:- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, गेग इन पाँच तरह  
 की वस्तुओं से रहित निर्मल निज शुद्धात्म के जानकर उत्पन्न हुए नित्यानन्द

एकानेक रूपं व्यक्ता व्यक्तरूपं

अरूपी स्वरूपी विशिन्न स्वरूपम् ।

चेतन्याचेतन्य अनेकान्तरूपं

चिदानन्दरूपं तमो स्वस्वरूपम् ॥ ३ ॥

अकर्ता सकर्ता शोक्ताशोक्तरूपं

अमूर्ति समूर्ति मुक्तामुक्तरूपम् ।

ज्ञाताज्ञातरूपं ज्ञान ज्ञेयरूपं

चिदानन्दरूपं तमो स्वरूपम् ॥ ४ ॥

सुखामृत वा आस्वाद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प अपने स्वरूपके ध्या-  
कर स्वरूप की प्राप्ति है । आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्र गम्य नहीं है  
क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जावे, वे ही आत्मा  
का अनुभव कर सकते हैं, जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यान से ही पाया है  
और शास्त्र सुनना है तो ध्यानका उपाय है ऐसा समझकर अनादि अनंत  
चिद्रूप में अपना परिणाम लगाओ । दूसरी जगह भी अन्यथा इत्यादि  
कहा है । उसका यह भावार्थ है कि, वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही है ।  
नय प्रमाणरूप है तथा ज्ञान की पड़ताई कुछ और ही है वह आत्मा  
निर्विकल्प है नय प्रमाण निक्षेप से रहित है वह परम तत्व को केवल  
आनंदरूप है और ये लोग अन्यही मार्ग में लगे हुए हैं सो वृथा श्लेश  
कर रहे हैं । इस जगत् अर्थरूप शब्दात्माही उपादेय है, अन्य सब त्यागने  
योग्य है । यह सारांश समझना ॥

( परमात्म प्रकाश )

यत्रनेन्द्रिय सुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।

तं आत्मनं मन्यस्य जीवत्वं अन्यत्परमहर ॥ २७ ॥

जित्युण इन्द्रिय-सुह-दुहं जित्यु ण मन वावार ।

सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परि अवहार ॥ २८ ॥

भावार्थः— जिस शुद्ध आत्म स्वभाव में आकुलता रहित अतीन्द्रिय  
सुख से जो विपरीत जो आकुलता के उत्पन्न करनेवाले इन्द्रिय जनित  
सुख दुःख नहीं है । जिसमें संकल्प विकल्परूप मन के व्यापार भी नहीं  
है अर्थात् विकल्प रहित परमात्म से मन के व्यापार जुड़े है उस पूर्वोक्त  
लक्षण वालों को हे जीव, तू आत्माराम मान अन्य सब विभावों को  
छोड़ !

टीकाः— अनाकुलत्व लक्षण पारमार्थिक सौख्य विपरितान्याकुल-  
त्वोत्पादकानीन्द्रिय सुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्प परमात्मनो विलक्षणः  
संकल्पविकल्परूपो मनो व्यापारो नास्ति । सो अप्पा मुणि जीव तुहुं  
अण्णु परि अवहार तं पूर्वोक्त लक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्य नित्यानन्दैक-  
रूपं वीतराग निर्विकल्प समाधौ स्थित्वा जानीहि, हे जीव त्वम् अन्यपर-  
मात्म स्वभावाविपरीतं पञ्चेन्द्रिय विषय स्वरूपादि विभाव समूह परम-

उ दूरे सर्व प्रकारेणापहर त्यज । तात्पर्यार्थः । निर्विकल्प समाधी सर्वत्र  
 बीतराग विशेषणं किमर्थं कृतम् इति पूर्वपक्षः । परिहारमाह । यतएव  
 सन्तोः बीतरागस्तत एव निर्विकल्प इति हेतु हेतु मद् भावजापनार्थम्  
 अथवा ये सरागिणोऽपि सन्तो वयं निर्विकल्प समाधिस्थ इति वदन्ति  
 निषेधार्थम् अथवा श्वेतशंखवत्स्वरूप विशेषणमिदम् इति परिहारत्रयं  
 निदोष परमात्म शब्दादि पूर्वपक्षोऽपि योजनीयम् ॥ २८ ॥

**भावार्थः-** ज्ञानस्वरूप निज शुद्धात्मको निर्विकल्प समाधिमे स्थिर  
 होकर जान अन्य परमात्म स्वभाव से विपरित पांच इन्द्रियों के विषय  
 बगैरह सब विकार परिणामों को दूर से ही त्याग, उनका सर्वथा ही  
 त्याग कर । यहांपर किसी शिष्यने प्रश्न किया कि निर्विकल्प समाधिमे  
 सब जगह बीतराग विशेषण क्यों कहा है ? उसका उत्तर कहते है -  
 यहांपर बीतरागता है, वहीं निर्विकल्प समाधीपना है, इस रहस्य को  
 समझने के लिये अथवा जो रागी हुए कहते है कि हम निर्विकल्प  
 समाधि मे स्थित है उनके निषेध के लिये बीतरागता सहित निर्विकल्प  
 समाधि का कथन किया गया है । अथवा सफेद शंख की तरह स्वरूप  
 प्रकट करने के लिये कहा गया है अर्थात् जो शंख होगा, वह श्वेत ही  
 होगा उसी प्रकार जो निर्विकल्प समाधि होगी, वह बीतरागता रूप ही  
 होगी ॥ २८ ॥

गृहस्थे रामेद रत्नत्रयस्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेद रत्नत्रयात्मक  
 धावक धर्म कर्तव्यः यतिना तु रत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिक रत्नत्रयबलेन

स्वात्मस्थ स्वरूपं विश्व व्यापिरूपं

प्रमाण स्वरूपं अप्रमाण रूपम् ।

सर्वात्म स्वरूपं स्याद्वाच स्वरूपं

चिदानन्द रूपं नमो स्वरूप । ५ ॥

ध्यानातीत रूपं ध्यानमय रूपं

ज्ञानमय रूपं ज्ञेयातीत रूपम् ।

सदसदरूपं अस्तित्व स्ति रूपं

चिदानन्द रूपं नमो स्वस्वरूपम् ॥ ६ ॥

विशिष्ट तत्त्वचरण कर्तव्यं नो चेत् दुर्लभ परंपराया प्राप्तं मनुष्यजन्म निष्फलमिति ।

(अध्याय २ परमात्म प्रकाश - १३३)

अर्थ:- गृहस्थों को अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चय रत्नत्रय को उपदेय करके लक्ष्य में रख कर भेद रत्नत्रयात्मक अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयात्मक श्रावक धर्म-दान पूजादि पालन करने योग्य है । तथा यत्तियों को निश्चय रत्नत्रयात्मक अभेद रत्नत्रय में स्थित होकर व्यवहार रत्नत्रय के बल से विशेष तत्त्वचरण करने योग्य है । यदि उपरोक्त कर्तव्य श्रावक तथा मुनि पालन नहीं करते हैं तो दुर्लभ परंपरा से प्राप्त मनुष्य जन्म निष्फल जाता है

इसलिये श्रावक व्यवहार मोक्ष मार्गी है, मनी निश्चय मोक्ष मार्गी है ।

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं ।

क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाघनानामपि ।।

तस्मादेष तदन्धरज्जुबलनं स्नानं गजस्याथवा ।

मसौन्मत्तविचेष्टितं न हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ ४१ ॥

( आत्मानुशासन )

गृहस्थाश्रम विद्वज्जनों के भी चरित्र को प्रायः किसी सामायिक आदि शुभकार्यों में पूर्णतया धर्मरूप किसी विषय भोगादि रूप कार्य में पूर्ण तथा पाप रूप तथा किसी जिन गृहादि के निर्माणादि रूप कार्य में उभय ( पाप-पुण्य ) रूप करता है । इसलिये यह गृहस्थाश्रम अन्धे के रस्सी मांजने के समान अथवा हाथी के समान अथवा शराबी या पागल की प्रवृत्ति के समान सर्वथा हितकारक नहीं है ।

अनाद्यविद्या दोषोत्थ घतुःसंज्ञाश्वरातुराः ।

शशवत्स्वज्ञान विमुखाः सागारा विषयोन्मुखा ॥

( प. आशाधर - सा. ध. २१ )

अनादि कालीन अविद्यारूपी दोषों से उत्पन्न होनेवाली आहार-भय मैथुन परिग्रह रूपी संज्ञा ज्वर से पीडित निरन्तर आत्मज्ञान से विमुक्त

विषयों के मुख गृहस्थ होते हैं अर्थात् विषय भोगों में विशय रत के कारण उनका लक्ष नहीं जाता है ।

अमाद्यविद्यानुस्थूतां ग्रन्थसंज्ञामपासितुम् ।

अपराधन्तः सागाराः प्रायो विषय मूर्च्छिताः ॥

( पं. आशाधर - सा. घ. ३ )

अनादि कालीन अज्ञान के कारण परंपरा में आनेवाली परिग्रह विद्या को छोड़ने के लिये असमर्थ प्राय करके विषय भोगों में मूर्च्छित गृहस्थ होते हैं ।

महत्स लक्ष्मणं पुन धम्मं चित्तेइ भोय परिभुस्सो ।

चित्तिथ घम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिउछाये ॥

( भा. सं. - गा. ३६५ )

भद्र ध्यानी गृहस्थ जब तक धार्मिक शुभ क्रियायें करता है तब तक वह भोगोपभोग को त्याग करता है । इसलिये गृहस्थों की धार्मिक क्रियायें हस्तिस्नानवत् है । अर्थात् धार्मिक क्रियायों के समय में किंचित संवर और निर्जरा होती है परन्तु भोगोपभोग के समय आश्रय एवं बंध हो जाता है ।

पञ्चम गुणस्थानवर्ती गृहस्थों को होने योग्य ध्यान-

अह्माउहं ज्ञानं महं आस्थिति तमिह गुणठाणे ।

बहु आरम्भ परिगाहु जुत्तस्त च णस्वि त धम्मं ॥

( भा. सं. - गा. ३५७ )

न कर्मो नो कर्म न रागादि रुपं

न लेश्या न योग न भोगादि रुपम् ।

न वर्णं न बन्धं न रसादि रुपं

चिदानन्द रुपं तसो स्वस्वरुपम् ॥ ७ ॥

न पुण्यं न पापं न जन्मं न मृत्युं

न मित्रं न मित्रं न शिष्यं न गुरुम् ।

न दीनं न हीनं न बृद्धो न बालो

चिदानन्द रुपं तसो स्वस्वरुपम् ॥ ८ ॥

इस पंचम गुणस्थान में आर्त-रीद्र ध्यान एवं भद्र ध्यान होता है। श्रावक बहु आरम्भ और परिग्रह से सहित होने के कारण उनको बर्ष ध्यान नहीं होता है।

गिह वावार रयाणं गेहीणं इन्द्रियस्थं परिकल्पितं ।

अवृज्जाणं जायइ रुद्धं वा भोह छण्णाणं ॥

साणेहि तेहि पाखं उप्पण्णं तं लसइ मद्द साणेण ।

जीवो उवसम जुत्तो देसजई णाण संपण्णो ॥

( भा. सं. - गा. ३६३-३६४ )

कृषि वाणिज्यादि व्यापार करनेवाले गृहस्थों को नाना प्रकार के इन्द्रिय मोहक पदार्थ विषयमें आर्त ध्यान उत्पन्न होता है। मोह से गुल्ल गृहस्थों को रीद्र ध्यान भी होता है। पर दोनों ध्यान से उत्पन्न पाप को उपशमानेवाले एवं ध्यान संपन्न श्रावक भद्रध्यान के माध्यम से नाश करता है।

अमुह कम्मस्स णासो सुहरस वा हवेइ केणुवाएण ।

इय चित्तं तस्स हवे अपाय विचयं परं ज्ञाणं ॥

( भा. सं. - गा. ३६८ )

अशुभ कर्म का नाश होकर शुभ कर्मों की प्राप्ति किन उपायों से होगी ऐसा विचार करनेवाला गृहस्थ अपाय विचय नामक धर्म ध्यान का स्वामी होता है।

मुक्खं धम्मज्जाणं उत्तं तु पमाय विरहिए ठाणे ।

वेश विरए पमत्ते उवयारेणेष णायव्व ॥

( भा. सं. - गा. ३७१ )

यह चार प्रकार का धर्मध्यान मुख्य रीति से अप्रमत्त गुणस्थान में होता है। एवं देश विरत और प्रमत्त विरत इन दोनों गुणस्थानों से उपचार से धर्म ध्यान होता है ऐसा जानना चाहिये।

सेतु सुद्धो भावो तस्सुवळंभो य होई गुणठाणे ।

पणव्ह पमाव रहिये सयलवि चारित्त जुत्तस्स ॥

( भा. सं. - गा. ६ )

जो शुद्ध भाव सेवन करने योग्य है। उसकी प्राप्ति पन्द्रह प्रकार के प्रमाण से रहित सकल चारित्र्य से युक्त अप्रमत्त विरत गुणस्थान में होती है।

इन्द्रिय विसर्ग विरामे मणस्त णिल्लूरणं हवे जइया ।

तइया तं अबिअप्प सप्पकूवे अप्पणो तं तु ॥

( तत्त्वसार — गा. ६ )

जब इन्द्रिय विषयों से विरक्त हुआ मन स्थिरता को प्राप्त होता है तब निर्विकल्प तत्त्व अपने स्व स्वरूप में स्थिरता को प्राप्त होता है।

समणे णिच्चल भूये णठ्ठे सव्वे विट्ठप्प संबोहे ।

धक्को सुद्ध सहाधो अबियप्पो णिच्चलो णिच्चो ॥

( तत्त्वसार — गा. ६ )

सर्व विकल्प समूह नाश होनेपर एवं मन स्थिर होनेपर निर्विकल्प स्थिर, निश्चय, नित्य अर्थात् शाश्वत ऐसा जो शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है।

ध्याता का लक्षण:-

मा मुज्जह मा रज्जह मा बुस्सह इट्ठाणिठ्ठ अठ्ठेसु ।

स्थिर मिच्छहि जह् चित्तं विचित्त माणप्प सिद्धीए ॥

( द्र. सं. — गा. ४८ )

हे भव्य जनों ! यदि तुम न.ना प्रकार के ध्यान अथवा विकल्प रहित ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो

न देवं न नरं न नारकी रूपं

न लिंग नालिंग लिंगासीतरूपम् ।

न आद्यं न मध्यं न अन्तं न शून्यं

चिदानन्द रूपम् नमो स्वस्वरूपम् ॥ ९ ॥

निर्वण्डं निवृण्डं निर्मम् निर्वोषं

निक्षोभ निष्काम मयासीत रूपम् ।

अक्षयं अनन्तं गुणाधीश रूपं

चिदानन्द रूपं नमो स्वस्वरूपम् ॥ १० ॥



इष्टानिष्ट रूप जो इन्द्रियों का विषय है उनमें राग-द्वेष और मोह को मत करो ।

समस्त राग-द्वेष-मोह से उत्पन्न हुए विकल्पों के समूह से रहित जो निज परमात्मा के समूह की भावना से उत्पन्न हुआ परमानन्द रूप एक लक्षण सुखामृत रस उससे उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख के आस्वादन में तत्पर हुए जो मग्न हुई परम कला अर्थात् परम सच्चित्ति है । उस में स्थित होकर हे भव्य जीवो ! मोह-राग-द्वेष को मत करो ।

**शंका:—** किन्तु मे राग-द्वेष-मोह मत करो ?

**समाधान:—** माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बूल आदिरूप जो इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष-मोह मत करो । यदि तुम परमात्म के अनुभव में निश्चल चित्त को जानना चाहते हो तो नाना प्रकार जो ध्यान है उसकी सिद्धि के लिये चित्त से उत्पन्न होनेवाला शुभाशुभ विकल्पों का समूह जिसमें विचिन्त ध्यान, उस विचिन्त ध्यान अर्थात् निर्विकल्प ध्यान के लिये राग-द्वेष-मोह मत करो ।

इष्ट विद्योग-अनिष्ट संयोग रोग को दूर करने तथा भोगोपभोगों के कारणों की इच्छा रखने रूप भेदों से चार प्रकार का आर्त ध्यान है । यह आर्त ध्यान न्यूनाधिक भाव से मिथ्यादृष्टी गुणस्थान को आदि लेकर प्रसन्न विरत गुणस्थान पर्यन्त जो छह गुणस्थान है उनमें रहनेवाले जीवों के होता है । और यह आर्त ध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टी जीवों के निर्ग्रन्थ गति के बन्ध का कारण होता है तथापि जिस सम्यग्दृष्टी ने पहले तिर्यच गति की आगु को बांध लिया है उस सम्यग्दृष्टी जीव को छोड़कर अन्य जो सम्यग्दृष्टी जीव है उनके तिर्यच गति के बन्ध का कारण नहीं है । क्योंकि सम्यग्दृष्टी जीवों के निज शुद्धात्मा के ग्रहण करने की भावना के बल से तिर्यचगति का वारणरूप जो संक्लेश भाव है उसका अभाव है ।

हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द या विषयसंरक्षणानन्द के भेद से रौद्र ध्यान चार प्रकार का है । यह न्यूनाधिक भाव से मिथ्यात्व गुणस्थान से पंचम गुणस्थान पर्यन्त रहनेवाले जीवों के उत्पन्न

है। यह रौद्र ध्य न मिथ्यादृष्टी जीवों के लिये नरकगति का कारण तो भी जिस सम्यग्दृष्टीने नरकभु बन्ध की है उसको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टीयों को नरकगति का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टीयोंके लिये शुद्धात्मा ही उपादेय है। इसलिये विशिष्ट ध्यान के बल से नरकगति का कारणभूत जो तीव्र संक्लेश नहीं होता है।

आज्ञा विचय - अपाय विचय - विपाक विचय एवं संस्थान विचय ये चार भेदों से भेद को प्राप्त हुआ धर्म ध्यान न्यूनाधिक वृद्धि के क्रम में अविरत सम्यग्दृष्टी, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुण-मानवर्ती जीवों को उत्पन्न होता है। मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्ध कारणमपि परंपरया भुवित कारणं चेति धर्मध्यानं । यह धर्मध्यान मुख्यरूप से पुण्य बन्ध का कारण है तो भी परंपरा से मोक्ष का कारण है।

**आज्ञाविचय धर्मध्यान—**

अल्प वृद्धि का धारक विशेष ज्ञान के धारी गुरुके अभाव में शुद्ध जीवादि पदार्थों की सूक्ष्मता होने पर भी जिनदेव के आज्ञानुसार तत्त्वों को ग्रहण करना अर्थात् श्रद्धान रखना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुर्निर्यस्य हन्यते ।

आज्ञा सिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथा वावितो जिनाः ॥

श्री जिनदेव का कहा हुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतु अर्थात् तर्क से खंडित नहीं हो सकता। इसलिये जो सूक्ष्म तत्त्व है उसको आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जिनेंद्रदेव अन्यथावादी अर्थात् झूठा उपदेश नहीं देनेवाले है। इसलिये भगवान की वाणी को प्रमाण मानकर जो पदार्थों का निश्चय करता है। इसे आज्ञा विचय नामक धर्मध्यान कहते हैं।

**अपय विचय धर्मध्यान -**

भेद तथा अभेदरूप रत्नत्रय की भावनाके बल से अपने अथवा अन्य

ज्ञानमय सुखाकरं चैतन्य विभूः सर्वज्ञम् ।

मम सर्वस्य गुरु प्रभु पिता माता नमाम्यहम् ॥ ११ ॥

जीवों के कर्मों के नाश का विचार करना अर्थात् वर्तमान में इन प्रा-  
प्त हुए दुःखों से छुटकारा कब मिलेगा इस प्रकार जो विचार करता  
उसको अपाय विचय नामक धर्मध्यान जानना चाहिये

### विपाक विचय धर्मध्यान—

शुद्ध निश्चय नय से यह जीव अशुभ कर्मों के उदय से रहित  
तो भी अनादी कर्मों के बन्ध के बश से पाप के उदय से नारकादि गति-  
में दुःखरूप विपाकरूप फल का अनुभव करता है। और पुण्योदय से देवा-  
गतियों में सुखरूप विपाक को भोगता है। उस प्रकार कर्म फल-विपा-  
क का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

### संस्थान विचय धर्मध्यान—

ऊपर कही हुई जो लोकानुप्रेक्षा का चित्त न करता है वह संस्थान  
विचय नामका धर्मध्यान है।

इस प्रकार चार प्रकार का धर्मध्यान होता है।

### पृथक्त्ववितर्क वीचार शुक्ल ध्यान—

द्रव्य-गुण और पर्याय इनका जो जुदापना है उसको पृथक्त्व कहते  
हैं। निज शुद्धात्मा का अनुभव रूप भावश्रुत अथवा निज शुद्धात्मा को  
कहनेवाला जो अन्तरंग वचन है वह वितर्क कहते हैं। निरीहवृत्ती से  
अर्थात् बिना इच्छा किये अपने आप ही जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में  
एक वचन से दूसरे वचन में और मन-वचन-काय इन तीनों योगों में  
एक योग से दूसरे योग में जो परिणमन है उसको वीचार कहते हैं। त्याग  
करनेवाला निज शुद्धात्मा के ज्ञान को छोड़कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता  
नहीं करता अर्थात् निज आत्मा का ध्यान करता है। तथापि जितने  
अंशों से उसके आत्मा में स्थिरता नहीं है उतने अंशों में अनिहित वृत्ति  
से विकल्प उत्पन्न होते हैं इस कारण से इस ध्यान को पृथक्त्ववितर्क  
वीचार ध्यान कहते हैं।

यह प्रथम शुक्ल ध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा से अपूर्वकरण  
उपशमक, अतिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्म सांपराय उपशमक और उप-  
शान्त मोह इन आठवा-नवमा-दसवा ग्यारहवां पर्यंत जो चार गुणस्थान

उनमें होता है। और क्षपक श्रेणी की विवक्षामें अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक, और सूक्ष्म सांपराय क्षपक नाम के धारक जो आठवें से दसवें तक तीन गुणस्थान हैं ! इनमें होता है।

### एकत्ववितर्क वीचार शुक्लध्यान—

आत्म द्रव्य में अथवा विकार रहित जो आत्मा का मुख है उससे अनुभव पर्याय में अथवा उपाधि रहित निज आत्मा का जो ज्ञात गुण है इसमें उन तीनों में से जिस एक द्रव्य-गुण या पर्याय में ध्यानी प्रवृत्त हो गया उस में वितर्क नामक जो निजात्मानुभव रूप भावश्रुत का बल है। उससे स्थिर होकर जो वीचार अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय में परावर्तन करता है वह एकत्व वितर्क वीचार, क्षीण कषायवर्ती गुणस्थान में होनेवाला शुक्लध्यान है।

### सूक्ष्मक्रिया प्रतिपात्ति शुक्लध्यान—

यह उपचार से सयोग केवली जिन नामक तेरहवें गुणस्थान में होता है।

### व्युपरतक्रिया निवृत्ति-शुक्लध्यान—

विशेषता करके उपरत अर्थात् दूर हुई है क्रिया जिसमें वह व्युपरत क्रिया है। व्युपरत क्रिया हो या अनिवृत्ति अर्थात् निवर्तक न हो वह व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान है। और अव्यात्म भाषा से सहज शुद्ध परम चैतन्य से शोभायमान तथा निर्मल आनंद के समूह को धारण करनेवाला जो भगवान् निज आत्मा है उसमें उपादेय बुद्धि करके अर्थात् निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसे बुद्धि को करके फिर जो “मैं अनंतज्ञान का धारक हूँ, मैं अनंत सुख का धारक हूँ” इत्यादि भावनाको करता है। इस रूप अन्तरंग धर्मध्यान कहा जाता है और पंचपरमेंढीयों की भक्ति को आदिसे उसके अनुकूल जो शुभ अनुष्ठान का करना है वह बहिरंग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज शुद्ध आत्मा में विकल्प रहित ध्यान रूप लक्षण का धारक शुक्लध्यान है। अथवा मंत्र वाक्य में—

पंचम काल में क्या भावश्रुतकेवली हो सकते हैं ?

जो हि सुदेणभिगच्छन्ति अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।  
तं सुद्धं केवलमिमिस्सिणो भणन्ति लोक्कप्पदीवयरा ॥

( स. सा. - गा. १० )

**तात्पर्यवृत्तिः—**यः कर्ता भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्प समधि-  
ना करणभूतेन अभिसमंजजानात्यनुभवति कं आत्मान इमं प्रत्यक्षीभूतं  
पुनः किं विशिष्टं असहायं रागादि रहितं पुरुषं निश्चयश्रुतं केवलिनं परम-  
श्रुषयः कथयन्ति लोक प्रदीप कराः लोक प्रकाशकः इति । अनया गायत्र्या  
निश्चयश्रुतं केवलं लक्षणं । अथ यः कर्ता द्वादशांग द्रव्यश्रुतं सर्वं परिपूर्णं  
जानाति व्यवहार श्रुतकेवलिनं तं पुरुषं आहु श्रूयन्ति के ते ? जिनाः  
सर्वज्ञाः ।

कस्मादिति चेत् यस्मात् कारणात् द्रव्यश्रुताभ्यारेणोत्पन्नं भावश्रुत-  
ज्ञानं आत्मा भवति कथंभूतं आत्म सन्निति विषयं परमरिच्छित्ति विषयं  
वा तस्मात् कारणात् द्रव्यश्रुतं केवलं स भवतीति ।

**अयमत्रार्थः—**यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदन ज्ञानेन शुद्धात्मानं जानाति  
स निश्चय श्रुत केवलं भवति । यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदति न भाव-  
यति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहार श्रुतकेवलं भवतीति ।

ननु तर्हि स्वसंवेदन ज्ञानबलेनास्मिन् कालेपि श्रुतकेवलं भवति ?  
तत्र यादृश पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं  
नास्ति किंतु धर्मध्यान योग्यमस्तित्यर्थः ।

( स. सा. त. पृ. १० )

जो द्वादशांग के द्वारा अपनी शुद्धात्मा को अपने अनुभव में लाता  
है उसे सर्वज्ञ भगवान् निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं । और उसी श्रुतज्ञान  
के द्वारा जो संपूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्यश्रुत  
केवली कहते हैं ।

जो जीव कर्ता ( करणता ) को प्राप्त हुए निर्विकल्प समाधिरूप  
स्वसंवेदन ज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव में लाता  
है, उस प्रत्यक्षीभूत अपनी आपकी आत्मा को सहाय रहित अर्थात् निरा-  
लम्ब, रागादि रहित अनुभव में लाता है उस पुरुष को निश्चय श्रुत

केवली कहते हैं। कौन कहते हैं ? लोकालोक के प्रकाशक परम ऋषी कहते हैं। इस प्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चय श्रुत केवली का लक्षण देखा गया है।

किंतु जो पुरुष द्वा शंग द्रव्यश्रुत ज्ञान को परिपूर्ण रूप जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्यश्रुत केवली कहते हैं। क्योंकि द्रव्यश्रुत के आधार के उत्पन्न हुआ जो भवश्रुत है वह आत्मा ही है जो कि आत्मा की सौंदर्य को विषय करनेवाला और पर की परिच्छिन्ति को विषय कहने वाला होता है इसलिये वह द्रव्यश्रुत केवली होता है। इसका अग्रिप्राय यह हुआ कि जो भावश्रुत रूप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा केवली अपनी शुद्धात्मा को जानता है वह निश्चय श्रुत केवली होता है। किंतु जो अपनी शुद्धात्मा का अनुभव नहीं कर रहा है न उसकी भावना कर रहा है। केवल वह विषयक द्रव्यश्रुत के विषयभूत पदार्थों को जाना है वह व्यवहार श्रुत केवली होता है।

इस पर शिष्य कहता है कि—

शकाः— फिर तो स्वसंवेदनज्ञान के बल से इस काल में भी श्रुत केवल हो सकता है ऐसा समझना चाहिये क्या ?

समाधानः— इसका समाधान यह है कि, इस काल से श्रुत केवली नहीं हो सकता है। क्यों कि जैसा शुक्लध्यानात्मक स्वसंवेदन ज्ञान पूर्व पुरुषों को होता था वैसा इस समय नहीं होता है। किन्तु इस काल में तो यथा योग्य धर्मध्यान ही हो सकता है।

जोइय अपों जाणिण जगु जाणियउ हवेइ ।

अप्पहं केरइ भावडइ विविउ जेण वसेइ ।

( म. प्र. अध्या. २ — गा. १९ )

जोइय अपों जाणिण हे योगिन आत्माना ज्ञातेन । किं भवति । जगु जाणियउ हवेइ जगम् विभूतं ज्ञातं भवति । कस्मात् । अप्पहं केरइ भावडइ विविउ जेण वसेइ आत्मनः संबन्धिनि भावे केवलज्ञान पर्याये विम्बितं प्रतिविम्बितं येन प्रकारेण वसति तिष्ठतीति ।

अयमर्थः— स्वरूप ज्ञातं भवति । कस्मात् । यस्माद्वाच्यं पाण्डवादीनां

महापुरुषा जित दीक्षा गृहीत्वा द्वादशांग पठित्वा द्वादशांगध्ययन फलभूत निश्चय रत्नत्रयात्मके परमात्म ध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानेन निजात्मा ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा निर्विकल्प समाधि समुत्पन्नपरमानन्द सुखरसास्वादे जातो सति पुरुषो जानाति किं जानाति । वेचि मम स रूपमव्ययेह रागादिक परमिति तेन कारण-नात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति । अथवा आत्मा कर्म श्रुतज्ञान रूपेण प्राप्ति ज्ञानेन करणभूतेन सर्वं लोकालोक जानाति तेन कारणेनात्माति ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा वीतराग निर्विकल्प विशुद्धी समाधि बलेन केवलज्ञानोत्पत्ति बीजभूतेन केवलज्ञाने जाते स्मति दर्पणे बिम्बवत् सर्वं लोकालोक स्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञानं भव-ताति । अभेद व्याख्यान चतुष्टयं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तर परिस्रष्ट त्याग कृत्वा सूर्य तात्पर्येण निज शुद्धात्म भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ।

हे योगी ! एक अपने आत्मा के जानने से यह तीन लोक जाना जाना है । क्योंकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ है, बस रहा है ।

भावार्थः— वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानसे शुद्धात्म तत्त्व के जानने पर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है । क्योंकि जैसे रामचंद्र पांडव, भरत रंगर आदि महान पुरुष भी जिन दीक्षा लेकर फिर द्वादशांग को पढ़कर द्वादशांग पढ़ने का जो फल निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जो शुद्ध परमात्मा उसके ध्यान में लीन हुए विष्ट है । इसलिये वीतराग स्वसंवेदन जानकर अपने आत्माका जानना ही सार है । आत्मा के जानने से सबका जानपना सफल होता है । इस कारण जिन्हो ने अपनी आत्मा जानी उन्होने सब को जाना । अथवा निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुखरस उसके आस्वाद होने पर जानी पुरुष ऐसा जानता है, कि मेरा स्वरूप जुदा है । और देह रागादिक मेरे से दूसरे है मेरे नहीं है । इसलिये आत्मा के जानने से सब भेद जाने जाते है, जिसने अपने को जान लिया उसने अपने से भिन्न सब पदार्थ जाने । अथवा आत्माश्रुतज्ञानरूप सब लोकालोक को जानता है । इसलिये आत्मा के जानने से सब जाना गया । अथवा वीतराग-निर्विकल्प परमसमाधि के

से केवलज्ञान को उत्पन्न करके जैसे दर्पण में घटपटादि पदार्थ झलकते हैं उसी प्रकार ज्ञान रूपी दर्पण में सब लोकालोक भासते हैं। इससे यह बात निश्चय हुई कि आत्मा के जानने से सब जाना जाता है।

यहाँपर सारांश यह है कि इन चारों व्याख्यानों का रहस्य जानकर बाह्य अभ्यन्तर सर्व परिग्रह छोड़कर सर्व तरङ्ग से अपने शुद्धरसा की भावना करनी चाहिये।

अथ केवलज्ञान श्रुतज्ञानितोरवि शेष दर्शनेन विशेषाकांक्षा क्षोभं क्षययति—

अथ केवलज्ञानी तथा श्रुतज्ञानों के अविशेष दिखलाते हुए विशेष आकांक्षा के क्षोभ को नष्ट करते हैं।

जो हि सुदेण विजाणायि अप्पणं जाणां सहावेण ।

त सुयकेवलिनिसिणो भणन्ति लोपप्पदीवयरा ॥

( प्रवचनसार — ३३ )

जो वास्तव में श्रुतज्ञान से (निर्विकल्प रूप भावश्रुत परिणाम से) स्वभाव से जायक स्वभावी आत्म द्रव्य को जानता है। लोक के प्रकाशक ऋषीगण उसको श्रुतकेवली कहते हैं।

या कर्ता स्फुटं निर्विकारस्वं स्वसंवित्ति रूपा भाव श्रुत परिणामेन विजानाति विशेषण जानाति । विषय सुखानन्द विलक्षण निज शुद्धात्मोत्थपरमानन्दक लक्षण सुखरसास्वादेनानुभवति । कम् । निजात्म द्रव्यं कथयति । जायक केवलज्ञान स्वरूपं । केन कृत्वा । समस्त विभावरहित स्वस्वभावेन । तं महायोगीन्द्र श्रुतकेवलिनं कथयन्ति । के कर्तारः । ऋषयः । किं विशिष्टाः । लोकप्रदीपकराः लोकप्रकाशकाः इति । अतो विस्तरः— युगपत् परिणत समस्त चैतन्यशालिनः केवलज्ञानेन अनाद्यनन्त निःकारणान्यद्रव्यासाधारण स्वसंवेद्यमान परम चैतन्य सामान्य लक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवल य त्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान्केवली भवति, तथायं गणधरदेवादि निश्चय रत्नत्रयाराधकजनोपि पूर्वोक्त लक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनानिश्चयाश्रुत केवली भवतीति । किंच यथा कोपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति रात्रौ किमपि



प्रदीपेनेति । तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवस स्थानीय मोक्ष पर्याये भगवानात्मानं पश्यति । संसारी विवेकजनः पुनर्निजास्थानीय संसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादि-विकल्प रति परम समाधिना निजात्मानं पश्यतीति । अथमत्राभिप्रायः आत्मोपरोक्षः कथं ध्यान क्रियते इति सन्देहं कृत्वा परमात्म भावना न त्यज्यति ।

( प्र. सा. ता. वृ. गा. ३३ पृ. ७८ )

जो कोई पुरुष निश्चय से निर्विकार स्वसंवेदन रूप भावभ्रुत रूप परिणाम के द्वारा समस्त विभावों से रहित स्वभाव से ही जायक अर्थात् केवलज्ञानरूप निज आत्मा को विशेष करके जानता है । अर्थात् विषयों के सुख से विलक्षण अपने निज शुद्धात्मा की भावना के बल में पैदा होने वाले परमानन्द मधी एक लक्षण को रखनेवाले सुख रस के आगवाह में अनुभव करता है । लोक के प्रकाशक वही उस महायोगीन्द्र को श्रुत-केवली कहते हैं ।

इसका विस्तार यह है कि एक समय में परिणामन करनेवाले सर्व चैतन्यशाली केवलज्ञान के द्वारा आदि अन्त में रहित अन्य किसी कारण के बिना दूसरे द्रव्यों में न पाईये ऐसे असाधारण अपने आपसे अपने में अनुभव करने योग्य परम चैतन्य रूप सामान्य लक्षण को रखनेवाले तथा परद्रव्य से रहितपने के द्वारा केवल ऐसे आत्मा का आत्मा से स्वानुभव करने से जैसे भगवान् केवली होते हैं वैसे ही यहाँ गणवर आदि निश्चय रानत्रय के आराधक पुरुष भी पूर्व में कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी श्रुत ज्ञान के द्वारा अनुभव करने से श्रुतकेवली होते हैं । प्रयोजन यह है कि जैसे कोई एक देवदत्त नाम का पुरुष सूर्य का उदय होने से दिवस में देखता है और रात्रि में भी दीपक के द्वारा कुछ देखता है, वैसे सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान के द्वारा दिवस के समान मोक्ष अवस्था के होते हुए भगवान् केवली आत्मा देखते हैं और संसारी विवेकी जीव रात्रि के समान संसार अवरथा में दीपक के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि के द्वारा अपनी आत्मा को देखते हैं । अभिप्राय यह है कि आत्मा परीक्ष है उसको ध्यान कैसे किया जाय ऐसा सन्देह करके परमात्मा की भावना को नहीं छोड़ देना चाहिये ।

सयलागम पार गया सुब केवलिंगाम सुष्पसिद्धा जे ।

एवाण बुद्धि रिद्धि ओद्दसपुव्वित्त णामेण ॥

( ति. प. अ. ४ गा. १००१ )

जो महर्षि संपूर्ण आगम के पारंगत है और श्रुत केवली नाम से प्रसिद्ध उनके चौदह पूर्व नामक ऋद्धि बुद्धि होती है ।

जमो चोद्दस पुव्वीपाणं ॥ १३ ॥ ध. ४-१-१३

“ सयलसुदणाण धारिणो चोत्रसपुव्विणो ” अर्थात् चौदह पूर्व के धारियों को नमस्कार हो । समस्त श्रुत ज्ञान के धारक चौदह पूर्वी कहे जाते हैं ।

जो चौदह पूर्व के धारक महामुनि होते हैं, वे मिथ्यत्व को प्राप्त नहीं होते हैं और उस भ्रम में असंयम को भी प्राप्त नहीं करते हैं ।

श्रुतकेवली भावलिङ्गी चौदह पूर्व धारी महामुनी ही होते हैं ! संयम रहित चौदह पूर्व धारी भी श्रुतकेवली नहीं होते हैं । जैसे कोई देव चौदह पूर्व के धारी धार्मिक स यद्दृष्टी होते हुये भी वे श्रुत केवली नहीं हो सकता है । क्योंकि उनके संयम का अभाव है । जो महामुनि भावश्रुत के माध्यम से स्वसंवेदन ज्ञान रूप निर्विकल परमसमाधि के बल से आत्मा को सम्पूर्ण ओर से जानता है, अनुभव करता है, भले

बुराग्रही एवं सत्याग्रही—

आग्रही बत निनीषति युक्ति यत्र तत्र मतिरस्य निविष्ट ।

पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशन ॥

बुराग्रही मनुष्यने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युक्ति को ।

उसी ओर ले जाना चाहता है, किन्तु जो आग्रह से रहित

होकर निष्पक्ष दृष्टी से विचार करना चाहता है वह युक्ति

का अनुसरण करके उसके उपर विचार करता है, और

तदनुकूल वस्तुस्वरूप का निश्चय करता है ।

बुराग्रही “ Mine is Right ” मानता है ।

सत्याग्रही “ Right is Mine ” मानता है ।

वह सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के ज्ञान का ज्ञाता नहीं होते हुए भी वह भावश्रुत का ज्ञाता होता है । परन्तु सांप्रतिक पचम काल में शुक्ल ध्यान रूप निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है इसलिये वर्तमान में कोई भावश्रुत केवली भी नहीं है । उसी प्रकार द्रव्यश्रुत केवली भी नहीं है । पचम काल में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुये है । उसके बाद श्रुतकेवली रूप सूर्य का अस्त हो गया । शुभोपयोगी रूप श्रुतकेवली नहीं है । क्योंकि शुभोपयोगी निर्विकल्प परम समाधि में लीन होकर आत्मा को पूर्ण रूप अनुभव नहीं कर सकता है ।

**शुभ क्रियाओं से कर्म निर्जरा—**

आपासयाद् कर्मं, विज्जावच्चं च वाण पुजाद् ।

ज कुण्ड सम्मादृष्टी, तं सख्य निज्जरा निमित्तं ॥

देव वन्दनादि सामायिक कर्म मुनियों की सेवादि, दान कर्मादि जो शुभ क्रियायें सम्यग्दृष्टी जीव करते हैं उससे कर्म की निर्जरा होती है ।

समत्तुप्पत्ती वि य सावय विरये अणंत कम्मसे ।

दंसव मोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसते ॥

खवये य खीण मोहे जिणे य णियमा हवे असंज्जा ।

तव्विवरिओ कालो संखेज्ज गुणाए सेवीए ॥

तीनों करणों के अन्तिम समय में वर्तमान विशुद्ध मिथ्यादृष्टी जीव के जो गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य है उससे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी निर्जरा होनेपर असंयत सम्यग्दृष्टी में प्रति समय होनेवाली गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है । उससे देश विरति के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है । उससे सकल संयमी के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है । उससे अनन्तानुबन्धी कि संयोजना करनेवाले के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है । उससे दर्शन मोह की क्षयणा करनेवाले जीव के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है । उससे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती उपशम जीव के गुण श्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है । उससे उपशान्त कषाय जीव के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुण है । उससे अपूर्वकरण

अदि तीन गुणस्थानवर्ती क्षपक जीव के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे क्षीण मोह जीव के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे स्वस्थान केवली जिन के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे समुद्धात केवली जिन के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है ।

परन्तु गुणश्रेणी आयाम का काल इसमें विपरीत है अर्थात् समुद्धात केवली से लेकर विजुह मिथ्यादृष्टी तक काल क्रम से असंख्यात गुणा है ।

( भो. जी. - धवल - ज. ध पु. १- पृ. ९७ )

भावार्थ:-इस उपरोक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि मिथ्या-दृष्टीसे सम्यग्दृष्टी असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है । और अविरत सम्यग्दृष्टीसे देश सयत गुणस्थानवर्ती जीव असंख्यात गुणीत कर्म निर्जरा करता है । और इनसे एक एकलसंयमो असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है । मुख्यरूप से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती से लेकर सातवां गुणस्थान पर्यंत शुभध्यान है । अतः यदि शुभध्यान से कर्म निर्जरा नहीं होती है ऐसा माननेपर आगम विरोध होगा । आगम त्रिकाल अबाधित सत्य है कभी अन्यथा नहीं हो सकता है ।

अतः सिद्ध हुआ कि उत्तरोत्तर शुभध्यान (शुभोपयोग) से अधिकाधिक कर्म निर्जरा होती है ।

“ पर मोक्ष हेतु ” !

( त. सू. अध्याय - ९ )

आगे के दो शुभ और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण है ।

उपरोक्त गुणस्थान में शुभ प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध उत्तरोत्तर

चार चरमोत्कृष्ट-

ज्ञानं दुर्गतिनाशाय शीलं सद्गतिकारणं ।

तपः कर्मविनाशाय भावना भवनाशिनी ॥

ज्ञान से नरकादिकुगति नाश होता है, शील से सद्गति मिलती है

तपः से कर्मनाश होता है, भावना से भवनाश होता है ।

बढ़ती जाती है । यदि पुण्य प्रकृति सर्वथा संसार का कारण होता है तो उत्तरोत्तर गुणस्थानवर्ती जीव अधिकाधिक जीवं संसारी होने अतः पुण्य संसार का कारण कहना आगम विरोध है । जिन भगवान् कि मुख निकली हुई द्वादशांग वाणी में भुनियों को मुख्य करके आचारांग वर्णन है । और यथायोग्य धर्म को धारण करनेवाले गृहस्थों के लिए उपासकाध्ययन अंग का वर्णन है, जो कि शुभ ध्यान स्वरूप है, पुण्य बन्ध का कारण है ! यदि शुभ क्रियाओं से सिर्फ पुण्य बन्ध ही होता है तो संसार काही कारण है तो क्या जिन भगवान् के मुख से निकली हुई वाणी संसार का कारण है ? क्या जिन भगवान् अनन्त दुःख स्वप्न संसार में परिभ्रमण कराना चाहते हैं ? अतः पुण्य संसार का कारण कहना हेय करना यह जिन भगवान् के वाणी या श्रुत का अवर्णन है ।

पुण्य प्रकृति शुभध्यान से अथवा आदि के तीन शुक्लध्यान से भी नष्ट नहीं होता है । केवल अयोग गुणस्थानवर्ती के चरम समय में नष्ट होता है उसके पहले नहीं ।

सातावेदनीय उत्कृष्टाणुभागं वन्धिय क्षीणकसाय सयोगि-अयोगि गुणठ्ठाणाणि उवगयरथ वेयणीय उत्कृष्टाणुभागो एदेसु गुणठ्ठाणेषु लब्धदि ।

साता वेदनीयके उत्कृष्ट अनुभाग को वांश्चकर क्षीण कसाय सयोगि और अयोगी गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के इन गुणस्थानों में वेदनीय का उत्कृष्ट अनुभाग पाया जाता है ।

( ज. व. पु. ४ पृ. १७ )

सुभाणं कम्मणमणुभाग घादो णत्थि ।

शुभ कर्मों का अनुभाग घात नहीं होता है ।

( घ. पु. १ पृ. २७२ )

शुभोपयोग का स्वरूप:-

दब्धत्थिकाय धप्पण तच्च पयत्थेसु सत्त णवर्मेसु ।

दब्धण मोक्खे तवकारणस्से आरसणुषेवस्से ॥

न्ययनस्य स्वरूपे अज्ञाकम्भो दयादि सद्गम्ये ।

इच्छेय माङ्गे जो लट्टवि सो होवि सुहृन्भावो ॥

छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ, संसार और इसके कारणरूप आश्रयवन्ध और मोक्ष के कारण स्वरूप संवर-निर्जरा-भारह अनुप्रेक्षा-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-स-यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रय धर्म, आदि कर्म ( शुभ कर्म, श्रावक और मुनि के यथायोग्य षडावश्यक दान पुजादि सद्गम्ये इत्यादि रूप जो उपयोग है वह शुभभाव है ।

( रथणसार - ६४-६५ )

साता पुण्यश्रव वेदनीय आश्रव के कारण-

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा ।

वैयावृत्यं विनीतिश्च जिन पूजार्जवं तथा ॥

सराग संयमश्चैव संयमासंयमस्तथा ।

भूत व्रत्यनुकंपा च सद्देष्टासाध हेतवः ॥

( गा. - २५-२६ )

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, इन्द्रिय, दमन, क्षमा, वैयावृत्ति विनयता, जिन पूजा, सरलता तथा सराग संयम, संयमासंयम, जीव, दया आदि साता वेदनीय के कारण है । यदि शुभोपयोग को धर्म नहीं मानेंगे तो उपरोक्त समस्त गुणों का अभाव हो जायेगा । जिस से व्यवहार तीर्थ का विच्छेद होगा । व्यवहार तीर्थ का विच्छेद होने से धर्म का लोप होगा । धर्म के लोप से इह लोक सुख स्वर्गादि अम्पुदय सुख लोप होगा ।

सिद्धान्त कौनसा श्रावक पढ़ सकता है ?

सम्यक्त्व व्रतसंयुक्ता आदकः शीलधारिभिः ।

पठनीयं मुसिद्धान्तं रहस्ये न विना हि तत् ॥

जो श्रावक सम्यक्त्व सहित है, व्रतों का पालन करनेवाला है

शीलसम्पन्न है वह सिद्धान्त शास्त्र रहस्य स्वशा को पढ़

सकता है । यदि उपरोक्त गुणों से रहित है तो सिद्धान्त

शास्त्रको नहीं पढ़ना चाहिये ।

इ ना ही नहीं नीति नियम सदाचार का लोप होने से देश, राष्ट्र समाज परिवार में अन्याय, दुराचार चलेगा जिससे बहुत बड़ा विप्लव होगा और सर्वत्र अशान्ति ही फैलेगी। इसलिये शान्ति स्थापना के लिए सम्यक् शुभोपयोग अत्यन्त आवश्यक है। जो कि मात्र स्वर्गादि अभ्युदय सुख में ही कारण नहीं बल्कि परम्परा से मोक्ष का भी कारण है।

अनेक आचार्य भी जिनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा किये है ऐसे पूज्यपादाचार्य अपने वचन को पवित्र करने के लिये जिन भगवान की स्तुति करते हुए अन्त में यहाँ तक कहते हैं कि—

तव पादौ भम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।

तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावद्निर्वाणं संप्राप्ति ॥ ६ ॥

( समाधि भक्ति — पूज्यपादाचार्य — श्लो. ६ )

आपके पुनीत चरण मेरे हृदय मे एवं मेरे हृदय आपके पवित्र चरण में हैं जगज्जगत् परमाध्य त्रिलोकाधिपती जिनेन्द्र ! तब तक रहे, जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो। अर्थात् मैं सदा आपके चरण के उपासक बन के रहूँ।

**पुण्य फल—**

काणि पुण्य फलाणि ?

तित्थयर गणहर रिसि चक्रवर्ति बलदेव वासुदेव सुर-विज्जाहरिद्विओ ।

( घ. १-१-२ - पृ. १०५ )

शंका:— पुण्य के फल कौन से हैं ?

समाधान:— तीर्थंकर, गणधर, ऋषी, चक्रवर्ती देव, बलदेव, वासुदेव और विद्याधरों की ऋद्धियां पुण्य के फल हैं।

**पाप का स्वरूप—**

पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम् । ददसद्व्याधि ।

जो आत्मा को शुभ से वंचता है, वह पाप है।

जैसे — असाता वेदनीय

( स. सि. अध्याय ६ - सू. ३ पृ. २२० )

पापं नाम अनभिमतस्य पापकं ।

( भ. आ. वि. ३४-१३४ )

अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिस न होती है ऐसे कर्म को पाप कहते हैं ।

**पापास्त्रय कारण—**

धरिय पमाद बहुला कालस्तं लोलदा य विसयेसु ।

परपरित्ताय पवाहो पावस्त य आसवं कुण्डि ॥

( पंचस्तिकाय - गा. १३९ )

लालुपता, परतो परता करना तथा परके अपवाद बोलना यह सब पाप के आश्रय के कारण है ।

**पाप बन्ध का कारण—**

अथ देव शास्त्र मुनीनां योऽसौ निन्दा करोति तस्य पाप बन्धो भवति ।

देवहं सत्यहं मुनिवरहं जो बिदेसु करेई ।

णिषमे पाउ हवेइ तमु जे संसार भमेइ ॥ ६२ ॥

( परमात्म प्रकाश द्वितीय अधिकार )

देव शास्त्र गुरु की जो निंदा करत है, उससे महान पाप का बन्ध होता है, वह पापी पाप के अभाव से नरक निगोदादि खोटी गतिगों से अनन्त काल तक भटकता है ।

वीतराग देव, जिन सूत्र और निर्ग्रन्थ मुनियों से जो जीव द्वेष

**गुरु खिन कौन बिल्लावे बाट—**

पुस्तकाधितो नाधितौ गुरु सन्निधौ ।

न शोभते सभामध्ये जारगर्भजया स्त्रीयाः ॥

जो गुरु से पुस्तक अध्ययन नहीं करता है, वह सभा में

उसी प्रकार शोभायमान नहीं होता जैसे पर पुरुष से

गर्भ धारण करनेवाला स्त्री ॥



करता है उसके निश्चय से पाप होता है, उस पाप के कारण से वह जो ब्रह्म संसार में परिभ्रमण करता है । पर परा से जा माझ के कारण और साक्षात् पुण्य के बन्ध के कारण, जो देव शास्त्र गुरु है इनकी जो निन्दा करता है, उसके नियम से पाप होता है, पाप से दुर्गतियों में भटकता है ।

देवहं इत्यादि । देवहं सत्त्वहं मुणिवरहं जो विद्वेषु करेइ दे-शास्त्र मुनीनां साक्षात्पुण्य बध हेतु भूतानां परंपरयः मुक्ति कारण भूतानां च योऽसौ विद्वेषं करोति । तस्य किं भवति । नियमे पाठ हवेई तसु नियमेन पापं भवति तस्य । येन पाप बन्धेन किं भवति । जे ससार भमेइ ये । पापेन संसारं भ्रमतीति । तद्यथा । निज परमात्म पदार्थोपलम्भरुत्रि रूपं निश्चय सम्यक्त्वकारणस्य तत्त्वार्थश्रद्धान रूप व्यवहार सम्यक्त्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रपतीनां योऽसौ निन्दा करोति स मिथ्यादृष्टी-र्भवति । मिथ्यात्वेन पापं बध्नाति, पापेन चतुर्गति संसारं भ्रमतीति भावार्थः ॥ ६२ ॥

निज परमात्म द्रव्य की प्राप्ति की रुचि वही निश्चय सम्यक्त्व उसका कारण तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यक्त्व उसके मूल अरहत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामयी धर्म इन तीनों की जो निन्दा करता है, वह मिथ्यादृष्टी होता है ।

वह मिथ्यात्व का महान पाप बाधता है, उस पाप में चतुर्गति संसार में भ्रमता है ।

**सम्यग्दर्शन घातक व्यक्ति—**

जिनाभिषेके जितवे प्रतिष्ठा जिनालये जैन सुपात्रतायाम् ।

सावधलेशो वदते स पापो स निन्दको दर्शनघातकश्च ॥

( सार-संग्रह )

जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक, चैत्य चैत्यालय निर्वाण प्रतिष्ठा एवं सुपात्र दान में पाप होता है, ऐसा जो प्रतिपादन करता है वह जिन धर्म का निन्दक है, सम्यक् दर्शन का घातक है, उपरोक्त श्रियाओं में कुछ आरम्भादि कारणों से अत्यन्त कम पाप बन्ध होता है —

परन्तु उससे अत्यन्त आत्मविशुद्धि होती है, सम्यग्दर्शन की निर्मलता बढ़ती है, सातिशय पुण्य बन्ध होता है, जो कि परंपरा मोक्ष का कारण है, इस महा फल के आग जघन्य पाप निष्फल जाता है ।

अशुभ भाव—

हिंसाद्वेषु कोहाद्वेषु मिच्छा णाणेषु पयस्सवाएसु ।  
मिच्छारिएसु मएसु दुराहणिवेसुसु असुहलेसेसु ॥  
विकहाद्वेषु सद्वहज्जागेसु असुहगेसु वड्डसु ।  
सल्लेसु गारवेषु य जो बट्ठइ अनुइ भावो सो ॥

( रघुसंसार — गा. ६२-६३ )

हिंसादिकमें, क्रोधादिमें, मिथ्याज्ञानमें, पक्षपातमें, मत्सर भावमें मदमें, मिथ्याभिप्रायमतमें, अशुभ लेश्यामें, विकथमें, आत्म-रौद्र ध्यानमें अशुभकारण दण्डमें, मिथ्यामाया-निदान सत्यमें, चार प्रकार मदमें जो प्रवर्तमान होता है, उसे अशुभ भाव कहते हैं । इन्हीं अशुभ भावों से पाप का आश्रय होता है ।

दुःखं शोको ब्रह्मताः क्रोदनं परिवेदनं ।  
परात्म द्वितीयस्यानि तथा च परवैशुन ॥  
छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा ।  
तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो विजसनं तथा ॥

## What is the Religion—

धम्मोवत्थु सहावो उत्तमसमाधि दसविहो धम्मो ।  
रयणत्तयंच धम्मो जोवाणं रक्षणं धम्मो ॥  
धम्मो संगलंमुक्किठ्ठं अहिंसा संयमो तथो ।  
देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मो सया मणो ॥  
पवित्री क्रियते येन येनैव ध्रियते जगत् ।  
नमस्तमे दयादाय कर्मकल्पाप्रिपाय ये ॥  
संसार दुःखनः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे स धर्मः ।  
इन्द्रियाणां निरोधने राणद्वेषक्षयणे च ॥

( आगे पृष्ठ १५१ पर देखिए )

पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशूलत्वमेव च ।  
 शस्त्रप्रदानं विश्रम्भं द्यातनं विष मिश्रणं ॥  
 शूलला वधुरा पाश रज्जुजालादि सन्निभं ।  
 धर्मं विध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथ ॥  
 तपस्वी ग्रहणं शीलं व्रतप्रचयावनं तथा ।  
 इत्यसववेदनीयस्य भवन्त्यास्त्राश्च हेतवः ॥

( तत्त्वसार - अध्या. ४ - श्लो. २०-२४ )

अर्थ- दुःख-अनिष्ट संयोग होनेपर दुःख करना ।  
 शोक- इष्ट वियोग होनेपर दुःख करना ।  
 वध- लोक निन्दादि प्राणों का वध करना ।  
 ताप- लोक निन्दादि के होनेपर संताप करना ।  
 क्रन्धन- अश्रुपात करते हुये रुदना करना ।  
 परिषेदन- दूसरों को दया उत्पन्न हों, ऐसा जोर-जोर से रोना ।  
 जिससे देखकर दूसरा भी रोने लगे ।  
 परपंशुन- दुर्भावना से दूसरों पर दोषारोपण करना ।  
 छेदन- शरीर के अवयवों का छेदन करना ।  
 जैसे - बेलों का नाक छेदनादि ।  
 भेदन- शरीर के अंगों का अलग करना ।  
 जैसे - पैर निकालना, हात काटनादि ।  
 ताडन- लाठी से मारना ।  
 दमन- दूसरों को भय दिखाना ।  
 तर्जन- दूसरों को दुःख देना ।  
 भर्त्सना- कठोर-अभद्र वचनों से दूसरों की निन्दा करना ।  
 सद्यो विशंसन- छल-कपटपूर्वक दूसरों को धोका देना ।

हिंसादि पाप कर्म से आजीविका चलाना, कुटील भाव-मायाचार में प्रवृत्ति, हिंसाजनक शस्त्र दूसरों को काम में देना, विश्वासघात करना, स्वतः और दूसरों को विषादि सेवन करके कराके मरण को प्राप्त होना, या दूसरों को प्राप्त कराना । पशु-पक्षीओं को बन्ध में डालना, धर्मतीति विरुद्ध कार्य करना, धर्मात्माओं के शुभ कर्म में विघ्न

हालना, पस्वी-साधुओं की निन्दा करना, झूठे अपवाद लगाना । व्रत नियमों का भंग करना । और दूसरे धर्मात्म पुरुषों के भी व्रत, नियम समयमादि शुभ क्रियाओं की करने न देना । इसी प्रकार अनेक धर्मनीति विरुद्ध कार्य करना यह सब असत्ता वेदनीय कर्म बन्ध के कारण है ।

पाप का फल दुःख व कुगतियों की प्राप्ति—

हिंसादिष्वहामुन्नापायवद्य दर्शनम् ॥ ९ ॥

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

हिंसादि पांच दोषों में ऐहिक और पारलौकिक उपाय और अवयव का दर्शन भावनें योग्य है । अथवा—

हिंसादिक दुःख ही है, ऐसी भावना करनी चाहिये ।

( स. सि. — अध्या. ६ सू. ९-१० प्र. सा. — मु. — १२ )

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भविय वेरइयो ।

दुख सहस्तेहि सदा अभिधुखी भमदि अच्चंता ॥

अशुभ उदय से कुमानुष, तिर्यच और नारकी होकर हजारों दुःखों से सदा पीडित होता हुआ संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है ।

( व. १-१, १, २ — १०५-५ )

काणि पावफलाणि । गिरय-तिरिय कुमाणुस जाइ-जरा-मरण-वाहिवेयणा- दालिदादीणि ।

अहिंसाया च मृतानाममृतसत्त्वाय कल्पते ण हिन्दु

धम्मो वयाविशुद्धो ॥

धृति क्षमा ब्रह्मोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धी विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ( मनुस्मृति )

Religion is the manifestation of divinity in man.

( विवेकानन्द )

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः सधर्मः ॥ ( वेदिक )

Religion is the pursues and justice and abdication of violence.

( राधाकृष्णन् )

झंका— पाप के फल कौन से है ?

समाधान— नरक, तिर्यँच और कुमानुषकी योनियों में जन्म-मरण व्याधि वेदना और बाग्द्वि आदि की प्राप्ति पाप के फल है ।

पाप अत्यन्त हेय है —

ततश्चारित्र्यलवस्याप्यभावादत्यन्त हेय एवायमशुभोपयोग इति ।

चारित्र्य के लेशभाव का भी अभाव होने से यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है ।

( स. सि. — आ. — ३०६ )

अज्ञानजनित साधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स मुद्धात्म सिद्ध्या-  
भाव स्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव ।

प्रथम तो जो अज्ञान जन साधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे ) अप्रतिक्रमणादि है वे तो मुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव रूप स्वभाव वाले हैं । इसलिये स्वयमेव अपराध स्वरूप होने से विषकुम्भ ही है । क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं ।

अशुभ एवं शुभ भावों के फल—

असुहादो गिरयाउ सुहभावादो दु सग सुहमाओ । दुह-सुहभार्न  
जाणदु जं ते रुच्चेद णं कुणहो ॥

पंचेन्द्रिणादि विषय और कपाय रूप अशुभ भावों से नरकादि दुर्गति का दुःख मिलता है और देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति रणी शुभ-भावनाओं से स्वर्गादिक अभ्युदय सुखों की प्राप्ति होती है । सुख और दुःख अशुभ और शुभ भावों पर आधारित हैं ।

हे भव्य आत्मन् ! आप को जो अच्छा लगे सो करो । दुःख चाहिये तो अशुभ भाव करो और सुख चाहिये तो शुभ भाव करो । इतना सदैव ध्यान रखो जो तुम कर्म करेंगे वह तुम्हें भोग । ही होगा ।

पुण्य त्याग करने योग्य व्यक्तों कौन हैं ?

अत्राह प्रभाकर भट्ट - तर्हि ये केचन पुण्य पाप द्वयं समान कृत्वा  
तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीदते भवद्विरिति । भगवानाह । यदि

शुद्धात्मानुभूति लक्षणं त्रिगुप्ति गुप्त बीतर ग निर्विकल्प परमसमाधि  
लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा सम्मतमेव । यदि पुनस्तथाविद्यामवस्थामलभमाना  
अपिसंतो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजति तपोवनावस्थाया पडा-  
वस्थाकदिकं च त्यक्त्वोप्य भूष्टाः संतः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति  
तात्पर्यम् ॥

अर्थ— प्रभाकर भट्ट कहते हैं — यदि जो कोई पुण्य पाप इन दोनों  
को समान मानकर रहते है तो उनके मत मे आप दूषण क्यों देते है ?  
योगीन्द्र देव कहते है — जब शुद्धात्मानुभूति स्वरूप तीन गुप्ति मे गुप्त  
बीतराग निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान मे मग्न हुये पुण्य पापको  
समान जानते है तब तो सम्मत ही है । परन्तु जो मूढ़ परमसमाधि की  
न पाकर भी गृहस्थ अवस्था मे दान पूज दिक शुभ क्रियाओं को छोड़  
देते है । और मुनि पद मे छह आवश्यक क्रियाओं को छोड़ देने है वे  
दोनों तरफने भ्रष्ट हो जाते है इसलिये उनके मत मे अथ जो पुण्य  
और पाप को समान मानते है हुये रहते है सो ही दूषण है ।

( प. प्रकाश - पा. १८२ )

अथ हे जावजिनेश्वर पदे परम भक्ति कुर्विति शिक्षां वताती-

“ अरि जिघ जिग - पइ सति करि सुहि सज्जणु अवेहरि ।  
ति अप्पेण वि कड्डु णवि जो पाडइ संसारी ॥ १३४ ॥

निरर्थक जीवन-

वित्तं हि नष्टं किञ्चित् नष्टं

स्वास्थ्यं हि नष्टं किञ्चिद् नष्टम् ।

वत्त हि नष्टं सर्वं विनष्टं तस्यैव वृत्तं परिरक्षणीयम् ॥

धर्मयुक्तममोक्षाणं यस्यैकोऽपि न विद्यते ।

अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

येषां न विद्या न तपो न ज्ञानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।

ते मर्त्यलोके भूविभारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

आहारनिद्राभयमेषुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्जराणाम् ।

धर्मः विशेषः खलुमानवानां धर्मेन हीना पशवो मानवाः ॥

हे आत्मन । अनादि काले दुर्लभे वीतराग सर्वज्ञ प्रणीने राग-द्वेष मोह रहिते जीव परिणाम लक्षणे शुद्धोपयोगरूपे निश्चय धर्मे व्यवहार धर्मे च पुनः षडावश्यकानि लक्षणे गृहस्थापेक्षया दान-पूजादि लक्षणं वा शुभोपयोग स्वरूपे गतिं कुरु । इत्थंभूते धर्मे प्रतिकूलं यः तं मनुष्यं स्वर्गो जमपि त्यज तदनुकूलं परगो जमपि स्वीकृत्विति ।

अगाधं भावार्थः । विषय सुख निमित्तं यथानुरागं करोति ।

जीवन्तथा जिनधर्मं करोति तर्हि संसारे न पततीति ।

विस्रयहं कारणि सव्व जण् जिम अणराउ करेइ ।

तिम जिणभासिए धम्मि जइ ण उ संसारी पडेइ ॥

अर्थ- हे आत्मन ! अनादि काल से दुर्लभ जो वीतराग सर्वज्ञ कहा हुआ राग-द्वेष-मोह रहित शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म और शुद्धोपयोग रूप व्यवहार धर्म उनमें भी छह आवश्यक रूप यतीका धर्म, तथा दान पूजादि श्रावक का यह धर्म शुभाचार रूप दो प्रकार धर्म उसमें प्रीति कर । इस धर्म से निमुख जो अपने कुल का मनुष्य उसे छोड़ और उस धर्म के सम्मुख जो पर कुटुम्ब का भी मनुष्य ही उससे प्रीति कर । तात्पर्य यह है की, यह जीव जंसे विषय-सुखसे प्रीति करता है, वैसे जो जिनधर्म में करे तो संसार में नहीं भटके । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है की विषय कारणों में यह जीव बारंबार प्रेम करता है, वैसे जो जिन धर्म में करें तो संसार में भ्रमण न करे ॥ १३४ ॥

( परमात्म प्रकाश )

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तन्भूता कर्मोशुभं वा शुभं ।

तदेवं तदुदीरणादनुभवनं दुःखं सुखं वागतम् ।

कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छ्रितये ।

सर्वारम्भं परिग्रहं ग्रहपरित्यागो स बन्धः स ताम् ॥ २६२ ॥

( आत्मानुशासनम् )

अर्थ-प्राणिने पूर्व भव में जिस पाप या पुण्य कर्म का संचय किया है वह देव कहा जाता है । उसकी उदीरणासे प्राप्त हुए दुःख अथवा सुख का अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है । पाप कार्यों को छोड़कर केवल पुण्य कार्यों को ही करता है-वह भी अभीष्ट

है - प्रशंसा के योग्य है किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनों ( पुण्य-पाप ) का ही नष्ट करने के लिये समस्त आरम्भ व परिग्रह पिशाच्च को छोड़ कर शुद्धोपयोग में स्थित होता है वह तो सज्जन पुरुषों के लिये वंदनीय पूज्य है ॥ २६२ ॥

शुभाशुभे पुण्य पापे सुख दुःखे च घट त्रयम् ।

हितमाद्यमनुष्ठेयं शेष त्रयमथाहितम् ॥ २३९ ॥

तत्राप्यद्यं परित्याज्यं शेषो न स्तः स्वतः स्वयम् ।

शुभं च शुद्धे त्यक्त्वास्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २४० ॥

अर्थ-शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप, सुख और दुःख इस प्रकार ये छह हुए । इन छहों के तीन युगलों में से आदि के तीन शुभ, पुण्य और सुख-आत्मा के लिये हितकारक होने से आचरण के योग्य है । तथा शेष तीन अशुभ-पाप और दुःख अहितकारक होने से छोड़ने के योग्य है ।

विशेषार्थ- अभिप्राय यह है की जिनगूजादिक शुभ क्रियाओं के द्वारा पुण्य कर्म का बन्ध होती है । इसके विपरीत हिंसा एवं असत्य सभाषणादिरूप अशुभ क्रियाओंके द्वारा पाप का बन्ध होता है और उस पाप कर्म के उदय में प्राप्त होनेपर उससे दुःख की प्राप्ति होती है ।

श्रावक की परिभाषा-

श्रा - ( श्रद्धावान् ) श्रद्धालुनां श्रुति जिनेन्द्र शासने,

व - ( धियेकवान् ) धनाधि पात्रबुद्धयस्य नीरसम् ।

क - ( क्रियावान् ) कृतस्य पुण्यानि सुसाधु सेवनात् ।

अतोऽपि ते श्रावकमाहुस्तथाः ॥

सुनि का परिवार-

धर्म्यः यस्यैपिता अमादच जननि शान्तिश्चिरगृहिणी ।

सत्तः सुतुरयं दया च भगिनी भ्रातः मनः संयमः ।

शय्या भूमीतलः विशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम् ।

येते यस्य कुटुम्बिनो बद्ध सखे कस्मात् भीतः योगीनः ॥



इसलिये उक्त छह में से शुभ और पुण्य सुख ये तीन उपादेय तथा अशुभ पाप और दुःख ये तीन हेय हैं ॥ २३९ ॥

पूर्व श्लोक में जिन तीन को शुभ-पुण्य और सुख को हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (अशुभ का) परित्याग करना चाहिये ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे, इस प्रकार शुभ को छोड़कर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद ( मोक्ष ) को प्राप्त हो जाता है ।

विशेषार्थ—उपर जो इस श्लोक का अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के अभिप्रायानुसार लिखा गया है । उप-युक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है — श्लोक २३९ में जो अशुभ पाप और दुःख ये तीन अहितकारक बतलये गये हैं । उनमें भी प्रथम अशुभ का ही त्याग करना चाहिये कारण यह कि ऐसा होने-पर शेष दोनों पाप और दुःख स्वयंभू नही रहते हैं क्योंकि इनका मूल कारण अशुभ ही है । इस प्रकार जब मूल कारण भूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात् कार्यभूत पाप स्वयंभू नष्ट हो जावेगा, और अब पाप ही न रहेगा तो उसके कार्यभूत दुःख की भी कैसे सम्भावना की जा सकती है नही की जा सकती है । इस प्रकार उक्त अहितकारक तीन के नष्ट हो जानेपर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते हैं वे भी वास्तव में हितकारक नहीं हैं । ( देखिये आगे श्लोक २६२ )

उनको जो हितकारक व अनुष्ठेय बतलाया गया है वह अतिशय अहितकारी अशुभादिक अपेक्षा ही बतलाया है । यथार्थ में तो वे भी परतंत्र के ही कारण हैं । भेद इतना ही है कि जहां अशुभादिक जीवको नारक एवं तिर्यच पर्याय में प्राप्त कराकर केवल दुःख का अनुभव कराते हैं वहां वे शुभादिक उसको मनुष्यों और देवों में उत्पन्न कराकर हैं । दुःखमिश्रित सुख का अनुभव कराते हैं । इसलिये यहां यह बतलाया है कि उन अशुभादिक तीन का छोड़ देने के पश्चात् शुद्धोपगोग में स्थित होकर उस शुभ को भी छोड़ देना चाहिये । इस प्रकार अन्त में उस शुभ के अविनाशवि पुण्य व सांसारिक सुख के भी नष्ट हो जाने पर जीव उस निर्वाच मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है । जो की अनन्त काल

तक स्थिर रहनेवाला है ॥ २४० ॥

( आत्मानुशासनम् - २३९ ते २४० )

धरं व्रतैः पदं देवं नाव्रतैर्वत नारकं ।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतामहान् ॥ ३ ॥

अर्थ— व्रतोंके द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है । जैसे— छाया और धूप में बैठनेवाले में अन्तर पाया जाता है वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण व पालन करने वाले में फर्क पाया जाता है ॥ ३ ॥

हठोपदेश—

व्रतादिक पालने में पाप कर्मों की निर्जरा होती है और पुण्य कर्म का बन्ध होता है । परन्तु पुण्य बन्ध इहलोक व परलोक सुख का कारण है और परम्परा से मुक्ति का कारण है ।

शुभःशुभानुबन्धीति बन्धस्तेषां जायते ।

पारंपर्येण यो बन्धः स प्रबन्धाद्विधीयते ॥ ५४ ॥

अर्थ— शुभ भव में शुभानुबन्धी होता है और यह शुभानुबन्धी परम्परा से बन्ध छेद के लिए कारण हो जाता है । इसलिये शुभानुबन्धी कर्म को प्रचुर रूप से करना चाहिये ।

( धर्मरत्नाकर - दान फल अधिकार ।

विशेषार्थ— शरीर में कांटा धुसने के बाद उस कांटाको निकालने के लिये एक सुदृढ़ कांटा चाहिये, शरीरस्थित कांटाको जब तक नहीं निकालते तब तक इस सुदृढ़ कांटा की परम आवश्यकता है शरीरस्थित कांटा निकालने के बाद उस सुदृढ़ कांटा की आवश्यकता स्वयमेव नहीं रहती उसी प्रकार पाप कर्म देह स्थित कांटा के समान है । उस पाप कर्म को निकालने के लिये एक सुदृढ़ पुण्यरूप कांटा चाहिये, पाप रूपी कांटा निकालने के बाद पुण्यरूपी कांटा की आवश्यकता स्वयमेव हट जाती है । जैसे— मलीन वस्तु के संपर्क से वस्त्र अशुद्ध हो जाता है । उस अशुद्ध को हटाने के लिये पानी, साबून, टिनोपाल चाहिये । पानी और साबून के प्रयोग से जब वस्त्र स्वच्छ हो जाता है तब उस वस्त्र को

लगा हुआ साबून को भी स्वच्छ पानी से धोकर निकाल देते हैं । वस्त्र स्वच्छ होने के बाद उसको टिनोपाल में डाल के उसको चमकाते हैं । वस्त्र में साबून और पानी अलग वस्तु है ( पर द्रव्य है ) जो भी बिना पानी और साबून मलिन वस्त्र स्वच्छ नहीं होता है । परन्तु स्वच्छ होने के बाद साबून और पानी का आवश्यकता नहीं रहती है । मलीन अवस्था में टिनोपाल वस्त्र को लगाने पर उसमें चमक नहीं आ सकती है । इसी प्रकार आत्माको स्वच्छ करने के लिये शुभभावरूपी पानी और पुण्यरूपी साबून चाहिये इसके माध्यम से मलीन पापात्माको पवित्र पुण्यात्मा होने के बाद शुक्ल ध्यानरूपी टिनोपाल से उसको केवलज्ञान रूपी प्रकाश से चमकना चाहिये । जब तक आत्मा को शुभ भाव और पुण्य से स्वच्छ नहीं करते तब तक शुक्लध्यान रूपी टिनोपाल का कोई प्रकार परिणाम नहीं हो सकता है । वस्त्र स्वच्छ होने के बाद उस वस्त्र में स्थित पानी को भी निकाल देते हैं । इसी प्रकार अयोग केवली १४ वे गुणस्थान के आवस्था में व्युपरित त्रिया निवृत्ती रूपी परम शुक्ल ध्यान से पुण्यरूपी कण को भी सुखाकर पृथक् करना चाहिये तब जाकर आत्मा निरंजन निष्कलंक होता है ।

अहो पुण्यवन्ता पुंसा कष्ट चापि सुखायते ।

तस्माद्बुद्धयः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदित ॥

अर्थ—अहो आश्चर्य की बात है की पुण्यवान के लिये कष्ट भी सुखकर हो जाता है इसलिये हे भव्य जिनेंद्र भगवान द्वारा प्रतिपादित पुण्य को तुम प्रयत्नपूर्वक करो ।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।

स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रव ॥ २४६ ॥

टीका—यस्य च कर्मणां स्वकार्यमकुर्वतामेव विश्लेषो भवति स त्वं योगीत्याह्वयस्येत्यादि । यस्य परम वीतरागस्य । निष्फल स्वकार्यम् अकुर्वन् सतः । गलति उग्र तपःसामर्थ्यदुदयमानीय जीयते । न पुनरास्रवो न पुनः कर्मणागमनम् सवर एव भवतीत्यर्थः ॥ २४६ ॥

अर्थ—जिनका कर्म उदयमें आकार भी बिना फल दिये खिर जाते हैं वह योगी हैं । वह परम वीतरागी होते हैं । परम वीतरागी मुनी उग्र

क्षप के माध्यम से भविष्य में उदय आने योग्य कर्म को मला देता है ।  
उसी प्रकार मुनीश्वर को नवीन आश्रय या बन्ध नहीं होता है । उस  
परम वीतरागी मुनिश्वरों का पाप एवं पुण्य स्वयमेव निष्फल होकर  
खिर जाते हैं और उनको नवीन कर्मस्त्रिय बन्ध नहीं होता है । उन्हींको  
परम निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

( आत्मानुशासनम् )

असुहाण पयड्डीण अणंत भागा रस्सस खंडाणि ।

सुहं पयड्डीणं णियमा नात्थि ति रस्सस खण्डाणि ॥ ८० ॥

अर्थ— अप्रशस्त अर्थात् पाप प्रकृतियों के अनंत बहुभाग का घात  
नियम से नहीं होता है । क्योंकि विशुद्धि के कारण प्रशस्त प्रकृतियों का  
अनुभाग उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है परन्तु घात नहीं होता है ।  
तथा विशुद्धि के कारण पाप प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर न्हास को  
प्राप्त होता है परन्तु वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है ।

पढमापुस्वरसावो चरिमे समये पअच्छइवराणं ।

रससतमणंत गुण अणंतगुण होणयं होदि ॥ ८१ ॥

अर्थ— अपूर्वकरण में प्रतिसमय अणंतगुणी विशुद्धि होने के कारण  
प्रशस्त प्रकृतियोंका अनंतगुणा बढ़ता अनुभाग सत्त्व है । तथा विशुद्धि के  
कारण अनुभाग काण्डक घात के महत्त्वसे अप्रशस्त प्रकृतियोंकी अनन्त-  
धाँ भाग सत्त्व चरम समयमें होता है । इस कारण अश्वं करण के प्रथम  
समय संबंधी प्रशस्त प्रकृतियोंका जो अनुभाग सत्त्व है उससे अश्वंकरण  
के चरम समय में प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग तो अनंतगुणा बढ़ता हुआ  
सत्त्व में है । तथा अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग सत्त्व अपूर्वकरण के  
प्रथम समय में जितना है उससे अनंतगुणाहीन अपूर्वकरण के चरम समय  
में है ।

इससे सिद्ध होता है । आत्म विशुद्धि से पुण्य कर्म चौदहवाँ  
गुणस्थाव के नीचे नीचे नाश नहीं होते हैं परन्तु वृद्धि को प्राप्त होते हैं ।  
तथा पाप कर्म आत्म विशुद्धि से नाश होता है किन्तु वृद्धि को प्राप्त  
नहीं होते हैं ।

( लब्धिसार )

**विशेषार्थः—** चतुर्थ गुणस्थानमें आगे उत्तरोत्तर पापकर्मका संवर और निर्जरा वृद्धि हो जाती है। और पुण्य कर्मका आश्रय और बंध उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है। इस प्रकार क्रिया सकषाय गुणस्थान तक (१० वे गुणस्थान तक) चलती रहती है। क्षीणकषाय आदि गुणस्थान में पुण्याश्रय होता है फिर भी बन्ध नहीं होता है, परन्तु पुण्य कर्म तेरावे गुणस्थान तक नष्ट नहीं होती बढ़ता ही रहता है। परन्तु परम योगी शैलेश अवस्था प्राप्त अयोगी केवली गुणस्थान में चरम समय और द्वीचरम समयमें संपूर्ण पुण्य और पाप कर्मोंका समूल विनाश होजाता है। पाप प्रकृति यथा योग्य द्वितियादि गुणस्थान में संवर एवं निर्जरा होती है। परन्तु विशिष्ट पुण्य कर्मोंका संवर निर्जरा १४ वे गुणस्थानके नीचे नीचे होती नहीं है। परन्तु उत्तरोत्तर गुणस्थानमें अनुभाग शक्ति बढ़ती जाती है। परन्तु परिनिर्वाण के पूर्ववर्ती सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाती है।

किनके पुण्य हेय है ?

पुण्येण होइ विह्वो विह्वेण मओ मएण मइ-मोहो ।

मइ मोहेण य पाथ ता पुण्यं अमह मा होउ ॥ ६० ॥

अर्थ— पुण्यसे घमसे घन होता है और घनसे अभिमान, मानसे बुद्धिभ्रम होता है: बुद्धिके भ्रम होनेसे ( अविवेकसे ) पाप होता है इसलिये ऐसा पुण्य हमारे न होवे—

**टीका—** पुण्येण इत्यादि । पुण्येण होइ विह्वो पुण्येण विभवो विभूतिर्भवति, विह्वेण मओ विभवेण मदोऽहंकारो गर्वो भवति, मएण मदमोहो विजानाद्यष्टविधमदेन मतिमोहो मतिभ्रंशो विवेकमूढत्वं भवति । मदमोहेण य पाथें मति मूढत्वेन पापं भवति ता पुण्यं अमह मा तस्मादित्येभूतं पुण्यं अस्माकमापूदिति । तथा च इदं पूर्वोक्तं भेदाभेद-रुनत्रयाराधनारहितेन दृष्टं—, श्रुतानुभूत भोगाकांक्षारूप जिदानबन्ध परिणामसहितेन जीवेन यदुपाजितं पूर्वं भवे तदेव मदमहंकार जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः सम्यक्त्वादि गुणसहित भरत-सगर राम पांडव आदि पुण्य बन्धवत् । यदि पुनः सर्वेषां मदमजयति तर्हि ते कथं पुण्य माजना सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्ष गताः

इति भावार्थ ॥ तथा चोक्तं चिरन्तनानां निरहंकारत्वम्—

“सद्यं वाचि मतौ श्रुतं हवि दया शौर्यं सुजे विक्रमं ।

लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थनिख्ये मार्गे गतिनिवृत्तेः ॥

प्राग्जनीहृ तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराश्चित्रं संप्रति लेखतांऽपि  
न गुणस्तेषां तस्याप्युद्धताः ॥६०॥

भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधनासे रहित देखे सुने, अनुभवे भोगोंकी  
वांछारूप निदान बन्धके परिणामोंसे सहित जो मिथ्यादृष्टी संनारी  
अज्ञान जीव है । उसने पहले उपार्जन किये भोगोंकी वांछारूप पुण्य  
उसके फल से प्राप्त हुयी घर में संपदा होनेसे अभिमान, (घमड़)  
होता है, अभिमानसे बुद्धिभ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप  
कमाता है और पापसे भक्षमवमें अनंत दुःख पाता है । इसलिये मिथ्या-  
दृष्टियोंका पुण्य पापकाही कारण है । जो सम्यक्त्वादिगुणसहित भरत,  
राम, पाण्डवादि विवेकी जीव है उनको पुण्य बन्ध अभिमान उत्पन्न  
नही करता परम्परामे मोक्ष का कारण है । जैसे—अज्ञानीयोंके पुण्यका  
फल विभूति गर्व कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टियोंके नहीं है । वे सम्यग्दृष्टी  
पुण्य के पात्र हुये चक्रवर्ती आदिकी विभूति पाकर मद अहंकार आदि  
विकल्पोंको छोड़कर मोक्षको गये अर्थात् सम्यग्दृष्टी जीव चक्रवर्ती  
बलमद पद में भी निरहंकार रहे । ऐसा ही कवन आत्मानुशसन ग्रंथमे  
श्री गुणभद्राचार्यने किया है कि पहले समयमें ऐसे सत्पुरुष हो गये है  
की जिनके वचन में सत्य बुद्धिमें शास्त्र मनमें दया पराक्रम रूप भुजा-  
शामें शूरवीरता याचकोंमें पूर्ण लक्ष्मीका दान और मोक्ष मार्गमें गमन  
है । वे निराभिमानी हुये जिनके किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ ।  
उनके नाम शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । परन्तु अब बड़ा अचम्ब है की इस  
पंचम कालमें लेश मात्र भी गुण नहीं है तो भी शुद्धतापन्ता है, यानी गुण  
तो रंज मात्र भी नहीं और आभिमानमें बुद्धि रहती है ।

(परमात्म प्रकाश—)

पाप भी उपादेय है ।

अथ येन पापफलेन जीवी दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो-  
भवती तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयति—

वर जिय पावई सुन्दरई णावई ताई भणति ।

जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु सिवमइं जाई कुणति ॥५६॥

वर जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।

जीवानां दुःखानि जन्तिवा लघु शिवमति यानि कुर्वन्ति ॥५६॥

टीका—वर जिय इत्यादि । वर जिय वरं किंतु हे जीव पावई सुन्दरई पापानी सुन्दरामि समीचीनानि भणति कथयन्ति । के । णणिय ज्ञानिनः तत्त्ववेदिनः । कानि । ताई तानिपूर्वोक्तानी पापानि । कथभूतानि । जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु सिवमइं जाई कुणती जीवानां दुःखानि जन्तिवा लघु शीघ्रं शिवमति मुक्तियोग्यमति यानि कुर्वन्ति । अयमत्रामिप्रायः । यत्र भेदाभेदारत्नत्रयात्मक श्रो धर्म लभते जीवस्त-त्पापजनित दुःखमपि श्रंष्टमिति कस्मादिति चेत् । “ आर्ता नरा धर्म-परा भवन्ति ” इति वचनात् ॥५६॥

अर्थ—आगे जिस पापके फलसे यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस दुःखके दूर करने के लिए धर्म सन्मुख होता है, वह पाप का फल भी श्रंष्ट (अशंसा योग्य) है । ऐसा दिखलाते हैं ।

हे जीव जो पापके उदय जीवको दुःख देकर शीघ्र ही मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धिकर देवे, तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं, ज्ञानी ऐसे कहते हैं ।

कोई जीव पाप करके नरक में गया वहाँ पर महान दुःख भोग उसमें कोई समय किभी जीवके सम्यक्त्व की प्राप्ती हो जाती है क्यों की उस जगह सम्यक्त्वकी प्राप्तीके तीन कारण हैं । पहिला तो यह है कि तिसरे नरक तक देवता उसे संबोधनको (चेतावनेको) जाते हैं । सो कभी कोई जीवके धर्म सुननेसे सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण—पूर्व भवका स्मरण और तिसरा नरककी पीडाकारी दुःखी हुआ नरकको महान दुःखका स्थान जा । नरकके कारण जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुबोल, परिग्रह और आरम्भादिक है उनको खराब जानके पापसे उदास होवे ।

तिसरे नरक तक ये तीन कारण हैं । आगेके चौथे, पाँचवे

छठवे, सातवें नरकमें देवोंका गमन न होनेसे धर्मश्रवण तो है ही नहीं लेकीन जाति-मरण है । तथा वेदना कर दुःखी होके पापमें भयभीत होना वही कारण है । इन कारणोंको पाकर किसी जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है । इस तथ्यसे कोई भग्य जीव पापके उदयसे खोटी गतिमें गया वहाँ जाकर यदि सुलट जावे तथा सम्यक्त्व पावे तो व कृति भी बहुत श्रेष्ठ है, यही योगीन्द्राचार्यने मूलमें कहाँ है की जो पाप जीवोंका दुःख प्राप्त करा करके फिर शीघ्र ही मोक्ष मार्गमें बुद्धिको लगावे, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं । तथा जो अज्ञानि जीव किसी समय अज्ञान तपसे देव भी हुआ और देवसे भरकर एकेन्द्रिय हुआ तो वह देवपना किस कामका । अज्ञानीक देवपना भी बूढ़ा है । जो कभी ज्ञानके प्रसादसे उत्कृष्ट देव होके बहुत कल तक सुख भोगके देवसे मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्षको पावे तो वह भी अच्छा है ।

ज्ञानी पुरुष उन पापियोंको भी श्रेष्ठ कहते हैं, जो पापके प्रभावमें दुःख भोगकर उस दुःखसे डरके दुःखके मूल कारण पापको जानके उस पापमें उदास होवे, वे प्रशंसा करने योग्य हैं, और पापि जीव प्रशंसाके योग्य नहीं हैं । क्यों की पाप क्रिया हमेशा निन्दनीय है । भदाभेदरत्नत्रय स्वरूप श्री वीतराग देवके धर्म को जो धारण करते हैं वे श्रेष्ठ हैं । यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दुःखी धारण करे तब भी ठीक क्यों की शास्त्राका वचन है की कोई महाभाग दुःखी हुए ही धर्म में लवलीन होते हैं ॥ ५६ ॥ ( परमात्म प्रकाश )

दुःख में सुमरन सब करे, सुख में करे न कोय ।

जो सुख में सुमरन करे, दुःख काहेका होय ॥

अर्थ— साधारणतः ससारी जीव दुःखके समयमें धर्म का आचरण करता है । परन्तु धर्म के कारण किञ्चित् सुख प्राप्त होनेसे धर्मको ही भूल जाता है, पापादिक क्रियाओंमें लग जाता है, तब पुनः दुःख प्राप्त होता है । यदि जीव सुखके समयमें भी धर्म आचरण करने लगेंगा तो कभी भ दुःख नहीं होगा । ..

कृत्व धर्मविघातं विषयसुखान्यनु भवन्ति ये मोहात् ।

आच्छिद्य तदनु मूलात् फलानो गृह्णन्ति ते पापाः ॥ २४ ॥



अर्थ— जो मोही कामअंधा, विषयासक्त, जीव अज्ञानतासे धर्म को नष्ट करके विषय सुखोंका अनुभव करते वे पापी वृक्षको जड़ से उखाड़कर फल को ग्रहण करना चाहते हैं । अर्थात् पूर्व पुण्य कर्मोंके उदयसे जो कुछ वैभव मिला है उस वैभवमें लीन होकर जो केवल भोगासक्त होता है वह पूर्व उपाजित पुण्य को पूर्ण रूपसे भोग करता है । परन्तु नवीन पुण्यार्जन नहीं करता जिससे पापही पाप उसके पल्ले में रहता है । उसमें वह नरक निगोद में जाता है । इसलिये पूर्वजित पुण्यसे जो वैभव मिला उसके बिना त्याग भोग करनेसे उस पुण्यसे उसको दुर्गती हुई इस प्रकारसे पुण्य हेय है । (आत्मानुशासन्)

मिथ्यादृष्टीको पापानुबन्धि पुण्य से जो वैभव की प्राप्ति होती है उस वैभव में मिथ्यादृष्टी लीन होकर आसक्ति पूर्वक भोग करता है किन्तु त्याग नहीं करता उसका वैभव अर्थात् पुण्यफल ससारका कारण है । इसलिये उसका पुण्य कर्म परम्परासे मोक्ष का कारण नहीं होता है । किन्तु संसारका कारण होता है । अर्थात् पुण्य फल रूप वैभवको प्राप्त कर जो आसक्ति पूर्वक भोगता है वह मिथ्यादृष्टी है । रागी बहिरात्मा है । सम्यग्दृष्टीका पुण्य पुण्यानुबंधी पुण्य है, सम्यग्दृष्टी पुण्य रूप वैभवको प्राप्त कर उसमें वह आसक्ति पूर्वक लीन नहीं होता है वह मोक्षता है । जानता है मानता है की यह वैभव मेरे आत्म स्वरूपसे पृथक् है पुण्यकर्मका फल है कुछ आन्ध्र मोहनीय कर्म के उदयसे आत्मिक शक्ति अभाव से रोगी जैसे तिक्त औषध सेवन करता है अनासक्त पूर्वक उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टी भोग को रोग मानकर निरुपाय होकर अनासक्त पूर्वक भोगता है । वह अनासक्त पूर्वक भोगते हुये कर्म को बांधता ही है परन्तु जितने अंश में अनासक्त भाव है उतने अंशमें कर्म बांध नहीं होता है । परन्तु अन्तरंग में सतत भोगोंकी निंदा गहा करते हुए उन भोगोंमें छूटने के लिये रास्ता ढूँढता रहता है ।

जब तक सम्पूर्ण भोग, आरंभ, परिग्रहोसे विरक्त नहीं हो पाता है तब तक स्वशक्तनुसार दान, पूजा, गुरुसेवादि करते हुये पूर्व पुण्य का सदुपयोग करता है और अंत में समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहको त्याग कर निर्ग्रन्थ होकर व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय को साधन कर

मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है। इसलिए सम्यग्दृष्टीका पुण्य परंपरासे मोक्षका कारण है तथा मिथ्यादृष्टी का पुण्य परंपरासे संसार का कारण है।

“आर्त्ता नरा धर्मपरा भवन्ति—” पाप कर्मके उदयसे जीव को जब कष्ट उठाना पड़ता है उस समयमें वह पाप कर्मोंका स्वरूप समझ-कर पापसे निवृत्त होकर धर्ममें लगता है। जैसे नरक में तीव्र वेदना अनुभव कर नारकी पाप फलों का चितवन करके सम्यग्दृष्टी हो जाता है, इसीप्रकार जीव पापकर्मके फलसे संतप्त होकर पापसे डर कर अधर्म छोड़कर धर्म करने लगता है। इसीलिए संसार में विरक्त होनेके लिए एवं धर्ममें प्रवृत्त होनेके लिए पाप कर्म भी निमित्त है। अर्थात् जिस पाप फलसे दुःखसे, संतापसे, संकटोंसे जीव भयभित होकर धर्म में लगते है वह पाप भी उपादेय है। इसलिये भव्य जीवोंको संबोधन करते हुये आचार्योंने प्रेरणा दी है—

“सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्मं सव तव कार्यं ।

सुखितस्थ तद्भाभिवृद्धयं दुःख भुजस्तदुपघाताय ॥ १८ ॥

अर्थ— हे जीव तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो, चाहे दुःखका अनुभव कर रहा हो, किन्तु संसार में इन दोनों ही आवस्थामें एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये। कारण यह है की वह धर्म यदि तू सुखका अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुखकी वृद्धिका कारण होगा, और यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुःख के विनाश का कारण होगा।

( आत्मानुशासनम् )

### ध्यान अवस्था

अप्रमत्तविरत गुणस्थान— मोक्षमार्गका पथिक जब मोक्षमार्ग के विपरीत जो अंतरंग व बहिरंग परिग्रह उसका त्याग करके मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है, अनादि कालिन संस्कार एवं अनभ्यासके कारण जो कुछ आत्म ध्यानके लिये बाधक कारण प्रमादसे उनको सतत ज्ञान—वैराग्यहीन शस्त्र द्वारा नष्ट करके स्वयं में लीन-स्थिर हो जाता है

उसको ध्यान कहते हैं । उस आत्मस्थ अवस्था विशेष को अप्रमत्त विरत गुणस्थान कहते हैं ।

णट्टा सेस पमाओ वयगुणसीलेहि मँडिओ णाणी ।

अणुष समओ अखवओ क्षाणणिञ्जीणो हुअप्पमत्तो । ६१४ ॥

( भा. सं. १ पृष्ठ २८२ )

जिस समयमें मोक्षमार्ग ज्ञानी समस्त प्रमादों को नष्ट करके व्रत-गुण-शीलसे मण्डित होकर ध्यानमें लीन होता है, परन्तु उपशम या क्षपक श्रेणी आरोहण नहीं किया है उस समयमें अप्रमत्त विरत आत्म-वस्था होती है । अनादि कालिन संस्कार के कारण ज्ञानी मुनि ध्यानावस्था में सतत स्थिर नहीं होता है, इसलिए वह ध्यानावस्था से च्युत होकर प्रमत्तविरत अवस्था को प्राप्त होता है । पुनः शक्तिको संचय कर अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होकर ध्यान में लीन हो जाता है । इस प्रकार वह हजारों बार छटुवे से सातवें गुणस्थानमें आता जाता रहता है । उत्तम संहननधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टी महामुनि उपशमश्रेणी एवं क्षपक श्रेणी दोनों श्रेणी आरोहण करते हैं । परन्तु उपशम श्रेणीवाले अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होने पर एवं क्रोधादि अन्यतर कषायों के उदयसे ग्याग्द्वे गुणस्थान से नीचे गिरकर यथायोग्य गुण-स्थानको प्राप्त कर लेते हैं । और वज्रवृषभनाराच संहननधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि तद्भवमोक्षगामी चरमशरीरी महामुनि जब क्षपक श्रेणी आरोहण करते हैं तब सातशय सातवे गुणस्थानसे निरालम्ब शुषलध्यान को जाते हैं ।

एवं धम्मज्झाणं कहियं अपमत्तगुण समासेण ।

सालंभणालंबं तं मुक्खं इत्थं वायव्वं ॥ ६३३ ॥

एदम्हि गुणट्टाणे जत्थि आवासथाण परिहारो ।

क्षाणमणाम्मि थिरतं निरंतरं अत्थि तं जहमा ॥ ६४० ॥

( भा. सं. १ पृष्ठ २९२ )

अप्रमत्त गुणस्थान में धर्म ध्यान होता है यहाँ पर सालम्ब और निरालम्ब धर्मध्यान की मुख्यता है उसमें पूर्ववर्ती गुणस्थानों में छट्ठे, पाँचवें चौथे में गौणरूप में धर्मध्यान होता है। धर्मध्यान उत्तरवर्ती गुणस्थानों में अर्थात् आठवें नवमें, दसवें गुणस्थानों में होता है। इस गुणस्थानों में महामुनि समस्त प्रमाद से रहित होकर बाह्य क्रियाओं से विरत होकर निरन्तर ध्यानमें स्थिर होने के कारण बाह्य आवश्यक-कादि क्रियाओंका परिहार हो जाता है। इसके पहले-पहले आवश्यक आदि क्रियाओं का पालन करना अनिवार्य हो जाता है।

### अपूर्वकरण गुणस्थान

खवएसु उवसमेसु य अउव्वणामेसु हवइ तिपयारं ।

सुवकज्झाणं णियमा भुहुत्त सखियक्क सखियार ॥ ६४३ ॥

( भा. सं. । पृष्ठ २९४ )

क्षपकश्रेणी या उपशमश्रेणी आरोहण करने वाला जीव जब अपूर्वकरण गुणस्थान में पदार्पण करता है तब वहाँ पर पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्लध्यान प्रारंभ होता है। द्रव्य-गुण-पर्यायों की संक्रमण अपेक्षा पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान तीन प्रकार या अनेक प्रकारका होता है।

### अनिवृत्ति गुणस्थान-

सुक्कं तत्थं पडत्तं जिणेंहि पुग्घुत्तलक्खणं ज्ञाणं ।

णत्थि णियत्ति पुणरत्रि जम्हा अणियट्ठि तं तम्हा ॥ ६५० ॥

( भा. सं. । पृष्ठ २९७ )

इस गुणस्थानमें पूर्वोक्त प्रथम पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्ल ध्यान होता है। यहाँ पर जीव के परिणाम विभुति में निवृत्ति नहीं होती है। इसलिए इस गुणस्थान को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

### सूक्ष्मसांपरास गुणस्थान-

धुवकीरुं भववत्थं, होदि जहा सुहुमएसंजुत्तं ।

एवं सुहुमकसाओ, सुहुमसरागोत्ति णावब्धो ॥ ५८ ॥

( गो. जी. पृष्ठ १२१ )

श्रेणी आरोहणकारी जीव आत्मिक विशेष विशुद्धि से राग को कर्षण करता हुआ जिस समयमें सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त सूक्ष्मलोभ को वेदन करता है, उस समयमें वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है। जैसे कुसुम के रंग से रंगा हुआ वस्त्र सम्यक् रूपसे बार बार धोनेपर बहुत कुछ निकल कर सूक्ष्म लाल वर्ण से युक्त होता है।

### उपशान्त मोह गुणस्थान—

कवकफल मुद्वलं वा सरण सरवाणिषं च निम्नतल ।

सयलो वसंत मोहो उवसंत कसायओ होवि ॥ ६१ ॥

( गो. जी. । पृ. १२६ )

जैसे कवकफल के मूर्ण से युक्त जल निर्मल होता है अथवा मेघपटलसे रहित शरद ऋतु में जैसे सरोवर का जल ऊपर से निर्मल रहता है, वैसे ही पूर्ण रूपसे मोह को उपशान्त करनेवाला उपशान्त कषाय होता है। जिसने कषाय नोकषायों को उपशान्त अर्थात् पूर्ण रूप से उदय के अयोग्य कर दिया है वह उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती होता है।

### क्षीणमोह गुणस्थान

णिस्सेस खीणमोहो फलिहाभल भायणुदय समचित्तो ।

खीण कसाओ भण्णदि निगगंथो वीयरारोहिं ॥ ६२ ॥

( गो. जी. । पृष्ठ १२७ )

सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक अन्तिम समय में चारित्र मोह की प्रकृति स्थिति, अनुभाग, और प्रदेशोंका बन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता के व्युच्छिन्ति होने पर उसके अनंतर समय में चारित्र मोहका भी पूर्ण रूपसे विनाश होने पर जीव क्षीण कषाय होता है। उसका चित्र अर्थात् भावमन विशुद्ध परिणाम अतिनिर्मल स्फटिक मात्र में भरे निर्मल जल के समान होता है। अर्थात् जैसे वह जल कलुषित नहीं होता है, उसी प्रकार यथाख्यात चरित्र से पवित्र क्षीण कषाय का विशुद्ध परिणाम भी किसी कारण से कलुषित नहीं होता है। वही परमार्थ निग्रन्थ है क्योंकि उसके कोई भी अंतरंग और बहिरंग परिग्रह नहीं होता है।

इस गुणस्थान में द्वितीय एकत्व वितर्क विचार ध्यान होता है ।

**जीघन मुक्त सकल परमात्मा—**

केवलणाण दिवायर किरणकलापवप्पणासिय ण्णाणो ।

णव केवल लब्धुगम सुजणिय परमप्प बवएसो ॥ ६३ ॥

( गो. जी. । पृष्ठ १२८ )

जिनने केवलज्ञान रूपी सूर्य के किरण समूहरूप जो पदार्थों को प्रकाशित करनेमें प्रतिष्ठा दिव्यध्वनि के विशेष उनके द्वारा, जिह्व जनों का अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया है । इससे सयोग केवली भगवान के भव्य जीवों का उपहार करने रूप परमार्थ पदार्थ सम्पदा कही है । तथा क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र्य, केवलज्ञान, केवल दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन ती केवल लब्धियोंके प्रकट होनेसे जिन्होंने वास्तव में परमात्मा नाम को प्राप्त किया है । इस से भगवान् अर्हन्त परमेष्ठि के अनन्त ज्ञानादि रूप स्वार्थ सम्पदा दिखायी है ।

**शैलेश अयोगी जिन—**

सीलोरीं संपत्ती, णिरुद्ध णिस्सेस आसवो जीवो ।

कम्मरय धिप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥

जो अठारह हजार शीलों के स्वामी पने को प्राप्त है, समस्त आसवों के रूक जाने से जो नवीन बध्यमान कर्म रज से सर्वथा रहित है । तथा मत्तोयोग-वचनयोग-और काय योग से रहित होने से अयोग जिन है ।

इस तरह जिनके योग नहीं है । तथा केवलि भी है वे अयोग केवली भगवान् परमेष्ठि है ।

**हरहंत का विशेष वर्णन—**

पुण्णकला अरहता तेसि किरिया पुणो हि ओवइया ।

मोहाक्षहि विरहिया तस्सा सा खाइग ति मदा ॥ ४५ ॥

( प्रवचन सा. । पृष्ठ १०४ )

पञ्च कल्याण पूजा जनकं त्रैलोक्य विजयकरं यत्तीर्थकरनाम पुण्य कर्म तत्फलभूता अहन्तो भवन्ति । तेषां सा दिव्यध्वनिरूप वचन व्यापारादि क्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्त्व विपरीत कर्मोदय जनितत्वा-  
त्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटं । निर्मोह शुद्धात्मतत्त्व प्रच्छादकमम-  
काराहङ्कारोत्पादन समर्थ मोहादि विरहितत्वाद्यतः । तस्मात् सा यद्य-  
प्यौदयिकी तथापि निर्विकार शुद्धात्मतत्त्वस्य विक्रियामकुर्वन्ती  
सती क्षायिकी मता ।

( प्र. सार. ना. वृ. । पृष्ठ )

तीर्थकर अरहन्त भगवान् पुण्यफल स्वरूप है अर्थात् पञ्च-  
महाकल्याण कि पूजा को उत्पन्न करनेवाला तथा तीन लोक को जीतने-  
वाला जो तीर्थकर नामकर्म पुण्यकर्म उसके फल स्वरूप अरहन्त तीर्थकर  
होते हैं । तथा उन अरहन्तों की दिव्यध्वनि रूप वचन का व्यापार  
तथा शरीरादि के व्यापार रूपक्रिया स्पष्ट रूप से औदयिक है । अर्थात्  
निष्क्रिय निज शुद्धात्म तत्त्व से उस की क्रिया विपरीत है क्योंकि  
शुद्धात्मतत्त्व में कर्मोदय जनित किसी भी प्रकार कि क्रिया नहीं है ।  
वह क्रिया मोहादि को से अर्थात् मोह रहित निज आत्म तत्त्व के  
रोकने वाले तथा ममकार अहंकार को पैदा करने को समर्थ मोहादि  
से रहित है । इसलिये क्षायिक है । वहाँ पर पुण्योदय रूप तीर्थकर  
नाम कर्म के अत्युत्पाद्य उदय से समवशरण में स्थित होकर के उपदेश  
करना और विहार करने रूप लिया होते हुये भी मोहनीय कर्म के  
अभाव से कर्म बन्ध नहीं होता है । तथा सात्ता वेदनीय कर्म का तीव्र  
उदय होते हुये भी वहाँ केवलज्ञानादि गुणों का घात नहीं होता है ।  
इसमें सिद्ध होता है कि भले पुण्य प्रकृति के सद्भाव से साक्षात् सर्व  
कर्म विनिर्मुक्त रूप द्रव्य मोक्ष नहीं है । परन्तु स्वात्मोपलाब्धि रूप  
भाव-जीवन मुक्त होने में पुण्य प्रकृति बाधक नहीं है । घाति कर्म रूप  
पाप प्रकृतियों का सद्भाव रहते हुये भाव मुक्त- ( जीवन मूपत )  
अवस्था प्राप्त हो नहीं सकती है ।

## सिद्धावस्था--

अटुविह कम्मवियला णिट्ठिय कज्जा प ठु ससारा ।

विट्ठु सयालत्थ सारा सिद्धा सिद्धि मम विसत्तु ॥ १ ॥

( ति. प. १ पृ. १ )

जो आठ प्रकारके कर्मों में विकल अर्थात् रहित है, करने योग्य कर्मोंको कर चुके है अर्थात् कृतकृत्य हैं, जिनका जन्म-मरण रूप संसार नष्ट हो चुका है और जिन्होंने ने सम्पूर्ण पदार्थों के सार को देख लिया है, अर्थात् जो सर्वज्ञ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठि मेरे लिये सिद्धि प्रदान करे।

णिरुक्खमरुद्धा णिट्ठिय कज्जा णिरुक्खा णिरंजणा णिरुक्खा ।

णिम्मल बोधा सिद्धा णिरुक्खं जाणंति हु एवकसमएणं ॥ १७ ॥

( ति. प. अध्या. ९ । पृ. ८७५ )

अनुमस स्वरूप से संयुक्त, कृतकृत्य, नित्य, निरंजन, निरोग, और निर्मल बोध से युक्त सिद्ध एक ही समय में समस्त पदार्थों को सर्वत्र जानते हैं।

आत्मोपादानसिद्ध स्वयमस्तिशयवहीत धार्धं विशालं ।

वृद्धि-हारा व्यपेक्षं विषय विराहितं निःप्रतिद्वन्द्व भावम् ।

अन्यद्रव्यान्तरपेक्षं निरुपमममितं शाश्वतं सर्व कालम् ।

उत्कृष्टानन्त सारं परम सुखमतस्य सिद्धस्य आत्मम् ॥ १७ ॥

( सि. भक्ति । पृष्ठ )

सिद्ध भगवान का अलौकिक परमसुख आत्मा से ही उत्पन्न स्वयं अतिशय सहित, संपूर्ण बाधाओं से रहित, विशाल, विस्तीर्ण, वृद्धि-हारा से रहित, संसारिक सुख से रहित, प्रतिद्वन्द्व से रहित, परद्रव्य निरपेक्ष उपमातीत अपरिमित, शाश्वतिक सर्वकाल स्थायी, परमोत्कर्षको प्राप्त अनन्त सार सहित महात्म्य से सहित है।

## उपसंहार--

अनादि काल से जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में कर्म कि तीव्रतासे



अत्यन्त अशुभ लेख्या-अशुभ भावों में रहते हुये अत्यन्त दारु दुःखों को देनेवाले आर्त-रौद्र ध्यान करता है । इस अत्यन्त आत्म पतनरूप निम्न श्रेणीय अवस्था में यह जीव द्रव्य तत्त्वादि के स्वभाव के बारे में अपरिचित रहता है । उस समय आत्म जागृति नहीं होती है । परन्तु सुप्तवस्था रहती है परन्तु जब कभी अंतरंग-बहिरंग समस्त कारणोंके सद्भाव होनेपर सद्गुरुका उद्बोधन प्राप्त करके चिर मोह निद्रा से जागृत होकर स्वयं को, गुरु को, विद्व को, सत्य को, तत्व को, दर्शन करता है । ( सम्यग्दर्शन प्राप्ति ) आनंदामृत स्वरूप स्वयं के स्वरूप को प्राप्त करने कि भावना होनेपर भी गमन करने का अनाश्यास होने के कारण आगे गमन अर्थात् चारित्र्य स्वरूप अपना अत्थान नहीं कर पाता है । जिस प्रकार नवजात शिशु गमन करने कि इच्छा होने पर भी आगे गमन नहीं कर पाता है । उससे वह असमर्थ यात्री ( असंयत सम्यग्दृष्टि ) अन्तरंग में बहुत ही दुःख हो जाता है । जब वह मार्ग के विषय में परिचय प्राप्त करके अल्प शक्ति संचय करता है, तब वह मंद गति से गमन करना प्रारंभ करता है । पूर्व अनभ्यास के कारण, अपरिचित यात्री होने के कारण, शक्ति कम होने के कारण समर्थ मार्ग जानने वाले पथिक-अहिंसादिओंका आलम्बन लेता है, लेना ही होता है । उनसे प्रेम-अनुराग रखता है । विशेष मार्ग परिचय प्राप्त करता है । उन्हीं के निर्देशन के अनुसार उन्हीं के पीछे पीछे, धीरे धीरे चलता है ।

“ नहि कृतमुष्कार साधव विरभरन्ति ”

ध्याय के अनुसार उन्हीं की सेवा, भक्ति, वन्दना करता है । उससे उसकी आत्मा कृतज्ञता के कारण रोमांच हो उठता है । मार्ग पर स्वयं आरुढ़ यती भी उसकी धर्म प्रीति-वात्सल्य को देखकर-जानकर इस भव्यात्मा को आगे बढ़ने का चारित्र्य पर आरुढ़ होने का प्रोत्साहन देते हैं । आज तक जितने भी अनंत सुख की आत्मिक सुख को प्राप्त कर चुके वे सभी चारित्र्य पर आरुढ़ होकर ही हुये हैं । यदि कोई बिना चारित्र्य के आत्मिक सुख की वांछा करता है, वह स्वयं को

घोका दे रहा है। दीर्घ संसारी है, अनंत दुःख को भोगने वाला है। जो वास्तविक संसार के दुःखों से संवेग-वैराग्य को प्राप्त हुआ है। संसार के दुःखों को हेय त्याज्य समझा है। वास्तविक सुख चाहता है। वह निश्चित चारित्र्य, जो व्यवहार निश्चयात्म है उसे धारण करेगा। धारक पुरुषों में अनुराग करेगा। उन्हें प्रोत्साहन देगा। जिससे वह अल्प चारित्र्यधारी धर्मोत्मा यती वरों के सम्मगदृष्टि वरोंके सान्त्वना, सहाय, मार्गदर्शन पाकर उसकी आत्मिक शक्ति बढ़ती जाती है।

धीरे-धीरे गमन करते हुए जब आत्म शक्ति बढ़ती जाती एवंकुछ अभ्यास के कारण उन यात्रीओं के स्वरूप को धारण करके उनके साथ गमन करने का प्रयास करता है। अर्थात् वह देशवृत्ती-देश चारित्र्य धारी यथाजात रूप को धारण करने वाले सकल महाव्रत का पारि-पालन करने वाले मुनियों के साथ गमन करते हुये अनेक वन, नदी पर्वत, कान्तार को उपसर्ग-परिषद्दों को सहते हुए पार करते हुये आगे बढ़ते जाते हैं। वह जानता है, मानता है कि रास्ता, लक्ष नहीं ( मोक्ष नहीं ) तो भी उन सब साधन के बिना साध्यरूप स्वरूप-मंजिल पर पहुँचा नहीं जा सकता। अतःएवं उन्हीं का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। आज नहीं कल इस भव में नहीं दूसरे भव में अवलम्बन तो लेना ही होगा। कोई औषध सेवन किये बिना रोग ठीक होता है ऐसा कहते हुये साधनरूप बाह्य उपचारों का लोप ही करे तो मूर्खता शिवाय दूसरा क्या कहा जाय ? अतः साध्य कि सिद्धि के लिये सम्यक् साधन-बाह्य-अभ्यन्तर सामग्री आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। परन्तु वह गमन ( साधन ) रूप क्रिया भी स्वस्वरूप नहीं है। परन्तु जितना-जितना गमन होगा उतना-उतना लक्ष्य ( मंजिल ) समीप होगा। गमन करते-करते अर्थात् चारित्र्य पालन करते हुये आगे बढ़ेंगे तब स्वयं ही पीछे का रास्ता छुड़ता जाता है। अर्थात् विकल्प अवस्था में करने योग्य क्रियाये स्वयं ही गौण हो जाते हैं,। जब वह पथिक लक्ष्य भूत स्वस्वरूप में पहुँच जाता है तब वह यात्रीक ज्ञानबन्ध रूप अमृत में लीन होकर गमनागमन, रूप समस्त

संकल्प-विकल्प से रहित होकर निर्विकल्प रूप स्वस्वरूप में शाश्व-  
तिक अवस्थान करता है । शाश्वत धाम को प्राप्त करता है ।  
वही परम रास्ता है, न गमन है, न गमन का कारण है । वह स्वयं  
अब साध्य-साधक के विचारों से कर्त्ता-हर्त्ता पन से परे होकर कृत-  
कृत्य हो जाता है । स्वात्मोत्थ, निराबाध, अतीन्द्रिय सहज ज्ञाना-  
मृतपान में सदा के लिये लीन हो जाता है ।

उस परम कृतकृत्य, ज्ञानामृतमय, अलौकिक, अपुनरागम पथ के  
पथिक को अनन्तानन्त त्रिकरण शुद्धिपूर्वक नमोज्स्तु ।

“ अन्वे तद् गुण सन्ध्ये ”

जयतु अपुनरागमस्य पथः ॥

जयतु अपुनरागमस्य पथिकः ॥

जयतु अपुनरागम स्वरूपः ॥

मंगलं भगवान् जिनः मंगलं श्री जिमवाणी ।

मंगलं आत्मसाधकः मोक्षमार्गस्तु मंगलम् ॥ १ ॥

मंगलं देवादिवीरः मंगलं कुन्धुसागरः ।

मंगलं चिन्मयरूपः जीवधर्मस्तु मंगलम् ॥ २ ॥

जैन धर्मस्तु मंगलम् ॥

वस्तु धर्मस्तु मंगलम् ॥

आत्म धर्मस्तु मंगलम् ॥





❀ श्री बीतरागाय नमः ❀

आचार्यवर्य श्री देवसेन विरचित

## **-भाव-संग्रह-**

धर्मराज, गरम्बती दिवाकर, पं. लालाराम शान्शी द्वारा निर्मित हिन्दी  
भाषा टीका सहित

❀ मंगलाचरण ❀

वन्दे शान्तिजिनेन्द्र श्रीजितभक्तं 'समन्तभद्र' च ।

वन्दे शान्तिपयोधि रत्नत्रयलब्धये भक्त्या ॥

मैं लालाराम शान्शी रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए भक्तिपूर्वक  
श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्रदेव को वन्दना करता हूँ, परम जिनभक्त श्री  
समन्तभद्रम्यामी की वन्दना करता हूँ और आचार्यश्री शान्तिसागर की  
वन्दना करता हूँ ।

आचार्य विरचित-मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

पणमिय सुरसेणगुणं मुनिगणहरवन्दियं महावीरं ।

बोख्छामि भावसंग्रह मिणमो भव्यप्रबोधहृदं ॥ १ ॥

प्रणम्य सुरसेननुतं मुनिगणधरवन्दितं महावीरम् ।

वक्ष्ये भावसंग्रहमेतं भव्यप्रबोधनार्थम् ॥ १ ॥

अर्थ— जो महावीर स्वामी आचार्य श्री देवसेन के द्वारा वन्दनीय

हैं तथा मुनि और गणधर देवों के द्वारा वन्दनीय हैं ऐसे श्री महावीर स्वामी को नमस्कार कर मैं (आचार्य श्रीदेवसेन) भव्यजीवोंको आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये इस भाव संग्रह ग्रंथकी रचना करता हूँ ॥ १ ॥

जीवस्स ह्वंति भावा जीवा पुण दुब्बिह भेयसंजुत्ता ।

मुक्ता पुण संसारी, मुक्ता सिद्धा निरवलेवा ॥ २ ॥

जीवस्य भवन्ति भावा, जीवाः पुनर्द्विविधभेदसंयुक्ताः ।

मुक्ता पुनः संसारिणो, मुक्ताः सिद्धा निरवलेपाः ॥ २ ॥

अर्थ— भाव सब जीवों के ही होते हैं अन्य अजीवादिक पदार्थोंके भाव नहीं होते । तथा समस्त जीवों के दो भेद हैं :—एक मुक्त और दूसरे संसारी । जो जीव राग द्वेष मोह आदि समस्त विकारोंमें रहित हैं और समस्त कर्मोंमें रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेश्वरी को मुक्त जीव कहते हैं ।

लोक्यम्मसिहरवासी केवलणाणेण मुणिय तडलोया ।

असरीरा गइरहिया सुणिच्चला सुद्धभावद्धा ॥ ३ ॥

लोकाग्रशिखरवासिनः केवलज्ञानेन ज्ञातत्रिलोकाः ।

अशरीरा गतिरहिताः सुनिश्चलाः शुद्धभावस्थाः ॥ ३ ॥

अर्थ— वे सिद्ध परमेश्वरी वा मुक्त जीव लोक शिखरपर विराजमान हैं । अपने केवलज्ञान के द्वारा तीनों लोकों को एक ही सयममें साक्षात् देखते और जानते हैं । तथा वे सिद्ध परमेश्वरी शरीर रहित हैं, चारों गतियों के परिभ्रमणसे रहित हैं, चारों गतियों में से किसी गतिमें भी नहीं हैं, अत्यन्त निश्चल हैं और अपने आत्मा के शुद्ध भावों में सदा स्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

जे संसारी जीवा चउगइपज्जायपरिणया णिब्बं ।

ते परिणामे णिणह्वि सुहासुहे कम्मसंगहणे ॥ ४ ॥

ये संसारिणे । जीवाश्चतुर्गतिपर्यायपरिणता नित्यम् ।

ते परिणामान् गृह्णन्ति शुभाशुभान् कर्म-संग्रहणे ॥ ४ ॥

अर्थ— जो जीव सदा काल चारों गतियों की पर्यायों में परिणत होते रहते हैं ऐसे जीवों को संसारी जीव कहते हैं । तथा ऐसे संसारी जीव कर्मोंका का संग्रह करने के लिए शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्मों को ग्रहण करते रहते हैं ।

भावार्थ— देवगति, मनुष्यगति, तिर्यश्चगति और नरकगति ये चार गतियाँ हैं । जो जीव इन चारों गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं वे जीव संसारी कहलाते हैं और ऐसे जीवों के शुभ परिणाम वा अशुभ परिणाम होते ही रहते हैं । उन्हीं शुभ या अशुभ परिणामों से समस्त कर्मों का संग्रह होता रहता है ॥ ४ ॥

भावेण कुण्ड पापं पुण्यं भावेण तद्वयं भुक्त्वा वा ।

द्वयमंतरं नाकृणं जं सेयं तं समाचरहं ॥ ५ ॥

भावेन करोति पापं पुण्यं भावेन तथा च मोक्षं वा ।

इत्यन्तरं ज्ञात्वा यच्छयेस्तं समाचरत ॥ ५ ॥

अर्थ— यह जीव अपने ही परिणामों से पाप उपार्जन करता है, अपने ही परिणामों से पुण्य उपार्जन करता है और अपने ही परिणामों से मोक्ष प्राप्त करता है । इस प्रकार अपने ही परिणामों में इतना भारी अन्तर समझकर हे भव्यजीव ! आत्मा के जो परिणाम आत्माका कल्याण करनेवाले हों उन्हीं परिणामों का तू आश्रय ले ।

भावार्थ— शुभ अशुभ वा शुद्ध भाव अपने आधीन है । यह जीव किसी जीव को मारने के भाव भी कर सकता है और उसके बचाने के भी भाव उत्पन्न कर सकता है । दोनों प्रकारके भाव उत्पन्न करना उसीके आधीन है । तथा आत्मा का कल्याण जीवों की रक्षा करने में होता है और उनके मारने के परिणामों में पाप होता है । यही समझकर जीवों को अशुभ भावों का—पापरूप भावों का त्याग कर देना चाहिये और शुभ भावों को श्रावण करना चाहिये । देखो—हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप कहलाते हैं । इन्हीं पापोंके करनेमें यह जीव नरक जाता है; परन्तु स्वयंभू रमण समुद्रमें उत्पन्न होनेवाला

तन्दुल मत्स्य इन पाँचों पापोंमें से कोई पाप नहीं करता परन्तु जीवों के हिंसा करने के भाव करता रहता है। उन भावोंके ही कारण वह सातवें नरक जाता है। यही समझकर अपने भाव वा परिणाम सदा संभालते रहना चाहिए। पाँचों पापों के करने के भाव कभी नहीं करने चाहिए। पाप कर्म वा पुण्यकर्मों का बन्ध बन्धों से ही होता है। इसलिए संसारी जीवों को नरकादिके दुःखों से बचने के लिए पाप रूप अशुभ भावोंका त्याग करना ही आत्मा का कल्याण करनेवाला है।

सेवो शुद्धो भावो तस्सुखलंभोऽप्य होइ गुणठाणे ।

पणदहपभादरहिए सयलवि चारित्तजुत्तस्स ॥ ६ ॥

सेव्यः शुद्धो भावः तस्योपलंभश्च भवति, गुणस्थाने ।

पंचदशप्रभावरहिते सकलस्यापि चारित्र्ययुक्तस्य ॥ ६ ॥

अर्थ— इन तीनों प्रकारके भावों में शुद्ध भाव ही सेव्य है, धारण करने योग्य है। तथा उस शुद्ध भाव की प्राप्ति सकल चारित्र्य को धारण करने वाले महामुनियों के पन्द्रह प्रमादों से रहित ऐसे सातवें अध्रमन्त गुणस्थान में होती है।

भावार्थ— अशुभ भावतो त्याग करने योग्य हैं ही परन्तु शुभ भाव भी त्याग करने योग्य है। क्योंकि जिस प्रकार अशुभ भावों से नरकादि दुर्गतियों का बन्ध होता है। उसी प्रकार शुभ भावों से देवादि शुभ गतियों का बन्ध होता है। इस प्रकार शुभ अशुभ दोनों ही कर्म बन्ध करने वाले हैं। केवल शुद्धभाव ही कर्मबन्धन से छुड़ाकर मोक्षकी प्राप्ति कराने वाला है। इसलिए शुद्धभाव ही उपादेय और आत्माका कल्याण करने वाला है। शेष शुभ और अशुभभाव दोनों ही त्याज्य है। वह शुद्ध भाव श्रेणी आरोहण करने वाले महामुनियों के ही होता है। शुद्ध भावों को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ महामुनि ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये कहना चाहिये कि मोक्षका कारण निर्ग्रन्थालिङ्ग ही है। अन्य किसी अवस्थासे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

सेसा जे वे भावा सुहासुहा पुण्णपाव संजयणया ।

ते पचभाव मिस्सा होंति गुणट्ठाणसासेज्ज ॥ ७ ॥

शेषौ यौ द्वौ भावौ शुभाशुभौ पुण्यपापसंजनकौ ।

तौ पंचभावमिश्रौ भवन्तौ गुणस्थानमाश्रित्य ॥ ७ ॥

अर्थ— शुद्धभावों को छोड़कर शेष जो शुभ अशुभ भाव है वे दोनों ही पुण्य पापों को उत्पन्न करनेवाले हैं । तथा वे दोनों ही शुभ अशुभ भाव, औदयिक आदि पांचों भावों से मिलकर गुणस्थानों के आश्रयसे रहते हैं ॥ ७ ॥

अउदइउ परिणामउ खय उवसमिउ तहा उवसमो खइओ ।

एए पंच पहाणा भावा जीवाण होंति जियलोए ॥ ८ ॥

औदयिकः पारिणामिकः क्षायोपशमिकस्तथौपशमिकःक्षायिकः

एते पंच प्रधाना भावा जीवानां भवन्ति जीवलांके ॥ ८ ॥

अर्थ— औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक ये पांच भाव समस्त जीवों के प्रधान वा मुख्य भाव कहलाते हैं ।

भावार्थ— ये पांच भाव मुख्य हैं । इन्हीं पांचों भावों में जब अशुभ शुभ शुद्ध भाव मिल जाते हैं तब गुणस्थानों की रचना बन जाती है ॥ ८ ॥

तेचिय पउजाय गया चउदहगुणठाण नामया भणिया ।

लहिऊण उदय उवसम खयउवसस खउं हु कम्मणस ॥ ९ ॥

ते खंव पर्यायगताश्चतुर्दशगुणस्थाननामका भणिताः ।

लब्ध्वा उदयमूपशमं क्षयोपशमं क्षयं हि कर्मणः ॥ ९ ॥

अर्थ - वे शुभ अशुभ और शुद्धभाव ही कर्मों के उदय होने पर उपशम होने पर, क्षयोपशम होने पर, वा क्षय होनेपर अनेक प्रकारकी पर्यायों को प्राप्त होजाते हैं और उन भावों की वे पर्यायें ही चौदह गुण-स्थानों के नामसे कही जाती हैं ।

भावार्थ— कर्मों के उदय होने से औदयिक भाव होते हैं, कर्मों के उपशम होने से औपशमिकभाव होते हैं, कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे क्षायो-पशमिकभाव होते हैं, और कर्मोंके क्षय होनेसे क्षायिक भाव होते हैं ।



इन्हीं भावोंमें शुभ अशुभ शुद्ध भाव मिलने से चौदह गुणस्थान बन जाते हैं ।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरियसम्मो य देसविरदो य ।

विरओ पमत्त इयरो अपुब्ब अणियत्ति सुहमो य ॥ १० ॥

उवसन्त खीणमोहो सजोइकेवलजिणो अजोगो य ।

ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायब्बा ॥ १० ॥

मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं अविरतसम्यक्त्वं च देशविरतं च ।

विरतं प्रमत्तं इतरदपूर्वमनिवृत्ति सुक्ष्मं च ॥ ११ ॥

उपशान्तक्षीणमोहे सयोग केवलि जिने । अयोगो च ।

एतानि चतुर्दश गुणस्थानानि क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥ ११ ॥

अर्थ— मिथ्यात्व गुणस्थान १ सासादन गुणस्थान २ मिश्रगुणस्थान ३ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान ४ देशविरत अथवा विरत विरत गुणस्थान ५ प्रमत्त विरत ६ इतर अर्थात् अप्रमत्त विरत ७ अपूर्व करण गुणस्थान ८ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान । ९ सूक्ष्म संपराय गुणस्थान १० उपशान्तमोह गुणस्थान ११ क्षीणमोह गुणस्थान १२ सयोगि केवली गुणस्थान १३ अयोगि केवली गुणस्थान १४ ये अनुक्रमसे चौदह गुणस्थान कहलाते हैं । जो जीव समस्त कर्मों को नष्ट कर इनमें पार हो जाते हैं उनको सिद्ध वा मुक्त समझना चाहिये ।

अब आगे अनुक्रमसे इन्हीं गुणस्थानों का स्वरूप कहते हैं ।

मिच्छतस्सुदणं य जीवे सम्भवइ उदइयो भावो ।

तेण य मिच्छादिद्वी ठाणं पावेइ सो तइया ॥ १२ ॥

मिथ्यात्वस्योदयेन च जीवे संभवति औदयिको भावः ।

तेन च मिथ्यादृष्टिस्थानं प्राप्नोति स तत्र ॥ १२ ॥

अर्थ— मिथ्यात्व कर्मके उदय से इस जीवके औदयिकभाव प्रगट होते हैं । तथा मिथ्यात्व कर्म के उदय होनेसे प्रगट हुए औदयिक भावों से इस जीवके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है ।

भावार्थ— आठ कर्मोंमें एक मोहनीय कर्म है जो सब कर्मों में प्रबल है। उसके अट्ठाईस भेद हैं। मोहनीय कर्मके मूलमें दो भेद हैं— दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं— मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इसी प्रकार चारित्र्य मोहनीय के पच्चीस भेद हैं। अनन्तानुवन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुंवेद, नपुंसकवेद। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शन मोहनीय का एक मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है तथा सादि मिथ्यादृष्टि के तीनों दर्शन मोहनीय कर्मों का उदय रहता है। इसका भी कारण यह है कि प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व होने के समय ही मिथ्यात्व कर्म तीन भागों में बंट जाता है। इसके पहले वह एक मिथ्यात्व रूप ही रहता है। इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्या कर्म का उदय रहता है और उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

आगे उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से कैसे भाव होते हैं सो दिखलाने हैं:-

मिच्छत्तरस पञ्चो जीवो विवरीय दंसणो होई ।

ण मुणइ हियंच अहियं पित्तज्जुरजुओ जहा पुरिसो ॥ १३ ॥

मिथ्यात्वरसप्रयुक्तो जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।

न जानाति हितं चाहितं पित्तज्वरयुक्तो यथा पुरुषः ॥ १३ ॥

अर्थ— उस मिथ्यात्व कर्म के उदय होने से यह जीव विपरीत दृष्टि हो जाता है और पित्तज्वर वाले पुरुष के समान अपने हित अहित को नहीं जान सकता ।

कडुयं मण्णइ मधुरं मधुरं पि य तं भणेइ अइ कडुयं ।

तह मिच्छत्तपञ्चो उत्तमधम्मं ण रोचेई ॥ १४ ॥

कटुकं मन्यते मधुरं मधुरमपि च तद् भणति अतिकटुकम् ।

तथा मिथ्यात्वप्रवृत्तः उत्तमधर्माय न रोचते ॥ १४ ॥

अर्थ— जिस प्रकार पित्तज्वर वाला पुरुष कड़वे पदार्थ को मोठा कहता है और मीठे पदार्थ को कड़वा कहता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व में प्रवृत्त हुआ यह जीव उत्तम धर्म में रुचि नहीं कर सकता :

भावार्थ— यहां पर दर्शन अथवा दृष्टि गद्व का अर्थ श्रद्धान करना है । श्रद्धान दो प्रकार का होता है—एक सम्यक् श्रद्धान और दूसरा मिथ्या श्रद्धान । सम्यक् श्रद्धान आत्मा का एक गुण है जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से विपरीत हो जाता है । इसी को मिथ्या श्रद्धान कहते हैं । जिस प्रकार पित्तज्वर वाले पुरुष को मोठा पदार्थ भी कड़वा लगता है उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्म के उदय से यह जीव यथार्थ धर्म में रुचि वा श्रद्धान नहीं करता और इसीलिये ही वह अपने आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता ।

यही बात आगे दिखलाते हैं :-

अइ कणय मज्ज कोइस महुरामोहेण मोहियो संतो ।  
ण मुणय कज्जाकज्जं मिच्छादिट्ठो तथा जीवो ॥ १५ ॥

यथा कनकमद्यकोद्वधमधुरमोहेन मोहितः सन् ।  
न जानाति कार्याकार्यं मिथ्यादृष्टिस्तथा जीवः ॥ १५ ॥

अर्थ— जिस प्रकार धतूरा मद्य और कोदों की मधुरता के मोह से मोहित हुआ यह जीव कार्य अकार्य को नहीं जानता, अपना हित नहीं पहचानता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपना हित अहित वा कार्य अकार्य नहीं जान सकता । विपरीत श्रद्धान होने के कारण वह अपने आत्मा का स्वरूप अथवा समस्त तत्त्वों का स्वरूप विपरीत ही समझता है और इसीलिये वह अपने आत्मा का अहित ही करता रहता है ।

आगे उसी मिथ्यात्व के भेद बतलाते हैं ।

तं पि हु पञ्चपयारं वियरो एयंतविणयसंजुत्तं ।  
संसय अण्णाणमयं विवरीओ होइ पुण बंभो ॥ १६ ॥

तदपि हि पंचप्रकारं विपरीतं एकान्तविनयसंयुक्तम् ।

संशयाज्ञानमतं विपरीतो भवति पुनः ब्राह्मः ॥ १६ ॥

अर्थ— वह मिथ्यात्व पांच प्रकार है—विपरीत मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, मज्ज मिथ्यात्व, अज्ञानता वा अज्ञान मिथ्यात्व । इन पांचों प्रकार के मिथ्यात्वों में से ब्राह्म मत विपरीत मिथ्यात्व है ।

सष्णइ जलेण शुद्धिं तित्ति मंसेण पिसरवग्गस्स ।

पशुकयवहेण सागं धम्मं गोजोणिफासेण ॥ १७ ॥

मन्यते जलेन शुद्धिं तृप्तिं मांसेन पितृवर्गस्य ।

पशुकृतवधेन स्वर्गं धर्मं गोयोनिस्पर्शनेन ॥ १७ ॥

अर्थ— जो लोग जल स्नान से आत्माकी शुद्धि मानते हैं, मांस भक्षण से पितृवर्ग की तृप्ति मानते हैं, पशुओं का वध करने वा पशुओं का होम करने से स्वर्ग की प्राप्ति मानते हैं और गाय की योनि का स्पर्श करने से धर्म की प्राप्ति मानते हैं, इन सब में धर्म की विपरीतता किस प्रकार है वह सब आगे दिखलावेंगे ॥ १७ ॥

आगे जल से आत्मा की शुद्धि मानने वालों के लिये कहते हैं

जइ जलण्हाणपडत्ता जीवा मुच्चेइ णिययपावेण ।

तो तत्थ असिथ जलयरा सव्वे पावंति विवलोयं ॥ १८ ॥

यदि जलस्थानप्रवृत्ता जीवा मुच्यन्ते निजपापेन ।

तर्हि तत्र वसन्तो जलचराः सर्वे प्राप्नुवन्ति हिलोकम् ॥ १८ ॥

अर्थ— यदि जल स्नान करने से ही वे जीव अपने पापोंसे छूट जाते हों तो जल में ही निवास करने वाले समस्त जलचर जीवों को स्वर्ग की प्राप्ति अवश्य हो जानी चाहिये । भावार्थ— स्वर्ग की प्राप्ति पापों के नाश हो जाने से होती है । तीर्थ स्नान करने से पापों का नाश नहीं होता, पापों का नाश तो जप तप ध्यान से होता है । जिस तीर्थ स्नान से लोग स्वर्गप्राप्ति मानते हैं उसी तीर्थ में अरबों खरबों मत्स्य

मछली, मगर, कच्छप, आदि जलचर जीव रहते हैं और वे सब एक दूसरे का भक्षण करते रहते हैं और इस प्रकार वे महा पाप उपार्जन करते रहते हैं। यदि तीर्थ स्नान से ही पापों को निवृत्ति मानी जाय तो प्रतिक्षण महापाप उपार्जन करने वाले उन समस्त जलचरों को स्वर्ग की प्राप्ति हो जानी चाहिये परंतु यह असंभव बात है। इसलिये जल स्नान से पापों की शुद्धि मानना विपरीत श्रद्धान है। हमने फरुखानाद में स्वयं देखा है कि कितने ही लोग गंगा स्नान कर उसी गंगा के किनारे गोमुखी में माला डालकर जप करते हैं और मछली मारने के लिये एक एक बंशी भी डालदेते हैं। इस प्रकार तीर्थ स्नान और जप करते हुए भी मछली मारने का महापाप उत्पन्न करते रहते हैं। यह सब उनका विपरीत धर्म है।

आगे-तीर्थ स्नान से पाप नष्ट क्यों नहीं होते यही बात दिखलाते हैं।

जं कम्मं विद्धवद्धं जीव पएसेहि ति विहजोएण ।

तं जलफासणिमित्ते कह फहहि ति थण्हाणेण ॥ १९ ॥

यत्कर्म दृढवद्धं जीवप्रदेशेस्त्रिविध्ययोगेन ।

तज्जलस्पर्शनिमित्ते कथं स्फुटति तीर्थस्नानेन ॥ १९ ॥

अर्थ— जो कर्म मन वचन काय के योग से जीव के प्रदेशों के साथ दृढतासे बंधे हुए है वे कर्म तीर्थ-स्नान करने मात्र से केवल जल का स्पर्श करने से कैसे छूट सकते हैं ?

भावार्थ— कर्मों का बंध योग और कषायों के निमित्त से होता है। इसलिये वह योगों का निग्रह करने से और कषायों का त्याग करने से ही छूट सकता है केवल जल के स्पर्श करने मात्र से वे कर्म कभी नहीं छूट सकते। कर्म के प्रदेश और कर्म सहित आत्मा के प्रदेश अत्यंत सूक्ष्म है। इसलिये जल का स्पर्श वहां तक पहुंच ही नहीं सहता। फिर भला उस जल से आत्मा की शुद्धि कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

मलिनो देहो निष्कञ्चं देही पुन निम्मलो सदा रूढी ।

को इह जलेण सुज्झइ तस्मा ण्हाणेण णहि सुद्धी ॥ २० ॥

मलिनं देहं नित्यं देहो पुनः निर्मलः सदाऽरूपी ।

क इह जलेन शुद्धयति तस्मात् स्नानेन न हि शुद्धिः ॥ २० ॥

अर्थ— यह शरीर मल मूत्र से भरा हुआ है, रजोवीर्य से उत्पन्न हुआ है और रुधिर मांस आदि घृणित वस्तुमय है। इसलिये वह सदा मलिन ही रहता है। तथा इस शरीर में रहने वाला आत्मा सदा निर्मल रहता है और वह सदा अरूपी ही रहता है। ऐसी अवस्था में विचार करना चाहिये कि इस तीर्थ जल से किसकी शुद्धि होती है। आत्मा अरूपी है, इसलिये उसकी शुद्धि तो हो नहीं सकती तथा रुधिर मांस मय यह शरीर सदा अशुद्ध ही रहता है इसलिये वह भी शुद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार जल से × आत्मा की शुद्धि कभी नहीं हो सकती।

× गीता में लिखा है।

अत्यंत मलिनो देहो देही चात्यंतनिर्मलः ।

उभयोरंतर दृष्ट्वा कस्य शौचं विधीयते ॥

अर्थ— शरीर अत्यंत मलिन है और आत्मा अत्यंत निर्मल है। आत्मा और शरीर इन दोनों में महान् अंतर है। फिर भला तीर्थ स्नान से किसकी शुद्धि हो सकती है अर्थात् किसी की नहीं।

और भी लिखा है—

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानेन शुद्धयति ।

शतशोपि जलैर्घात मद्यभांडमिवाशुचि ॥

अर्थ— यह चित्त अंतरंग में अत्यंत दूष्ट है इसलिये वह तीर्थ स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकता जिस प्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा सदा अशुद्ध ही रहता है यदि उसे सौ सौ बार जलसे धोया जायतो भी वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह मलिन हृदय तीर्थ स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सका।

अरण्ये निर्जले देशेऽङ्गुचित्वाद् ब्राह्मणो मृतः ।

वेदवेदांगतत्त्वज्ञः कां गतिं स गमिष्यति ॥

यद्यसौ नरकं याति वेदाः सर्वे निरर्थकाः ।

अथस्वर्गमवाप्नोति जलशौचं निरर्थकम् ॥

आगे आत्मा की शुद्धि किस प्रकार होती है यही बात दिखलाते हैं ।

मुज्जद् जीवो तवसा इन्द्रियखल निग्रहेण परमेण ।

रयणतयसंजुतो जह कणयं अग्निजोएण ॥ २१ ॥

शुद्ध्यति जीवस्तपसा इन्द्रियखल निग्रहेन परमेण ।

रत्नत्रय संयुक्तो यथा कनकं अग्नियोगेन ॥ २१ ॥

अर्थ— वेद वेदांग को जाननेवाला कोई एक ब्राह्मण कभी जल रहित वन में अथवा जल रहित किसी देश में पहुँच गया और वहाँ पर वह बिना जल शुद्धि किये ही मर गया । अब बतलाइये वह किस गति को प्राप्त होगा । यदि वह बिना शुद्धि के कारण नरक गति को प्राप्त होगा तो उसके सब वेद निरर्थक हो जाते हैं । उसने जो समस्त वेद वेदांग पढ़े हैं उनका पढ़ना जानना सब निष्फल हो जाता है । यदि वह वेद वेदांग पढ़ने के कारण स्वर्ग को जाता है तो फिर जल शुद्धि व्यर्थ हो जाती है । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा की शुद्धि जल से कभी नहीं हो सकती ।

आत्मा नदी संयमशोयपूर्णा मत्पावहा शीलतटा क्षोभिः ।

तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र न कारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

अर्थ— हे अर्जुन यह शुद्ध आत्मा एक नदी है जो संयम रूपी जल से भरी हुई है, सत्य वचन ही इसके प्रवाह हैं, शील पालन करना ही इसके किनारे हैं और दया करना ही इसकी लहरें हैं । हे अर्जुन तू ऐसी शुद्ध आत्मा में स्नान हो तभी इस आत्मा की पूर्ण शुद्धि हो सकती है ।

अर्थ— जिस प्रकार अग्नि के संयोग से सोना शुद्ध हो जाता है

इसी प्रकार यह रत्नत्रय से मुशोभित होने वाला आत्मा तपश्चरण से तथा इन दृष्ट इन्द्रियों का परम निग्रह करने से ही शुद्ध होता है ।

यह अंतरात्मा जल से कभी शुद्ध नहीं हो सकता ।

चित्तं समाधिभिः शुद्धं वदनं सत्यभाषणैः ।

ब्रम्हचर्यादिभिः कायाः शुद्धो गंगा विनापि सः ॥

समाधि वा ध्यान धारणा करने से चित्त शुद्ध होता है, सत्य भाषण से मुख शुद्ध होता है और ब्रम्हचर्य आदि से शरीर शुद्ध होता है । इस प्रकार वे सब विना गंगा स्नान के ही शुद्ध हो जाता है ।

कामरागमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।

न ते जलेन शुद्ध्यन्ति स्नात्वा तीर्थक्षतेरपि ॥

अर्थ— जो पुरुष कामके रागसे मदोन्मत्त है और जो स्त्रियों के वशीभूत है ऐसे पुरुष सैकड़ों तीर्थों में स्नान करने पर भी उस जल से कभी शुद्ध नहीं हो सकते ।

गंगातोयेन सर्वेण मृद्धारैः पर्वतोपमैः ।

आम्लैरप्याचरन् शौचं भावदुष्टो न शुद्ध्यति ॥

भावार्थ— इस आत्मा की शुद्धि रत्नत्रय से होती है इन्द्रियों का निग्रह करने से होती है और तपश्चरणा से होती है । तीर्थस्नानसे आत्मा की शुद्धि कभी नहीं हो सकती ।

अर्थ— जिन जीवों के भाव दुष्ट है वे पुरुष यदि समस्त गङ्गाके जलसे शुद्धि करें तथा अनेक पर्वतोंके समान मिट्टी के ढेरमें शुद्धि करें, उस मिट्टी को रगड़ रगड़कर गङ्गाजलसे शुद्धि करें तथापि वे दुष्ट परिणामों को धारण करनेवाले पुरुष कभी शुद्ध नहीं हो सकते ।

मनो विशुद्धं पुरुषस्य तीर्थं वाचां यमश्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।

एतानि तीर्थानी शरीरजानि, मोक्षस्य मार्गं परि दर्शयन्ति ॥

अर्थ— पुरुषके लिये मनका विशुद्ध होना तीर्थ है वचनों का संयम धारण करना वा मौन धारण करना तीर्थ है, इन्द्रियों का निग्रह करना



तीर्थ है और तपश्चरणा करना तीर्थ है । ये सब शरीर जन्य तीर्थ हैं जो जो मोक्षमार्ग की ओर संकेत करते हैं, मोक्षमार्ग को दिखलाते हैं ।

चित्तं रागादिभिर्दुष्टमलीकवचननैर्मुञ्चम् ।

जीवघातादिभिः कायस्तम्य गङ्गा पराङ्मुखी ॥

अर्थ— जिनका चित्त रागद्वेषसे दुष्ट है, जिनका मुख मिथ्या वचनों से दृष्ट है और जिनका शरीर जीवों का वध वा हिंसा करने के कारण दृष्ट है ऐसे जीवों से गङ्गा भी प्रतिकूल रहती है ।

आगे तीर्थस्नान से आत्मा को शुद्धि मानने वालों को कैसा फल मिलता है यही बात दिखलाने हैं ।

श्रृङ्गाओ चिय शुद्धि जीवा इच्छन्ति जडत्वेण ।

भ्रमिहिति ते वराया चउरासो जोणि लक्खाइ ॥ २२ ॥

स्नानादेव शुद्धि जीवा इच्छन्ति ये जडत्वेन ।

भ्रमिष्यन्ति ते वराकाश्चतुरशीतियोनिलक्षाणि ॥ २२ ॥

अर्थ— जो जीव अपनी जड बुद्धिके कारण स्नान करनेमात्र से ही आत्मा की शुद्धि मानते हैं वे लुच्छ पुरुष ~ चौरासीलाख योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं ।

आगे कैसे जीव कभी शुद्ध नहीं होते सो दिखलाते हैं :-

× चौरासीलाख योनियां—

णिच्चदरधादुसत्तय तरुदस विवलिदियेसु छच्चेव्वं ।

मुरणरयतिरियचउरो चउदस मणुजे सदसहस्सा ॥

नित्य निगोदके सात लाख, इतरनिगोदके सात लाख, पृथिवी कायिक के सात लाख, जल कायिक के सात लाख, अग्नि कायिक के सात लाख, वायु कायिक के सात लाख, वनस्पति कायिक के दस लाख दो इन्द्रियके दो लाख, तेइन्द्रियके दो लाख, चीइन्द्रियके दो लाख, देवों के चार लाख, नारकियों के चार लाख, पंचेन्द्रिय तीर्थचों के चार लाख और मनुष्यों के चौदह लाख । इस प्रकार समस्त संसारी जीवों की चौरासी लाख योनियां हैं ।

जे सियरमणासत्ता विसयपमत्ता कसायरसविसिया ।  
 एहंता वि ते ण शुद्धा गिह्याधारिषु बंदूता ॥ २३ ॥  
 ये स्त्रीरमणासक्ता विषयप्रमत्ता कषायरसवशिताः ।  
 स्नान्ते अपि ते न शुद्धा गृहव्यापारेषु वर्तमानाः ॥ २३ ॥

अर्थ— जो जीव स्त्रियों के भोगों में सदा आसक्त रहते हैं, विषय भोगों में लगे रहते हैं और जो क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों के बशीभूत रहते हैं ऐसे घर के व्यापार में लगे रहनेवाले पुरुष स्नान करने मात्रसे कभी शुद्ध नहीं हो सकते ।

सवस्तेण ण लिसा मायापउरा य जायणसीला ।  
 किं कुणइ तेसु ण्हाणां अक्खंतरे भहिय पाषाणाम् ॥ २४ ॥  
 सर्ववस्तुना न तृप्ता माया प्रचुराश्च याचनाशीलाः ।  
 किं करोति तेषां स्नानमभ्यन्तर गृहीत पापानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ— जिनको समस्त पदार्थों का दान दे दिया जाय तो भी जो कभी तृप्त न हो, जो सदा काल अनेक प्रकार की मायाचारी करते रहते हो, जो सदा याचना करते रहते हों और जिन्होंने अपने आत्मामें अनेक पापों का संग्रह कर रक्खा हो ऐसे जीवों की शुद्धि के लिये भला स्नान क्या कर सकता है अर्थात् कुछ भी नहीं ।

भावार्थ— यद्यपि स्नान करने से अनेक जीवोंका घात होता है जलमें अनेक सूक्ष्म त्रस जीव रहते हैं बिना छने पानीसे स्नान करने से उन समस्त त्रस जीवों का तथा जलमें रहनेवाले जल कायिक जीवों का घात हो जाता है । इसके सिवाय जिस फर्श पर वह जल गिरता है वहां भी मिट्टी जलके संयोग से अनेक जीव उत्पन्न होकर मर जाते हैं । इस प्रकार स्नान करने से अनेक प्रकार की हिंसा होने पर भी भगवान् अरहंत देव की पूजा करने के लिये और सुपात्र वा पात्रों को दान देनेके लिये छने हुए पानी से स्नान करने का विधान है । गृहस्थ लोगों को समस्त कामों में छना हुआ पानी ही काममें लाना चाहिये । लिखा भी है

“ यः कुर्यात् सर्वं कर्माणि वस्त्रपूतेन वारिणा ।  
 स मुनिः स महासाधुः स योगी स महाव्रती ॥

अर्थात्— जो गृहस्थ अपने सब काम छेने हुए पानी में करता है वह गृहस्थ मुनी, साधु योगी महाव्रती के समान माना जाता है । इससे यह बात सहज रीति से समझ में आ जाती है कि बिना छेने पानी में स्नान करने से अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा होती है और हिंसा होने से महा पापों का संग्रह होता है । इसलिये स्नान करने मात्र में पापों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती किंतु पापों की वृद्धि होती है । इसलिये स्नान करने मात्र से आत्मा की शुद्धि मानना तो बहुत दूर की बात है । वह तो कभी कभी नहीं हो सकती ।

आगे शुद्धता के कारण बतलाते हैं :

वयणियमशीलजुता णिह्य कसाया दयावहाजइणो  
ण्हाणरहिया वि पुरिसा वसंवारो सया सुद्धा ॥ २५ ॥

अतनियमशीलयुक्ता निहतकषाया दयापरा प्तयः ।

स्नानरहिता अपि पुरुषा ब्रम्हचारिणः सदा शुद्धाः ॥ २५ ॥

अर्थ— जो मुनि पंच महा व्रत धारण करते हैं समिती गुप्ति आदि के समस्त नियम पालन करते हैं पूर्ण शीलव्रतों का पालन करते हैं, जिन्होंने अपने समस्त कषाय नष्ट कर दिये हैं जो सदा काल समस्त जीवों की दया पालन करने में तत्पर रहते हैं और पूर्ण रीति से बिना किसी प्रकार का दोष लगाये पूर्ण ब्रम्हचर्य का पालन करते हैं ऐसे पुरुष बिना स्नान किये ही सदा शुद्ध रहते हैं ।

भावार्थ— शरीर और आत्मा दोनों की शुद्धि का कारण पूर्ण ब्रम्हचर्य है । यदि उसके मात्र व्रत नियम शील पालन किये जायें, आत्मा को अशुद्ध करनेवाले समस्त कषायोंको नष्ट कर दिया जाय और समस्त जीवों की दया की जाय, कभी किसी जीव की हिंसा न की जाय तो फिर उस जीव के पूर्व संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार उस आत्मा की उत्तरोत्तर शुद्धि होती जाती है ।

इस प्रकार संक्षेप से स्नान के दोष बतलाये । अब आगे मांस भक्षण के दोष बतलाते हैं ।

मंसेण पियरबगो पीणिज्जइ एरिसो सुई जोंसि ।  
लेहि मंसेसं गोत्रं हणिऊण य भक्खियं णियमा ॥  
मांसेन पितृवर्गः तृप्यते ईदृशी श्रुतिर्वेषाम् ।  
तैरश्वं गोत्रं हत्वा च भक्षितं नियमात् ॥ २६ ॥

अर्थ— जिन ब्राह्मणों के वेद और स्मृतियों में मांस भक्षण करने से पितर लोग तृप्त होते हैं ऐसा लिखा है तथा जो लोग उन वेद और स्मृतियों को मानते हैं और उसके अनुसार चलते हैं । उनको समझना चाहिये कि वे लोग नियमसे अपने ही घरके वा गोत्रके समस्त जीवों को मारकर खा जाते हैं ।

मनुस्मृतिमें लिखा है—

द्वा मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हरिणेन तु ।  
और भ्रंशश्च चतुरः शाकुनेनाथपञ्च वै ॥  
षण्मासच्छागमांसेन पार्षतेण च सप्त वै ।  
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥  
दशमासास्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।  
शश कूर्मेज मांसेन मासानेकादशैव तु ।  
संवत्सर तु गव्येत पयसा पायसेन च ।  
वाधिणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥  
काल शाकं महाशल्काः खड्ग लोहामिषं मधु ।  
आनन्यायै कल्प्यन्ते मुन्नन्यानि च सर्वशः ॥  
याज्ञवल्क्य मृति में भी ऐसा ही लिखा है — यथा —

हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम् ।  
मात्स्यहारिणकौरभशाकुनच्छागपार्षतैः ॥  
ऐणरौरववराह शशैर्मसैर्यथाक्रमम् ।  
मांसवृद्ध्याभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहैः ॥  
खड्गामिषं महाशल्कं मधुमुन्यन्नमेव च ।  
लोहामिषं महाशकं मांसं वाधिणस्रप्य च ॥  
यदृदाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते ।  
तथा वर्षा त्रयोदश्यां मवासु च विशेषतः ॥

लगभग इनसे मिलने जुलने श्लोक मत्स्यपुराण अध्याय १ में श्लोक संख्या तीस से पैंतीस तक में है ।

संक्षेपसे इन का अभिप्राय यह है कि मत्स्य के मांससे श्राद्ध करना अर्थात् ब्राह्मणों को श्राद्ध में मत्स्य का मांस खिलाने से पितर लोक दो महिने तक तृप्त रहते हैं, हिरण के मांस से तीन महिने तक, मेढा के मांस से चार महिने तक, पक्षियों के मांस से पांच महिने तक, बकरी के मांस से छः महिने तक, चितैरा मृग के मांस से सात महिने तक, एण जातिके हिरण के मांस से आठ महिने तक, भुंवार के मांस से नौ महिने तक, जंगली सुअर वा मीसा के मांस से दश महिने तक और खरगोश के मांस से ग्यारह महिने तक पितर तृप्त होते हैं । गाय के दूध की खीर से बारह महिने तक तृप्त होने हैं । वार्धीणास के मांस से बारह वर्ष तक पितर तृप्त होते हैं । गेंडा, महामत्स्य, कालवाक, लाल वर्ण का बकरा आदि से अनन्त तृप्ति होती है ।

इस प्रकार स्मृतियों में मांस खाने खिलाने का वीमत्स वर्णन है । शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है—

“ राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोज्ञे वा महाज्ञे वा पचेत् ”

अर्थात् राजा वा ब्राह्मण के लिए बड़ा बिल वा बड़ा बकरा पकाना चाहिये । ब्रशिष्ठ स्मृति में भी यही बात लिखी है ।

आगे इस बात का समर्थन करते हैं ।

जे कयकम्मपज्जता सुयण हिंइती चउगई धोरे ।

संसारे गिणहुता संबंधा सयल जीयेहि ॥ २७ ॥

ये कृतकर्मप्रयुक्ताः स्वजना हिण्डन्ते चतुर्गतिधोरे ।

संसारे मूहान्तः संबन्धान् सकलजीवैः ॥ २७ ॥

तिरियगई उवण्णा संपत्ता मच्छयाई जे जम्म ।

हरिरुण अवरणक्खे सेसि मसेहि विविहेहि ॥ २८ ॥

तिर्यग्गतावुत्पन्नाः सम्प्राप्ता मत्स्यादि ये जन्म ।

हत्वा अपरपन्ने तेषां मांसविविधैः ॥ २८ ॥

कुण्ड सराहुं कोई पियरे संसारतारणत्थेण ।

सो तेसि संसाणि य तेसि णामेण खावेइ ॥ २९ ॥

करोति श्राद्ध कश्चित्पितुः संसारतारणार्थम् ।

स तेषां सांसाति च तेषां मांसा खादयति ॥ २९ ॥

अर्थ— जो अपने माता पिता भाई-बन्धु आदि मरकर अपने कर्मों के उदय के अनुसार चारों गतियों में परिभ्रमण करने फिरते हैं और इस प्रकार इस संसार में परिभ्रमण करते हुए समस्त जीवों के साथ यथा योग्य संबंध ग्रहण करते रहते हैं । उनमेंसे वे माता-पिता के जीव तिर्यञ्च गति में भी उत्पन्न होते हैं, हिरण, वकरा, मत्स्य आदि योनि में भी उत्पन्न होते हैं तथा पूर्व जन्म की उन्हींकी संतान श्राद्धपक्षमें उन्हीं माता-पिताओं के जीव को इस संसारसे पार करनेके लिए श्राद्ध करते हैं और उस श्राद्ध में उन्हीं के जीवोंको जो मरकर वकरा, मत्स्य, हिरण आदि की योनियोंमें उत्पन्न हुए हैं मारकर खिलाते हैं और स्वयं खाते हैं । इस प्रकार श्राद्ध करनेवाले वे लोग अपने माता-पिताओं को स्वर्ग में पहुँचाने के लिये वा तारनेके लिये श्राद्ध करते हैं उस श्राद्धमें वे लोग उन्हीं माता-पिताओं के जीवों को मारकर उसका मांस उन्हीं के नामसे खाते हैं वह कितने आश्चर्य की बात है ?

आगे इसी बातको उदाहरण देकर बतलाते हैं

बंकेण जह सत्ताओ हरिणो हणिऊण तण्णिमित्तेण ।

पइ ऊण सोत्तियाणं दिण्णो खद्धोसयं चैव ॥ ३० ॥

बकेन तथा स्वतातो हरिणो हत्था तन्निमित्तेन ।

प्रीणयित्वा श्रोत्रियेभ्यो दत्तः भक्षितः स्वयं चैव ॥ ३० ॥

अर्थ— जिस प्रकार एक बकनें अपने पिता के श्राद्ध में अपने ही पिता के जीव हरिण को मारकर श्रोत्रियों को खिलाया था और स्वयं भी खाया था ।

भावार्थ— एक बक नामका व्यक्ति था उसका पिता मरकर हरिण हुआ था । जब उस बक ने अपने पिताका श्राद्ध किया तो उस श्राद्धमें अपने पिताके जीव हरिण को ही मारकर पकाया और श्रोत्रियों खिलाकर स्वयं भी खाया था । इस प्रकार उसने अपने पिता को तृप्त करने के लिये वा उसे तारने के लिये अपने ही पिता के जीव हरिण को मारा था और उसका मांस श्रोत्रियों को खिलाकर स्वयं ने खाया था ।

आगे मांस से होने वाले श्राद्ध के दोष बतलाते हैं ।

मांसाशिणो ण पत्तं मंसं ण हु होइ उत्तमं दानं ।

कह सो तिप्पइ पियरो परमुहगसियाई भुजंतो ॥ ३१ ॥

मांसाशिनो न पात्रं मांसं न हि भवति उत्तम दानम् ।

कथं स तृप्यति पिता परमुखग्रसितानि भुज्जानः ॥ ३१ ॥

अर्थ— पहली बात तो यह है कि मांस खाने वाले पुरुष कभी भी दान देने के पात्र नहीं माने जा सकते । दूसरी बात यह है कि मांस का दान देना कभी भी दान नहीं कहला सकता । फिर भला उसको उत्तम दान तो कह ही कैसे सकते हैं ? तीसरी बात यह है कि दूसरे के मुखमें घ्रास देकर भोजन कराने से पितरों की तृप्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकती । आगे भी इसी बात को दिखलाते हैं—

अण्णम्मि भुजमाणे अण्णो जइ धाइएत्थ पच्चक्खं ।

तो सग्गम्मि वसंता पियरा तिंति खु पावति ॥ ३२ ॥

अन्यस्मिन् भुजमाने यदि तृप्यत्यत्र प्रत्यक्षम् ।

ततः स्वर्गं वसन्तः पितरस्तृप्तिं खलु प्राप्नुवन्ति ॥ ३२ ॥

अर्थ— इस लोकमें यदि किसी एक को भोजन कराने से दूसरा मनुष्य तृप्त हो जाता हो, तब ही स्वर्ग में रहने वाले पितर लोग भी तृप्त हो सकते हैं ।

भावार्थ— देवदत्तके भोजन करने से यक्षदत्त का पेट कभी नहीं भरता । फिर भला किसी के खालेपेटे स्वर्गमें रहने वाले पितर लोग कैसे तृप्त हो सकते हैं, कभी नहीं हो सकते । इसलिये श्राद्धमें पितरों को तृप्त करने के लिये किसी को खिलाना बिडम्बना मात्र है, इसके मित्राय और कुछ नहीं ।

आगे और भी इस के दोष दिखलाते हैं—

जइ दुसविण्णदाने पियरा तिप्पति चउगइ गया वि ।

तो जण्होमण्हाणं जब तव वेयाइं अकियत्था ॥ ३३ ॥

यदि पुत्रदत्तवानेन पितरः तृप्यन्ति चतुर्गतिं गता अपि ।  
तर्हि यज्ञहोमस्नानं जपः तपो वेदादयः अकृतार्थाः ॥ ३३ ॥

अर्थ— जो पितर लोग भरकर अपने २ कर्मके अनुसार चारों गतियों में से किसी एक गति में प्राप्त हो चुके हैं वे यदि पुत्रके द्वारा दिये हुए दानसे ही तृप्त हो जायें तो फिर यज्ञ, होम, स्नान जप-तप वेद आदि सब व्यर्थ हो जाने हैं ।

भावार्थ— स्वर्ग नरक आदि की प्राप्ति अपने आप किये हुए पुण्य पापसे होता है । जो स्वयं जप तप करता है, दान देता है इसे स्वर्ग की प्राप्ति होता है और हिंसा झूठ चोरी आदिके कयने से नरकादिक की प्राप्ति होती है । माता पिता भाई बन्धु आदि जीवों ने जैसा कर्म किया होगा उनको वैसे ही नरक स्वर्ग आदि की गति प्राप्ति हुई होगी । फिर भया पुत्र के द्वारा दिये हुए दान से उन पितरों का उद्धार कैसे हो सकता है ? यदि फिरभी थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि पुत्र के दानसे ही पितरों का उद्धार हो जाता है तो फिर जो लोग जप करते हैं, तपश्चरण करते हैं स्वयं दान देते हैं वा और भी अनेक प्रकारके पुण्य कर्म करते हैं उनका वह जप तप दान आदि सब व्यर्थ हो जाता है । फिर तो स्वर्ग की प्राप्ति पुत्र के द्वारा दिये हुये दान पर ही निर्भर रही । परन्तु ऐसा होना सर्वथा असम्भव है ।

कथपावो णरय गओ णिज्जय पुत्तेण पियह सग्गम्भि ।

पिडं दाऊण फुडं ष्हाइ य तिथ्याइं सणिऊण ॥ ३४ ॥

कृतपापो नरके गतो नीयते पुत्रेण पिता स्वर्गे ।

पिडं दत्त्वा स्फुटं स्नाति च तीर्थानि भणित्वा ॥ ३४ ॥

जइ एवं तो पियरो सग्गं पत्तो वि जाइ णरयम्भि ।

पुत्तेण कए दोसे बंभं हच्चाइगरुएण ॥ ३५ ॥

यद्येवं तर्हि पिता स्वर्गं प्राप्तोपि जायते नरके ।

पुत्रेण कृतेन दोषेण ब्रह्महत्यावि गुरुकेन ॥ ३५ ॥

अर्थ— जो माता पिता अपने अनेक पाप करने के कारण नरक



योनि में उत्पन्न हुए थे वे माता पिता के जीव यदि पुत्र के द्वारा पिण्ड-दान देने से वा तीर्थस्नान करने से स्वर्गमें जा सकते हैं तो फिर जो माता पिता पुण्य कर्म करने के कारण स्वर्गमें उत्पन्न हुए थे वे माता पिताके जीव यदि उसके पुत्रके द्वारा कोई ब्रह्महत्या आदि महा पाप किये जाते हैं तो उस पुत्रके उस दोष से उस पापसे वे स्वर्गमें उत्पन्न हुए माता पिताके जीव नरक में भी जा सकते हैं ।

भावार्थ— यदि पुत्रके दान आदि से माता पिताके जीव नरक में से स्वर्ग भी जा सकते हैं तो फिर स्वर्ग में भी उत्पन्न हुए माता पिता के जीव भी पुत्रके पापसे नरक में भी जा सकते हैं । परन्तु ऐसा होना सर्वथा असम्भव है ।

आगे इसी विषय को फिर दिखलाते हैं ।

अण्णकए गुण दोसे अण्णो जइ जाइ सग्ग णरयम्मि ।

जो कणइ पुण्ण पाव तस्सफलं सो ण वेएइ ॥ ३६ ॥

अन्यकृताभ्यां गुणदोषाभ्यामन्यो यदि याति स्वर्गनरकेषु ।

यः करोति पुण्यपापं तस्य फलं स न वेदयति ॥ ३६ ॥

अर्थ— यदि किसी एक पुरुषके गुण वा दोष से कोई दूसरा जीव स्वर्ग नरक जाता है तो फिर कहना चाहिये कि जो पुरुष स्वयं पुण्य वा पाप करता है उसका फल उसको नहीं मिल सकता । वह भी किसी दूसरे को मिल सकता है ।

णहु वेयइ तस्य फलं कत्ता पुरेसो ह पुण्ण पावस्स ।

जइ तो कह ते सिद्धा भूयग्गामा ह चत्तारि ॥ ३७ ॥

न हि वेदयति तस्य फलं कर्ता पुरुषः हि पुण्यपापयोः ।

यदि तर्हि कथं ते सिद्धा भूतग्रामा हि चत्वारः ॥ ३७ ॥

अर्थ— जो पुरुष पुण्य करता है वा पाप करता है यदि उसका फल उसको नहीं मिलता तो फिर मनुष्य तिर्यञ्च देव नारकी इन चार प्रकार के जीवों की सिद्धि कैसे हो सकती ?

भावार्थ— जो पुरुष पुण्य करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है,

जो पाप करता है उसको नरक की प्राप्ति होती है। जो पुण्य अधिक करता है साथ में थोड़ा पाप भी करता है उसको मनुष्य गति की प्राप्ति होती है और पाप अधिक करता है और साथमें थोड़ा पुण्य भी करता है उसको निर्यत्र गति का प्राप्ति होती है। यह सब तभी सिद्ध हो सकता है जब कि यह जीव स्वयं किये हुए पुण्य-पाप का फल स्वयं भोगता है। यदि पुत्र के किये हुए पुण्य पाप से माता-पिताओं को सुख दुःख भोगना माना जाय तो इन चारों गतियों की सिद्धी कभी नहीं हो सकती। तथा बिना पुत्र बालों की फिर क्या गति होगी ? इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि पुत्रके किये दानसे माता-पिताओंका उद्धार कभी नहीं हो सकता न पुत्रके पापसे माता-पिता नरक में जा सकते हैं। जो जीव स्वयं जैसा पुण्य या पाप करता है उसका फल उसी को मिलता है। एक के द्वारा किये हुए पुण्य पापका फल दूसरे को कभी नहीं मिल सकता।

आगे निश्चित सिद्धास्त बतलाते हैं।

जो कुण्ड पुण्यपापं सो चिय भुंजेइणत्थि संदेहो ।

समं वा णरयं वा अप्पाणो णेइ अप्पाणं ॥ ३८ ॥

यः करोति पुण्यपापं स एव भुनक्तो नास्ति संदेहः ।

स्वर्गं वा नरकं वा आत्मना नयति आत्मानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ— जो जीव जैसा पुण्य वा पाप करता है उसका फल वही भोगता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। इस प्रकार यह आत्मा अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मा को स्वर्ग वा नरक में ले जाता है।

भावार्थ— यह आत्मा पुण्य वा पाप अपने ही आत्मा के द्वारा वा अपने ही आत्मा के भावों से उपार्जन करता है और फिर उसी पुण्य से वह अपने आत्मा को स्वर्ग में पहुँचाता है। और अपने किये हुए पाप से नरक में पहुँचाता है। किसी अन्य के द्वारा किये हुए दान पुण्य से दूसरा आत्मा न तो स्वर्ग जा सकता है और न किसी दूसरे के द्वारा किये पाप से किसी अन्य जीव का आत्मा नरक में जा सकता है। इसलिये पितरों के उद्धार के लिये श्राद्ध करना व्यर्थ है।

एवं भणन्ति केचि जल थल गिरीसिहर अग्निकुहरेषु ।  
 चतुर्विधं भूयगामे वसइ हरी णत्थि संदेवो ॥ ३९ ॥  
 एवं भणन्ति केचिज्जलस्थलगिरिशिखराग्निकुहरेषु ।  
 चतुर्विधभूतप्रामेणु वसन्ति हरिर्नास्ति सन्देहः ॥ ३९ ॥

अर्थ— कोई कोई मतवाले ऐसा कहते हैं कि जलमे स्थलमे पर्वतों के शिखरपर अग्नि में गुफा वा छिद्रों में तथा सब प्रकार के जीवों में भगवान् हरि रहते हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । लिखा भी है :-

ज लेविणुः स्थले विणुविणुः पर्वतमस्तके ।  
 ज्वालाभालाकुले विणुः सर्वं विणु मयंजगच्च ॥

अर्थात्— जल में भी विणु है स्थल में भी विणु है पर्वत के मस्तक पर भी विणु है अग्नि जल आदि सब में विणु है । कहाँ तक कहा जाय यह समस्त संसार और समस्त जीव विणुमय है । ऐसा कोई कोई मानते हैं ।

आगे ऐसा मानने वालों के लिये कहते हैं ।

सख्खगओ अइ विणु णिवसइ वेहम्मि सख्ख वेहिणं ।  
 तो ख्ख्खाइहण सो णिहओ होइ णियमेण ॥ ४० ॥  
 सर्वगतो यदि विणुः निवसति वेहे सर्वदेहेनाम् ।  
 तर्हि वृक्षादि घातेन स निहस्रो भवति नियमेन ॥ ४० ॥

अर्थ— यदि विणु समस्त संसार में व्याप्त है तो विणु समस्त संसारी जीवों में भी रहता है, और यदि वह विणु समस्त संसारी जीवों में रहता है तो फिर किसी वृक्ष को काटनेसे वह विणु भी काटा गया ऐसा समझना चाहिये । लिखा भी है ।

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।  
 रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्कीच ते दश ॥  
 मत्स्यः कूर्मो वराहश्च विणुः संपूज्य भक्तितः ।  
 मत्स्यादीनां कथं भासं भक्षितुं कल्प्यते बुधैः ॥

अर्थात्— मत्स्य, कूर्म वा कच्छप, कृष्ण, बुद्ध, कल्की, नरसिंह

वामन, राम, परशुराम बराह वा शूकर ये सब दश विष्णु के अवतार माने हैं । इनमें से सबकी मूर्ती बनाकर भक्ति पूर्वक पूजा करते हैं फिर भला ब्रह्मिष्ठान पंडीत लोग इन्हीं मत्स्य आदि के मांस खानेका विधान क्यों करते हैं ।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं ।

किटिकूर्ममच्छरूपं पंडितं काऊण विण्णु मणिऊण ।  
अच्छेयणम्मि पुज्जइ गंधकखयधूर्वादिर्वोहि ॥ ४१ ॥

किटिकूर्ममत्सरूपां प्रतिमां कृत्वा विष्णुं मणित्वा ।  
अचेतनां पूजयन्ति गंधाक्षतधूपदीपैः ॥ ४१ ॥  
जो पुण चेयणवंतो विण्णु पच्चस्स मच्छ किटिखो ।  
सो हणिऊण य खद्धो दिण्णो पियण्णा पावेहि ॥ ४२ ॥  
यः पुनः चैतन्यवान् विष्णुः प्रत्यक्षं मत्स्यकिटिरूपः ।  
स हत्वा च भक्षितो दत्तः पितृभ्यः पापैः ॥ ४२ ॥

अर्थ— सूअर कच्छप मत्स्य इन सबकी प्रतिमा बनाकर और विष्णु मानकर गंध, अक्षय, दीप, धूप आदी से उस अचेतन प्रतिमा की पूजा करते हैं । फिर भला मत्स्य, कच्छप, सूअर आदि चैतन्य जीवोंमें प्रत्यक्ष विष्णु विद्यमान है फिर भी उन मत्स्यादिक को और उनमें रहनेवाले भगवान् विष्णु को मारकर वे पापी अपने पितरों को खाने के लिये देते हैं । यह कैसी विपरित और आश्चर्य की बात है ।

आगे भी यही बात दिखलाते हैं ।

जइ देवो हणिऊणं मंसं गणिऊण गम्मए सगं ।  
सौ णरयं गंतव्यं अपरेणिह केण पावेण ॥ ४३ ॥  
यदि देवं हत्वा मांसं ग्रसित्वा गम्यते स्वर्गम् ।  
सहि नरकं गन्तव्यं अपरेणेह केन पापेन ॥ ४३ ॥

अर्थ— यदि अपने देवको ही मारकर और उसका मांस खाकर यह जीव स्वर्ग में जाता है तो फिर अन्य ऐसे कौन से पाप हैं जिनसे यह जीव नरक जायगा ।

भावार्थ— अपने साक्षात् देव को मारकर उसका मांस खा जाना सब से बड़ा पाप है इससे बढ़कर और कोई पाप नहीं हो सकता । यदि ऐसे महा पाप से भी यह जीव स्वर्ग में चला जाता है तो फिर नरक में जाने योग्य संसार भर में कोई महा पाप नहीं है । इससे सिद्ध होता है कि जीवों को मारने और मांस खाने से स्वर्ग की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । ये दोनों ही काम नरक के कारण हैं । लिखा भी है—

अल्पायुषो दरिद्राश्च नीचकर्मोपजीविनः ।

बुष्कुलेषु प्रसूयन्ते ये नराः मांसं भोजिनः ॥

येति मनुष्यो मांसं निर्दयचेताः स्वदेहपुण्ड्रधम् ।

याति स नरकं सततं हिंसापरिवृत्तचित्तत्वात् ॥

अर्थात्— जो पुरुष मांस भक्षण करते हैं वे मनुष्य मरकर नीच कुल में उत्पन्न होते हैं । नीच कर्म करने वाले होते हैं दरिद्री होते हैं और अल्प आयु वाले होते हैं । वे निर्दय अनृप्य अपने शरीर को पुण्ड्र करने के लिये मांस भक्षण करता है उसका चित्त सदाकाल हिंसा करने में ही लगा रहता है और इसलिये वह जीव बार बार नरक में ही उत्पन्न होता है ।

आगे फिर भी यही बात दिखलाते हैं—

हृणिऊण षोढछेलं गम्मइ सग्गस्स एस वेयत्थो ।

तो सुणारा सव्वे सग्गं नियमेण गच्छन्ति ॥ ४४ ॥

हत्वा प्रौढच्छागं गच्छति स्वर्गं एष वेदार्थः ।

तर्हि सूनकाराः सर्वे स्वर्गं नियमेन गच्छन्ति ॥ ४४ ॥

अर्थ— यदि वेदका अर्थ यही है कि मोटाताजी बकरा मारकर खा जाने से यह जीव स्वर्ग में चला जाता है तो फिर संसार में जितने पाप कर्म करने वाले हैं वे अवश्य ही स्वर्ग में चले जायेंगे ।

सल्लगओ जइ विण्हु छागसरीरम्मि किं ण सो अत्थि ।

जं णित्ताणो वहियो चडप्फडंतो मिहस्सगसो ॥ ४५ ॥

सर्वगतो यदि विष्णुः छागावि शरीरे किं न सोस्ति ।

यद् निस्त्राणः हतः संतप्यमानो निःश्वासः ॥ ४५ ॥

अर्थ— यदि विष्णु सर्व व्यापक है तो क्या वह उस मोटे ताजे बकरे के शरीर में नहीं है ? अवश्य है । फिर भी श्रोत्रिय लोग जिस बकरे का कोई रक्षक नहीं है, जो तडफ रहा है और श्वासें छोड़ रहा है ऐसे उस बकरे को मार ही डालने है । यह कितनी विपरीत बात है । लिखा भी है—

अन्ये चैवं वदन्त्येके यज्ञार्थं यो निहन्यते ।

तस्य मांसाशिनः सोपि सर्वेयान्ति सुरालयम् ॥

तत्किं न क्रियते यज्ञः शास्त्रज्ञैस्तस्य निश्चयात् ।

पुत्रवंध्यादिभिः सर्वे प्रगच्छन्ति दिवं यथा ॥

अर्थात्— कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि यज्ञ में जो पशु मारा जाता है और जो लोग उसका मांस खाते हैं वे सब और वह पशु सब स्वर्ग में जाकर उत्पन्न होते हैं । परंतु ऐसा कहने वालों को समझना चाहिये कि यदि उनका ऐसा निश्चय है तो फिर वे लोग अपने पुत्र भाई आदि का होम क्यों नहीं करते जिससे वे सब लोग अनायास ही स्वर्ग में जा पहुंचें । और भी लिखा है—

नाहं स्वर्गफलोपभोग तृषितो नाभ्यधितस्त्वं मया

संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हंतुं न युक्तं तव,

स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो

यज्ञं किं करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बांधवैः ॥

अर्थात्— जिस पशु को यज्ञ में मारना चाहते हैं वह पशु उन श्रेत्रियों से कहता है कि हे भाई ! तू जो मुझे मार कर स्वर्ग पहुंचना चाहता है सो भाई मुझे तो स्वर्ग के फल भोगने की लालसा नहीं है, मैं आप लोगों से स्वर्ग पहुंचाने की प्रार्थना करता हूं मैं तो सदा काल तृण भक्षण करने में ही संतुष्ट रहता हूं इसलिये मुझे मारना सर्वथा अनुचित है । यदि यह बात निश्चित है कि इस यज्ञ में मारे हुये प्राणी सब स्वर्ग में चले जायेंगे तो फिर आप लोग अपने माता पिता पुत्र भाई आदि कुटुंबियों का ही इस यज्ञ में होम क्यों नहीं करते ? जो वे सब अनायास ही स्वर्ग में पहुंच जायें ?

आगे अन्य प्रकार से भी ऐसी हिंसा का निषेध करते हैं ।

अण्णं इयणि सुणिज्जइ सत्थे हरिवंमरुद्धभत्ताणं ।  
सब्बेसु जीवरासिसु अणे वेवा हु णिवसन्ति ॥ ४६ ॥

अन्यदिति श्रूयते शास्त्रे हरिब्रम्हं रुद्रभक्तानाम् ।  
सर्वेषां जीव राशीनां अणे सुवा हि निवसन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ— इन के मत में यह भी लिखा है कि ब्रह्मा विष्णु महादेव समस्त जीवों के अंगों में निवास करते हैं यथा—

नाभिस्थाने बसेद् ब्रम्हा विष्णुः कंठे समाश्रितः ।  
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटे च महेश्वरः ॥  
नासाग्रे च शिवं विद्यात्तस्यान्ते च परोपरः ।  
परात्परतरं नास्ति इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥

अर्थात्— समस्त जीव राशियों की नाभि में ब्रह्मा निवास करते हैं, विष्णु कंठ में निवास करते हैं, तालु के मध्य भाग में रुद्र निवास करते हैं, ललाट पर महेश्वर रहते हैं, नाक के अग्र भाग पर शिव रहते हैं तथा नासिका के अंत में अन्य देवता रहते हैं ।

आगे किसी भी जीव के मारने से इन ब्रह्मा विष्णु महादेव की भी हिंसा होती है, ऐसा दिखलाते हैं ।

सब्बेसु जीवरासिसु ए ए णिवसन्ति पंच ठाणेसु ।  
जइ सो किं पसु बहणे ण मारिया होंति ते सब्बे ॥ ४७ ॥  
सर्वेषु जीवराशिषु एते निवसन्ति पंचस्थानेषु ।  
यदि तर्हि किं पशुवधेम न मारिता भवन्ति ते सर्वे ॥ ४७ ॥

अर्थ— इस संसार में रहनेवाले समस्त ससारी जीवों के नाभि कंठ तालु ललाट और नासिका इन पांचो स्थानों में ब्रह्मा विष्णु महेश्वर रहते हैं फिर भला किसी भी प्राणी से मारने से उनकी मान्यता-नुसार इन ब्रह्मा विष्णु महेश का भी घात अवश्य हो जाता है । इस प्रकार किसी भी जीव की हिंसा करने से इन देवों की भी हिंसा अवश्य होती है ।

आगे इसी बात का स्पष्ट कहते हैं —

देवे बहिऊण गुण लब्धइ जइइत्थ उत्तमा केई ।  
तो रुक्ख वंदणया अवरे पारदिया सब्बे ॥ ४८ ॥

देवान् बुद्धध्या गुणान् लभन्ते यद्यत्रोत्तमाः केचित्  
तहि वृक्षवन्दनया अपरे पारधिका सर्वे ॥ ४८ ॥

अर्थ— इस संसार में यदि उत्तम पुरुष देवों को मारकर ही गुण प्राप्त करना चाहते हैं, स्वर्गादिक की प्राप्ति करना चाहते हैं तो वे सब लोग हत्यारे पारधी हैं जो लोग वृक्षों की वंदना करके भी प्रसन्न होते हैं अर्थात् वृक्ष वा पौधों तक को नहीं तोड़ते ऐसे लोगों को छोड़कर येष जीवों को मारनेवाले सब पारधी हैं । लिखा भी है—

नहिं हिंसाकृते धर्मः सारंभे नास्ति मोक्षता ।  
स्त्री संपर्कं कुतः शौचं मांसभक्षे कुतो दया ॥

अर्थात्— हिंसा करने पर कभी धर्म नहीं हो सकता, घर के वा व्यापार आदि के आरंभ कार्य करते हुए कभी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते, स्त्री समागम करने पर कभी पवित्रता नहीं हो सकती और मांस भक्षण करनेपर कभी दया नहीं हो सकती ।

तिलसर्वपमात्रं वा यो मांसं भक्षयेत्तद्विजः ।  
स नरकाग्नौ निवर्तते घातकचन्द्रविषांकरी ॥

अर्थात्— जो ब्राह्मण तिल वा सरसों के समान भी मांस भक्षण करता है वह जीव जबतक सूर्य चन्द्रमा विद्यमान रहेंगे तब तक कभी नरक से नहीं निकल सकता ।

आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात् ।  
विप्राणां पतनं दृष्ट्वा तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥

अर्थात्— ब्राह्मण लोग पहले आकाश गामी थे परंतु मांस भक्षण करने से वे पतित हो गये और पृथ्वी पर चलने लगे । इस प्रकार उक्त के पतन को देखकर कभी भी मांस भक्षण नहीं करना चाहिये ।



आगोपालं कियत्सिद्धं धान्यं मांसं पृथक् पृथक् ।  
मांसमानय इत्युक्तेन कश्चिद्धान्यमानयेत् ॥

अर्थात्— धान्य वा अन्न अलग पदार्थ है और मांस अलग पदार्थ है । इस बात को बालक वृद्ध आदि सब जानते हैं । क्योंकि मांस लाओ ऐसा कहने पर कोई भी बालक वा वृद्ध अन्न वा धान्य नहीं लाता ।

स्थावरर जंगमाश्चैव द्विधा जीवाः प्रकीर्तिता ।  
जंगमेषु भवेन्मांसं फलं तु स्थावरेषु च ॥

अर्थात्— संसार में दो प्रकार के जीव हैं । एक स्थावर और जंगम वा अस । इनमें से अस जीवोंमें मांस उत्पन्न होता है तथा स्थावर वृक्षादिकों पर फल लगते हैं ।

मांसं तु इन्द्रियं पूर्णं सप्तधातुसमन्वितम् ।  
यो नरो भक्षते मांसं स भ्रमेत्सागरान्तकम् ॥

अर्थात्— मांस समस्त इन्द्रियों में पूर्ण होता है और रुक्मिर मज्जा आदि सातों धातुओं से मिला रहता है । इसलिये जो मनुष्य मांस भक्षण करता है वह अनन्त सागरों तक इस संसार में परिभ्रमण करता रहता है ।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चैव घातकः ॥  
उपदेष्टानुमंता ज खड्गेते समभागिनः ॥

मांस को लाने वाला, पकाने वाला, खाने वाला जीव को मारने वाला और उसकी अनुमोदना करने वाला इन छहों जीवों को समान पाप लगता है ।

मांसाशनातिसक्के क्रूरनरे नसं निष्ठते सुदया ।  
निर्दयमनसि न धर्मो धर्मविहीने च नैव सुखिता स्यात् ॥

जो क्रूर मनुष्य मांस भक्षण करने में अत्यन्त आसक्त रहता है उसके हृदय में कभी कभी उत्तम दया नहीं हो सकती तथा जिसका हृदय अत्यन्त निर्दय है उस हृदय में कभी कभी धर्म नहीं उठर सकता और धर्म रहित मनुष्य कभी सुखी नहीं रह सकता ।

न कदमे भवेन्मांसं न काष्ठेषु तृणेषु च ।  
जीवशरीराद् भवेन्मांसं तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥

न तो कीचड़ में मांस है न काठ वा लकड़ी में मांस है और न तृणों में घास फूस में मांस है । मांस सदा जीवों के शरीर से ही उत्पन्न होता है । इसलिये मांस भक्षण कभी नहीं करना चाहिये ।

सर्वं शुक्रं भवेद् ब्रम्हा विष्णुर्मांसं प्रवर्तते ।  
ईश्वरोऽप्यस्ति संघाते तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥

संसार में शुक्र वा वीर्य सब उत्पत्ति के कारण होने से ब्रह्मा कहलाते है । तथा पुष्टी वा पालन करने के कारण मांस की विष्णु संज्ञा है इस प्रकार इन जीवों का ध्यान करने से ईश्वर का भी धात होता है । इसलिये मांस भक्षण नहीं करना चाहिये ।

मांसं जीवं शरीरं भवेन्नवा मांसम् ।  
यद्वस्त्रिम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्नवा निम्बः ॥

मांस जितना है वह सब जीवों के शरीर से ही उत्पन्न होता है परन्तु जितने जीवों के शरीर हैं वे सब मांस नहीं होते उनमें से कुछ जीवों के शरीर मांस रूप होते हैं और कुछ जीवों के शरीर मांस रूप नहीं होते । जैसे चलने फिरने वाले मत्स्य आदि के शरीर मांस रूप होते हैं और वृक्षादिक के शरीर मांस रूप नहीं होते । जैसे नीमका वृक्ष वृक्ष ही होता है परन्तु जितने वृक्ष हैं वे सब नीम के वृक्ष नहीं होते क्योंकि कोई वृक्ष आमके होते हैं कोई नीबूके होते हैं । इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ।

कश्चिदाहेति यत्सर्वं धान्यपुष्पफलादिकम् ।  
मांसात्मकं न तस्मिन् स्याज्जीवांगत्वप्रसंगतः ॥

कोई कोई यह कहते हैं कि संसार में जितने धान्य फल-फूल आदि हैं वे सब जीवके शरीर के ही अङ्ग हैं इसलिये वे मांस रूप ही क्यों नहीं कहला सकते । परन्तु उनका यह कहना सर्वथा अनुचित है ।  
क्योंकि—

जीवत्वेन हि तुल्या च यश्चप्येते भवन्तु ते ।

स्त्रीत्वे सति यथा माता अभक्ष्यं जंगमं तथा ॥

यद्यपि जीव होने के कारण जंगम और स्थावर दोनों प्रकार के जीव समान हैं परन्तु मांस उत्पन्न होने के लिये समान नहीं है । स्थावर जीवों के शरीर में कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता है । जिस प्रकार स्त्री पना हो परने भी माता माता है वह स्त्री नहीं हो सकती इसी प्रकार जंगम जीवों का शरीर कभी भी भक्षण करने योग्य नहीं हो सकता ।

यद्वद्गरुडः पक्षी पक्षी न तु एव सर्वं गरुडोस्ति ।

रामेव चास्ति माता माता न तु सार्विका रामा ॥

जिस प्रकार गरुड तो पक्षी होता है परन्तु जितने पक्षी हैं वे सब गरुड नहीं हो सकते । इसी प्रकार स्त्री ही माता है परन्तु माता सब रूप से स्त्री नहीं हो सकती ।

शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुर्वैचित्र्यमीदृशम् ।

विषघ्नं रत्नमादेयं विषं च विषदे ममः ॥

जिस प्रकार रत्न और विष दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न होते हैं तथापि रत्न विषको दूर करनेवाला है इसलिये उपादेय है और विष विपत्तिका कारण है इसलिये तज्य है । इसी प्रकार दूध भी मांससे उत्पन्न होता है और मांस भी मांससे उत्पन्न होता है परन्तु दूध शुद्ध है और मांस शुद्ध नहीं है । यह केवल वस्तु की विचित्रता है ।

हेयं फलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।

विषद्रोरायुधे पश्रं मूलं तु मृतये स्मृतम् ॥

यद्यपि दूध और मांस दोनों की उत्पत्ति का समान कारण है मांससे ही दोनों उत्पन्न होते हैं तथापि मांस त्याज्य है और दूध पीने योग्य है । देखो विष वृक्षके पत्ते आयु बढ़ाते हैं और उसकी जड़ मृत्युका कारण है ।

पञ्चगव्यं तु तैरिष्टं गोमांसे कापथः कृतः ।  
तत्पिप्तजान्युपादेया प्रतिष्ठितेषु रोचना ॥

ब्राह्मण लोग पञ्चगव्य मानते हैं परन्तु गोमांस उसमें भी वर्जित है तथा उसी गायके पित्त से उत्पन्न हुआ गोरोचन वे लोग अपने प्रतिष्ठा-दिक के काम में ले आते हैं ।

इति हेतोर्न वक्कव्यं सादृश्यं मांसधान्ययोः ।  
मांसं निन्द्यं न धान्यं स्यात् प्रसिद्धेयं श्रुतिर्जनैः ॥

इन सब कारणों को समझ कर यह कभी नहीं कहना चाहिये कि मांस और दोनों समान हैं । मांस और धान्य कभी समान नहीं हो सकते । मांस महा निध है और धान्य नहीं है । यह बात सब लोग जानते हैं । इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।

इस प्रकार संक्षेप से मांस के दोष बतलाये हैं ।

आगे गोयोनि वन्दना के दोष दिखलाते हैं ।

वन्दइ गोजोनि सया तुण्डं परिहरइ भणिबि अपवित्रं ।  
बिबरीयाभिणिबेसो एसो फुडु होई मिच्छोबि ॥ ४९ ॥  
वन्दते गोयोनि सदा तुण्डं परिहरति भणित्वाऽपवित्रम् ।  
विपुरीताभिनिवेश एष स्फुटं भवति मिथ्यात्वमपि ॥ ४९ ॥

अर्थ— जो लोग गायके मुखको अपवित्र कहकर छोड़ देते हैं और उनकी योनि की वन्दना करते हैं यह उनका विपरीत श्रद्धान है इसीको प्रगट वा साक्षात् मिथ्यात्व कहते हैं ।

आगे योनि वन्दना के दोष दिखलाते हैं ।

पादेण तिरियजन्मे उखण्णा तिणयरो पसू गायो ।  
अबिबेया विट्ठासो सा कह देवत्तणं पत्ता ॥ ५० ॥  
पापेन तिर्यगजन्मनि उत्पन्ना तूणचारिणी पशुः गौः ।  
अबिबेकिनी विट्ठाशिनी सा कथं देवत्वं प्राप्ता ॥ ५० ॥

अर्थ— जो गाय अपने पाप कर्मके उदयसे तिर्यञ्च योनि में पशु-

पर्याय में उत्पन्न हुई है जो पशु कहलाती है, वारा मृस खाती है जो विवेक रहित है, हित-अहित का कुछ विचार नहीं कर सकती और विष्टा भी भक्षण करती है ऐसी गाय भला देवता कैसे हो सकती है अर्थात् कभी नहीं हो सकती ।

अहवा एसो धम्मो विट् भक्खंतया वि णमणीया ।

तो कि वज्झइ दुज्झइ ताडिज्जय दीहदंडेन ॥ ५१ ॥

अथवेध धर्मो विष्ठां भक्षयन्त्यपि नमनीया ।

तहि कि वध्यते दुह्यति ताड्यते दीर्घदण्डेन ॥ ५१ ॥

अर्थ— यदि आप लोगों ने गद्दी मान लिया है कि गाय चाहे भिष्टाभक्षण करती रहे तथापि वह वन्दनीय है तो फिर उसे क्यों बांधते हो, क्यों दूहते हो और बड़ी लकड़ी लेकर क्यों उसे मारते हो ।

भावार्थ— जो देवताके समान वन्दनीय है तो फिर उसे कभी नहीं बांधना चाहिये, कभी नहीं मारना चाहिये और कभी नहीं दूहना चाहिये ।

आगे और भी दिखलाते हैं ।

सुरही लोयस्सागे वक्खाणय एस देवि पञ्चक्खा ।

सखे देवा अंगे इमिण्णिवसन्ति णियमेण ॥ ५२ ॥

सुरभिः लोकस्थाग्रे कथ्यते एषा देवी प्रत्यक्षा ।

सर्वे देवा अंगे अस्या निवसन्ति नियमेन ॥ ५२ ॥

पुण रवि गोसवजण्णे मांसं भक्खन्ति सा वि मारित्ता ।

तस्सेव वहेण फुडं ण मारिया होंति ते देवा ॥ ५३ ॥

पुनरपि गबोत्सवयज्जे मांसं भक्षयन्ति तामपि मारयित्वा ।

तस्या एव वधेन स्फुटं न मारिता भवन्ति ते देवाः ॥ ५३ ॥

अर्थ— जो लोग सब लोगों के सामने यह कहते हैं कि यह गाय प्रत्यक्ष देवता है इसके शरीर में नियम रूपसे सब देवता निवास करते हैं । ऐसा कहते हुए भी वे लोग गबोत्सव यज्ञ में वा गो यज्ञमें उसी गाय को मारकर उसका मांस खा जाते हैं । क्या उस गायके मारने से समस्त देवों का वध नहीं हो जाता ! अवश्य हो जाता है ।

भावार्थ— गवांलभन (गो बर का विषय वेदादि शास्त्रों में प्रायः अनेक स्थलमें आता है । कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण अष्टक ३ अध्याय ९ अनुवाक नवम में लिखा है कि " अज जातीय अविजातीय और आरण्या ये पशु मुख्य नहीं है किन्तु गो जातीय पशुको ही सर्व पशु-के स्नान में प्रयोग करना । इसलिये उत्तम दिन में गो जातीय पशुका आलंभन करना । तथा च तत्पाठः तदाहुः—अपशवो वा एते यदजावय-श्चारण्याश्च एते वै सर्वे पशवः यद्वगव्या इति । गव्यान्पशूनुत्तमेऽहन्यालभते । तेनैवा भयान् पशून्वज्रव्ये इति ।

इसी का अर्थ साधन भाष्य में इस प्रकार लिखा है—

तत्र पशु विषये रहस्याभिज्ञा एवमाहुः । अजजातीय । अविजाती-या आरण्याश्च ये सन्ति ते मूल्याः पशवो न भवन्ति । किन्तु गो जातीया एत एव सर्वे पशवः सर्वपशुस्थाने प्रयोक्तव्या इति । तस्मादुत्तमेऽहनि गो जातीयान् पशूनालभेत । तेनैव गवांलभनेन ग्रान्यानारण्याश्चोभयान् प्राप्नोति ॥

खदिर गृह्यसूत्र पटल ३ खण्ड ४ में भी गाय का हवन करना लिखा है ।

आगे श्रोत्रिय लोगों के लिए कहते हैं ।

सोत्ति य गच्छुब्बुद्धा मांसं भक्षन्ति रमिहि महिलाओ ।

अपचित्ताइं अशुद्धादेहच्छिद्वाइ धंदन्ति ॥ ५४ ॥

श्रोत्रिया गच्छोत्कटा मांसं भक्षयन्ति रमन्ते महिलाः ।

अपवित्राणि अशुद्धानि देहच्छिद्वाणि धन्वन्ते ॥ ५४ ॥

अर्थ— अपने अभिमानसे मदोन्मत्त हुए ये श्रोत्रिय लोग मांस भक्षण करते हैं, स्त्रियोंके साथ संभोग करते हैं तथा गोयोनि ऐसे अपवित्र और अशुद्ध ऐसे शरीर के छिद्रों की बदना करते हैं ।

आगे श्रोत्रियका यथार्थ लक्षण कहते हैं ।

हो सोसियो भणिज्जइ णारीकडिसोत्त वज्जिओ जेण ।

ओ तु रमणाससो ण सोत्तिओ सो जडो होई ॥ ५५ ॥

स श्रोत्रियो भण्यते नारीकटिल्लोतो वजितं येन ।

यस्तु रमणासक्तो न श्रोत्रियः स जडो भवति ॥ ५५ ॥

अर्थ— जिस मदापुरुषने स्त्री के कटिभाग के स्त्रोतका सर्वथा त्याग कर दिया है अर्थात् जो कभी स्त्री सेवन नहीं करता, सदाकाल ब्रह्मचारी रहता है उसको श्रोत्रिय कहते हैं। जो पुरुष स्त्री सेवन करने में आसक्त रहता है वह कभी श्रोत्रिय नहीं हो सकता उसे जड कहना चाहिए।

श्रोत्रिय का आजकाल क्या अर्थ करते हैं — यह दिखाने हैं।

अथवा प्रसिद्धिप्राप्तं सोत्त सेवए जेण ।

मुत्तप्पवहणदारं सोत्तियओ तेण सो उत्तो ॥ ५६ ॥

अथवा प्रसिद्ध वचनं स्रोतो नारिणां सेव्यते येन ।

मूत्रप्रवाहद्वारं श्रोत्रियः तेन स उक्कः ॥ ५६ ॥

अर्थ— आज कल श्रोत्रियों के लिये प्रसिद्ध बात यह देखी जा रही है कि जो पुरुष स्त्रियों के स्त्रोतका सेवन करता है वही श्रोत्रिय माना जाता है।

भावार्थ— वास्तविक श्रोत्रिय का लक्षण तो ऊपर लिखा है। श्रोत्रिय सर्वथा ब्रह्मचारी होता है। मद्य मांस आदि निन्द्य पदार्थोंका सेवन कभी नहीं करता और न कभी किसी जीव की हिंसा करता है। परन्तु जो लोभी है, लालची है ठग है, मद्य मांस भक्षण का अभिलाषी है और स्त्री सेवन में आसक्त है वही पुरुष वनावटी श्रोत्रिय है तथा मांस भक्षण के लिये पशुयज्ञ का विधान करना है अथवा श्राद्ध आदि में पशु हत्या का विधान करता है। इस प्रकार वह स्वयं भी नरक जाता है और अन्य यजमानों को भी ले जाता है।

आगे ऐसे विपरीत मिथ्यात्व का फल दिखलाते हैं।

इयं विवरीयं उसं मिच्छतं पावकारणं विसमं ।

सेण पउत्तो जीवो णरय गई जाइ णियमेण ॥ ५७ ॥

इति विपरितं उक्तं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमम् ।

तेन प्रयुक्तो जीवो नरकगतिं याति नियमेन ॥ ५७ ॥

अर्थ— इस प्रकार जो मिथ्यात्व महा पापका कारण है और अत्यन्त विषम है उसे विपरित मिथ्यात्वका स्वत्व कहा । जो पुरुष इस विपरित मिथ्यात्वमें प्रवृत्त होता है वह नियमसे मरकर नरक में जाता है ।

अत्रि सहइ तत्थ दुक्खं सक्करपमुहणयविवरेसु ।

कह सो समं पावइ णिहा पसू खड्डपलयासो ॥ ५८ ॥

अपि सहते तत्र दुःखं शर्कराप्रमुखनरकविवरेषु ।

कथं स स्वर्गं प्राप्नोति निहत्य पशून् खादितपलयासः ॥

अर्थ— नरक में जाकर वह प्राणी रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा आदि मादों नरकों की भूमियों में वा किसी एक भूमि अत्यन्त महा दुःख सहन करता है सो ठीक ही है । क्योंकि जो पशुओं को मारता है और उनका मांस भक्षण करता है उसको स्वर्ग की प्राप्ति भला कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकती । उसको तो नियमसे नरक की प्राप्ति होगी ।

जह कहव तत्थ णिगाइ उत्पज्जइ पुणु वि तिरियजोणिसु ।

मारियइ सोत्तिएहि णित्ताणो पुण वि जण्णम्मि ॥ ५९ ॥

यदि कथमपि ततो निर्गच्छति उत्पद्यते पुनरपि तिर्यग्योनिषु

मार्यते श्रोत्रियैः निस्त्राणः पुनरपि यजे ॥ ३९ ॥

अर्थ— यदि किसी प्रकार वहां से निकलता भी है तो फिर उमी तिर्यग्रज योनि में उत्पन्न होता है और अन्य श्रोत्रियों के द्वारा यज्ञ में मारा जाता है वहां पर उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता ।

णिमभासाए जंपइ में संतो कहइ आसि मे रइयं ।

एवं वेदविहाणे संपत्ता दुग्गई तेण ॥ ६० ॥

निज भाषायां जल्पति मे मे कथयति आसीत् मया रचितम् ।

एवं वेदविधानेन सम्प्राप्ता दुर्गतिः तेन ॥ ६० ॥



अर्थ जब वह श्रोत्रियों के द्वारा मारा जाता है तब वह अपनी भाषा में शब्द कहता है अर्थात् वह कहता है कि यह सब मेरा ही बनाया हुआ है मैंने ही पहले किसी यज्ञ में पशुओं को मारा था इसलिये ऐसे ही यज्ञ में अब मैं मारा जाता हूँ । इस प्रकार वेद के कहे अनुसार वह जीव अनेक प्रकार की दुर्गतियों में प्राप्त होता है और फिर फिर मर कर नरक जाता है ।

इस प्रकार वह इस संसार में महा दुःख भोगता रहता है ।

इय विलघ्नतो हृण्णइ गलयं मुखनासरंधं रुंधिता ।

भक्षियइ सोत्तिर्एहिं विहिण बहुवेय वंतेहि ॥ ६१ ॥

इति विलपन् हन्यते गलितं मुखनासिकारन्ध्रं रुंध्वा ।

भक्ष्यते श्रोत्रियः विधिना बहुवेदविद्भिः ॥ ६१ ॥

अर्थ— इस प्रकार अनेक वेदों को जाननेवाले श्रोत्रिय लोग उस पशु के नाक और मुख के छिद्रों को बंद कर देते हैं और फिर जो पशु विलाप करता है और उसके मुख नाक के छिद्रों से रुधिर निकलता है ऐसे उस पशु को वे लोग कथित की विधि के अनुसार मार कर खा जाते हैं ।

अस विदरीयं कर्हियं मिच्छत पावनारणं विसमं ।

जो परिहरइ मज्जुस्सो सो पावइ उत्तमं ठाण ॥ ६२ ॥

इति विपरितं कथितं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमम् ।

यः परिहरति मनुष्यः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥ ६२ ॥

अर्थ— इस प्रकार जो यह विपरित मिथ्यात्व महा पाप का कारण है और अत्यन्त विषम है उसका स्वरूप कहा । जो मनुष्य इस विपरित मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग कर देता है वही जीव स्वर्गादिक के उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है ।

इस प्रकार विपरित मिथ्यात्व का स्वरूप कहा ।

एयंतमिच्छविट्ठि बुद्धो एयंत णय समालंको ।

एयंते सणियत्तं सण्णइ जं लोय मज्जम्मि ॥ ६३ ॥

एकान्तमिथ्यादृष्टिर्बुद्धः एकान्तनयसमालम्बि ।

एकांतेन क्षणिकत्वम् मन्यते यत्लोकमध्ये ॥ ६३ ॥

अर्थ— एकान्त वादी बुद्धी है वह केवल एकांत नयको मानता है तथा संसार में जितने पदार्थ हैं उन सबको एकांत नयसे क्षणिक मानता है । भावार्थ— समस्त पदार्थ क्षणिक हैं जो उत्पन्न होकर एक क्षण ठहरते हैं दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार बौद्ध मानते हैं ।

आगे ऐसा मानने में अनेक दोष दिखलाते हैं ।

जइ खणियत्तो जीवो तरिहि भवे कस्य कम्मसंबन्धो ।

सम्बन्ध विण ण घडई वेहगहणम् पुणे तस्स ॥ ६४ ॥

यदि क्षणिको जीवस्तर्हि भवेत्कस्य कर्मसम्बन्धः ।

सम्बन्धम् विना न घटते वेहग्रहणम् पुनः तस्य ॥ ६४ ॥

अर्थ— यदि यह जीव क्षणिक है एक ही क्षण रहकर नष्ट हो जाता है तो फिर कर्म का संबंध किसको होगा और कौन उसका फल भोगेगा । तथा विना कर्मों के संबंध के यह जीव आगे के शरीर को किस प्रकार धारण कर सकेगा ।

भावार्थ— यह जीव जैसा कर्म बंध करता है वैसा ही फल भोगता है, कर्म बंध के अनुसार ही नया शरीर धारण करता है । कर्म बंध के

सुव्वयत्तित्थे उज्झां खीर कदंबुत्ति सद्ध सम्मत्तो ।

सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तोविय पव्वओ वक्को ।

विणरीयमयं किच्चा विणसियं सव्व संजयं लोए ।

तत्तो पत्ता सव्वे सत्तम णरयं महाघोरं ॥ दर्शनसार ॥

भगवान् मुनिसुव्रत नाथ के समय में एक क्षीर कदंब नाम के उपाध्याय शुद्ध सम्यक्त्वी थे । उसका पुत्र पर्वत और उनका शिष्य वसु दोनों ही कुटील परिणामी थे । इन दोनों ने विपरीत मिथ्यात्व की कल्पना की थी तथा लोगों के समस्त संयय का नाश किया था । इस लिये वे दोनों मरकर महाघोर सातवें नरक में उत्पन्न हुए थे ।

अनुसार ही नरक स्वर्ग में जाता है तथा कर्म बंध के अनुसार ही अनेक प्रकार के सुख दुख भोगता है । यदि ज ब को क्षणिक माना जायगा तो फिर वह किस प्रकार कर्म बंध कर सकेगा और किस प्रकार उसका फल भोग सकेगा । बिना कर्मबंध और उसका फल भोग नया शरीर भी वह धारण नहीं कर सकता । ऐसी अवस्थामें वह कोई पदार्थ ही उठर सकता है ।

आगे इस जीव को क्षणिक मानने में और भी दोष बतलाते हैं ।

तपश्चरणं व्रतधारणं जीवरग्रहणं च सीमामुंडलयं ।

सत्तर्हडियासु भिक्षा खणिकत्वे णैव सम्भवई ॥ ६५ ॥

तपश्चरणं व्रतधारणं जीवरग्रहणं च शिरोण्डनम् ।

सप्तहटिकासु भिक्षा क्षणिकत्वे नैव सम्भवति ॥ ६५ ॥

अर्थ— यदि जीव को क्षणिक माना जायगा तो फिर तपश्चरण करना कभी संभव नहीं हो सकता है, न व्रत धारण करना संभव हो सकता है, न वस्त्र धारण करना संभव हो सकता है, न मस्तक मुंडाना संभव हो सकता है और न सात घरोंमें भिक्षा मांगना संभव हो सकता है ।

भावार्थ— जीव को क्षणिक मानने से संसार के कोई भी काम संभव नहीं हो सकते । जब यह जीव दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाता है तो वह कोई भी कार्य नहीं कर सकता ।

आगे ज्ञानको क्षणिक मानने में दोष दिखलाते हैं ।

णानं जड खणभंसी कह सो बालतववसिय मुणइ ।

तह बहिरगआ संतो कह आवइ पुणवि जियगेहं ॥ ६६ ॥

ज्ञानं यदि क्षणध्वंसि कथं तत् बालत्वलसितं जानाति ।

तथा बहिर्गतः सन् कथमागच्छति पुनरपि निजगृहम् ॥ ६६ ॥

अर्थ— यदि ज्ञानको क्षणिक माना जाय, ज्ञान भी दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है ऐसा माना जाय तो वह अपने बालकपने में किये हुए कामों को कैसे जान सकेगा, और यदि उसका ज्ञान दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाता है तो फिर घर से निकल कर बाहर गया हुआ जीव

फिर लौटकर अपने घर कैसे आ सकेगा ? भावार्थ:- स्मरण ज्ञान बना रहने से ही वायकपने की बातें स्मरण रहती हैं और स्मरण ज्ञानसे ही बाहर गया हुआ जीव घर लौट आता है ।

आगे चेतना शक्ति को क्षणिक मानने में उत्पन्न हुए दोष दिखलाते हैं ।

जइ चेतना अणिच्छा तो किं चिरजाय वाहि समराई ।

बहराइ बि मिचाइ बि कह जाणइ दिहुमिताई ॥ ६७ ॥

यदि चेतना अनित्या तहि कथं चिरजातव्याधि स्मरति ।

वैरिण अपि मित्राण्यपि कथं जानाति दूष्टिमात्रेण ॥ ६७ ॥

अर्थ- यदि आत्मा की चैतन्य शक्ति भी अनित्य वा क्षणिक है तो यह जीव अपने शरीर में उत्पन्न हुई चिरकाल की व्याधि का स्मरण कैसे करलेता है तथा देखने मात्रसे ही अपने शत्रु वा मित्रों को कैसे पहिचान लेता है ।

भावार्थ- जीवादिक समस्त पदार्थ कभी किसी कालमें भी क्षणिक भिन्न नहीं हो सकते । यह जीव चिरकालकी व्याधिको भी स्मरण करलेता है और देखते ही शत्रु वा मित्रको पहिचान लेता है । उस जीवको चेतना में बिना नित्यता माने ये दोनों ही काम कभी नहीं हो सकते ।

आगे सर्वथा क्षणिक मानने वाले में और भी दोष दिखलाते हैं ।

पत्त पडियं ण दूसइ खाइ पलं पियइ मज्जु निल्लज्जो ।

इच्छइ सग्गगमनं मोक्खगमनं च पापेण ॥ ६८ ॥

पात्रे पतितं न दूषयति खादति पलं पिबति मद्यं निर्लज्जः ।

इच्छति स्वर्गगमनं मोक्षगमनं च पापेन ॥ ६८ ॥

अर्थ- क्षणिकवादी लोग अपने पात्र में (वर्तन में) आये हुए भक्ष्य अभक्ष्य आदि पदार्थों में कोई दोष नहीं मानते । वे लोग निर्लज्ज होकर मांस भी खाते हैं और मद्य भी पीते हैं । तथा इस प्रकार महा पाप करते हुए भी उस पापके फलसे स्वर्ग प्राप्त होजाने की वा मोक्ष

प्राप्त हो जाने की इच्छा करते हैं । परन्तु ऐसे पापों से स्वर्ग वा मोक्षकी प्राप्ति होना सर्वथा असंभव है ।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं ।

असिऊण मांसगासं मज्जं पविऊणगम्मए सगं ।

जइ एवं तो सुंडय पारद्विय चेव गच्छन्ति ॥ ६९ ॥

अशित्वा मांसप्रासं मद्यं पीत्वा गम्यते स्वर्गम् ।

यद्येवं तर्हि शौण्डाः पारद्विकारचंच गच्छन्ति ॥ ६९ ॥

अर्थ— यदि मांस भक्षण करने से वा मद्य पीनेसे ही वे जीव स्वर्ग चले जाते हों तो संसार में मद्य पीने वाले और मांस भक्षण करने वाले हत्यारे पारधी आदि सबको स्वर्ग की प्राप्ति हो जानी चाहिये । परन्तु ऐसा होना सर्वथा असंभव है । मांस और मद्य दोनों ही अत्यन्त निन्द्य और घृणति पदार्थ हैं तथा इनका सेवन करके ब्रह्मे लिये चले जाते हैं । फिर भला उनको स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती ।

इम एयंतविणडिओ बुद्धो ण सुणेइ वत्थुसवभावं ।

अण्णाणी कयपायो सो दुग्गइ आय नियमेण ॥ ७० ॥

इति एकान्तविनटितो बुद्धो न मनुते वस्तुस्वभावम् ।

अज्ञानी कृतपापः स दुर्गतिं याति नियमेन ॥ ७० ॥

अर्थ— इस प्रकार एकान्त मिथ्यात्व को मानता हुआ जीव वस्तु-का स्वभाव नहीं समझता । वह अत्यन्त अज्ञानी है और इसी लिये अपने किये हुए पापों के कारण नियमसे दुर्गति की प्राप्ति होता है ।

आगे पदार्थों का यथार्थ स्वभाव दिखलाते हैं ।

णिच्छाणिच्चं दद्वं सव्वं इह अत्थि लोयमज्झम्मि ।

पज्जाएण अणिज्जं णिच्चं फुडु होइ दब्बेण ॥ ७१ ॥

नित्यमनित्यं द्रव्यं सर्वमिहास्ति लोकमध्ये ।

पर्यायेणानित्यं नित्यं स्फुटं भवति द्रव्येण ॥ ७१ ॥

अर्थ— इस लोकाकंश में जितने द्रव्य भरे हुए हैं वे सब नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं । पर्यायार्थिक नयसे वे सब द्रव्य अनित्य हैं अर्थात् उनकी पर्यायें सदा बदलती रहती हैं इसलिये अनित्य हैं और द्रव्यार्थिक नयसे वे सब द्रव्य नित्य हैं ।

भावार्थ— एक बालक वा एक पौधा प्रतिक्षण बढ़ता रहता है । यह उसका बढ़ना ही पर्यायार्थिक बदलना है । इस प्रकार उस बालक को वा उस पौधा अनित्य भी कह सकते हैं परन्तु उस बालक के माता पिता वा उस पौधा को लगानेवाला कोई पुरुष बड़ा होने पर भी उसको “यह वही बालक है जो पन्द्रह वर्ष पहले उत्पन्न हुआ था” ऐसा समझता है तथा पौधा लगानेवाला भी “यह वही वृक्ष है जो मैंने दश वर्ष पहले लगाया था” ऐसा समझता है और ऐसा ही कहता है । इसलिये वह बालक वा पौधा नित्य भी माना जाता है । इस प्रकार वस्तुका स्वभाव नित्य अनित्य उभय स्वरूप है । वह सर्वथा क्षणिक वा सर्वथा नित्य कभी नहीं हो सकता ।

आगे इसका उपसंहार कहते हैं ।

इय एयंतं कहियं मिच्छतं गुरुपापसंजणयं ।

एतौ उब्बं बोच्छं वेणइयं णाम मिच्छतं ॥ ७२ ॥

इति एकान्तं कथितं मिथ्यात्वं गुरुपापसञ्जनकम् ।

इत उर्ध्वं वक्ष्ये वेनयिकं नाम मिथ्यात्वम् ॥ ७२ ॥

अर्थ— इस प्रकार महापाप उत्पन्न करनेवाले एकान्त मिथ्यात्वका स्वरूप कहा × । अब आगे वेनयिक नामके मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं ।

इस प्रकार दूसरे एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप जानना ।

× सिरि पासणहत्तिथे सरयू तीरे पलासयरत्थे ।

पिहियासवस्स सीसो महासुओ बुद्धकित्ति मुणि ॥

तिमिफरणासणोण हि अगहिय पव्वज्जओ परिब्भट्ठो ।

रत्तंवरं धरिस्सा पवड्डियं तेण एयंतं ॥

आगे वैनयिक मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं ।

वेणइयमिच्छादिदृष्टी ह्यइ फुडं तापसो हु अण्णाणी ।

णिग्गुणजणम्मि विणओ पउं जमाणो हु गयविबेओ ॥ ७३ ॥

वैनयिकमिथ्यादृष्टिः भवति स्फुटं तापसो ह्यजानी ।

निर्गुणजने विनयं प्रयुज्जमानो हि गतविवेकः ॥ ७३ ॥

अर्थ— वैनयिक मिथ्यादृष्टी तापसी होते हैं वे अजानी होते हैं और रहित होते हैं तथा निर्गुण लोगों को भी विनय किया करते हैं ।

मंसस्य पत्थि जीवो जह फले दुद्ध ददित्यमक्करए ।

तस्हा तं वञ्छितो नं भक्खंतो ण पाविद्वी ॥

मज्जं ण वज्जिणिज्जं दव दव्वं जह जलं तदा एदं ।

इय लोए घोसित्ता पवट्ठियं सव्व सावज्जं ॥

अण्णो करेइ कम्मं अण्णो तं भुजईह सिद्धंतं ।

परिकण्ठिऊण णूणं वसिक्किच्चाणिरय मुववण्णो ॥

( दर्शनसार )

—अर्थ श्री पार्श्वनाथके तीर्थ के समय सरयू नदीके किनारे एक पलाश नामका नगर था । उसमें पिहिताश्रव मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति नामका मुनि अनेक शास्त्रों का जानकार था । वह दिना दीक्षा लिये ही मुनि हो गया था और मत्स्य का मांस खा खा कर भ्रष्ट हो गया था । भ्रष्ट होकर उसने लाल वस्त्र पहन लिए थे तथा रक्तम्बर नामसे उसने इस एकान्त मत की वृद्धी की थी । उसने इस मंसार में घोषणा की थी कि जिस प्रकार फल दूध दही शक्कर आदि में जीव नहीं है उसी प्रकार मांस में भी जीव नहीं है । इसलिये जो लोग मांस खाने की इच्छा करते हैं वा मांस भक्षण करते हैं वे पापी नहीं कहला सवाते । इसी प्रकार मद्य का भी त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य है, पतला पदार्थ है । उसी प्रकार मद्य भी द्रव द्रव्य है, एक पतला पदार्थ है । इस प्रकार घोषणा कर उसने समस्तपाप कर्मों को प्रवृत्ती की थी । इसके सिवाय उसने यह भी घोषणा की थी कि

विणयादो इह मोक्षं किञ्चिद् पुणु तेण गद्दहाईणं ।  
अमुणिय गुणगुणेण य विणयं मिच्छत्तं णडियेण ॥ ७४ ॥  
विनयतः इह मोक्षः क्रियते पुनस्तंन गर्वसादिनाम् ।  
अज्ञानतगुणागुणेन च विनयः मिथ्यात्वनटेन ॥ ७४ ॥

अर्थ— जो लोग गुण अवगुण को नहीं जानते ऐसे मिथ्यादृष्टी  
नटों को समझना चाहिये कि यदि विनय करने से ही मोक्ष की प्राप्ति  
होती है तो उनको गधा चांडाल आदि सबका विनय करनी चाहिये ।  
परन्तु वे लोग उनका विनय नहीं करते ।

यह जीव क्षणिक है उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाता  
है इसलिये जो जीव पाप करता है वा पुण्य करता है उसका फल वह  
नही भोगता वह तो दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाता है इसलिये उस  
पाप वा पुण्य का फल कोई दूसरा ही जीव भोगता है । यही रक्तांबर  
वा एकान्त मत वा सिद्धांत है । इस प्रकार कल्पना कर उसने बहुतसे  
लोगों को ब्रह्म कर लिया था और फिर अन्तमें मरकर वह नरक में  
उत्पन्न हुआ था ।

जक्खय णायार्इणं दुग्गाखंभाइ अण्णदेवानं ।  
जो णवइ धम्महेउं जो विय हेइ च सो मिच्चो ॥ ७५ ॥  
यक्षनागादीन् दुर्गास्क्रन्धाद्यन्यदेवान् ।  
यो नमति धर्महेतोः योपि च हेतुश्च स मिथ्यात्वम् ॥ ७५ ॥

अर्थ— जो लोग धर्म समझकर यक्ष नाग आदि अन्य देवों को  
नमस्कार करते हैं उसका कारण भी मिथ्यात्व ही समझना चाहिये ।

भावार्थ— मिथ्यात्व कर्म के उदयसे ही इनकी देव समझकर पूजा  
करते हैं ।

पुत्तत्थ माउसत्थं कुणइ जवो देवि चण्डियाविणयं ।  
मारइ छेलयसत्थं पुज्जइ कुलाइ मज्जेण ॥ ७६ ॥  
पुत्रार्थमायुष्यार्थं करोति जनो देवीचण्डिकाविनयम् ।  
मारयति छागसार्थं पूजयति कुलानि मध्येन ॥ ७६ ॥



अर्थ— बहुतसे लोग पुत्र उत्पन्न होनेके लिये वा अपना आयु बढ़ाने के लिये चण्डी मुण्डी आदी देवी देवताओं की विनय करते हैं, उनके सामने बकरे आदि का बध करते हैं तथा मद्य में अपने कुलकी पूजा करते हैं ।

णत्रि हाइ तत्थ पुण्णं किज्जंति णिकिट्ठरुद्धं स्वभावा ।

णय पुत्ताइं दाउं सकका ते सत्तिहिणां जे ॥ ७७ ॥

नापि भवति तत्र पुण्यं कुर्वन्ति निकृष्टद्वस्वभावान् ।

न च पुत्रादि दातुं शक्तास्ते शक्तिहीना ये ॥ ७७ ॥

अर्थ— चण्डी मुण्डी आदि देवता आदर्श देवता नहीं हैं और उनके स्वभाव क्रूर है इसलिये उनकी विनय करने से वा उनकी पूजा करने से पुण्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । इसके सिवाय वे सब चण्डी मुण्डी आदि देवता पुत्र देने के लिए वा आयु बढ़ाने के लिये कभी समर्थ नहीं हो सकते । क्योंकि वे सब शक्ति से हीन हैं ।

जइ ते होती समत्था कत्थ गया पंडवाइया पुरिसा ।

कत्थगया चक्केसा हलहरणारायणा कत्थ ॥ ७८ ॥

यदि ते भवन्ति समर्थाः कुत्र गताः पाण्डवाद्याः पुरुषाः ।

कुत्र गताश्चक्रेशा हलधरनारायणाः कुत्र ॥ ७८ ॥

अर्थ— यदि वे चण्डी मुण्डी आदी देवता पुत्र देने वा आयु बढ़ाने के लिये समर्थ होते तो फिर पाण्डव आदि महा पुरुष कहां चले गये, चक्रवर्ती कहां चले गये तथा नारायण प्रति नारायण हलधर आदि सब कहां चले गये ।

भावार्थ— चक्रवर्ती नारायण, हलधर आदि महापुरुष होते हैं, अनेक देव इनके आधीन और सेवक होते हैं । फिर भी वे देवता अपने स्वामी की आयु न बढ़ा सके और आयु समाप्त होने पर वे लोग स्वर्ग मोक्ष वा नरक में चले ही गये । इससे सिद्ध होता है कि उन देवों में कोई इस प्रकार की शक्ति नहीं है । वे इन बातों के लिये सर्वथा असमर्थ हैं । इसलिये इस निमित्त उनकी पूजा वा विनय करना सर्वथा व्यर्थ है ।

जइ देवयं देइ सुयं तो किं रुद्रेण सेविता गउरी ।  
 दिव्यं वरिस सहस्त्रं पुत्तत्वं तारय मएण ॥ ७९ ॥  
 यदि देवो ददाति सुतं तर्हि किं रुद्रेण सेविता गौरी ।  
 दिव्यं वर्षसहस्त्रं पुत्रार्थं तारकमयेन ॥ ७९ ॥

अर्थ— यदि देव लोग किसी को पुत्र दे सकते होने तो फिर महा-  
 देवजी तारक के भयसे पुत्र उत्पन्न करने के लिये दिव्य सहस्त्र वर्ष तक  
 पार्वती सम्पर्क क्यों करते रहते ।

भावार्थ— पुत्र उत्पन्न करने के लिये ही महादेव ने पार्वती के  
 साथ समागम किया था और देवताओं के हजार वर्ष तक किसी एकांत  
 वनमें जाकर समागम करते रहते ।

तन्हा सयमेव सुओ हवेइ मिठणण रइपउत्ताणं ।  
 अण्णाण मूढलोओ वाहिज्जइ धूतमणुएहि ॥ ८० ॥  
 तस्म त्वयमेव सुतो भवेत् मिथुनानां रतिप्रवृत्तानाम् ।  
 अज्ञानो मूढलोको बाध्यते धूर्तमनुष्यैः ॥ ८० ॥

अर्थ— इससे सिद्ध होता है रति कर्म में प्रवृत्त होनेवाले स्त्री  
 पुरुषों के अपने आप पुत्र उत्पन्न हो जाता है । तथापि धूर्त लोग अज्ञानी  
 मूर्ख लोकों को चंडी मुंडी आदि देवताओं का विजय करने के लिये  
 बाधित करते रहते हैं ।

संते आउसि जीवइ मरणं गलयम्मि ण त्थ संदेहो ।  
 णव रक्खइ कीचि तर्हि संतं सोसेइ ण हु कोई ॥ ८१ ॥  
 सति आयुषि जीवति मरणं गलिते नास्ति सन्देहः ॥  
 न च रक्षति कोपि तस्मात् सत् शोषयति नहि कश्चित् ॥

अर्थ— जब तक आयु कर्म बना रहता है तबतक यह जीव जीवित  
 रहता है तथा आयु कर्म पूर्ण हो जाता है, खिर जाता वा नष्ट हो जाता  
 है तब यह जीव मर जाता है । इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।  
 जिस समय आयु कर्म पूर्ण हो जाता है उस समय कोई भी देव उस  
 जीव की रक्षा नहीं कर सकता । इसी प्रकार जब तक आयु कर्म रहता  
 है तबतक उस आयु कर्म को कोई भी देह नष्ट नहीं कर सकता ।

भावार्थ— कोई भी देव आयु पूर्ण होने पर किसी की भी रक्षा नहीं कर सकता तथा आयु रहते हुए किसी को मार नहीं सकता । यह निश्चित सिद्धांत है ।

इसी बात को उदाहरण देकर बतलाने है ।

जइ सख बैधयाओ मणुयं रक्खति पुज्जियाओ य ।

तो किं सो बह्वयणो ण रक्खिओ विज्जसहस्सेण ॥ ८२ ॥

यदि सर्वदेवता मनुजं रक्षयन्ति पूजिताश्च ।

तर्हि किं स दशवदनो न रक्षतो विद्यासहस्रेण ॥ ८२ ॥

अर्थ— यदि पूजा वा वंदना किये हुए समस्त देवता मनुष्यों की रक्षा कर सकते हैं तो फिर रावण के पास हजारों विद्याएँ थीं, फिर उन विद्याके अधिपति देवताओं ने उस रावण की रक्षा क्यों नहीं की ? रावण के पास जो चक्र था उसकी भी एक हजार देवता रक्षा करते थे, परंतु आयु पूर्ण होने पर उसी चक्र से वह रावण मारा गया । इससे सिद्ध होता है कि कोई देव न किसी की रक्षा कर सकता है और न किसी को मार सकता है ।

आगे किनकी पूजा विनय करनी चाहिये, सो कहते हैं ।

इय णाउं परमप्प अट्टारसदोसवज्जिओ देवो ।

पणविज्जइ सत्तीए जइ लब्भइ च इच्छियं वत्थुं ॥ ८३ ॥

इति ज्ञात्वा परमात्मानं अष्टादशदोषवर्जितो देवः ।

प्रणम्यते भक्त्या येन लभ्यते इच्छितं वस्तु ॥ ८३ ॥

अर्थ— यही समझकर अठारह दोषों से रहित जो अरहंत परमात्मा है, उन्हीं को भक्ति पूर्वक नमस्कार करना चाहिये । भगवान् अरहंत देवको नमस्कार करने से समस्त इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ— भगवान् अरहंत देव वीतराग है । अठारह दोषों से रहित है और सर्वज्ञ है । इसलिये वे ही नमस्कार करने से कुछ देते नहीं हैं क्योंकि वे तो वीतराग हैं फिर भी उनका आत्मा समस्त दोषों से

रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध और निर्मल है। इसलिये उनको भक्ति करने से, पूजा नमस्कार करने से विशेष पुण्य की प्राप्ति होती है। तथा उस विशेष पुण्य से इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। इसके विवाय शुद्ध निर्मल आत्मा को भक्ति पूजा करने से अपने आत्माको शुद्ध और निर्मल करने की भावना उत्पन्न होती है तथा उस भावना के अनुसार वह जीव अपने आत्माको वेसा ही बनाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने आत्मा का कल्याण करता हुआ स्वयं अरहंत अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

वेणइयं मिच्छतं कहिये भव्याण वज्जणहुं तु ।

एसो उड्ढ वोळ्ळं मिच्छतं संसरं णाम ॥ ८४ ॥

वैनयिकं मिथ्यात्वं कथितं भव्यानां वज्रनार्थं तु ।

इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये मिथ्यात्वं संशयं नाम ॥ ८४ ॥

अर्थ— इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से वैनयिक मिथ्यात्व का स्वरूप कहा। इन सब मिथ्यात्वों का स्वरूप भव्य जीवों को त्याग करने के लिये कहा है। भव्य जीवों को इन समस्त मिथ्यात्वों का त्याग कर देना

सर्व्वेषु य तित्थेषु य वेणइयाजं समुव्ववो अत्थि ।

मज्झा मुड्डियसीसा सिहिणो णग्गाय केई य ॥

दुट्ठं गुणवंते वि य ममया भत्तीय सव्वदेवाणं ।

णमणं दडुव्व जणे पण्णिकलियं तेहि मूठेहि ॥

अर्थ— वैनयिक मिथ्यात्व की उत्पत्ति समस्त तीर्थंकरों के समय से होती है। इन वैनयिक मिथ्यादृष्टी लोगों में कोई जटा घारी होते हैं कोई अपने भस्तक को मुंडा लेते हैं, कोई चोटी रख लेते हैं और कोई नग्न होते हैं। उन लोगों ने यह कल्पना कर रखी है कि चाहे दुष्ट हो चाहे गुणी हो सबकी पूजा भक्ति करनी चाहिये। सब देवों को नमस्कार वा दंडवत करना चाहिये, सब की पूजा भक्ति करनी चाहिये।

चाहिये । अब आगे संशय मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं ।

इस प्रकार तीसरे वैनायक मिथ्यात्व का स्वरूप कहा । अब संशय मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं ।

संशय मिच्छादिदृष्टी नियमा सो होई जत्थ सगंथो ।  
णिगंथो वा सिज्झइ कंवलग्रहणेण सेवडओ ॥ ८५ ॥

संशयमिच्छादृष्टिर्नियमात्स भवति यत्र सग्रन्थः ।  
निग्रन्थो वा सिद्ध्यति कंवलग्रहणेन श्वेतपटः ॥ ८५ ॥

अर्थ— संशय मिथ्यादृष्टी श्वेतपट होते हैं जिन के मन में यह संशय नियम से बना ही रहता है कि मोक्षकी प्राप्ति निग्रन्थ (लिग से दिगम्बर अवस्था से) होती है अथवा सग्रन्थलिग से (परिग्रह सहित अवस्था से) इसीलीये ये लोग बस्त्र कंवल आदि बहुत सा परिग्रह रखते हैं ।

आगे यही बात दिखलाते हैं ।

दंडं बुद्धिय चेलं अण्णं सव्वं पि धम्म उवयरणं ।  
मण्णइ मोक्खणिमित्तं गंथे लुब्धो समायरइ ॥ ८६ ॥  
दण्डं बुद्धिकं चेलं अन्यत्सर्वं हि धर्मोपकरणम् ।  
मन्यते मोक्षनिमित्तं ग्रन्थे लुब्धः समाचरति ॥ ८६ ॥  
इस्थो गृहस्थवर्गो तस्मिन् भवे चैव अस्थि णिव्याणं ।  
कवलाहारं च जिणे णिदा तण्हा य संसइओ ॥ ८७ ॥  
स्त्रीगृहस्थवर्गो तस्मिन् भवे चैव अस्ति निर्वाणम् ।  
कवलाहारं च जिने निद्रा सृष्ट्या च संशयितम् ॥ ८७ ॥

अर्थ— वे जो लोग परिग्रह में बहुत ममत्व रखते हैं, दंड कुंडी बस्त्र आदि अपने काम आने वाले समस्त पदार्थों को मोक्ष के कारण भूत धर्मोपकरण मानते हैं, इसके सिवाय अपने गृहस्थ धर्म में रहती हुई स्त्री मोक्ष प्राप्त कर लेती है अरहंत भगवान् के निद्रा तंद्रा भी होती है । इस प्रकार की मान्यता वास्तविक धर्म के विरुद्ध है ।

आगे अन्तर्ममं इन सबमें दोष दिखलाते हैं ।

जइ सग्नन्थो मुक्खं तित्थयरो किं मुंचहि णियरज्जे ।  
 रयण णिहाणेहि समं किं णिवसइ णिज्जरे रण्णो ॥ ८८ ॥  
 यदि सग्नन्थो मोक्षः तीर्थकरः किं मुञ्चति निजराज्यम् ।  
 रत्ननिधानैः सह किं निवसति निर्निजराज्ये ॥ ८८ ॥

अर्थ यदि परिग्रहों के रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थङ्करों को अपना राज्य छोड़ने की क्या आवश्यकता थी, अनेक प्रकार रत्न तथा निधियों के छोड़ने की भी क्या आवश्यकता थी और फिर सबको छोड़कर निर्जन वनमें जाने की क्या आवश्यकता थी ।

और भी देखो -

रयण णिहाणं छंडइ सो किं णिहेहि कंदली खण्डं ।  
 दुद्धिय दंडं च पटं गृहस्थजोग्गं पि जं किं पि ॥ ८९ ॥  
 रत्ननिधानं त्यजति स किं गृह्णति कम्बलखण्डम् ।  
 दुग्धिकं वण्डं च पटं गृहस्थयोग्यमपि यत् किमपि ॥ ८९ ॥

अर्थ - यदि परिग्रह रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती तो तीर्थकर रत्न और निधियों को छोड़कर अन्य परिग्रह क्यों ग्रहण करते हैं ?

वस्तु स्थिति यह है कि समस्त पदार्थों का त्यागकर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । सग्नन्थ अवस्थासे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

और भी -

गेहे गेहे भिक्खं पतं गहिज्जण जाइए किं सो ।  
 किं तस्स रयणविट्ठी घरे घरे णिवडिया तत्थ ॥ ९० ॥  
 गृहे गृहे भिक्षां पार्श्वं गृहीत्वा याचते किं सः ।  
 किं तस्य रत्नवृष्टिः गृहे गृहे निपतिता तत्र ॥ ९० ॥

अर्थ— जिन तीर्थंकरों ने मोक्ष ही प्राप्ति के लिये समस्त राज्य का त्याग कर मुनि अवस्था धारण की वे ही तीर्थंकर मुनि होकर भी फिर हाथ में पात्र लेकर घर घर भोजन मांगने के लिये क्यों जाते हैं? क्या रत्नवृष्टि भी घर घर बरसी थी ।

भावार्थ— जब गृहस्थ अवस्था से ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर राज्य और समस्त परिग्रह के त्याग करने की क्या आवश्यकता थी और यदि त्याग ही किया तो फिर वस्त्र दण्ड आदि क्यों धारण किये और हाथमें पात्र लेकर घर घर भिक्षा क्यों मांगी । इसलिये त्याग कर फिर ग्रहण करना सर्वथा मिथ्यावाद है ।

आगे इस सबका सारांश दिखलाते हैं ।

ण हु एवं ज उत्तं संशयमिच्छत्तरसिचित्तेण ।

णिगन्थ मोक्षमार्गो किंचण बहिरंतण चण्ण ॥ ९१ ॥

न हि एवं यवुत्तं संशयमिध्यात्वरसिकचित्तेन ।

निग्रन्थमोक्षमार्गः किंचन बाह्यान्तरत्थागेन ॥ ९१ ॥

अर्थ— जिसका हृदय संशय मिथ्यात्व के रस से रसिक हो रहा है उसका यह सब ऊपर कहा हुआ मत ठीक नहीं है । क्योंकि मोक्षका मार्ग निग्रन्थ अवस्था ही है । जिसमें वस्त्र दण्ड आदि समस्त बाह्य परिग्रहों का भी त्याग हो जाता है । ऐसी वीतगम निग्रन्थ अवस्था ही मोक्ष का मार्ग है । सग्रन्थ अवस्था मोक्ष का मार्ग कभी नहीं है ।

आगे स्त्री मुक्ति का निषेध करते हैं ।

जइ तप्पइ उग्रतपं भासे भासे य पारणं कुणइ ।

तइ धि ण सिज्जइ इय्ही कुत्तिसत्तलिंगस्स दोसेण ॥ ९२ ॥

यदि तप्यते उग्रतपः भासे भासे च पारणं करोति ।

तथापि न सिद्धिनि स्त्री कुत्तिसत्तलिंगस्य दोषेण ॥ ९२ ॥

अर्थ— स्त्री लिंग कुत्तिसत्तलिंग है अर्थात् स्त्री का शरीर वा स्त्री की पर्याय निन्द्य है । इसलिये चाहे कोई स्त्री उग्रसे उग्र तपश्चरण करती रहे और चाहे प्रत्येक महीनेका उपवास कर प्रत्येक महीने के

अन्त में पारणा करनी रहे तथापि स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

आगे इसका कारण बतलाते हैं —

मायापमायवउरः पडिमासं तेसु होइ पक्खल्लणं ।  
णिच्चं जो णत्साओ पुण दाडढणत्थि चित्तस्स ॥ ९३ ॥  
मायाप्रमादप्रचुराः प्रतिभासं तासु भवति प्रस्खलनम् ।  
नित्यं योनिस्त्रावः पुनःदाढर्थं नास्ति चित्तस्य ॥ ९३ ॥

अर्थ— स्त्री को मोक्षकी प्राप्ति क्यों नहीं होती इसका कारण यह है कि स्त्रियों में मायाचार की मात्रा अधिक होती है तथा प्रमाद भी अधिक होता है । इसके सिवाय प्रत्येक महोत्सव में उनके रजः का स्खलन होता रहता है, योनिसे रजःस्राव होता रहता है और इसलिये उनका चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता ।

भावार्थ— चित्तके स्थिर न रहने से उसमें कभी ध्यान नहीं हो सकता । बिना ध्यानके कर्मों का नाश नहीं हो सकता और बिना कर्मों के नाश किये मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इस प्रकार स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ।

आगे स्त्रियों के शरीर के दोष बतलाते हैं ।

सुहृमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणिणा हि कक्खेसु ।  
उपत्ती होइ सखा अण्णो सु य तणुपएसेसु ॥ ९४ ॥  
सूक्ष्मापर्याप्तानां मनुष्याणां योनिनामिकक्षेषु ।  
उत्पत्तिर्भवति सदा अन्येषु च तनुप्रदेशेषु ॥ ९४ ॥

अर्थ— स्त्रियों की योनि में, नाभि में, कांख में तथा और भी कितने ही शरीर के प्रदेशों में सदा काल मूढम अपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति होती रहती है ।

भावार्थ— स्त्रियों की योनि, नाभि, कांख में सम्पूर्ण मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं । वे जीव मनुष्य के आकारके पंचेन्द्रिय होते हैं अत्यन्त सूक्ष्म



होते हैं और अपर्याप्तक होते हैं। यही कारण है कि स्त्रियों में जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वे जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। इसलिये स्त्रियाँ केवल संकल्पी आरम्भो, उच्चमी आदि हिंसा का त्याग कर सकती हैं। मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे समस्त जीवों की सर्वथा हिंसा का त्याग उनसे नहीं हो सकता। इसलिये वे दूर्य संन्यास करने नहीं कर सकती।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

ण ह्य अस्थि तेण तेसिं इत्थिणं दुविह संजमोद्धरणं ।

संजमधरणेण विणा ण ह्य मोक्खो तेण जप्पेण ॥ ९५ ॥

न ह्यस्ति तेन तासां स्त्रीणां द्विविधसंयमधारणम् ।

संयमधारणेन विना नही भोक्षस्तेन जन्मना ॥ ९५ ॥

अर्थ— संयम दो प्रकारका होता है एक प्राणिसंयम और दूसरा इन्द्रिय संयम। असत स्थावर समस्त जीवों की रक्षा करना किसी भी जीव का धान न करना प्राणिसंयम है और समस्त इन्द्रियों को वशमें

चक्रिस्तुहलभृत् कृष्णप्रवृत्कटभूभृताम् ।

स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्रवोच्चार भूमिषु ॥

शुक्रसंघाणकश्लेष्मकण्ठान्तमलेषु च ।

अत्यन्ताशुचि देहेषु सद्यः सम्मूच्छंयन्ति ये ॥

भूत्वा घनांगुलासंख्यभागमात्रशरीरकाः ।

आशु सद्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूच्छिमा नराः ॥

अर्थ— चक्रवर्ती, हलधर नारायण आदि बड़े २ राजाओं के स्कन्धावार में मलमूत्रके स्थानों में शुक्र (वीर्य) कफ, नाकका मल, कर्ण दन्त आदिके मलसे तथा अत्यन्त अपवित्र शरीर में शीघ्र ही सम्मूच्छन् जीव उत्पन्न हो जाते हैं। उन जीवों का शरीर घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। वे अप्राप्तिक होते हैं तथा सम्मूच्छन् मनुष्य होते हैं वे उत्पन्न होकर शीघ्र ही मर जाते हैं।

रखना इन्द्रिय संयम है । ये दोनों प्रकार के संयम पूर्ण रूप से स्त्रियों के नहीं पल सकते । क्योंकि मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग होना चाहिये परंतु उसके शरीर से सम्बुच्छेद मनुष्यों की हिंसा होती है इसलिये पूर्ण संयम उनसे कभी नहीं हो पल सकता है । तथा विना संयम के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिये स्त्रियों को उसी जन्म में उसी स्त्री पर्याय में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । स्त्रियां अपने योग्य आर्यिका के व्रत धारण कर स्त्री लिंग को छेद कर देव हो सकती है और फिर वहां से आकर मनुष्य पर्याय में उत्तम मनुष्य हो सकती है और फिर तपश्चरण कर उस मनुष्य पर्याय में मोक्ष जा सकती है । सीता का जीव वा अन्य कितनी ही स्त्रियों के जं व इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करेंगे ।

आगे इस शंकाकार इस विषय में प्रश्न करते हैं -

अहवा एयं वयणं तेसि जीवो ण होइ किं जीवो ।

किं णत्थि णाणदंसण ववओगो चेयणा तस्स ॥ ९६ ॥

अथवा एतद् वचनं तासां जीवो न भवति किं जीवः ।

किं नास्ति ज्ञानदर्शनं उपयोगः चेतना तस्य ॥ ९६ ॥

अर्थ- कदाचित् कोई यह प्रश्न करते हो कि क्या स्त्रियों का जीव जीव नहीं है ? क्या उन स्त्रियों को ज्ञान दर्शन नहीं है ? अथवा उनके क्या उपयोग नहीं है अथवा चेतना नहीं है ? स्त्रियों के क्या नहीं है जिससे कि वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती ।

भावार्थ- मनुष्यों के समान ही उन स्त्रियों के भी जीव है उनके भी ज्ञान दर्शन है उपयोग है चेतना है । इसलिये वे भी मनुष्यों के समान ही मोक्ष जा सकती है ।

आगे इसी का उत्तर देते हैं ।

जइ एवं तो इत्थि धीवरि कल्लालि वेसअईणं ।

सव्वेसिमत्थि जीवो सयलाओ तरिहि सिज्जति ॥ ९७ ॥

यद्येवं तहि स्त्री धोवरी कल्लारिका वेइयादीनाम् ।

सर्वासामस्ति जीवो सकलस्त्तिहि सिद्धयन्ति ॥ ९७ ॥

अर्थ— यदि शंकाकार इस प्रकार कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि यदि मनुष्यों के समान ही स्त्रियों का जीव है तो धीवरी वेश्याएँ आदि महा हिंसा करने वाली स्त्रियों के भी जीव है इसलिये वे समस्त स्त्रियाँ भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगी ।

भावार्थ— यदि जीव होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा मानते हो तो फिर महा पाप करने वाले जीव भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगे तथा स्त्रियों को भी जीव होने से ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हो तो धीवरी वेश्याएँ आदि दिन रात महा पाप उत्पन्न करने वाली स्त्रियाँ भी मोक्ष प्राप्त करलेंगीं परंतु ऐसा होना असंभव है ।

आगे यही बात दिखलाते हैं ।

तम्हा इत्थो पज्जय पडुच्च जीवस्स पयडि दोसेण ।

जाओ अमब्ब कालो तम्हा तेसि ण निब्बानं ॥ ९८ ॥

तस्मात्स्त्रीपर्यायं प्रतीत्य जीवस्य प्रकृतिदोषेण ।

जातः अभव्यकालः तस्मात्तासां न निर्वाणम् ॥ ९८ ॥

अर्थ— अतएव स्त्री पर्याय को लेकर प्रकृति के दोषसे जीवका अभव्यकाल प्राप्त हो जाता है इसलिये स्त्री को मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

भावार्थ— रत्नत्रय के व्यक्त होने की योग्यता को मव्यकाल कहते हैं । स्त्रियों के शरीर में अनेक समूच्छेन मनुष्य प्रति समय उत्पन्न होते और मरते हैं इसीलिये स्त्रियों के पूर्ण संयम की प्राप्ति नहीं होती और इसलिये उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ।

आगे मोक्ष की प्राप्ति किन्हे होती है सो दिखलाते हैं ।

अइ उच्चमसंहण्णो उत्तमपुरिसो कुलग्गओ संतो ।

मोक्खस्स होइ जुग्गो पिग्गन्थो धरिय जिण्णिंणो ॥ ९९ ॥

अत्युत्तमसंहननः उत्तम पुरुषः कुलागतः सन् ।

मोक्षस्य भवति योग्यो निर्गन्थो धृतजिर्निर्लिङ्गः ॥ ९९ ॥

अर्थ— जिस पुरुष का उत्तम संहनन हो, जो उत्तम पुरु हो सत्कुलमें उत्पन्न हुआ हो, वह पुरुष जिन लिंग निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

भावार्थ— बिना उत्तम संहनन के मोक्ष की प्राप्ति नहीं, स्त्रियों का उत्तम संहनन नहीं होता इसलिये उनको मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती। इसके सिवाय स्त्रियों का पर्याय निम्न पर्याय है उत्तम पर्याय नहीं है। स्त्रियों के शरीर में अनेक सम्मूच्छन मनुष्य उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, प्रतिमास रजःस्राव होता रहता है, इसलिये भी उनको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके सिवाय जिन लिंग निर्ग्रन्थ अवस्था धारण नहीं कर सकती इसलिये भी वे मोक्ष प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। स्त्रियों को ऋद्धियाँ भी प्राप्त नहीं हो सकती तो फिर भला मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति सज्जाति उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए चरम शरीरी महा पुरुषों की ही होती है। वह भी निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने, उत्तम ध्यान धारण करनेवाले पुरुषों की ही होती हैं।

आगे गृहस्थ अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा दिखलाते हैं।

गिर्हल्लगे वट्टं तो गिहत्थवावार गहियतिधज्जोओ ।

अत्तरउद्दाल्लो भोक्खं ण लहेहि कुलजो वि ॥ १०० ॥

गृहस्थल्लगे वर्तमानः गृहस्थव्यापारगृहोत्तत्रियोगः ।

आर्तरौद्राल्लडः मोक्षं न लभते कुलजोपि ॥ १०० ॥

अर्थ— जो मनुष्य उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है वह भी जब तक गृहस्थ लिंग में रहता है, अर्थात् गृहस्थी में रहता है। गृहस्थी के व्यापार में मन वचन काय तीनों योगों को लगता रहता है तथा अर्तध्यान और रौद्रध्यान में लगा रहता है तबतक वह उत्तम पुरुष भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थ— गृहस्थावस्था में ध्यान वा रौद्र ध्यान इन दोनों में से कोई न कोई ध्यान लगा ही रहता है और गृहस्थी के व्यापार में आरंभी उद्योगी आदि हिंसा होती ही रहती है, परिग्रह रहता है। ऐसी अवस्था में मल्ल कर्मोंका नाश कैसे हो सकता है। ऐसी

अवस्था में तो कभी आस्रव ही होता है और वह भी अधिकतर अशुभ कर्मों का आस्रव होता है । इसलिये यह निश्चित सिद्धांत है कि गृहस्थ लिंग से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

आगे फिर भी यही दाव दिखलाते हैं ।

वज्रमन्तरगतं ब्रह्मं इन्द्रियपरिकलिजम् ।

जइवि हु बसगबंतो तहा वि ण सिज्जेइ तम्हि भवे ॥१०१॥

बाह्याभ्यन्तरग्रन्थे वर्तमानः इन्द्रियार्थपरिकलितः ।

यद्यपि हि दर्शनवान् तथापि न सिद्धयति तस्मिन् भवे ॥१०१॥

अथ—जो सद्गृहस्थ उत्तम पुरुष शुद्ध नम्यगुद्दर्शन सहित हो तथापि वह यदि बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहों को धारण करता है और इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है तो वह उस भव में उस अवस्था से कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता ।

भावार्थ—मिथ्यात्व कषाय आदि अंतरंग परिग्रहों के धारण करने से चित्त की शुद्धता नहीं हो सकती तथा विना मन के शुद्ध हुए धर्म-ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती । फिर भला शुक्लध्यान की बात तो बहुत दूर हो जाती है । ऐसी अवस्थामें भला मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है । इसी प्रकार वस्त्र आदि बाह्यपरिग्रह रखने से अनेक प्रकार के दोष आते हैं । वस्त्र मैले होनेपर धोने पड़ते हैं, वस्त्र धोनेमें अनेक जीवों की हिंसा होती है, न धोनेपर उनमें अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं । यदि वस्त्र फट जाय वा उनको कोई ले जाय तो आर्तध्यान होता है तथा याचना करनी पड़ती है । इस प्रकार केवल वस्त्र रखने में ही महा पाप होता है फिर भला समस्त परिग्रहों के रखने में तो अनेक महा पाप होते ही हैं । इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों को सेवन में अनेक महा पाप होते ही हैं । इसके सिवाय इन्द्रियों की लंपटता बढ़ती है और इस प्रकार उसके इन्द्रिय संयम कभी नहीं हो सकता । इसलिये गृहस्थ अवस्था में वा परिग्रह सहित अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

आगे और भी दिखलाते हैं ।

जइ गिह्वंतो सिञ्जइ अगहिय णिगंथलिंग समंथो ।

तो किं सो सित्थयरो णिस्संगो तवइ एगागो ॥ १०२ ॥

यदि गृहवान् सिध्यति अगृहीतनिर्ग्रन्थलिंगः संग्रन्थः ।

तहि किं स तीर्थकरो निःसंगस्तपति एकाकी ॥ १०२ ॥

अर्थ— यदि गृहस्थ अवस्था में ही बिना निर्ग्रन्थ लिंग धारण किये संग्रन्थ अवस्था में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थकर देव समस्त परिग्रहों का त्याग कर अकेले एकांत स्थान में जाकर तपश्चरण क्यों करते हैं ।

भावार्थ— भगवान् ऋणभदेव ने भी समस्त परिग्रहों का त्याग कर निर्जन वनमें जाकर तपश्चरण किया था । इससे सिद्ध होता है कि संग्रन्थ अवस्था में कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ।

आगे कवलाहार का निषेध करते हैं ।

केवलभुत्तो अरुहे कहिया जा सेवडेण तहि तेण ।

सा णत्थि तस्स पूर्णं णिहयमणो परमजोईणं ॥ १०३ ॥

कवलभुक्तीः अर्हन्ति कथिता या श्वेतपटनेन तस्मिन् तेन ।

सा नास्ति तस्य नूनं निहतमनः परमयोगिनः ॥ १०३ ॥

अर्थ— श्वेतपट लोग कहते हैं कि भगवान् अर्हन्त देव समवधारण में विराजमान होते हुए भी कवलाहार करते हैं अर्थात् आहार को हाथसे उठाकर मुंहमें देकर भोजन करते हैं । परन्तु ऐसी मान्यता तर्क-संगत नहीं है । क्योंकि भगवान् अरहन्तदेव परम योगी है । उनका मन भी नष्ट हो गया है, केवल द्रव्य मन है जो बिना भाव मनके कुछ काम नहीं करता । इसके सिवाय यह भी समझने की बात है कि अरहन्त भगवान् के मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो गया है तथा बिना मोहनीय कर्म के उदय के वेदनीय कर्म कुछ काम नहीं कर सकता । इसलिये भगवान् अरहन्त देव के न क्षुधा पिपासा आदि दोष हैं और न वे कवलाहार करते हैं ।

आगे अरहन्त अवस्था किस प्रकार प्राप्त होती है यही दिखलाते हैं ।

गुप्तितजुत्तस्स य इन्द्रियवाधाररहितचित्तस्स ।

भावेन्द्रियमुखस्स X य जीवस्स य णिवकलं ज्ञाणं ॥ १०४ ॥

गुप्तित्रययुक्तस्य च इन्द्रियव्यापाररहितचित्तस्य ।

भावेन्द्रियमुखस्य च जीवस्य निश्चलं ध्यानम् ॥ १०४ ॥

अर्थ— जो निर्ग्रन्थ मुनि मन, वच, काय के समस्त व्यापारों को रोककर मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियों का पालन करते हैं तथा जिनका चित्त इन्द्रियों के व्यापार से सर्वथा रहित होता है और जिनके भावेन्द्रिय की मुख्यता रहती है ऐसे योगी पुरुषों के निश्चल ध्यान होता है ।

ज्ञाणेण तेण तस्स हु जीव मणस्साण लमरसीयरणं ।

समरसभावेण पुणो संवित्ती होइ णियमेण ॥ १०५ ॥

ध्यानेन तेन तस्य हि जीव मनआणसमरसीकरणम् ।

समरसभावेन पुनः संवित्ति भवति नियमेन ॥ १०५ ॥

अर्थ— उस ध्यान के द्वारा उन योगी का आत्मा और मन दोनों एक रूप हो जाते हैं, दोनों समान रसरूप परिणत हो जाते हैं तथा उस समरसी भावसे उन योगी के नियमसे संवित्ती हो जाती है ।

भावार्थ— अपने आत्माका अपने ही आत्मामें लीन हो जाना संवित्ती कहलाती है । वह संवित्ती निश्चल ध्यान से ही होती है ।

आगे फिर भी यही दिखलाते हैं ।

संवित्तीए वि तहा तण्हा णिद्वा य छुहा य तस्स णस्संति ।

णट्ठेसु तेसु पुरिसो खवयस्सेणि समारुहइ ॥ १०६ ॥

संवित्तावपि तथा तूष्णा निद्राक्षुधा च तस्य नश्यति ।

नष्टेषु तेषु पुरुषः क्षयकश्चेति समारोहति ॥ १०६ ॥

X भावेन्द्रिय का अर्थ चेतना है । यह केवल ध्यान का लक्षण है । केवल ज्ञानके पहली अवस्था का है ।

अर्थ— जब यह आत्मा निश्चल ध्यानके द्वारा अपने आत्मा में लीन हो जाता है उस समय उस योगी के तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा पिपासा आदि सब नष्ट हो जाते हैं तथा तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा आदि के नष्ट होने में फिर वह योगी क्षयक श्रेणी में आरुढ़ हो जाता है ।

भावार्थ— श्रेणी दो प्रकार की है एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षयक श्रेणी । उपशम श्रेणी चढ़नेवाला योगी अपने चारित्र मोहनीय कर्मों का उपशम करता जाता है परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर उन कर्मों का उदय होने से नाच के गुणस्थानों में आ जाता है । क्षयक श्रेणी चढ़नेवाला योगी अपने चारित्र मोहनीय कर्मों का श्रय करता जाता है और फिर दशवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है तथा बारहवें गुणस्थान के अंत में ज्ञानावरण दर्शनाकरण अन्तराय कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त करलेता है और इस प्रकार वह तेरहवें गुणस्थान में पहुँच कर अरहन्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

यही बात आगे दिखलाते हैं ।

खवएसु य आरुढो निद्राईकारणं तु जो मोहो ।

जाइ खप्रं निस्सेसो तक्खीणे केवलं णाणं ॥ १०७ ॥

क्षयकेषु च आरुढो निद्रादिकारणं तु यो मोहः ।

याति क्षयं निःशेषः तत्क्षये केवलं ज्ञानम् ॥ १०७ ॥

अर्थ— जब वह योगी अपने निश्चल ध्यान के द्वारा क्षयक श्रेणी में आरुढ़ हो जाता है तब उसका निद्रा तन्द्रा क्षुधा आदिका कारण मोहनीय कर्म सर्वथा पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाता है । और उस मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट होने से उस महा योगी के केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है ।

तं पुण केवलं णाणं वसह्वदोसाण हवह णासम्मि ।

ते दोसा पुण तस्सहु छुहाइया णत्थि केवल्लिणो ॥ १०८ ॥

तत्पुनः केवलज्ञानं दशाष्टदोषाणां भवति नाशे ।

ते दोषाः पुनस्तस्य हि क्षुधादिका न सन्ति केवलिनः ॥ १०८ ॥



अर्थ— यह केवल ज्ञान क्षुधा पिशासा आदि अठारह दोषोंके नाश होने पर ही होता है। इसलिये उन केवली भगवान के वे क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष कभी नहीं होते।

भावार्थ— क्षुधा, तृषा, बुढापा, भय, जन्म, मरण, रोग, शोक, रति, अरति विस्मय, स्वेद (पसीना) श्वेद, मद, निद्रा, राग, द्वेष, मोह ये अठारह दोष कहलाते हैं। जब इनका सर्वथा नाश होजाता है तभी केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। बिना इनका नाश हुए केवल ज्ञान कभी नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि केवली भगवानके क्षुधा तृषा कोई रोग नहीं है और इसीलिये उन्हें कवलाहार की आवश्यकता ही नहीं हो सकती। यदि केवली भगवान के भी आहार की आवश्यकता मानी जायगी तो फिर उनके अनन्त शक्ति का भी सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा।

यही बात आगे दिखलाते हैं।

जइ संति तत्स दोसा केतियमिस्ता छुहाइ जे भणिद्या।

ण हवइ सी परमप्पा अणंतविरिओ हु सो अहवा ॥ १०९ ॥

यदि सन्ति तस्य दोषाः कियन्मात्राः क्षुधादिका ये भणिताः।

न भवति स परमात्मा अनन्तवीर्यो हि सोऽथवा ॥ १०९ ॥

अर्थ— यदि उन केवली भगवान के क्षुधा तृषा आदि दोष थोड़े से भी माने जायेंगे तो फिर वे भगवान न तो परमात्मा हो सकते हैं और न वे अनन्तवीर्य को धारण करनेवाले कहे जा सकते हैं।

भावार्थ— जो लोग क्षुधा-तृषासे पीड़ित रहते हैं वे हम आप लोगों के समान न तो परमात्मा हो सकते हैं और न अनन्तवीर्य वा अनन्त शक्ति धारण कर सकते हैं। इसी प्रकार केवली भगवान भी यदि क्षुधा से पीड़ित होते हैं तो वे भी परमात्मा नहीं हो सकते और क्षुधा से पीड़ित होने के कारण अनन्त सुखी वा अनन्त वीर्यवान भी नहीं हो सकते। इसलिये केवली भगवान के क्षुधा, तृषा आदि दोष मानना सर्वथा मिथ्या है। परमात्मा होने पर भी यदि उन्हें भूख प्यास लगती है तो फिर उनमें और हममें कोई अन्तर ही नहीं रहता है। इसके सिवाय यह भी समझना चाहिये कि जो मनुष्य आहार लेते हैं

उनको नींद भी आती है तथा और आकुलताएं प्रकट होती है । इसलिये परमात्मा भगवान् अरहन्त देवके क्षुधादिक दोष मानना और कवलाहार मानना तर्क संगत प्रतीत नहीं है ।

आगे भगवान् अरहन्त देव के शरीर की स्थिति बिना आहार के किम प्रकार रहती है सो दिखलाते हैं ।

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य ।

उज्जमणो विय कमसो आहारो छव्विहो णेओ ॥ ११० ॥

नोकर्मकर्माहारौ कवलाहारश्च लेपाहारश्च ।

ओजो मनोपि च क्रमशः आहारः षड्विधो ज्ञेयः ॥ ११० ॥

अर्थ— नोकर्म अहार, कर्माहार, कवलाहार लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार इस प्रकार अहारके छह भेद हैं ।

णोकम्मकम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं ।

कवलाहारो णरयसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो ॥ १११ ॥

नोकर्मकर्माहारौ जीवानां भवतः चतुर्गति गतानाम् ।

कवलाहारो नरपशूनां वृक्षेषु च लेपाहारः ॥ १११ ॥

अर्थ— इन छह प्रकारके अहारों में से नौकर्माहार और कर्माहार चारों गतियों में परिभ्रमण करनेवाले समस्त जीवों के होते हैं, कवलाहार मनुष्य तथा पशुओं के होता है और वृक्षों के लेपाहार होता है ।

पक्खीणुज्जहाहारो अण्डमज्जोसु वट्टमाणाणं ।

देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवल्लिणो ॥ ११२ ॥

पक्षिणामोज आहारः अण्डमध्येषु वर्तमानानाम् ।

देवेषु मन आहारः चतुर्विधो नास्ति केवल्लिनः ॥ ११२ ॥

अर्थ— अंडों के भीतर रहने वाले पक्षियों के ओजाहार होता है और देवों के मानसिक अहार होता है । इस प्रकार छहों प्रकार के आहार की व्यवस्था है । इनमें से चार प्रकार का अहार केवली भगवान् के नहीं होता ।

भावार्थ— प्रत्येक जीवके जो तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य जो पुद्गल वर्गणा आती रहती है उनको नो कर्माहार कहते हैं । ज्ञानवरण आदि आठों कर्मों के योग्य जो पुद्गल वर्गणा आती है उनको कर्माहार कहते हैं । मुंहमें रखकर जो खाया जाता है उसको कवलाहार कहते हैं, लेप कर देना लेपाहार है, अंडों के ऊपर बैठकर जो मुर्गी आदि पक्षी अंडों के भीतर गर्मी पहुंचाती है वह ओजाहार है तथा देवों के जो नियत समय पर क्षुधा लगने पर मनसे अमृत झरता है उसको मानसिक आहार कहते हैं । इनमें से कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार भगवान् केवली के कमी नहीं होते ।

णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्य आगमे भणिओ ।

ण हू णिच्छयेण सो विहु स वीयरामो परो जम्हा ॥ ११३ ॥

नोकर्मकर्माहारौ उपचारेण तस्य आगमे भणितौ ।

न हि निवृत्त्येव सोणि हि स वीतरागः परो वस्मात् ॥ ११३ ॥

अर्थ - यद्यपि केवली भगवान् के नो कर्म आहार और कर्म आहार आगम में वतलाया है परंतु वह भी उपचार में वतलाया है । निवृत्त्य नय में देखा जाय तो वह भी नहीं है । इसका भी कारण यह है कि केवली भगवान् परम वीतरागी है । इसलिये उनके आहार की कल्पना हो ही नहीं सकती है ।

भावार्थ— यद्यपि केवली भगवान् के प्रत्येक समय में कर्म वर्गणा आती है तथापि वे ठहरती नहीं हैं, उमी समय खिर जाती है । इसलिये भगवान् के उपचार में ही नोकर्म वा कर्म आहार माना है तथा उपचार में ही आश्रय माना है । इसलिये वास्तव में वह नहीं के समान है । भगवान् के कषायों का सर्वथा अभाव है और बिना कषायों के कर्म ठहर नहीं सकते । इसलिये भगवान् के कर्म बंध का भी सर्वथा अभाव माना है । घातिया कर्मों के नष्ट होने से भगवान् के अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य प्रगट हो जाते हैं । ऐसी अवस्था में क्षुधा लगने और कवलाहार लेने की कल्पना करना सर्वथा व्यर्थ है और असत् है ।

आगे कवलाहार के दोष बतलाने है ।

जो जेमइ सो सोवइ सुत्तो अण्णे विविसयमणुहवइ ।

विसए अणुहवमाणो स वीयरओ कहं णाणी ॥ ११४ ॥

यो जेमति स स्वपिनि सुप्तो अन्यानपि विषयानुभवति ।

विषयाननुभवमानः स वीतरागः कथं ज्ञानी ॥ ११४ ॥

अर्थ— जो पुरुष कवलाहार करता है वह सोता भी है, जो मोता है वह पुरुष अन्य अनेक इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है तथा जो इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है वह वीतराग और सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ?

भावार्थ— इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करना और वीतराग होना दोनों परस्पर विरोधी है । जो इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है वह कभी वीतराग नहीं हो सकता, क्योंकि विषयों का अनुभव राग से ही होता है, बिना राग के विषयों का अनुभव कभी नहीं हो सकता । यदि केवली भगवान् कवलाहार लेकर सोते हैं और विषयों का अनुभव करते हैं तो वे कभी वीतराग नहीं हो सकते और जो वीतराग नहीं है वे कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकते ।

इसलिये मानना चाहिये कि—

तम्हा कवलाहारो केवलिनो णत्थि दोहिं वि णएहिं ।

मण्णंति य आहारं जेते मिच्छाय अण्णाणी ॥ ११५ ॥

तस्मात्कवलाहारः केवलिनो नास्ति द्वाभ्यामपि नयाभ्यां ।

मन्यन्ते चाहारं ये ते मिथ्याज्ञानिनः ॥ ११५ ॥

अर्थ— इसलिये यह सिद्धांत निश्चित रूप से सिद्ध है कि केवली भगवान् के निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों नयों से कवलाहार नहीं है । फिर भी केवली भगवान् के कवलाहार मानना अज्ञानता ही है ।

आगे और कहते हैं —

अण्णं जं इय उत्तं संसयमिच्छत्तकलियभावेण ।

अस्मिं न्नि थविरकल्पो कंवलग्रहणेण ण हु दोसो ॥ ११६ ॥

अन्यद्यवित्युक्तं संशयमिथ्यात्वकलितभावेन ।

अस्माकं स्थविरकल्पः कम्बलग्रहणेन न हि दोषः ॥ ११६ ॥

अर्थ— जिन के परिणाम संशय मिथ्यात्व से भरे हुए हैं वे कहते हैं कि हम तो स्थविर कल्पी हैं, इसलिये हमको कंबल ग्रहण करने में कोई दोष नहीं लगता ।

कंवली वत्थं दुद्धिय दंडं कणयं च रयणभंडाइ ।

सग्गममणनिमित्तं मोक्खस्स य होइ णिबभत्तं ॥ ११७ ॥

कम्बलं वस्त्रं पुग्धि कं दण्डं कनकं च रत्नभाण्डादीनि ।

स्वर्गं गमननिमित्तं मोक्षस्य च भवति निभ्रान्तम् ॥ ११७ ॥

अर्थ— ऐसा कहा जाता है कि कंबल, वस्त्र, कुंडी, दंड सोना रत्नों के वर्तन ये सब स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं इसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है ।

पर ऐसी मान्यता उचित नहीं है क्योंकि—

ण उ होइ थविरकप्पो गिहत्थकप्पो हवेइ फुटु ऐसो ।

इय सो धुत्तेहिं कओ थविरकप्पस्स भग्गेहिं ॥ ११८ ॥

न हि भवति थविर कल्पो गृहस्थकल्पो भवति स्फुटमेषः ॥

इति धूर्तैः कृतः स्थविरकल्पस्थ भग्नैः ॥ ११८ ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि कंबल दंड वस्त्र कुंडी सोना रत्नों के वर्तन रखना आदि स्थविर कल्प नहीं है किंतु यह तो गृहस्थ कल्प है । इस गृहस्थकल्प को स्थविर कल्प मानने की कल्पना स्थविर कल्प से च्युत लोगों ने की है ।

भावार्थ— वस्त्र, कंबल, दंड सोना आदि रखना गृहस्थों का काम है । मुनियों के लिये तो इन सबका त्याग बतलाया है । फिर जो लोग मुनि होकर भी वस्त्र दण्ड आदि रखते हैं और उनको मोक्ष का साधन

बतलाते है ग्रह कैसे ? यह परिग्रह तो सर्व पापों का कारण है, स्वर्ग मोक्ष का कारण कभी नहीं हो सकता ।

आगे जिन कल्प और स्थविर कल्पका वास्तविक स्वरूप कहते हैं :

दुविहो जिणेहि कहिओ जिणकप्पो तह य थविर कप्पो य ।

सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥ ११९ ॥

द्विविधो जिनैः कथितो जिनकल्पस्तथा च स्थविरकल्पश्च ।

स जिन कल्प उक्त उत्तमसंहननधारिणः ॥ ११९ ॥

अर्थ— भगवान् जिनेन्द्रदेवने जिन कल्प और स्थविर कल्प ऐसे दोनों प्रकार के मार्ग दिखलाये हैं । इनमें से जो उत्तम संहनन को धारण करनेवाले महा मुनि है वे जिन कल्पी मुनि कहलाते हैं ।

आगे जिनकल्पी का और भी स्वरूप कहते हैं ।

जत्थ ण कटयन्नगो पाए णयणम्मि रथ पविट्टम्मि ।

फेडति सयं मुणिणो परापहारे य तुण्हिका ॥ १२० ॥

यत्र न कटकलन्नं पादे नयनयो रजः प्रविष्टे ।

स्फोटयन्ति स्वयं मुनयः परापहारे च तूष्णीकाः ॥ १२० ॥

अर्थ— यदि जिनकल्पी महा मुनियों के पैर में कांटा लग जाता है अथवा नेत्रों में धूलि पड़ जाती है तो वे महा मुनि अपने हाथ से न कांटा निकालते हैं और न अपने हाथ से नेत्रों से धूलि निकालते हैं । यदि अन्य कोई दूसरा मनुष्य उस कांटे को वा धूलि को निकालता है तो वे चुप रहते हैं ।

भावार्थ— वे महा मुनि अपने पैर के कांटे को वा नेत्रों की धूलि को न तो स्वयं निकालते हैं और न निकालने के लिये किसी अन्य से कहते हैं । यदि जान लेंगे पर कोई पुरुष उनको निकालता है तो भी चुप ही रहते हैं । कांटा लगने पर विषाद नहीं करते और निकल जाने पर हर्ष नहीं करते । वे दोनों अवस्थाओं में समान वीतराग रहते हैं ।

आगे और भी कहते हैं ।

जल वरिसणवा पाई गमणे भस्सो य जम्म छम्मासं ।  
 अच्छंति निराहारा काओत्सर्गणे छम्मासं ॥ १२१ ॥  
 जलवर्षायां जातायां गमने भग्ने च यावत् षण्मासम् ।  
 तिष्ठन्ति निराहाराः कार्योत्सर्गेण षण्मासम् ॥ १२१ ॥

अर्थ— जब वर्षा ऋतु आ जाती है और मुनियों का गमन करना बंद हो जाता है उस समय वे जिन कल्पी महा मुनि छह महीने तक निराहार रहते हैं और छह महीने तक कार्योत्सर्ग वारण कर किसी एक ही स्थानपर खड़े रहते हैं ।

भावार्थ— उनका उत्तम संहनन होता है । अस्थि आदि सब वज्र-मय होती है । इसलिये उनमें इतनी शक्ती होती है ।

एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कशाणी य ।  
 खत्तासेस कसाया मोण बई कंदरावासी ॥ १२२ ॥  
 एकादशांगधारिणः एते धर्म शुक्ल ध्यानिनश्च ।  
 त्यक्ताशेषकषायाः मौनव्रताः कन्दरावासिनः ॥ १२२ ॥

अर्थ— वे जिन कल्पी महामुनि ग्यारह अंग के पाठी होते हैं, धर्म-ध्यान वा शुक्लध्यान में लीन रहते हैं, समस्त कषायों के त्यागी होते हैं मौनव्रत को वारण करनेवाले होते हैं और पर्वतों की गुफा कंदराओं में रहते हैं ।

बहिरंतरगंधचुवा निण्णेहा निप्पिहा य जइवडणो ।  
 जिण इव विहरंति सदा ते जिणकल्पे ठिया सवणा ॥ १२३ ॥  
 बाह्याभ्यन्तरगन्धच्युता निःश्लेष्मा निस्पृहाश्च यतिपतयः ।  
 जिना इव विहरन्ति सदा ते जिनकल्पे स्थिताः भ्रमणाः ॥ १२३ ॥

अर्थ— वे जिन कल्पी महा मुनि बाह्य आभ्यन्तर समस्त परिग्रहों के त्यागी होते हैं, स्नेह रहित परम वीतराग हांते हैं और समस्त इच्छाओं से सर्वथा रहित होते हैं । ऐसे वे यतीश्वर महामुनि भगवान् जिनेन्द्र देव के समान सदा काल विहार करते रहते हैं । इसलिये वे जिन कल्पी मुनि कहलाते हैं ।

आगे स्थविर कल्पी मुनियों का स्वरूप कहते हैं ।

पविरकल्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो ।  
पञ्चल्लेखत्थाआ अकिञ्चणत्तं च पण्डिलिहरणं ॥ १२४ ॥

स्थविरकल्पोपि कथितः अन्तगाराणां जिनेन स एषः ।  
पञ्चल्लेखत्यागोऽकिञ्चनत्वं च प्रतिलेखनम् ॥ १२४ ॥

अर्थ— भगवान् जिनेन्द्र देव ने मुनिों के लिये स्थविर कल्पी मुनियों का भी स्वरूप कहा है । जो मुनि पांचो प्रकार के वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर देते हैं अकिञ्चन व्रत धारण करते हैं और पीछी रखते हैं ऐसे मुनि स्थविर कल्पी कहलाते हैं । ❀

आगे स्थविर कल्पी मुनियों का स्वरूप और भी कहते हैं ।

पञ्चमहस्त्वयधरणं ठिदिभोजण एवमत्तं करपत्तो ।  
भक्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥ १२५ ॥

पुविहतवे उज्जमणं छव्विह आवासएहि अणवरयं ।  
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवर पण्डिह्व पण्डिगहणं ॥ १२५ ॥

पञ्चमहाव्रतधारणं स्थितिभोजनं एकमवतं करपात्रम् ।  
भक्ति भरेण च दत्तं काले च अयाचना भिक्षा ॥ १२६ ॥

❀ अण्डजवुण्डजरोमज चर्मज वल्कज पञ्च चेलाति ।  
परिहृत्य तूणजचेलं यो गृहणीयान्न भवेत्स यतिः ।  
रजसेदाण मगहणं मद्व सुकुयालदा लहुत्तं ज ।  
तत्थे वे पञ्च गुणा ते पण्डिलिहणं पसेसेति ॥

अर्थ— सूत के वस्त्र, रेशम के वस्त्र, ऊन के वस्त्र चर्म के वस्त्र और वृक्षों की छाल के बने वस्त्र ये पांच प्रकार के वस्त्र कहलाते हैं । इन सब प्रकारके वस्त्रों का जो त्याग कर देता है तथा तूण से बने वस्त्रों को भी जो ग्रहण नहीं करता वही मुनि कहलाता है । जो पीछी मृदु हो कोमल हो, छोटी हो, धूलि मिट्टी को ग्रहण न कर सकती हो ऐसी ही पीछी प्रशंसा करने योग्य है ।



द्विविधतपसि उद्यमनं षड्विधावश्यकः अनवरतम् ।

क्षितिश्चयनं शिरोलोचः जिनवर प्रतिरूप प्रतिग्रहणम् ॥ १२६ ॥

अर्थ— वे स्थविर कल्पी मुनि पांचों महाव्रतों का धारण करने हैं। खड़े होकर आहार लेते हैं, दिन में एक ही बार आहार लेते हैं, करपात्र में ही आहार लेते हैं, तथा बिना याचना किये भक्ति पूर्वक जो कोई समय पर दे देता है वही भिक्षा भोजन कर लेते हैं। वे मुनि बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकारके तपश्चरण करने में सदा उद्यमी रहते हैं, छह आवश्यकों प्रतिदिन निरंतर पालन करते हैं, पृथ्वीपर शयन करते हैं मस्तक दाही मूछ के वालों का लांच करते हैं और जिनेंद्रदेव के समान ही माने जाते हैं।

भावार्थ— स्थविर कल्पी मुनि भी अट्टाईस मूलगुणों का पालन करते हैं, पांच महाव्रत, पांच समिति, छह आवश्यक, पंचेन्द्रियोंका दमन खड़े होकर आहार लेना, दिनमें एक ही बार करपात्र में आहार लेना, भूमिशयन, केशलोच, दन्तधावन, स्नान, त्याग और समस्त वस्त्रों का वा समस्त परिग्रहों का त्याग कर मग्नरूप धारण करना इस प्रकार ये अट्टाईस मूल गुण हैं। स्थविर कल्पी मुनी इनका पूर्ण रूपसे पालन करते हैं तथा यथासंभव उत्तर गुणों का पालन करते हैं। वे स्थविर कल्पी मुनि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हैं, दश धर्मों का पालन करते हैं, परिषदों को सहन करते हैं, चरित्र का पालन करते हैं तथा तपश्चरण धारण करते हैं। इस प्रकार वे स्थविर कल्पी मुनि पूर्णरूपसे जिनदेवके समान ही मुनि होते हैं।

आगे स्थविर कल्पियों के लिये और भी कहते हैं।

संहणनस्त गुणेण य दुस्समकालस्त तव पहावेण ।

पुर नयर गामवासी थाविरे कप्पे ठिया जाया ॥ १२७ ॥

संहननस्य गुणेन च दुःखमकालस्य तपः प्रभावेन ।

पुरनगरग्रामवासिनः स्थविरे कल्पे स्थिता जाताः ॥ १२७ ॥

अर्थ— इस दुष्कालमें शरीर के संहनन बलवान नहीं होते,

इसलिये वे मुनि किसी नगर गांव वा किसी पुर में रहते हैं और अपने तगश्चरण के प्रभावण स्थविर कल्पी कहलाते हैं ।

उपकरणं तं गहिर्यं जेण ण भंगो हवे चरियस्य ।

गहिर्यं पुत्थयदाणम् जंमं जस्स सं तेण ॥ १२८ ॥

उपकरणम् तद्गृहीतं येन न भंगो भवहि चर्यायाः ।

गृहीतं पुस्तकदानं योग्यं यस्य तत्तेन ॥ १२८ ॥

अर्थ— वे मुनि अपने उपकरण भी ऐसे रखते है जिनसे किसी प्रकार के चारित्र का भंग न होता हो । तथा वे मुनि अपनी २ योग्यता के अनुसार किसी के द्वारा दिये हुए शास्त्र वा पुस्तक भी ग्रहण कर लेते है ।

समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए ।

भविषाणं धम्मसवणं सिस्साणं य पालणं ग्रहणं ॥ १२९ ॥

समुदामेन विहारो धर्मस्य प्रभावणं स्वदाक्या ।

भट्टयातां धर्मश्रवणं शिष्यानां च पालनं ग्रहणम् ॥ १२९ ॥

अर्थ - इस पंचम काल में वे स्थविर कल्पी मुनि समुदाय रूप से विहार करते है, अपनी शक्ती के अनुसार धर्म की प्रभावना करते है, भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देते है तथा शिष्यों को ग्रहण करते है और उनका पालन करते है ।

भावार्थ— जो भव्य जिस दीक्षा के योग्य है उसको वसी ही दीक्षा देते है, किसी को श्रावकों के योग्य ग्यारह स्थानों में से किसी भी स्थान की ( ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी प्रतिमा की ) दीक्षा देते है और किसी परम विरक्त भव्य जीव को मुनि की दीक्षा भी देते है । जिन को दीक्षा दी है उनसे यथायोग्य अपने अपने पद के अनुसार चारित्र का पालन कराते है, धर्म श्रवण कराते है, धर्म की प्रभावना करते है और सबको धर्म मे दृढ कराते रहते है ।

आगे ऐसे स्थविर कल्पी मुनियों की प्रशंसा करते है ।

सहणणं अइण्णिञ्चं कालो सो दुस्समो धणो चवलो ।

तह वि हु धीरा पुरिसा महब्बयसरधरण-उच्छहिया ॥ १३० ॥

संहननमत्तिनीचं कालः स दुःषमो मनश्चपलम् ।

तथापि हि धीराः पुरुषः महाव्रतभारधारणोत्साहाः ॥ १३० ॥

अर्थ— यह काल दुःषम है इस काल में शरीर के संहनन अत्यन्त नीच होते हैं और मन अत्यन्त चंचल रहता है तथापि धीर वीर पुरुष महाव्रतों का भार धारण करने में अत्यन्त उत्साहित रहते हैं, यह भी एक आश्चर्य की बात है ।

वरिससहस्सेण ह्य पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।

ते संपइ वरिसेण ह्य जिज्जरयइ होणसंहणणो ॥ १३१ ॥

वर्षसहस्रेण पुरा यत्कर्म हन्यते तेन कायेन ।

सत्संप्रति वर्षेण हि निर्जरयति हीनसंहननेन ॥ १३१ ॥

अर्थ— पहले समय में जिन कर्मों को मुनिलोग अपने शरीर से हजार वर्ष में नष्ट करते थे उन्हीं कर्मों को आज कल के स्थविर कल्पी मुनि अपने हीन संहनन से ही एक वर्ष में ही क्षय कर डाल सकते हैं ।

एवं पुबिहो कप्पो परम जिणं देहि अबिखयो पूर्णं ।

अण्णो पासंडिकओ गिहकप्पो ग्रंथपरि कल्लिओ ॥ १३२ ॥

एवं द्विविधः कल्पः परमजिनैः कथितो नूनम् ।

अन्यः पाषण्डिकृतो गृहस्थकल्पो ग्रंथपरिकलितः ॥ १३२ ॥

अर्थ— इस प्रकार भगवान् जिनेंद्र देव ने जिन कल्प और स्थविर कल्प ऐसे दो प्रकार के मुनि बतलाये हैं । इन दो प्रकार के मुनियों के सिवाय जो वस्त्र आदि परिग्रहों में परिपूर्ण गृहस्थ कल्प की कल्पना की है वह पाषण्डियों ने की है, ऐसे गृहस्थ कल्प की कल्पना भगवान् जिनेंद्र देव ने नहीं बतलाई है ।

दुद्धरतपस्स भग्गा परिसह विसएहि पीडिया जे य ।

यो गिहकप्पो लोए स स्थविरकप्पो कओ तेहि ॥ १३३ ॥

दुर्धरतपसः भग्नाः परीषविषयैः पीडिता ये च ।

यो गृहकल्पो लोके स स्थविरकल्पः कृतः तैः ॥ १३३ ॥

अर्थ— जो मुनि मुनि होकर भी दुर्धर तपश्चरण धारण करने में

असमर्थ हो गये थे और डगलिये जो तपश्चरण से भ्रष्ट हो गये थे तथा जो परिषद् सहन करने में दुःख का अनुभव करते थे, दुखी होते थे ऐसे उन लोगों ने गृहस्थ कल्पको ही पवित्रकल्प मान लिया है।

निर्ग्रन्थो जिणवसहो निर्ग्रन्थं पवयणं कथं तेन ।

तस्मान्मुमगलगा सत्त्वे निर्ग्रन्थमहरिसिणो ॥ १३४ ॥

निर्ग्रन्थो जिनवृषभो निर्ग्रन्थं प्रवचनं कृतं तेन ।

तस्मान्मुमार्गलगाः सर्वे निर्ग्रन्थमहर्षवः ॥ १३५ ॥

अर्थ— भगवान् ऋषभ देव दीक्षा धारण कर निर्ग्रन्थ मुनि हुए थे तथा केवल केवल ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर उन्होंने मुनियों का स्वरूप निर्ग्रन्थ ही बतलाया था। अपनी दिव्यश्रुती में मुनियों की निर्ग्रन्थ अवस्था ही बतलाई थी जो शास्त्रों में आज तक विद्यमान है। उन्हीं शास्त्रों के अनुसार वर्तमानके निर्ग्रन्थ मुनि भी उसी मार्ग के अनुसार निर्ग्रन्थ होते चले आ रहे हैं।

जे पुण भूसिय गंथावूसियणिग्गंथलिगवयमट्ठा ।

तेहि संगंथं लिगं पायडियं तित्थणाहस्स ॥ १३५ ॥

ये पुनर्भूषितग्रन्था दूषितनिर्ग्रन्थलिग-व्रतभ्रष्टाः ।

तेः सग्रन्थं लिगं प्रकटितं तीर्थं नाथस्य ॥ १३५ ॥

अर्थ— जो लोग मुनि होकर भी परिग्रह से सुशोभित रहते हैं, जिन्होंने पवित्र निर्ग्रन्थ लिगको दूषित कर रक्खा है तथा जो निर्ग्रन्थ लिगसे और अपने मुनिव्रत में भ्रष्ट हो गये हैं ऐसे लोगों ने तीर्थंकर पर देव के इस निर्ग्रन्थ लिग को भी सग्रन्थ लिग प्रगट कर रक्खा है।

भावार्थ— तीर्थंकर परमदेव मार्ग तो निर्ग्रन्थ ही है। परन्तु जो लोग अपने व्रतो से भ्रष्ट हो गये हैं कोई प्रकार का कष्ट सहन न करते हुए सब प्रकार से सुखी रहकर ही स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं ऐसे लोग तीर्थंकर के निर्ग्रन्थ मार्ग को सग्रन्थ बतलाते हैं।

जं जं सममादरियं तं तं निरुदायमेण अलिण्ण ।

लोए वक्खणिस्ता अण्णाणी वन्धिआ तेहि ॥ १३६ ॥

यत् यत् स्वयमाचरितम् तत्तत् निरागमेनालीकेन ।  
लोके व्याख्याय अज्ञानिनो वन्वितास्तः ॥ १३६ ॥

अर्थ— ऐसे लोग जिन २ आचरणों को स्वयं पालन करते हैं उन्हीं आचरणों को अपने बताये हुए भिन्ना आगमों से निरूपण करते हैं तथा संसार में वे लोग उसी प्रकार व्याख्यान कर अज्ञानी लोगों को ठगते हैं। यह एक दुःख की बात है।

आगे श्वेतपट मत कब, कहाँ और किस प्रकार उत्पन्न हुआ, यही बात दिखलाते हैं।

छत्तीसे बरिससये विक्रमरायस्स मरणपत्तस्स ।  
सौरट्ठे उप्पण्णे सेवडसन्धो हु बलहीरु ॥ १३७ ॥  
षट्त्रिंशतिवर्षशते विक्रमराजस्य मरणप्राप्तस्य ।  
सौराष्ट्रे उत्पन्नः श्वेतपटसंधो हि बलभीके ॥ १३७ ॥

अर्थ— राजा विक्रम के मरने के एकसी छत्तीस वर्ष बाद सौराष्ट्रदेश के बलभी नगर में श्वेतपट संध की उत्पत्ति हुई थी। उसकी कथा इस प्रकार है।

असि उज्जेणिणवरे आइरिओ भद्रबाहुनामेण ।  
जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ संघोणिओ लेण ॥ १३८ ॥  
आसिदुज्जयिनीनगरे आचार्यः भद्रबाहुः नाम्ना ।  
जात्वा सुनिमित्तरधरः भणितः संघो निजस्तेन ॥ १३८ ॥

अर्थ— उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु नामके आचार्य थे। वे निमित्तशास्त्रको जानते थे। उन्होंने अपने निमित्त शास्त्रसे जानकर अपने संध से कहा था कि—

हो हइ इह दुक्खिक्खं बारहु वरणाणि जाम पुण्णाणि ।  
देसतराइ गच्छइ णियणिय संघेण संजुत्ता ॥ १३९ ॥  
भविष्यतीह बुभिक्षं द्वादशवर्षाणि यावत्पूर्णाणि ।  
देशान्तराणि गच्छत निजनिजसंधेन संयुक्ताः ॥ १३९ ॥

अर्थ— इस देशमें बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष पड़ेगा । इसलिये आप लोग अपने दोन संघके साथ दूसरे देशों में चले जाओ ।

सोऽरुण इयं वयणम् गण्णादेसेहि गणहारा सञ्चे ।

णिय निय संघ पडत्ता विहारीआ जस्थ सुभिक्खं ॥ १४० ॥

श्रुत्वेदं वचनं नानादेशे गणधराः

निजनिजसंघप्रयुक्ता विहृता यत्र सुभिक्षम् ॥ १४० ॥

अर्थ— आचार्य श्री भद्रबाहु से इन वचनों को सुन कर समस्त गणधर व आचार्य अपने २ संघको लेकर जहां २ सुभिक्ष था सुकाल था उन २ देशों के लिये विहार कर गये ।

एकं पुण सन्ति नामो संपतो वलहि नाम नएरीए ।

बहुसीससंपडत्तो विसए सोरठ्ठए रम्मे ॥ १४१ ॥

एकः पुनः शान्ति नामा संप्राप्तः बलभीनामनगर्याम् ।

बहुशिष्यसंप्रयुक्तः विषये सौराष्ट्रे रम्ये ॥ १४१ ॥

अर्थ— उन आचार्यों में एक शान्ति चन्द्र नाम के आचार्य थे, वे आचार्य अपने अनेक शिष्यों के साथ मनोहर सोरठ देश के बलभी नाम के नगर में विहार करते हुए पहुंचे ।

तस्थ वि गयस्स जायं दुग्भिक्खं वारुणं महाघोरं ।

जस्थ विगारिय उयरं खद्धो रंकेहि कूरत्ति ॥ १४२ ॥

तत्रापि गतस्य जातं दुर्भिक्षं दारुणं महाघोरम् ।

यत्र विदार्योदरं भक्षितः रंकः क्रूर इति ॥ १४२ ॥

अर्थ— जब वे आचार्य शान्ति चन्द्र अपने संघ सहित बलभी नगर में पहुंचे तब वहां भी महा भयानक महा दुःखदायी दुर्भिक्ष पडा तथा ऐसा दुर्भिक्ष पडा कि क्रूर निर्धन भिक्षुक आदि दूसरों के पेट को विदीर्ण कर उसमें का खाया हुआ अन्न खा जाते थे ।

तं लहिरुण णिमित्तं गृहीयं सञ्चेहि कवली बड्ढ ।

बुद्धियपन्तं च तहा पावरणं सेयवत्थं च ॥ १४३ ॥

तल्लब्ध्वा निमित्तं गृहितं सर्वैः कंवलं दण्डम् ।

दुग्धिकपात्रं च तथा प्रावरणं श्वेतवस्त्रं च ॥ १४३ ॥

अर्थ— इसी निमित्त को लेकर उन आचार्य शान्ति चन्द्र के समस्त संघने कंवल दंड कुंडी और ओढ़ने के लिये सफेद वस्त्र धारण कर लिया ।

यत्तं रिसि-आवरणं गृह्णिया सिद्धं य दीनवृत्तीए ।

उपविशिय जाइऊणं भुत्त वसहीसु इच्छाए ॥ १४४ ॥

त्यक्तं ऋष्याचरणं गृहीता मिक्षा च दीनवृत्त्या ।

उपविश्य याचयित्वा मुक्तं वसतिष्वच्छया ॥ १४४ ॥

अर्थ— इस प्रकार उन आचार्य शान्ति चन्द्रके संघने मुनियों के आचरण सत लोड़ दिये और वे दीनवृत्तिसे घरघरभिक्षा मांगकर अपनी अपनी वसतिका में लाने लगे तथा अपनी वसतीका में बैठकर इच्छानुसार भोजन करने लगे ।

एवं वर्तताणं किलिय कालम्मि चापि परियलिए ।

संजायं सुदिभक्खं जंपइ ता संति आइरिओ ॥ १४५ ॥

एवं वर्तमानानां कियत्काले चापि परिचलिते ।

संजात सुभिक्षं जल्पति तान् शान्त्याचार्यः ॥ १४५ ॥

अर्थ— इस प्रकार उन शान्तिचन्द्र आचार्यके संघने अपना कितना ही समय व्यतीत किया । कुछ समय के अनन्तर वहां पर भी सुभिक्ष हो गया । तब आचार्य शान्तिचन्द्रने अपने संघसे कहा ।

आवाहिऊण संघं भणियं छंडेय कुत्थियावरणं ।

णिदिय गरहिय मिण्हइ पुणरपि चरियं मुणिदाणं ॥ १४६ ॥

आहूय संघं भणितं त्यजत कुत्सिताचरणम् ।

निन्दत गर्हत गृह्णत पुनरपि चारित्रं मुनिन्द्राणाम् ॥ १४६ ॥

अर्थ— आचार्य शान्तिचन्द्रने अपने समस्त संघ को बुलाकर उनसे कहा कि अब इस देशमें भी सुभिक्ष होगया है । इसलिये अब इन कुत्सित आचरणों को छोड़ो । अब तक जो ये कुत्सित आचारण किये हैं उनकी निन्दा करो और फिरसे मुनि दीक्षा लेकर मुनियों के शास्त्रोक्त आचरण पालन करो ।

तं वयणं सोऽरुणं उक्तं सोसेण तत्त्व पदमेण ।

को सक्कइ धारेउं एयं अइदुद्धरायरणम् ॥ १४७ ॥

तद्वचनं श्रुत्वा उक्तं शिष्येण तत्र प्रथमेन ।

कः शक्नोति धर्तुं एतद्वतिदुर्धराचरणम् ॥ १४७ ॥

अर्थ- आचार्य शान्तिचन्द्र के इन वचनों को सुनकर उनके मुख्य शिष्य जिनचन्द्रने कहा कि अब ऐसे इन अत्यन्त कठिन दुर्धर आचरणों को कौन धारण कर सकता है ।

भावार्थ- अब इस दुर्धर आचरणों का पालन करना अत्यन्त कठिन है इसलिये अब इन आचरणों को कोई नहीं पाल सकता ।

उपवासो य अलाभे अण्णे दुसहाइ अन्तराइ ।

एयट्ठाणमचेलं अज्जायण वंमचेरं च ॥ १४८ ॥

उपवासं चालाभे अन्यानि दुःसहानि अन्तरायाणि ।

एकस्थानमचेलं अयाचनं ब्रम्हचर्यं च ॥ १४८ ॥

भूमिसयनं लोचो वे वे मासेहि असहणिज्जो हु ।

वावीस परीसहाइ असहणिज्जाइ णिच्चंपि ॥ १४९ ॥

भूमिशयनं लोचो द्विद्विमासेन असहनीयो हि ।

द्वाविंशतिपरीषहा असहनीया नित्यमपि ॥ १४९ ॥

अर्थ- यदि चर्या में किसी दिन आहार न मिला तो उस दिन उपवास करना पड़ेगा, इसके सिवाय चर्या के अनेक कठिन कठिन अन्तराय है । बिना मांगे किसी भी एक ही स्थान पर आहार लेना पड़ेगा । नरत व्रत धारण करना पड़ेगा, ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ेगा, भूमिपर शयन करना पड़ेगा, दो दो महिने बाद केशों का लोच करना पड़ेगा, यह केशों का लोच अत्यन्त असह्य होता है और अत्यन्त असह्य ऐसी चाईस परिषह सहन करनी पड़ेगी ।

जं पुण संपइ गहियं एय अम्हेहि किपि आपरणं ।

इह लोए सुखवरं ण छंडिमो हु तुस्समे काले ॥ १५० ॥

यत्पुनः सम्प्रति गृहीतं एतत् अस्माभिः किमप्याचरणम् ।

इह लोके सुखकरं न त्यजामो हि दुःषमे काले ॥ १५० ॥



अर्थ— उन जिनचंद्र शिष्यने इतना कहकर फिर उन आचार्य शांतिचन्द्र से कहा कि हम लोगों में इस समय जो कुछ आचरण ग्रहण कर रक्खा है इस लोक में वहीं सुखकर है । इसलिये हम सब इस दुःखम काल में इन धारण किये हुए आचरणों को छोड़ नहीं सकते ।

ता संतिणां पउत्तं चरियपभट्टेहि जीवियं लोए ।

एयं ण हु सुंदरियं दूसनयं जेणमग्गस्स ॥ १५१ ॥

तावत् शान्तिना प्रोक्तं चारित्रभ्रष्टानां जीवितं लोके ।

एतन्नहि सुन्दर दूषणकं जैनमार्गस्य ॥ १५१ ॥

अर्थ— अपने मुख्य शिष्य जिनचन्द्र की बात सुन कर आचार्य शांतिचन्द्र ने फिर भी कहा है कि जो लोग अपने चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं, इस लोक में उनका जीवित रहना निन्दनीय है, सुंदर वा शोभा युक्त नहीं है । ऐसा आचरण जैन मार्ग को दूषित करने वाला है, निन्दनीय है ।

णिग्गन्थं पव्वयणं जिणवरणाहेण अक्खियं परमं ।

त छडिऊण अएणं पवत्तमाणेण मिच्छत्तं ॥ १५२ ॥

निर्ग्रन्थं प्रवचनं जिनयरनाथेन कथितं परमम् ।

तत् त्यक्त्वा अन्यत्प्रवर्तमानेन मिथ्यात्वम् ॥ १५२ ॥

अर्थ— आचार्य शांतिचन्द्र ने उस प्रथम शिष्य जिनचन्द्र से कहा कि भगवान् जिनचन्द्र देव ने मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग निर्ग्रन्थ मार्ग ही बतलाया है । ऐसे इस निर्ग्रन्थ मार्ग को छोड़कर जो अन्य किसी भी मार्ग की प्रवृत्ति करता है तो उसका वह मिथ्यात्व कहलाता है ।

ता रुसिऊण पहओ सीसे सीसेण दोह्वंडेण ।

थविरो धाएण मुओ जाओ सो वितरो देवो ॥ १५३ ॥

तावत् क्षित्या प्रहृतः शिरसि शिष्येण दोर्ध्वपद्मेन ।

स्थविरो धातेन मृतो जातः स ध्यन्तरो देवः ॥ १५३ ॥

अर्थ— आचार्य शांतिचन्द्रकी यह बात सुनकर उनका मुख्य शिष्य जिनचन्द्र बहुत ही क्रोधित हुआ और क्रोधित होकर उसने आचार्य

शांतिचन्द्रके मस्तक पर एक दीर्घ दण्ड मारा । उस दीर्घ दण्ड के घातसे  
के आचार्य शांतिचन्द्र मर गये और मरकर व्यंतर देव हुए ।

इयरो संघाद्बह्व पयडिय पासंड सेवडो जाओ ।

अवज्जइ लोए धम्मं सगत्थे अत्थि णिव्वाणं ॥ १५४ ॥

इतरः संघातिपतिः प्रकटय पाखण्डः श्वेतपटो जातः ।

कथयति लोके धर्मं सग्रन्थऽस्ति निर्वाणम् ॥ १५४ ॥

अर्थ— तदनन्तर उस जिनचन्द्रने अपने को संघाधिपति घोषित  
किया अर्थात् वह स्वयं संघाधिपति बन गया और उसने यह श्वेतांबरों  
का मत चलाया उसने लोगोंसे कहा कि परिग्रह सहित होनेपर भी मोक्ष  
मार्गरूप धर्म की सिद्धी होती है तथा परिग्रह सहित होनेपर भी मोक्षकी  
प्राप्ति हां जाती है ।

सत्थाइं विरइयाइं णियणियपासंडगहियसरिसाइं ।

वक्खाणि ऊण लोए पवित्तिओ तारिसायरणो ॥ १५५ ॥

शास्त्राणि विरचितानि निजनिजपाखण्डगृहीतसदृशानि ।

व्याख्याय लोके प्रवर्तितं तादृशाचरणम् ॥ १५५ ॥

अर्थ— तदनन्तर उस जिनचन्द्रने अपने अपने जो पाखण्ड ग्रहण  
कर लिये थे तथा जिन जिन आचरणों को उसने धारण कर लिया था  
उन्हीं के समान आचरणों को कहने वाले शास्त्रों की रचना कर ली ।  
तथा वैसे ही आचरण पालन करनेका वह उपदेश देता था ।

णिगगंथं वूसिस्ता णिदिस्ता अण्णणां पसंसिता ।

जीवेइ मूढलोए कयमासं गहिह बहुदव्वं ॥ १५६ ॥

निर्ग्रन्थं दूषयित्वा निवित्वा आत्मानं प्रशस्य ।

जीवति मूढलोके कृतमायं गृहीत्वा बहु द्रव्यम् ॥ १५६ ॥

अर्थ— इस प्रकार उनने निर्ग्रन्थ लिंग को दूषित किया उसकी  
निन्दा की और अपनी प्रशंसा की । इस प्रकार बहुतसे द्रव्यों को ग्रहण  
करते हुए जीवित रहते हैं ।

इयरावितर देवो संतो लग्गो उपद्दवं काउं ।

जण्णइ मा मिच्छस्सं गच्छहं लहिअण जिनधम्मं ॥ १५७ ॥

इतरो व्यन्तरदेवः शान्तिः लग्नः उपद्रवं कर्तुम् ।

जल्पति मा मिथ्यात्वं गच्छत लब्ध्वा जिनधर्मम् ॥ १५७ ॥

अर्थ— इधर आचार्य शान्तिचन्द्रका जीव जो व्यन्तर देव हुआ था वह अनेक प्रकारके उपद्रव करने लगा और कहने लगा कि तुम त्याग जिनधर्मको धारण करके मिथ्यात्व को ग्रहण मत करो ।

भावार्थ— तुम लोग इस मिथ्यात्व को छोड़कर फिरसे जनधर्म धारण करो । इस प्रकार वह व्यन्तर देव कहने लगा ।

ओएहिं तस्स पुआ अट्ठविहा सयलदब्बसंपुण्णा ।

जा जिनचन्दे रइया सा अज्जवि विण्णिया तस्स ॥ १५८ ॥

ओहेत तस्स पूजा अट्ठविहा सयल द्रव्यसम्पूर्णा ।

सा जिनचन्द्रेण रक्षिता सा अद्यापि दीयते तस्मै ॥ १५८ ॥

अर्थ— व्यन्तरदेवकी यह बात सुनकर और उसके किये हुए उपद्रवों को देखकर जिनचन्द्रने समस्त आठों द्रव्यों से उसकी पूजा की । वह पूजा इन श्वेतावरों में आज तक की जाती है ।

अज्जवि सा बलिपूआ पढमयरं विति तस्स णामेण ।

सो कुलदेवो उत्तो सेवउसंघस्स पूज्जो सो ॥ १५९ ॥

अण्णं च एव माई आयम दुट्ठाइ मिच्छ सत्थाइं ।

विरइत्ता अण्णाणां परिणवियं पढमए णरये ॥

इस प्रकार उस जिनचन्द्रने आगम में दुष्ट वा निच कहलाने वाले मिथ्यात्वकी रचना की और उस दुष्टताके कारण वह मरकर पहले नरक गया ।

रुदेण येन शिवमंगिणः प्रयाति,

तद्रूपमेव मनुजेः परिपूज्यतेऽत्र ।

सिद्धिर्यदि प्रभवतीह नितम्बिनीनां,

तद्रूपिणः कथमभी न जिता भवन्ति ॥

अद्यापि सा बलिपूजा प्रथमतः दीयते तस्य नाम्ना ।

त कुलदेव उक्तः श्वेतपटसंघस्य पूज्यः सः ॥ १५९ ॥

अर्थ— जिनचन्द्रने जिस प्रकार उस व्यन्तरदेव की पूजा की थी उसी प्रकार सबसे पहले आज तक उसीके नामसे पूजा की जाती है । श्वेतांबर संघ आज तक उसको कुलदेवता मानकर उसकी पूजा करता है ।

भावार्थ— आठ अंगुल लम्बा चौड़ा चौकोर काठ का टुकड़ा बनाकर उसको शान्तिचन्द्र मानते हैं और उसीके नामसे उसकी पूजा करते हैं ।

इय उध्यतो कहिया सेवउयाणं च मग्गभट्टाणं ।

एतो उद्धं वोच्छं णिसुय अण्णाणमिच्छतं ॥ १६० ॥

एषा उत्पत्तिः कथिताः श्वेतपटानां च मार्गभ्रष्टानाम् ।

इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये निःश्रुणुत अज्ञानमिथ्यात्वम् ॥ १६० ॥

अर्थ— इस प्रकार निर्ग्रन्थ मार्ग से च्युत श्वेतपट लोगों की उत्पत्ति बतलाई ।

अब इसके आगे अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं खसे सुनो ।

अर्थ— वे मनुष्य जिस रूपसे मोक्ष जाते हैं उसके उसी रूपको अन्य मनुष्य पूजा करते हैं । यदि मोक्ष की प्राप्ति स्त्रियों को होती है तो फिर उस रूपमें ( स्त्री रूपमें ) जिनेन्द्र देव क्यों नहीं होते अथवा स्त्री को पर्यायस्वरूप कुच योनि विशिष्ट प्रतिमा क्यों नहीं होती । इससे सिद्ध है स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती ।

परमो हरु अरहंतो रत्तो बुद्धो पियंवरो कण्हो ।

कच्छोटियाना वंभो को देवो कंवलावरणो ॥

भगवान् अरहंत देव नान है, रक्तांबर बौद्ध है, पीतांबर कृष्ण है कच्छ पहने हुए वेदांती है परंतु ये कंवल ओढ़ने वाले कौन से देव हैं सो आज तक किसी के समझ नहीं आया है भावार्थ ये कंवल वाले देव किसी गिनती में नहीं है ।

इस प्रकार संशय मिथ्यात्व का स्वरूप निरूपण किया  
तथा उसका निराकरण किया

अब आगे अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं ।

ससय पूरण रिसिणा उप्पणो पासणाह तित्थस्मि ।  
सिरि वीर समवसरणो अगहिय झुणिणा णियत्तेण ॥ १६१ ॥

मस्करिपूरणऋषिरुत्पन्नः पार्श्वनाथतीर्थे ।  
श्री वीरसमवसरणे अगृहीतध्वनिना निर्वृत्तेन ॥ १६१ ॥

अर्थ— भगवान् पार्श्वनाथ के समय में मस्करीपूरण नाम के एक मुनि थे । वे भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में आये थे परन्तु गणधर न होने से दिव्य ध्वनी हो नहीं रही थी । जब इन्द्र गौतम को ले आया था तथा आते ही गौतम ने दीक्षा धारण कर ली तथा उसे ज्ञान मनःपर्याय अवधि ज्ञान हो गया था उसी समय गणधरके सद्भाव होने से भगवान् की दिव्य ध्वनी खिरने लगी थी । यह सब देखकर वह मस्करी पूरण मुनि बाहर निकल आया था । मस्करी पूरण ने भगवान् की दिव्य ध्वनी सुनी नहीं थी । वह पहले ही समवसरण से बाहर निकल आया था ।

वहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसंगधारिस्स ।  
णिग्गइ झुणो ण अरुहो विणिग्गया सा सत्ती सस्स ॥ १६२ ॥

वहिनिगतेन उक्तं महर्षे एकादशांग धारिणे ।  
निर्गच्छति ध्वनि न अर्हन् विनिर्गतः स स्वशिष्याय ॥ १६२ ॥

अर्थ— समवसरण के बाहर आकर उस मस्करी पूरण ने लोगों से कहा कि देखो मैं ग्यारह अंगों का पांठी था, मैं समवसरण में बैठा रहा तथापि भगवान् महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनी प्रगट नहीं हुई । जब उनके शिष्य गौतम आगये तब वह दिव्य ध्वनी प्रगट होने लगी ।

ण मुणइ जिणकहियसुर्य संपइ दिक्खा य गहिय गोयमओ ।  
विप्पो वेयवभासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥ १६३ ॥

न जानाति जिनकथितश्रुतं सम्प्रति दीक्षां च गृहीतवान् गौतमः ।

विप्रो वेदाभ्यासी तस्मान्मांशो न जानतः ॥ १६३ ॥

अर्थ— वह गौतम ऋषि भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए शास्त्रों को नहीं जानता । वह तो वेद शास्त्रों का अभ्यास करने वाला है । उसने आचार दीक्षा लेली थी । इसीलिये भगवान् की वाणी खिरने लगी थी । इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से नहीं होती अज्ञान से ही होती है । यदि ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती तो ग्यारह अंग के जानकर ऐसे मेरे होते हुए दिव्यध्वनि अवश्य प्रकट होनी चाहिये थी । मेरे होते हुए दिव्यध्वनि प्रकट नहीं हुई । इससे जान पड़ता है कि मोक्ष की प्राप्ति अज्ञान से होती है ज्ञान से नहीं ।

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो ह ।

देवो ण अत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए ॥ १६४ ॥

अज्ञानतो मोक्ष एवं लोकान् प्रकटमानो हि ।

देवो नास्ति कश्चिच्छून्यं ध्यायत इच्छया ॥ १६४ ॥

अर्थ— वह मस्करी पूरण समवशरण के बाहर आकर कहने लगा कि मोक्ष की प्राप्ति अज्ञानता से होती है ज्ञान से नहीं होती । इस संसार में देव कोई नहीं है । प्रत्येक जीवको अपनी इच्छा के अनुसार शून्य का ही ध्यान करना चाहिये इस प्रकार मस्करी पूरण ने प्रकट कर अज्ञान मिथ्यात्व को प्रकट किया ।

आगे ऊपर लिखे पाँचों मिथ्यात्वों का त्याग करने के लिये कहते

एवं पंचपयारं मिच्छतं सुगइणिवारणयं ।

दुक्खसहस्सादासं परिहरियव्वं पयत्तेण ॥ १६५ ॥

एवं पंचप्रकारं मिथ्यात्वं सुगतिनिवारणकम् ।

दुःखसहस्रादासं परिहर्तव्यं प्रयत्नेन ॥ १६५ ॥

अर्थ— इस प्रकार विपरीत मिथ्यात्व, एकांत मिथ्यात्व, दैनयिक मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व ये पाँचों मिथ्यात्व शुभ

गति के निवारण करनेवाले तथा हजारों प्रकार के दुःख देनेवाले है । इसलिये भव्य जीवों को प्रयत्न पूर्वक उनका त्याग कर देना चाहिये ।

आगे मिथ्यात्व से होने वाली हानियां दिखलाते हैं ।

मिच्छसेनाच्छणी अणाइ कालं चउगईभुवणे ।

भमिओ दुखभकं तो जीवो दोयइ गिण्हंतो ॥ १६६ ॥

मिथ्यात्वेनाच्छन्नाऽनाविकालं चतुर्गतिभुवने ।

अमितो दुःखाक्रान्तो जीवो देहान् ग्रहणन् ॥ १६६ ॥

अर्थ— मिथ्यात्व से आक्रान्त हुआ यह जीव अनादि काल से चारों गतियों में अनेक प्रकार के शरीर धारण करता हुआ और अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता हुआ इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है ।

एइंदियाइपहुइ जावय पंचवखविहिजोणीसु ।

भमिहइ भविस्सयाले पुणरपि मिच्छत्तपच्छइओ ॥ १६७ ॥

एकेन्द्रियप्रभृतिषु यावत्पंचाक्षविविधयोनियु ।

अभिष्यति भविष्यत्काले पुनरपि मिथ्यात्वप्रच्छादितः ॥ १६७ ॥

अर्थ— एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियतक चौरासी लाख योनियां हैं । उन सब में यह जीव मिथ्यात्व के कारण ही परिभ्रमण करता रहता है अनादि काल से आज तक परिभ्रमण करता रहा है और फिर भी मिथ्यात्व का सेवन करता है इसलिये भविष्य काल में अनंत काल तक परिभ्रमण करता ही रहेगा ।

अत्तरउद्धारुडो विसमे काऊण विविहपावाइं ।

अविधानंतो धम्मं उपज्जइ तिरियणरएसु ॥ १६८ ॥

आर्तरींद्रावुडो विषमानि कृत्वा विविधपापानि ।

अज्ञानतः धर्मं उत्पद्यते तिर्यग्—नरकेषु ॥ १६८ ॥

अर्थ— मिथ्यात्व कर्मके उदय होने से ये जीव सदाकाल आर्तध्यान और रौद्रध्यान करते रहते हैं और इस प्रकार अनेक प्रकार के महा भयानक पाप उपार्जन करते रहते हैं । ऐसे लोग धर्म का स्वरूप समझते

नहीं और इसीलिये वे जीव मरकर नरक गति वा तिर्यच गति में जाकर जन्म लेते हैं ।

अहवा जह कहव पुणो पावइ मणुपत्तणं च संसारे ।

जु असमिला संजोए लहइण वेसोकुलं आऊ ।

अथवा यथाकथमपि पुनः प्राप्नोति मनुष्यत्वं च संसारे ।

..... संयोगे लभते न देशं कुलं आयुः ॥ १६९ ॥

अर्थ— यदि किसी प्रकार इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मनुष्य योनि भी प्राप्त हो जाती है तो अशुभ कर्मों के उदय होने से श्रेष्ठ देश, श्रेष्ठ कुल और उत्तम आयु प्राप्त नहीं होती ।

पउरं आरोपत्तं इन्द्रियपुण्णत्तणं जोव्वणियं ।

सुन्दररुपं लक्ष्मी अश्छइ बुक्खेण तप्यंतो ॥ १७० ॥

प्रचूरमारोग्यत्व इन्द्रियपूर्णत्वं च यौवनम् ।

सुन्दररूपं लक्ष्मी अश्नते दुःखेन तप्यमानः ॥ १७० ॥

अर्थ— इस प्रकार क्षुद्र मनुष्य होकर भी वह अनेक प्रकार के दुःखों में दुःखी होता हुआ अपनी अधिक आरोग्यता की प्रार्थना करता रहता है, इन्द्रियों की पूर्णता की प्रार्थना करता रहता है, यौवन की प्रार्थना करता रहता है और सुन्दर रूप और लक्ष्मी की प्रार्थना करता रहता है ।

जइ कह वि हु एयाइ पावइ सव्वाइ तो ण पावेई ।

धम्मं जिणेण कहियं कुच्छियगुरुमगलगाओ ॥ १७१ ॥

यदि कथमपि हि एतानि प्राप्नोति सर्वाणि तर्हि न प्राप्नोति ।

धर्मं जिनेन कथितं कुत्सितगुरुमार्गलग्नः ॥ १७१ ॥

अर्थ— यदि किसी प्रकार वह जीव उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम आयु, आरोग्य शरीर इन्द्रियों की पूर्णता, यौवन और सुन्दर रूप भी प्राप्त कर लेता है तो भी कुत्सित वा मिथ्यादृष्टियों के मार्ग में लगा हुआ वह जीव भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहें हुए धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता है ।



भावार्थ— इस संसार में रूप धौबन धन लक्ष्मी आदि समस्त पदार्थों की प्राप्ति होना सुलभ है परंतु यथार्थ धर्म की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है। इसलिये यदि शुभ कर्मों के उदय से भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ धर्म प्राप्त हो जाय तो उसके पालन करने में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। मन वचन काय से उसका पालन करना चाहिये।

इस प्रकार अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरूप कहा तथा उसका निराकरण किया।

अब आगे चार्वाक मत का निराकरण करते हैं।

कज्जलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स तं पावं ।

पुण्णं वा कस्स भवे को गच्छइ णरय सगं वा ॥ १७२ ॥

कौलाचार्यः कथयति अस्ति न जीवो हि कस्य तत्पापम् ।

पुण्यं वा कस्य भवेत् को गच्छति नरकं स्वर्गं वा ॥ १७२ ॥

अर्थ— कौलाचार्य कहते हैं कि इस संसार में जीव ही कोई नहीं है। जब जीव कोई है ही नहीं तो फिर किसको पाप लगता है, किसको पुण्य लगता है कौन नरक जाता है और कौन स्वर्ग में जाता है।

भावार्थ— जीव कोई है ही नहीं, फिर न किसी को पुण्य लगता है न पाप लगता है, न कोई नरक जाता है और न कोई स्वर्ग में जाता है।

आगे फिर भी चार्वाक कहते हैं।

जइगुडधावइ जोए पिठरे जाएइ मज्जिरा सत्ती ।

तह पंच भूय जोए चेयणसत्ती समुब्भवई ॥ १७३ ॥

यथा गूडधातकीयोगे पिठरे जायते मदिरा शक्तिः ।

तथा पंचभूतयोगे चेतनाशक्तिः समुद्भवति ॥ १७३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार किसी थाली वा पात्र में गूड और घाय के फूल मिलाकर रख देने से उसमें मद्य की शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथ्वी जल तेज वायु आदि पंच भूत मिल जाने से चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

गर्भाई मरणंतं जीवो अस्थिति तं पुनो मरण ।  
 पंचभूयाण णासे पच्छा जीवत्तणं णत्थि ॥ १७४ ॥  
 गर्भाविमरणान्तं जीवोऽस्तीति तस्य पुनः मरणम् ।  
 पंचभूतानां नाशे पश्चाज्जीवत्वं नास्ति ॥ १७४ ॥

अर्थ— इस प्रकार पंच भूतों में मिलकर चैतन्य शक्ति उत्पन्न होने के कारण गर्भ से मरण तक जीवकी सत्ता रहती है । तदनंतर जब वह जीव मर जाता है तब पंच भूतों का भी नाश हो जाता है इसलिये फिर जीव की सत्ता सर्वथा नष्ट हो जाती है । फिर जीव नहीं रहता ।  
 लिखा भी है ।

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः ।  
 मतत्रयमिहाधित्य जीवाभावो विधीयते ॥

अर्थात्— शरीर का स्वरूप, शरीर के कार्य और शरीर के गुण इन तीनों का आश्रय लेकर जीव का अभाव निरूपण किया जाता है ।

भावार्थ— शरीर पंच भूत है, शरीर के कार्य का सब पंच भूत रूप है और शरीर के गुण सब पंच भूत रूप है । इसलिये यह चैतन्य शक्ती भी पंच भूत रूप है । वास्तव में चैतन्य शक्ति वा जीव पदार्थ कोई अलग नहीं है इस प्रकार जीव का अभाव होता है । ऐसा चार्वाक कहता है ।

इस सम्बन्ध में और कहा जाता है —

तम्हा इन्द्रिय सुखं भुज्जिइ अप्पणाइं इच्छाए ।  
 खज्जइ पिज्जइ मज्जं मांसं सेविज्ज परमहिता ॥ १७५ ॥

तस्मादिन्द्रियसौख्यं भुज्यतां आत्मनः इच्छया ।  
 खाद्यतां पीयतां मद्यं मांसं सेव्यतां परमहिताः ॥ १७५ ॥

अर्थ— जब इस संसार में जीव कोई पदार्थ है ही नहीं और इसलिये स्वर्ग नरक भी नहीं है तो फिर अपनी इच्छानुसार खूब इंद्रियों के सुखों को भोगो, खूब मांस खाओ, खूब मद्य पीओ, और खूब स्त्रियोंका

सेवन करो । ऐसा करने से कोई किसी को पता नहीं लगता । क्योंकि वह जीव ही कोई पदार्थ नहीं है ।

जो इन्द्रियाहं दंडइ विसया परिहरइ खवइ नियदेहं ।

सो अप्पाणं बंचइ गहिओ भूएहि पुब्बुद्धो ॥ १७६ ॥

यः इन्द्रियाणि दण्डयति विषयान्परिहरति क्षपयति निजवेहम् ।

स आत्मानं बंचयति गृहीतो भूतैः दुर्बुद्धीः ॥ १७६ ॥

अर्थ— जीव का अभाव सिद्ध कर वह चार्वाक फिर कहता है कि जो पुरुष अपनी इन्द्रियों का निग्रह करता है, इन्द्रियों के विषयों के सेवन का त्याग करता है और अपने शरीर को व्यर्थ कृश करता है वह दुर्बुद्धि मुखे पुरुष अपने आत्मा को ठगता है । समझना चाहिये की ऐसा पुरुष अनेक भूतों द्वारा घेर रक्खा है इसलिये वह सुखों का अनुभव नहीं करता । लिखा भी है —

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

मस्मीभूतस्य कायस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात्— जबतक जीओ तब तक सुख पूर्वक जीओ । ऋण करके भी प्रतिदिन घी दूध पीओ । क्योंकि मरने पर यह पंच भूत से बना हुआ शरीर भस्म हो जाता है । जीव कोई पदार्थ है नहीं फिर भला आवागमन कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं । बिना आवागमन के नरक आदिक की प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती । ऐसा चार्वाक मानता है । परंतु उसका यह कहना सर्वथा मिथ्या है । पंचभूत अचेतन है वे जीव के उपादान कारण नहीं हो सकते । गोबर में बीछू उत्पन्न हो जाते हैं परंतु गोबर उन जीवोंका उपादान कारण नहीं है, शरीर का उपादान कारण है । इसके सिवाय मैं सुखी हूँ ऐसा स्वसंवेदन समस्त जीवों को होता है । इससे भी जीव की सिद्धि अवश्य होती है । देखो इस शरीर में जबतक जीव रहता है तबतक ही शरीर की वृद्धि होती रहती है । जीव के निकल जाने पर फिर शरीर कभी नहीं बढ़ता है । इससे भी जीव की सिद्धि माननी पड़ती है । इस शरीर में जब तक जीव रहता है तबतक ही वह गमनागमन करता रहता है, जीव के निकल

जन्मर उसका गमनागमन श्वास उच्छ्वास आदि सब बंद हो जाता है। अमृत जीव मरकर व्यंतर हुआ, भाई हुआ, पिता हुआ आदि बातें अवश्य नहीं हैं क्योंकि किसी जीवके जाति स्मरण भी होता है उस जाति स्मरण से पहले जन्मकी भी बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं। इसके सिवाय सब जीवों का आकार रूप आदि भिन्न भिन्न है। इससे भी जीवकी सिद्धि अवश्य माननी पड़ती है। इसलिये जीव नहीं है ऐसा जो लोग कहते हैं वह भी मिथ्यात्व है। भव्य जीवों को उचित है कि उनको अपने सम्यग्दर्शन के बल से ऐसे मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

इस प्रकार अज्ञान मत का निरूपण कर निराकरण किया।

अब आगे सांख्य मत को कह कर उसका निराकरण करते हैं।

संखो पुणु मणइ इयं जीवो अतिथिंति किरियपरिहीणो ।

देहम्मि निवसमाणो ण लिप्यए पुण्यपापेहिं ॥ १७७ ॥

सांख्यः पुनः भणति एव जीवोऽस्तीति क्रियापरिहीनः ।

वेहे निवसमानो न लिप्यते पुण्यपापैः ॥ १७७ ॥

अर्थ— सांख्यमत वाला कहता है कि जीव तो है परंतु वह क्रिया रहित है इसलिये वह शरीर में निवास करना हुआ भी पुण्य वा पापों से लिप्त नहीं होता।

आगे फिर वह कहता है—

छिज्जइ भिज्जइ पयडो पयडो परिभमइ दीहसंसारे ॥

पयडो करेइ कम्मं पयडो भुजेइ सुह दुक्खं ॥ १७८ ॥

छिद्यते भिद्यते प्रकृतिः प्रकृतिः परिभ्रमति दीर्घसंसारे ।

प्रकृतिः करोति कर्म प्रकृति भुनक्ति सुखदुःखम् ॥ १७८ ॥

अर्थ— प्रकृति ही छिन्न चिन्न होती रहती है और प्रकृति ही इस संसार समुद्र में परिभ्रमण करती है। प्रकृति ही पुण्य पाप रूप कर्म उपार्जन करती है और प्रकृति ही सुख दुःख का अनुभव करती है।

भावार्थ— सांख्य मत वाले प्रकृति और पुरुष दो पदार्थ मानते

हैं। पुरुष जीव को कहते हैं और प्रकृति उसमें भिन्न मानते हैं। पुरुष को वा जीव को वे लोग कर्त्ता भोक्ता नहीं मानते यही बात आगे दिखलाते हैं।

जीवो सदा अकर्त्ता भुक्ता ण हू होइ पुण्य पावस्स ।

इय पयडिऊण लोए गहिया वहिणी सधूया वि ॥ १७९ ॥

जीवः सदा अकर्त्ता भोक्ता नहि भवति पुण्यपापयोः ।

इति प्रकटय लोके गृहीता भगिनी स्वसुतापि ॥ १७९ ॥

अर्थ— यह जीव वा पुरुष सदा काल अकर्त्ता रहता है न वह पुण्य करता है और न पाप करता है। इसी मान्यतानुसार पाप के फल का भोक्ता भी नहीं है। इस प्रकार प्रगट करता हुआ तो अपनी बहिन और बेटों को भी ग्रहण कर लेता है।

आगे आचार्य सांख्य मान्यता के प्रति कहते हैं।

एए विसयासत्ता कङ्गुम्मुत्ता य जीवदयरहिया ।

परतिपधणहरणरया अगहिय धम्मा दुरायारा ॥ १८० ॥

एते विषयासक्ताः कङ्गुमत्ताश्च जीवदयारहिताः ।

परस्त्रीधनहरणरता अगृहीतधर्मा दुराचाराः ॥ १८० ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि ऐसे लोग सदा काल विषयों में आसक्त रहते हैं, काम सेवन के लिये उत्तम रहते हैं, जीवों की दया पालन नहीं करते, परस्त्री और पर धन हरण करने में सदा लगे रहते हैं, अत्यंत दुराचारी हैं और यथार्थ धर्म का स्वरूप कभी स्वीकार नहीं करते।

ण मुणंति सर्वं धम्मं अनुणिय तच्छत्थयार पवभट्टा ।

पउरकसाया माई कह अण्णोसि फुडं वित्ति ॥ १८१ ॥

न जानन्ति स्वयं धर्मं अज्ञाततत्त्वार्थाचार प्रभ्रष्टाः ।

प्रचुरकषाया मायाविनः कथं अन्यान् स्फुटं ब्रुवन्ति ॥ १८१ ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं जो सांख्य लोग स्वयं धर्म का स्वरूप नहीं जानते न तत्त्वों का अर्थ वा स्वरूप समझते हैं वे स्वयं सदाचार से

भ्रष्ट होते हैं क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों की तीव्रता को धारण करते हैं अन्ततः भावाचारी होते हैं फिर न मालूम वे दूसरों के लिये धर्म का उपदेश कैसे देते हैं ।

भावार्थ— वे दूसरों लिये भी अपने समान ही उपदेश देते हैं । वे धर्म का उपदेश कभी नहीं दे सकते ।

रंडा मुंडा थंडी सुंडी दिक्खिदा धम्मवारा ।  
सीसे कंता कामासत्ता कामिधा सविधारा ॥  
मज्झं मसं मिट्ठं भवखं पक्खियं जीवसोक्खं च ।  
कउले धम्मे विसयेमोग्गे सं जिहो सम्मसेक्खं ॥ १८२ ॥

रण्डा मुण्डा थंडी सुंडी दीक्षिता धर्मद्वाराः ।  
शिष्या कान्ता कामासक्ता कामिता सविकारा ।  
मद्यं मांसं मिष्टं भक्ष्यं भक्षितं जीवसुखं च ।  
कपिले धर्मे विषये रम्पे तेनैव भवतः स्वर्गमोक्षौ ॥ १८२ ॥

अर्थ— जो स्त्री विधवा हो, मस्तक मुंडाये हो, चंडी वा मद्य पीने वाली हो, दीक्षित हो, किसी की धर्मपत्नी हो, शिष्या हो, कान्ता हो, काम सेवन की लालसा रखती हो, कामासक्त हो, अनेक प्रकार के विकार वाली हो, उसे सबको सेवन कर लेना चाहिये, खूब मद्य पीना चाहिये, खूब मांस खाना चाहिये, सब प्रकार से सुख देना चाहिये, ऐसा सांख्य मत वाले कहते हैं । इस प्रकार सांख्य मत विषयों के सेवन से भरपूर मनोहर है और वे लोग उसीसे स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं ।

रक्ता मत्ता कंतासत्ता दूषिता धम्ममग्गा ।  
हुट्ठा कट्ठा धिट्ठा मुट्ठाणिदि जो मोक्खसग्गा ॥  
अक्खे सुक्खे अग्गेवुक्खे णिरुधरं विण्णचित्ता ।  
णेरइयाणं दुक्खट्ठाणं तस्स सिस्सा पउत्ता ॥ १८३ ॥  
रक्तमत्ताः कान्तासक्ता दूषितधर्ममार्गाः ।  
हुष्टा कष्टा घृष्टा अनृतधादिनः निन्विमोक्षमार्गाः ॥  
आक्षेपे सुखे अप्रे दुःखे निर्भ्रान्तं दत्तचित्ताः ।  
नारकाणां दुःखस्थानं तस्य शिष्याः प्रोक्ताः ॥ १८३ ॥

अर्थ— सांख्य मतवाले रक्त पी पी कर उन्मत्त हो जाते हैं, स्त्रियों में सदा आसक्त रहते हैं, धर्म के समस्त मार्गों को दूषित करने रहते हैं, दुष्ट होते हैं, दुःखदायक होते हैं, घृष्ट होते हैं, मिथ्यावादी होते हैं, मोक्ष मार्ग की निंदा करते रहते हैं, वे लोग इन्द्रियों को सुखी बनाते रहते हैं । परंतु आग के लिये वे लोग बिना किसी संदेह के महा दुःख भोगने के लिये दत्त चित्त रहते हैं । तथा इसीलिये उस सांख्य मत को मानने वाले उनके समस्त शिष्य नरक के महा दुःख के स्थानों को प्राप्त होते हैं ।

आगे फिर भी कहते हैं ।

मज्जे धम्मो जीव हिंसाइं धम्मो ।

राई देवो दोसी देवो माया सुण्णं पि देवो ॥

रत्ता मत्ता कंत्तासत्ता जे गुरुं तेवि य पूज्जा ।

हा हा कट्टं णट्टो लोओ अहमहं कुणंतो ॥ १८४ ॥

मद्ये धर्मो मांसे धर्मो जीव हिंसायां धर्मः ॥

रागोदेवो दोषीदेवो माया शून्यमपि देवः ॥

रक्तमत्ताः कान्तासक्ता ये गुरव स्तेति य पूज्याः ।

हाहा कष्टं नष्टो लोकः अहमहं कुर्बन् ॥ १८४ ॥

अर्थ— सांख्य लोग कहते हैं कि मद्य पीने में भी धर्म है, मांस खाने में भी धर्म है, जीवों की हिंसा करने में भी धर्म है, राग करनेवाला भी देव है द्वेष करनेवाला भी देव है, माया रहित भी देव है, जो गुरु रक्त मांस आदि के सेवन करने में मदी-उन्मत्त है और स्त्रियों में आसक्त है ऐसे गुरु भी पूज्य माने जाते हैं इस प्रकार सांख्य लोग कहते हैं । इस पर आचार्य कहते हैं कि यह बड़े दुःख की बात है । इन सांख्य मतवालों ने महा अनर्थ करते हुए समस्त लोक को नष्ट कर दिया ।

धूया मायर बहिणी अण्णावि पुत्तत्थिणि

आयत्थिय वासवयणु पयडे वि विण्णे ।

जइ रगिय कामाजरेण वेयगक्खे उप्पण्णदप्पे

वं भणि छिपिणि डोवि नडिय बरुडि रज्जइ चम्मारि  
 कबले समइ समागमेइ तह भुत्ति य परणारि ॥ १८५ ॥  
 दुहिता मातृभगिनी अन्या अपि पुत्रार्थिनी  
 आयाति च व्यासध्वनं प्रकटनीयं विप्रेण ।  
 यथारभिता कामातुरेण वेवमर्वणोत्पन्नदर्पेण ।  
 ब्राम्हणी डोम्ब्री नटी विरुटो रजकी चर्मकारी  
 कपिले समये समागच्छन्ती तथा भुक्ता च परनारी ॥ १८५ ॥

अर्थ— यदि पुत्र की इच्छा करनेवाली पुत्री माता बहिन आदि कोई भी आवे तो ब्राम्हणों को व्यास के वचन ही प्रगट कर दिखाने चाहिये । जिस प्रकार वेद ज्ञान से उत्पन्न हुए अभिमान से मदीन्मत्त कामसक्त ब्राम्हण ने ब्राम्हणी, भेस्मिन् मतिनी दोहिता चण्डालि वंजरिन आदि सब के साथ रमण किया था उसी प्रकार सांख्य मत में अपने पास आई हुई परस्त्री का सेवन करना चाहिये । ऐसा सांख्य मत है । इसके सिवाय सांख्य मत में यहां तक लिखा है कि—

स्वयमेवागतं नारीं यो न कामयते नरः ॥

ब्रम्हाहत्या भवेत्तस्य पूर्वब्रम्हाऽवबोधिवम् ॥

अर्थात् - जो स्त्री अपने पास स्वयमेव आवे और वह मनुष्य उसके साथ संभोग न करे तो उस मनुष्य को ब्रम्ह हत्या का महान् महादोष लगता है । ऐसा पूर्व ब्रम्हा ने कहा है ।

आगे सांख्य का यह मत महा पाप और महा दुःखों का कारण है एना दिखलाते है ।

अण्णान धम्मलग्गो जीवो दुक्खान् पूरिओ होइ ।

चउगइ गहीँहणिवडइ संसारे भमिहि हिउंतो ॥ १८६ ॥

अज्ञानधर्मलग्गो जीवो दुःखैः पूरितो भवति ।

चतुर्गती गतिभिः निपतति संसारे भ्रमति हिण्डन् ॥ १८६ ॥

अर्थ— इस प्रकार सांख्य मत को माननेवाले अज्ञान धर्म में लगे हुये जीव अनेक महा दुःखों से पूरित हो जाते है । तथा चारों गतियों में



परिभ्रमण करते हुए दीर्घ कालतक संसार में पड़े हुए महा दुःख भोगा करता है —

जइ पाहाण नरदे लग्यो पुरिसो हु तरिणी लोये ।

बुड्डि विगयाधारो निबड्डि महणवावर्त्ते ॥ १८७ ॥

यथा पाषाणतरण्डे लग्नः पुरुषो हि तौरिणीलोये ।

बुड्धति विगताधारः निपतति महणवावर्त्ते ॥ १८७ ॥

अर्थ— जिस प्रकार पाषाण की नाव में बैठा हुआ पुरुष बिना किसी आधार के नदी के पानी में डूब जाते हैं उसी प्रकार अज्ञान धर्म में लगे हुए जीव इस संसार रूपी महा समुद्र में पडकर अनंत कालतक परिभ्रमण करते रहते हैं ।

गुच्छिद्यगुरुकथसेवा विविहावइपजरदुक्खआवत्ते ।

तह पणिमज्जइ पुरिसो संसार महोबहो भोमे ॥ १८८ ॥

कुत्सित गुरुकृतसेवा विविधातिप्रचुर दुःखावर्त्ते ।

तथा च निमज्जति पुरुषः संसार महोबधौ भोमे ॥ १८८ ॥

अर्थ— जिस प्रकार कुत्सित वा नीचगुरु की सेवा करने से अनेक प्रकार के दुःखरूपी समुद्र में पड जाता है उसी प्रकार कुगुरु की सेवा करने से यह पुरुष भी इस संसार रूपी महा भयानक समुद्र में पडकर अनंत काल के लिये डूब जाता है ।

वयधदु कुंठ रुद्धेहि निष्ठुर निक्कट्टुदुट्ठिचिट्ठेहि ।

अप्पाणं णासिओ अण्णेवि य णासिओ लोओ ॥ १८९ ॥

व्रतभ्रष्टकुण्ठरुद्रः निष्ठुरनिकृष्टबुष्टचेष्टैः ।

आत्मानं नाशयिष्या अन्योपि च नाशितो लोकः ॥ १८९ ॥

अर्थ— जितने कुगुरु हैं वे सब व्रतों से भ्रष्ट हैं अत्यंत क्रूर परिणामों को धारण करनेवाले हैं अत्यंत निष्ठुर हैं निकृष्ट हैं, और दुष्ट चेष्टाओं का करने वाले हैं । इसलिये ऐसे कुगुरु अपने आत्मा का भी नाश करते हैं और अन्य अनेक जीवों का भी नाश करते हैं ।

इय अज्ञातो पुरिसा कुच्छिद्यगुरुकहियमग्यसंलग्ना ।

पावन्ति जरय तिरयं नाणा दुहसंकटं भीमं ॥ १९० ॥

इति अज्ञानिनः पुरुषाः कुत्सितगुरुकथितमार्गसंलग्नाः ।

प्राप्नु वन्ति नरकं तिर्यचं नाना दुःखसंकटं भीमम् ॥ १९० ॥

अर्थ— इस प्रकार जो पुरुष निकृष्ट कुगुरुओं के द्वारा कहे हुए मिथ्या मार्ग में लगे रहते हैं वे पुरुष नरक वा तीर्यच योनि में पड़कर अन्वन्त भयानक ऐसे अनेक प्रकार के महा दुःख भोगा करते हैं ।

एवं पाऊण फुडं सेविञ्जइ उत्तमो गुरु कोई ।

वहिरंतरगंथचुओ तिरियणवन्तो मुणाणी य ॥ १९१ ॥

एवं ज्ञात्वा स्फुटं सेव्यतां उत्तमो गुरुः कश्चित् ।

वाह्याभ्यन्तद्वयव्युतः तरणवान् मुजानी च ॥ १९१ ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कुगुरुओं के कहे अनुसार महा दुःख भोगने पड़ते हैं । ऐसा समझ कर ऐसे उत्तम गुरु की सेवा करनी चाहिये जो बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित हों स्वयं तरनेवाला और भव्य जीवों को तारनेवाला हो, और सम्यग्ज्ञान को धारण करनेवाला हो ।

जइ जाय लिंगधारी विसयविरत्तो य निहयसकसाओ ।

पालयविठवन्धओ सो पावइ उत्तमं सोवखं ॥ १९२ ॥

यथाजात लिंगधारी विषयविरक्तश्च निहतस्वकषायः ।

पालितदूढवह्नाव्रतः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥ १९२ ॥

अर्थ— जो गुरु जात लिंगधारी हो अर्थात् जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार समस्त परिग्रहों से रहित नग्न अवस्था को धारण करनेवाला हो, इन्द्रियों के समस्त विषयों से विरक्त हो, जिसने अपनी समस्त कषायें नष्ट कर दी हों और जो ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण रीति से दृढता के साथ पालन करता हो, ऐसे परमगुरु की सेवा करने से ही यह जीव निराकुल सुख की प्राप्ति कर सकता है ।

ते कहिय धम्म लगा पुरिसा डहिऊण सकयपावाइ ।

पावन्ति मोक्खं सोक्ख केई बिलसन्ति सग्गेसु ॥ १९३ ॥

तेन कथितधर्मे लग्नाः पुरुषा वग्ध्वा स्वकृतपपानि ।

प्राप्नुवन्ति मोक्षसौख्यं केचिद् बिलसन्ति स्वर्गेषु ॥ १९३ ॥

अर्थ— जो पुरुष ऐसे निर्ग्रन्थ परम गुरु के कहे हुए धर्म का सेवन करते हैं वे पुरुष अपने समस्त पापों को नाश कर मोक्ष के अनंत सुख प्राप्त करते हैं तथा उनमें से कितने पुरुष स्वर्ग के सुख भोगते हैं ।

एवं मिच्छादिद्वि द्वाणं कहिय मया सभासेन ।

एतो उड्ढं वोच्छ त्रिदिशं पुग साम्भं णाम् ॥ १९४ ॥

एवं मिथ्यादृष्टिस्थानं कथितं मया समासेन ।

इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये द्वितीय पुनः सासादनं नाम ॥ १९४ ॥

अर्थ— इस प्रकार अत्यंत सत्त्व से मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप कहा । अब आगे दूसरे सासादन नाम के गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं ।

इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप वा मिथ्यात्व गुणस्थान में होनेवाले परिणामों का स्वरूप कहा ।

अब आगे सासादन गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं ।

एयवरस्स उदयं अणंतवधिस्स संपरायस्स ।

समयाइ छविलित्ति य एसो कालो समुद्दिट्ठो ॥ १९५ ॥

एकतरस्योदयेऽनन्तानुबन्धिनः साम्परायस्य ।

समयादि पडावलान्ति च एषः कालः समुद्दिष्टः ॥ १९५ ॥

अर्थ— किसी भव्य जीव के काल लक्ष्मि के निमित्त से प्रथम उप-शम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । उस उपशम सम्यक्त्व का काल अंतर्मूर्त है । जब उस अंतर्मूर्त काल के समाप्त होनेमें कम से कम एक समय और अधिक से अधिक कुछ आवली शेष रह जाती है तब अनन्ता नुबन्धी क्रोध मान माया लोभ में से किसी एक प्रकृति का उदय हो जाता है । उस प्रकृति के उदय होने से सम्यग्दर्शन छूट जाता है परन्तु मिथ्यात्व प्रकृति का उपशम होने से मिथ्यात्व गुणस्थान नहीं होता ।

उपशम सम्यक्त्व की स्थिति में जितना काल शेष रहा है उसके समाप्त होने पर मिथ्यात्व का उदय होता है और उस समय वह मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँच जाता है। सम्यग्दर्शन के छूट जाने के अनंतर से लेकर जबतक मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त होता है तब तक का इस सासादन गुणस्थान का काल है और यह काल केवल एक समय है और अधिक में अधिक कुछ आवली है।

एयम्मिगुणदृष्टाणे कालो णत्थित्ति तित्तिओ जम्हा ।

तम्हा चित्थाणे ण हि संखेओ तेण सो उत्तो ॥ १९६ ॥

एतस्मिन् गुणस्थाने कालो नास्ति तावन्मात्रः यस्मात् ।

तस्माद्विस्तारो नहि संक्षेपेण तेन स उक्तः ॥ १९६ ॥

अर्थ— इस दूसरे सासादन गुणस्थान का कुछ समय वा काल नहीं है। ऊपर जितना बतलाया है केवल उतना ही काल है इसीलिये इस गुणस्थान का स्वरूप विस्तार से नहीं कहा है अत्यंत संक्षेप से ही उसका स्वरूप कहा है।

परिणामिय भावगतं विविगं सासायणं गुणदृष्टाणं ।

सम्मत्त सिहर पडियं अपत्त मिच्छत भूमितलं ॥ १९७ ॥

पारिणामिक भावगतं द्वितीयं सासादनं गुणस्थानम् ।

सम्यक्त्व शिखरपतितं अप्राप्तमिथ्यात्वभूमितलम् ॥ १९७ ॥

अर्थ— जिस प्रकार कोई पुरुष किसी पर्वत से गिरता है और जब तक पृथ्वीपर नहीं आजाता तबतक वह न तो पर्वतपर माना जाता है और न पृथ्वी पर किंतु मध्य में माना जाता है। इसी प्रकार जिस जीवके उपशम सम्यग्दर्शन छूट गया है और मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त नहीं हुआ है तब तक उसके सासादन गुणस्थान कहलाता है। इस दूसरे गुणस्थान में पारिणामिक भाव माने जाते हैं।

भावार्थ— यद्यपि इस गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति का उपशम है और अनन्तानुबंधी की किसी एक प्रकृति का उदय है इसलिये इसमें क्षायोपशमिक भाव भी कहे जा सकते हैं तथापि इसकी मुख्यता न रखते

हुए पारिणामिक भाव बतलाये है। यह सासादन गुणस्थान न तो अ-पर्याप्तक नारकी जीवों के होता है और न समस्त लब्धपर्याप्तक ज वों के होता है। सासादन गुणस्थान वाला न तो आहारक प्रकृति का बंध करता है, न आहारक मिश्र प्रकृति का बंध करता है और न तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है इसलिये वह ऊपर लिखी प्रकृतियों का बंध नहीं कर सकता। सासादन गुणस्थान वाले जीवके एक बार सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुका है इसलिये वह भव्य अवश्य है और समस्त के प्रगट होने से होने ही काल में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। देखो सम्यग्दर्शन का माहात्म्य केसा है जो थोड़े ही काल के लिये उत्पन्न होकर भी थोड़े ही समय में मोक्ष पहुंचा देता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन के प्रगट होने का भावना भव्य जीवों को हर समय करते रहना चाहिये।

इस प्रकार दूसरे सासादन गुणस्थान का स्वरूप कहा।

अब आगे तीसरे मिश्र गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं।

सम्ममिच्छुदणं य सम्मिस्सं णाम होइ गुणठाणं ।

खयउवसमभावगयं अंतरजाई समुद्दिट्ठं ॥ १९८ ॥

सम्यक्त्व मिथ्यात्वोदयेन च संमिश्रं नाम भवति गुणस्थानम् ।

क्षयोपशम भावगतं अन्तर्जाति समुद्दिष्टं ॥ १९८ ॥

अर्थ— दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं— मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। इनमें से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिश्रगुण स्थान होता है। इसमें क्षयोपशमिक भाव होते हैं। तथा वे परिणाम सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों से संमिलित रूप होते हैं।

भावार्थ— इस गुणस्थान में रहने वाले जीवों के भाव न तो सम्यक्त्व रूप होते हैं न मिथ्यात्व रूप होते हैं किंतु इन दोनों से मिले हुए और इस दोनों से भिन्न तीसरे ही प्रकार के परिणाम होते हैं।

आगे इसी बात को उदाहरण देकर बतलाते हैं।

बड्धाए उप्पण्णी खेरण जइ हवइ इत्थ वेसरओ ।

सह तं सम्मिस्स गुणं अगहिय मिह सयल संजमणं ॥ १९९ ॥

बद्धवायां उत्पन्नः खरेण यथा भवति अत्र वेसरः ।

तथा च सन्निधगुणः अगृहीतगृहिसकल संयमः ॥ १९९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार खरखर जाति का गधा घोड़ी से उत्पन्न होता है परंतु गर्ध से होता है घोडा से नहीं होता । घोड़ी गधा दोनों से उत्पन्न होने वाला एक तीसरी जाति का जीव है । इसी प्रकार इस तीसरे मिश्रगुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों से मिले हुए एक तीसरी जाति के परिणाम होते हैं । इस तीसरे गुणस्थान में रहने वाले जीव न तो गृहस्थों का एक देश संयम धारण कर सकते हैं और न सकल संयम धारण कर सकते हैं ।

तत्थ ण बंधइ आउं कुणइ ण कालो हु तेण भावेण ।

सम्मं वा मिच्छं वा पडिधज्जिय मरइ जियमेण ॥ २०० ॥

तत्र न बध्नाति आयुः करोति न कालो हि तेन भावेन ।

सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य भ्रियते नियमेन ॥ २०० ॥

अर्थ— इस तीसरे गुणस्थान में रहने वाला जीव न तो आयु का बंध कर सकता है और न मर सकता है । तीसरे गुणस्थान के भावों से ये दोनों बातें नहीं कर सकता । वह जीव या तो सम्यग्दर्शन धारण कर मर सकता है अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान में जाकर मर सकता है ।

आगे इस गुणस्थान में कैसे परिणाम होते हैं सो दिखलाते हैं—

अट्टरउद्दं धायइ देवा सन्वे वि हुंति णमणीया ।

धम्मासन्वे पवरा गुणाणं किं पि ण विणिए इ ॥ २०१ ॥

आर्तरीद्रं ध्यायति देवाः सर्वेपि भवन्ति नमनीयाः ।

धर्माः सर्वे प्रवरा गुणगुणौ किमपि न विजनाति ॥ २०१ ॥

अर्थ— इस तीसरे गुणस्थान में रहनेवाले जीव के आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है अर्थात् वह इन्हीं दोनों का चिंतन करता रहता है । इसके सिवाय वह समझता है कि संसार में जितने देव हैं वे सब नमस्कार करने योग्य हैं और जितने धर्म हैं वे सब उत्तम हैं । इस प्रकार समझता हुआ वह जीव गुण वा अशुभगुण किसी को नहीं जानता, इस देव

में अवगुण है इसमें गुण है इस बात को वह नहीं समझता वह सब का समान समझता है ।

आगे उसके भाव और कैसे होने हैं सां दिखलाते हैं :

अत्थि जिनायमि कहियं वेए कहियं च हरिपुराणे य ।  
सइयागमेण कहित तच्चं कविलेण कहियं च ॥ २०२ ॥

अस्ति जिनागमे कथितं वेदे कथितं च हरिपुराणो वा ।  
शैवागमेन कथितं तत्त्वं कपिलेन कथितं च ॥ २०२ ॥

बंभो करेइ तिजयं किण्हो पालेइ उपरि लुहिऊण ।  
रुद्धो संहरेइ पुणो पलयं काऊण णिस्सेसं ॥ २०३ ॥

ब्रह्मा करोति त्रिजगत् कृष्णाः पालयति उपरि स्मृष्ट्वा ।  
रुद्रः संहरति पुनः प्रलयं कृत्वा निः शेषम् ॥ २०३ ॥

अर्थ— वह तीसरे गुणस्थान वाला जीव जिनेन्द्रदेव में भी कहा है शंखों के आगम में भी कहा है और कपिल ने भी कहा है । इन सबके कहे हुए तत्त्व ठीक है, ऐसा समझकर वह सबको मानता है । इसके सिवाय वह समझता है कि ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करता है, कृष्ण ऊपर से ही स्वर्गकर उन तीनों लोकों का पालन करता है और महादेव उन समस्त तीनों लोकों का प्रलय कर सब वा संहार वा नाश कर देता है । इसके सिवाय वह चंडी मुंडी महालक्ष्मी आदि सब देव देवि योंकी पूजा करता है, पितरों को तृप्त करने के लिये श्राद्ध करता है, अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये अन्य प्रकार के ढोंग करता है । ऐसे ऐसे अनेक प्रकार के भाव इस तीसरे गुणस्थान में होते हैं ।

आगे ब्रह्मा विष्णु महेश के इन कार्यों का सिराकरण करते हैं ।

अइ बंभो कुणइ जयं तो कि सगिंदरज्ज कऊजेण ।  
चइऊण बंभ लोयं उभगतवं तवइणरलोए ॥ २०४ ॥

यदि ब्रह्मा करोति जगत्सर्हि किं स्वर्गोन्नराज्यकार्येण ।  
च्युत्वा ब्रह्मलोकं उपतपः तप्ते नरलोके ॥ २०४ ॥

अर्थ— यदि ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करता है तो फिर वह स्वर्ग के इन्द्रका राज्य लेने के लिये ब्रह्मा लोक को छोड़कर और मनुष्य लोक में आकर घोर तपश्चरण क्यों करता है ?

भावार्थ— जब वह तीनों लोकों को उत्पन्न कर सकता है तो वह दूसरा स्वर्ग भी बना सकता है और उसका राज्य स्वयं कर सकता है तो फिर उसे स्वर्ग के राज्य के लिये तपश्चरण करने की क्या आवश्यकता थी ?

आगे और भी कहते हैं।

जरउद्देसेय अंडय सव्वे एयाइ भूयगामाइ ।  
 णारय णर तिरिय सुरा णिवंदिय वणिमुद्दपहुईया ॥ २०५ ॥  
 जरायुजोद्धित्स्वेदाण्डजान् सर्वान् एतान् भूतश्रामान् ।  
 नारकनरतिर्यक् सुरान् वंदिनः वाणिक्शूद्रप्रभृतीन् ॥ २०५ ॥  
 चंडाल डूब घविरा वरुडा कल्लालछिप्पिया चैव ।  
 हय गय गोमहिसि खरा वग्घ किडो सीह हरिणाइ ॥ २०६ ॥  
 चाण्डालडोम्ब धीवर वरुट कलवारछिपकाइचैव ।  
 हयगजगोमहिणीखरान् व्याघ्रकीटिसिह हरिणान् ॥ २०६ ॥  
 णाणा कुलाइ जाई णाणा जोणी य आउ विहवाइ ।  
 णाणा देह गवाइ वण्णा रुवाइ विविहाइ ॥ २०७ ॥  
 नाना कुलानी जाती; नाना योनीश्च आयुर्विभवयोनि ।  
 नाना वेहगतान् वर्णान् रूपाणि विविधानि ॥ २०७ ॥  
 गिरि सरि सायर बीयो गामा रामाइ धरणि आयासं ।  
 जो कुणइ खणद्धेणं चित्तिमिस्सेण सव्वाइ ॥ २०८ ॥  
 गिरिसरित्सागरद्वीपान् ग्रामारामान् धरणीमाकाशम् ।  
 यः करोति क्षणाघेन चिन्तितमाश्रेणसर्वान् ॥ २०८ ॥  
 किं सो रज्यणिमित्तं तवसा तावेइ णिच्च णियदेहं ।  
 तिहुवण करण समत्थो किं ण कुणइ अप्पणो रज्जं ॥ २०९ ॥  
 किं साः ज्यनिमित्तं तपसा तापयति नित्यं निजवेहम् ।  
 भिभुवनकरणसमर्थः किं न करोति आत्मनो राज्यम् ॥ २०९ ॥



अर्थ— मनुष्य पशु के शरीर पर जो मांस की जाली आती है उसको जरायु कहते हैं, ऐसी जरायुसहित जो उत्पन्न होते हैं उनको जरायुज कहते हैं । पृथ्वीपर जो घास आदि उत्पन्न होते हैं उनको उद्भिज्ज कहते हैं अंडों से उत्पन्न होने वाले अंडज कहलाते हैं जो ब्रह्मा इन सब जीवों को उत्पन्न करता है, नारकी मनुष्य पशुपक्षी देव ब्राह्मण शत्रिय वैश्य शूद्रों को उत्पन्न करता है, चांडाल, डोंब, श्रीवर, धोकी, कलार, छोपी, हाथी, घोडा, गाय, भैंस, गधा, व्याघ्र, मुअर, सिंह, हरिण आदि समस्त जीवों को उत्पन्न करता है, अनेक कुलों को उत्पन्न करता है, अनेक जातियों को उत्पन्न करता है, अनेक योनियों को उत्पन्न करता है, समस्त जीवों को आयु वैभव आदि उत्पन्न करता है, अनेक प्रकार के रूप उत्पन्न करता है, पर्वत नदी सागर द्वीप गांव नगर वाग वगीचा पृथ्वी आकाश आदि समस्त पदार्थों को समस्त जीवों को चितवन करने मात्र ही आधे क्षण में ही सबको उत्पन्न कर लेता है ऐसा वह ब्रह्मा केवल स्वर्ग का राज्य लेने के लिये घोर तपश्चरण क्यों करता है ? व्यर्थ ही अपने शरीर को क्यों संतप्त करता है ? वह तो तीनों लोकों के उत्पन्न करने में समर्थ है फिर भला वह अपने लिये राज्य उत्पन्न क्यों नहीं करलेता है । जिस प्रकार उसने तीनों लोक उत्पन्न किया है उसी प्रकार उसको एक स्वर्ग और उत्पन्न कर लेना चाहिये और स्वयं उसका राज्य करना चाहिये । उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हुए भी दूसरे राज्य को छीनने के लिये तपश्चरण करना कितने आश्चर्य और विडम्बना की बात है । इससे सिद्ध होता है कि यह जगत् ब्रह्मा वा अन्य किसी का का बनाया हुआ नहीं है किंतु स्वयं सिद्ध अनादि काल से चला आ रहा है । इसका कर्ता कोई नहीं है ।

आगे और भी कहते हैं ।

अच्छरतिलोत्तमाए णट्टं वट्टूण रायरस रसिओ ।

तवभट्टो चउवयणो जाओ सो मयणवस चित्तो ॥ २१० ॥

अप्सरस्तिलोत्तमाया नृत्यं दृष्ट्वा रागरसरसिकः ।

तपोभ्रष्टः क्षतुर्वदनः जातः स मदमवशचित्तः ॥ २१० ॥

अर्थ— जब वह ब्रह्मा स्वर्गका राज्य लेने के लिये घोर तपश्चरण कर रहा था तब इन्द्र को भी अपने राज्य की चिंता हुई और उसका तपश्चरण भ्रष्ट करने के लिये तिलोत्तमा नाम की अप्सरा भेजी । वह तिलोत्तमा उस ब्रह्मा के सामने आकर नृत्य करने लगी : जिसका मन कामसेवन के लिये आसक्त हो रहा है और राग के रससे रसिक हो है ऐसा वह ब्रह्मा उस नृत्य को देखता देखता अपने तपश्चरण से भ्रष्ट हो गया और नृत्य देखने के लिये उसने अपने चार मुख बना लिये ।  
 भावार्थ— वह अप्सरा बहुत देर तक तो ब्रह्मा के सामने नृत्य करती रही । और ब्रह्मा उसे देखता रहा । ब्रह्मा को आसक्त देखकर वह तिलोत्तमा उसके वगल में नृत्य करने लगी । तब उस नृत्य को देखने के लिये वगल में भी एक मुख बना लिया । जब वह तिलोत्तमा पीछे पीछे नृत्य करने लगी । तब ब्रह्माने उधर भी एक मुख बना लिया । जब वह दूसरे वगल में नृत्य करने लगी तब उधर भी चौथा मुख बना लिया । इस प्रकार ब्रह्मा ने चार मुख बनाये । परन्तु जब वह तिलोत्तमा ऊपर आकाश में नृत्य करने लगी तब ब्रह्मा ने ऊपर भी एक मुख बना लिया ।

लंडिय णियवड्डत्तं पटुत्तणं देव वत्तणं तवोच्चरियं ।

कामाउथो अलज्जो लग्गो मग्गेण सो तिस्स ॥ २११ ॥

त्यक्त्वा निज वृद्धत्वं प्रभुत्वं देवत्वं तपश्चर्यम् ।

कामातुरः अलज्जः लग्नः मार्गेण स तस्याः ॥ २११ ॥

अर्थ— इस प्रकार उस ब्रह्माने अपना वडप्पन छोड़ दिया, अपना प्रभुत्व छोड़ दिया, अपना देवपना छोड़ दिया और अपना तपश्चरण छोड़ दिया, कामासक्त होकर जिस मार्ग से वह तिलोत्तमा चलने लगी उसी मार्ग से उसके पीछे पीछे चलने लगा ।

हसिओ सुरेहिं कुद्धो खरसीसो भक्खित्तं पडत्तो सो ।

संकरकरकण्डियसिरो विरहपलित्तो णियत्तो य ॥ २१२ ॥

हसितः सुरैः क्रुद्धः खरशीर्षं भक्षितुं प्रवृत्तः सः ।

शकरकरकण्डितशिरः विरहोपलिप्तो निवृत्तश्च ॥ २१२ ॥

अर्थ— ब्रह्मा की इस कामामक्ति को देखकर देवलोग सब हसने लगे तब ब्रह्माने क्रोधित होकर अपने गधे वाले मुख से उन देवों को भक्षण करनेका उद्यम किया । यह देखकर देव लोग सब महादेव की शरण में गये तब महादेव ने अपने हाथ से उस ब्रम्हा का ऊपर का गधेका मस्तक काट डाला । इस प्रकार जब उस ब्रम्हाका ऊपर का मस्तक कट गया तब वह ब्रम्हा उस तिलोत्तमा के विरह से संतप्त होकर पीछे लौट आया ।

पविसेवि शिञ्जणावणं पिच्छिरिच्छी विरहगओ तत्थ ।  
सेवइ कामासत्तो तिलोत्तमा जित्ति धरिऊणं ॥ २१३ ॥

प्रविश्य निर्जनवनं दृष्ट्वा ऋक्षीं विरहगतः तत्र ।  
सेवते कामासक्तः तिलोत्तमां चेतसि धृत्वा ॥ २१३ ॥

अर्थ— तदनंतर वह ब्रम्हा तिलोत्तमा के विरह से संतप्त होकर एक निर्जन वनमें चला गया । यहां पर उसने एक रीछिनी देखी । और उस रीछिनी को अपने मनमें तिलोत्तमा मानकर कामदेव के वशीभूत होकर उस रीछिनी के साथ संभोग करने लगा ।

तस्मुप्यणो पुत्तो जंबउ णामेण लोय विक्खाओ ।  
रिच्छापई जाओ भित्तो सो रामदेवस्त ॥ २१४ ॥  
तस्योत्पन्नः पुत्रः जम्बूः नाम्नः लोक विष्णतः ।  
ऋक्षाणां पतिः जातः भूत्यः स रामदेवस्य ॥ २१४ ॥

अर्थ— जब ब्रम्हाने उस रीछिनी के साथ संभोग किया तब उस रीछिनी से एक पुत्र हुआ उसका नाम जंबू था । जो जंबू के नाम से संसार में प्रसिद्ध है । वह जंबू समस्त रीछों का अधिपति था और रामचंद्रका सेवक था ।

जो कुणइ जयमसेसं सो किं एक्का वि तारिसो महिला ।  
सक्कइ ण विरइऊणं सेवइ णिग्धिणो रिच्छी ॥ २१५ ॥  
यः करोति जगदशेषं स किं एका मपितादुशी महिलाम् ।  
शक्नोति न विरक्षयितुं किं सेवते निर्धुणा ऋक्षीम् ॥ २१५ ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि देवी जो ब्रम्हा ममस्त जगत को उत्पन्न कर सकता है वह क्या एक तिलोत्तमा ऐसी स्त्री नहीं बना सकता था । फिर क्यों उसने अत्यंत चृणित रीछिनी का सेवन किया ?

जो तिलोत्तम जो तिलोत्तम णियवि णरुचंति,  
 धम्मह सरजरजरिउ चत्तणियमु चउवयणु जायउ ।  
 बणि णिवसइ परिभट्टतउ रमइ रिच्छि सुरयाण रायउ ॥  
 सो बिरंजि कह संभवइ नयलोयउ कत्ताह ।  
 जो अप्पाण उत्तरइ फेडउ विरह विघारु ॥ २१६ ॥  
 यः तिलोत्तमां या तिलोत्तमां दृष्ट्वा नृत्यन्तोम् ।  
 ब्रम्हा स्मर जर्जरितः त्यक्त नियमः चतुर्वदनः जातः  
 बने निवसति परिभ्रष्टतयाः रमते ऋक्षीं सुराणां राजा ।  
 स विरंजिः कथं संभवाति त्रिलोकस्य कर्ता ।  
 यः आत्मानं न हि तारयति स्फोटयति विरहविकारम् । २१६ ।

अर्थ— जो ब्रह्मा नृत्य करती हुई तिलोत्तमा को देखकर कामदेव के वशीभूत होकर जर्जरित होगया था । उसने अपने सब नियम व तपश्चरणों को त्याग कर दिया था और उस तिलोत्तमा में आसक्त होकर अपने चार मुख बना लिये थे अपने तपश्चरण से भ्रष्ट होकर तथा वनमें जाकर रीछिनी से संयोग करने लगा था वह ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाला कैसे कहा जा सकता है : जो ब्रह्मा अपने आत्मा का भी उद्धार नहीं कर सकता और इस प्रकार विरह अवस्था को प्रगट करता है यह ब्रम्हा कभी देव नहीं हो सकता ।

आगे और भी दिखलाते हैं ।

णत्थि धरा आपासं पवणाणल तोय जोय ससि सुरा ।  
 जइ तो कत्थ ठिदेणं वंभो रइयं तिलो ओत्ति ॥ २१७ ॥  
 न सन्ति धरा आकाशं पवनानल तोय ज्योतिः शशिसूर्याः ।  
 यदि तर्हि कुत्र स्थितेन ब्रम्हणा रचितः त्रिलोक इति । २१७ ।

अर्थ— यदि ब्रम्हाने इन तीनों को बनाया तो उसके पहले न पृथ्वी

थी, न आकाश था, न वायु थी, अग्नि थी, न जल था, न प्रकाश था न चंद्रमा था न सूर्य था तो फिर यह भी तो बतलाना चाहिये कि उस ब्रम्हा ने कहाँ बैठकर यह तीनों लोक बनाये ।

कर्त्तृत्वं पुन दुर्विहं बत्थुअ कर्त्तृत्त तह य विक्किरियं ।

घडपड गिहाइं पढमं विक्किरियं देवया रहयं ॥ २१८ ॥

कर्तृत्वं पुनः द्विविध वस्तुनः कर्तृत्वं तथाच वैक्रियिकम् ।

घट पट गृहादि प्रथमं वैक्रियिकं देवता रचितम् ॥ २१८ ॥

अर्थ— कर्तापिन दो प्रकार है एक तो यथार्थ कर्तापिन और दूसरा वैक्रियिक । घट पट घर को बनाना यथार्थ कर्तापिन है और जो देवों के द्वारा बनाया जाता है वह वैक्रियिक कहलाता है ।

जइ तो बत्थुभूओ रइओ लोओ विरंचिणा तिविहो ।

तो तस्स कारणाइं कत्थुव लद्धाइं दब्बाइं ॥ २१९ ॥

यदि स वस्तुभूतो रचितो लोको विरंचिणा त्रिविधः ।

तर्हि सस्य कारणानि कुत्र लब्धानि द्रव्याणि ॥ २१९ ॥

अर्थ— यदि उस ब्रम्हा ने यथार्थ रूप से तीनों लोकों को बनाया है तो यह बताना चाहिये कि ब्रम्हा ने तीनों लोकों को बनाने के कारण भूत द्रव्य कहाँ से प्राप्त किये । भावार्थ— जिस प्रकार घर बनाने के लिये ईंट, चूना, राज आदि कारण सामग्री की आवश्यकता होती है, तब घर बन सकता है उसी प्रकार तीनों लोक बनाने के लिये सब सामग्री कहाँ थी । क्योंकि बिना सामग्री के तो लोक बन ही नहीं सकता था ।

जइ विक्किरिओ रइओ विज्जाथामेण तेणवभेण ।

कइ थाइ दीहकालं अवत्थुभूओ अणिज्जेत्ति ॥ २२० ॥

अथ विक्किया रचितो विद्यास्थाम्ना तेन ब्रम्हणा ।

कथं तिष्ठति बोधकालं अवस्तुभूतोऽनित्य इति ॥ २२० ॥

अर्थ— यदि उस ब्रम्हा ने अपनी विद्या से वैक्रियिक रूप तीनों

लोक बनाया है तो वह तीनों लोक अधिक काल तक नहीं ठहर सकता । क्योंकि जो पदार्थ विक्रिया से बने हुए होते हैं वे जल्दसे गूट होते हैं और अनित्य होते हैं इसलिये वे अधिक काल तक कभी नहीं ठहर सकते ।

तस्मात् न होइ कतवंभो सिरच्छेद विनडनं पत्नी ।

छलिओ तिलोत्तमाए सामण्वरि सुब्ब असमत्थो ॥ २२१ ॥

तस्मान्न भवति कर्ता ब्रह्मा शिरश्छेदविनटनं प्राप्तः ।

छलितस्तिलोत्तमया सामान्य पुरुष इवा समर्थः २२१ ॥

अर्थ— इसलिये कहना चाहिये कि इस लोक का कर्ता ब्रह्मा कभी नहीं हो सकता । भला विचार करने की बात है कि जिसका मस्तक छेदा गया जिसको तिलोत्तमा ने ठग लिया ऐसा वह ब्रह्मा सामान्य पुरुष के समान तीनों लोकों के बनाने में असमर्थ है । जिस प्रकार सामान्य पुरुष बिना सामग्री आदि के कोई कार्य नहीं कर सकता ।

जो पर महिला कज्जे छंडइ बहुत्तणं तओ नियमं ॥

सण हवइ परमप्पा कह देखो हवइ पुज्जो य ॥ २२२ ॥

यः पर महिला कार्येण यजति बृहत्त्वं तपो नियमम् ।

स न भवति परमात्मा कथं देखो भवति पूज्यइव ॥ २२२ ॥

अर्थ— विचार करने की बात है कि जिस ने एक पर स्त्री के लिये अपना वडप्पन छोड़ दिया, अपना तपश्चरण छोड़ दिया, और अपने सब नियम छोड़ दिये वह परमात्मा कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता तथा जब वह परमात्मा ही नहीं हो सकता है तब वह पूज्य देव भी किस प्रकार हो सकता है, अर्थात् कभी नहीं हो सकता ।

सुपरिस्सिद्धण तस्मा सुगवेसह को वि परम वंभाणो ।

वह अट्टदोस रहिओ वीथराओ परणाणि ॥ २२३ ॥

सुपरीक्ष्य तस्मात् सुगवेषय कमपि परम ब्रह्माणम् ।

ब्रह्माष्टदोष रहितं वीतरागं परं ज्ञानिन् ॥ २२३ ॥

अर्थ— इसलिये अच्छी तरह परीक्षा कर किसी ऐसे परमब्रह्म ब्रम्हा को ढूढना चाहिये कि जो अठारह दोषों से रहित हो, वीतराग हो और सर्वोत्कृष्ट ज्ञानीसर्वज्ञ हो ।

भावार्थ— जो वीतराग सर्वज्ञ हो और अठारह दोषों से रहित हो वही ब्रम्हा या परमात्मा हो सकता है ।

इस प्रकार इन लोगों के माने हुए ब्रम्हा का निराकरण कर यथार्थ ब्रम्हा का स्वरूप बतलाया ।

अब आगे कृष्ण के विषयों में कहते हैं ।

किंणो जइ धरइ जयं सूवरुरखेण दाढअग्गेण ।

तासो कहि ठवइ पए कुम्मे कुम्मे वि कहिं ठाई ॥ २२४ ॥

कृष्णो यदि धारयति जगत् शूकररूपेण दंष्ट्राग्रेण ।

तर्हि स कुत्र तिष्ठति पदे कूर्मं कूर्मोपि कुत्र तिष्ठति ॥ २२४ ॥

अर्थ— यदि कृष्ण इन तीन लोकों का धारण करते हैं तथा सूअर का रूप धारण कर अपनी दाढ़ के अग्रभाग पर रखकर इस जगत् को उठाये हुए है तो फिर बताना चाहिये कि वे सूअर का रूप धारण किये हुए कृष्ण स्वयं कहां ठहरे हुए है ? यदि कहो कि वे कछवाके ऊपर ठहरे हुए हैं तो फिर यह बताना चाहिये कि वह कच्छप कहां ठहरा हुआ है ।

अहं छुहिऊण तउअरो तिजयं पालेइ महूमहो णिच्चं ।

किं सो तिजयं वहित्थो तिजयवहित्थेण किं जाओ ॥ २२५ ॥

अथ स्पर्शित्वशूकरं त्रिजगत् पालयति मधुमवः नित्यम् ।

किं स त्रिजगद्वहिस्थः त्रिजगद्वहिस्थेन किं जातम् ॥ २२५ ॥

अर्थ— यदि कृष्ण उस सूअर को छूकर सदाकाल इस तीनों लोकों का पालन करता है तो क्या वह कृष्ण तीनों लोकों से बाहर है ? अथवा क्या वह तीनों लोक तीनों लोकों के बाहर बनाया गया है ?

जइ या बहरइ पुनो रामो णिवसेइ दंडरइणम्मि ।

लंकाहि वेण छलिओ हरिया भज्जा पयंचेण ॥ २२६ ॥

यत्र च दशरथ पुत्रो रामो निवसति दण्डकारण्ये ।

लंकाधि पतिना छलितः हुता भार्या प्रपञ्चेन ॥ २२६ ॥

अर्थ— और भी देखो राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जब दंड-कारण्य ( दंडकवन ) में निवास करते थे तब लंकाके अधिपति रावण ने अपनी मायाचारी कर रामचन्द्र को ठग लिया था और उनकी स्त्री सीता को हर ले गया था ।

विरहेण रुदइ विलवइ पडेइ उठु इ गियइ सोएह ।

णउ पुणइ केन णाया पुच्छइ वणसावया मूढो ॥ २२७ ॥

विरहेण रोदिति विलपति पतति उत्तिष्ठति पश्यति स्वपिति ।

नहि मनुते तेन ज्ञातः पृच्छति वनशावकान् मूढः ॥ २२७ ॥

अर्थ— उस समय वे रामचन्द्र सीता के विरह में रोते थे, तड़फते थे, गिर पड़ते थे फिर उठते थे, चारों ओर देखते थे, सोते थे, तथा ज्ञान रहित वे रामचन्द्र वन के पशुओं के वच्चों से पूछते थे कि क्या तुमने कही सीता देखी है । इस प्रकार ईश्वर होकर भी रामचन्द्र को सीता की कुछ खबर नहीं थी ।

जइ उवरत्थं तिजयं ता सो किं तत्थ वाणरा रिच्छा ।

मेलाधिअण उवहि यंधहि सेलेहिं सेउत्ति ॥ २२८ ॥

यदि उपरि स्थितः त्रिजगतः तर्हि किं तत्र वानरान् आक्षान् ।

मेलापयित्वा उदधे वध्नाति शैलैः सेतुमिति ॥ २२८ ॥

अर्थ— यदि वे विष्णू या रामचन्द्र तीनों जगत के ऊपर विराजमान हैं सब के ईश्वर हैं तो फिर उन्होंने रीछ और वंदरों को इकट्ठा कर पत्थरों से समुद्रका पुल क्यों बनवाया था ?

किं पटुवेइ दूवं जंपइ किं सामभेयदंडाई ।

अलहंतो किं जुज्जइ कोवं काऊण सत्थेहिं ॥ २२९ ॥

किं प्रस्थापयति दूतं जल्पति किं सामभेयवज्जानि ।

अलभमानः किं युद्धति कोपं कृत्वा शस्त्रं ॥ २२९ ॥



अर्थ— इसके सिवाय उसने रावण के पास दूत क्यों भेजा ? साम दाम दंड भेद के अनुसार बातचीत क्यों की तथा इस प्रकार भी जय सीता नहीं मिली तो फिर क्रोध कर शस्त्रों के द्वारा रावण से क्यों लड़ें ।

कि दहवयणो सीया गहिऊण उवर वहिरे थवको ।

जं हेलाइं ण तरइ रिउ हणिउं आणिउ भज्जा ॥ २३० ॥

किं दशवदनः सीतां गृहीत्वा उपरि वहिः स्थितः ।

तत् त्रेलया न शक्नोति रिपुं हत्वा आनेतुं भार्याम् ॥ २३० ॥

अर्थ— क्या सीता को लेकर रावण कहीं तीनों लोकों के बाहर जाकर रहता था जो ईश्वर और तीनों लोकों के पालन करने वाले होकर भी सहज रीति से रावण को न मार सका और अपनी स्त्री सीता को न ला सका ।

जइ तिजयपालणत्थे संजाया तस्स एरिसो सत्तो ।

तो किं तिजयं बड्ढं हरेण सं पिच्छमाणस्स ॥ २३१ ॥

यदि त्रिजगत्पालनार्थे संजाता तस्यैतादृशो शक्तिः ।

तहि किं जगद्गन्धं हरेण संप्रेक्षमाणस्य ॥ २३१ ॥

अर्थ— यदि विष्णु भगवान् में तीनों लोकों को पालन करने की शक्ति है तो फिर उनके देखते देखते ही महादेव ने तीनों लोकों को क्यों जला डाला ?

जो ण जाणइ जो ण जाणइ हरिय णियभज्ज ।

पुच्छइ वणसगवयइं अहं मुणेइ आणउं ण सक्कइ ।

बंधेइ सायक गिरिहिं पेसिऊण तहि पवरभिच्चइं

तासु उवीर नारायणहो किम् तिहुवणु णिवसेइं ।

जो बारवइ विणासियहो रक्खहु णा हि तरैइ ॥ २३२ ॥

यो न जानाति यो न जानाति हर्तारं निजभार्यायाः ।

पक्ष्यतिवनशावकान् अथ जानाति आनेतुं न शक्नोति ।

बध्नाति सागरं गिरिभिः प्रेषयित्वा तत्र प्रवर भूत्यान् ।

तस्योपरि नारायणस्य किं त्रिमुधनं निवसति ।

यो रिपुं विनाश्य रक्षितुं नहि शक्नोति ॥ २३२ ॥

अर्थ— जो रामचन्द्र ईश्वर होकर भी अपनी स्त्री को हरण करने वाले का भी नहीं जानते और वन में रहने वाले पशुओं के वच्चों से पूछते हैं तदनंतर यदि वे जान भी लेते हैं तो भी वे अपनी स्त्री को ला नहीं सकते । तथा पत्थरों से समुद्र का पुल बनवाते हैं और अनेक सेवकों को भजते हैं । क्या ऐसे नारायण के ऊपर ही यह तीनों लोक ठहरा हुआ है जो अपने शत्रु को भी नहीं मार सकते और अपनी स्त्री की रक्षा नहीं कर सकते । नारायण भला तीनों लोकों की रक्षा कैसे कर सकते हैं । अर्थात् कभी नहीं कर सकते ।

जो देओ होऊण माणुस मत्तेहि पंडुपुत्तेहि ।

सारइ बोलाइसो जुज्जे जेउं कओतेहि ॥ २३३ ॥

यो देवी भूत्वा मनुष्यमात्रः पाण्डुपुत्रः ।

सारथिं कथयित्वा कथयित्वा युद्धे जेतुं कथितः तैः ॥ २३३ ॥

अर्थ— जो नारायण ईश्वर होकर भी साधारण मनुष्य पांडवों के सारथी बने और इस प्रकार उन्होंने युद्ध में पांडवों को जिताया ।

तम्हा ण होइ कता किण्हो लोयस्स तविह भेयस्स ।

मरिऊण वार वारं दहाययारेहि अबयरइ ॥ २३४ ॥

तस्मात् भवति कर्ता कृष्णो लोकस्य त्रिविधभेदस्य ।

मृत्वा पुनः पुनः दशावतारैः अवतरति ॥ २३४ ॥

अर्थ— इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि कृष्ण न तो तीनों लोकों के कर्ता है न उसके पालन करने वाले है । वे तो बार बार मरकर अवतार धारण किया करते हैं तथा अनुक्रमसे दश अवतार धारण करते हैं ।

एवं मणंति केई असरीरो णिकलो हरीं सिद्धी ।

अवयरइ यच्चलोए देसं गिण्हेइ इच्छाए ॥ २३५ ॥

भो भो भुजंगतरुपल्लव लोलजिह्व, ।

बंधूकपुष्पदलसन्निभ लोहिताक्ष ॥

एवं भणन्ति केचित् अशरीरो निष्कलो हरिः सिद्धः ।

अवतरति मर्त्यलोके देहं गृह्णातीच्छया ॥ २३५ ॥

अर्थ— इस विषय में कोई कोई लोग यह कहते हैं कि विष्णु का कृष्ण शरीर रहित है, सब दोषों से रहित है और सिद्ध है ऐसे वे कृष्ण मनुष्य लोक में आकर अपनी इच्छानुसार शरीर को ग्रहण करते हैं ।

आगे इसी बातका निराकरण करने है ।

जइ तुष्पं णवणीयं णवणीयं पुण्वि वोइजइ बुद्धं ।

तो सिद्धिगओ जीवो पुणरवि देहाइं गिण्हेइ ॥ २३६ ॥

यदि घृतं नवनीतं पुनरपि भवेद्यदि बुध्मम् ।

तर्हि सिद्धगतो जीवः पुनरपि देहादिकं गृह्णाति ॥ २३६ ॥

अर्थ— यदि घी बदल कर फिर भी मक्खन बन जाय और मक्खन बदल कर फिर दूध बनजाय तो समझना चाहिये कि सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए जीव भी फिरसे शरीर धारण कर सकते हैं ।

भावार्थ— जब समस्त कर्मों का नाश हो जाता है तब सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है तथा कर्मों के नाश होने पर उन कर्मों से बना हुआ शरीर भी नष्ट हो जाता है । ऐसी अवस्था में सिद्ध जीव फिर कभी भी शरीर धारण नहीं कर सकते । जिस दूधका दही बन गया वा घी मक्खन बन गया या घी मक्खन वा दही फिर कभी भी दूध नहीं

पृच्छामि ते पवनभोजिन् कोमलांगो, ।

काचित्त्वया शरदचन्द्र मुखी न दृष्टा ? ॥

अर्थ— रामचंद्र वन में किसी सर्प से पूछते हैं कि हे सर्प तुम्हारी चंचल जिह्वा वृक्ष के पत्ते के समान चंचल है । तुम्हारे लाल नेत्र बंधूक के पुष्प के दल के समान बहुत ही लाल हैं तथा तुम सदाकाल वायु का ही भक्षण करते रहते हो, ऐसे हे सर्प ! क्या तुमने शरद ऋतु के चंद्रमा के समान सुंदर मुख को धारण करने वाली और अत्यन्त कोमल शरीर धारण करने वाली ऐसी कोई स्त्री देखी है ?

रद्धो करो पुनरपि खिते खितो य होइ अंकूरो ।

जइ तो मोक्षं यत्ता जीवा पुन इति संसारे ॥ २३७ ॥

रद्धः क्रूरः पुनरपि क्षेत्रे क्षिप्तश्च भवेदंकुरः ।

यदि तर्हि मोक्षं प्राप्ताः जीवाः पुनरायान्ति संसारे ॥ २३७ ॥

अर्थ— यदि रंधा हुआ धान्य खेत में बोने में अंकुर वृक्ष रूप हो जाता है तो समझना चाहिये कि मोक्ष में प्राप्त हुए जीव भी फिर संसार में जा सकते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार रंधा हुआ धान्य खेत में बो देने पर भी नहीं उगता उसी प्रकार मोक्ष में प्राप्त हुए जीव फिर कभी भी संसार में नहीं आ सकते ।

आगे और भी दिखलाते हैं ।

जइ निष्कलो महप्पा विण्हू निस्सेसकम्ममलच्चतो ।

किं कारण मप्पाणं संसारे पुणे वि पाडेइ ॥ २३८ ॥

यदि निष्कलो महात्मा विष्णुः निःशेषस्वकर्ममलच्युतः ।

किं कारणमात्मानं संसारे पुनरपि पातयति ॥ २३८ ॥

अर्थ— यदि वे विष्णु वास्तव में शरीर रहित है महात्मा है और समस्त कर्ममल कलंक से रहित है तो फिर किस कारण से अपने आत्मा को फिर से संसार में गिराते हैं वा संसार में परिध्रमन कराते हैं ।

भावार्थ— संसार में तो दुःख ही दुःख है । रामचन्द्र भी संसारी थे इसीलिये उनको सीता के वियोग का दुःख सहना पड़ा । यदि विष्णु वास्तव में सिद्ध है तो फिर कोई ऐसा कारण नहीं है कि वे दुःख भोगने के लिये फिर संसार में आवे । सिद्ध अवस्था में तो अनन्त सुख रहता है फिर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो अनन्त सुख को छोड़कर अनेक प्रकार के दुःखों से भरे हुए इस संसार में जन्म मरण धारण करता फिरे, अर्थात् कोई नहीं ।

अहवा जइ कलसहिओ लोयआवार विण्णणियचित्तो ।

तो संसारी णियमा परमप्पा हवइ ण हु विण्हू ॥ २३९ ॥

अथवा यदि कलासहितो लोकव्यापारवत्तनिजचित्तः ।

तर्हि संसारी नियमात् परमात्मा भवति न हि विष्णुः ।

अर्थ— अथवा यदि विष्णु वास्तव में शरीर सहित है और उनका चित्त लोक के व्यापार में लगा रहता है तो फिर कहना चाहिये कि वह विष्णु नियम से संसारी है वह परमात्मा कभी नहीं हो सकता ।

इम जाणिऊण णूणं णवणव दोसेहि वज्जिओ विण्हू ।

सो अक्खइ परमप्पा अणंतणाणि अराई य ॥ २४० ॥

इति ज्ञात्वा नूनं नवनवदोषं विवर्जितो विष्णुः ।

स कथ्यते परमात्मा अनन्तज्ञानी अरागी च ॥ २४० ॥

अर्थ— ये ऊपर लिखी सब बातें समझ कर कहना चाहिये कि जो विष्णु अठारह दांघ्रो से रहित है अनन्त ज्ञानी है और बीतराग है वही परमात्मा हो सकता है । इन गुणों के बिना कोई भी परमात्मा नहीं हो सकता ।

आगे महादेव के लिये कहते हैं ।

एवं भणन्ति केई रुद्रो संहरइ तिहुवणं सयलं ।

चित्तामित्तेण फुडं णर णायरतिरियसुरसहियं ॥ २४१ ॥

एवं भणन्ति केचित् रुद्रः संहरति त्रिभुवनं सकलम् ।

चिन्तामात्रेण स्फुटं नरनारकतिर्यक्सुरसहितम् ॥ २४१ ॥

अर्थ— कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि महादेव मनुष्य तिर्यच देव नारकी आदि समस्त जीवों सहित इन समस्त तीनों लोकों को चिनवन करने मात्र से ही शरण भरमें सहार कर डालते हैं ।

भावार्थ— क्षण भर में समस्त जीवों का संहार कर डालते हैं ।

णट्ठे असेसलोए पच्छा सो कत्थ चिट्ठदे रुद्रो ।

द्वक्को तमंधयारो गोरी गंगा गया कत्थ ॥ २४२ ॥

नष्टेऽशेष लोके पद्मात्स कुत्र तिष्ठति रुद्रः ।

एकस्तमोऽधकारः गौरी गंगा गता कुत्र ॥ २४२ ॥

अर्थ— जब महादेव समस्त लोक का संहार कर डालते है तो फिर समस्त लोक के नष्ट हो जानेपर वे महादेव स्वयं कहां ठहरते है ? फिर तो एक महा अंधकार ही रह जाता होगा तथा उस समय गौरी और गंगा कहां चली गई होगी । कुछ तो समझना चाहिये ।

जो जहइ एगगामं पावी लोएँहि वुचचदे सो हु ।

जो पुण डहइ तिलोयं सो कह देवत्तणं पत्तो ॥ २४३ ॥

यो दहति एकग्रामं पापी लोकैरुच्यते स हि ।

यः पुनः दहति त्रिलोकं स कथं देवत्वं प्राप्तः ॥ २४३ ॥

अर्थ— इन संसार में जो कोई पुरुष किसी एक छोटे से गांव को भी जला देता है वह इस संसार में महा पापी कहलाता है । फिर भला जो तीनों लोकों को जला डालता है वह महादेव देव कैसे हो सकता है उसे तो महा पापीयों से भी बढकर महापापी समझना चाहिये ।

जो हणइ एय गाव विप्पो वा सोवि इत्थ लोएँहि ।

जो बभहचचयारी पमणिब्जइ पावकारी सो ॥ २४४ ॥

यः हन्ति एकां मा विप्रं वा सोपि अत्र लोकैः ॥

गोब्रह्महत्याकरो प्रभण्यते पापकारी सः ॥ २४४ ॥

अर्थ— देखो इस संसार में जो पुरुष किसी एक गाय को मार डालता है अथवा किसी एक ब्राह्मण को मार डालता है वह गाय की हत्या करनेवाला और ब्रह्महत्या करनेवाला तो महापापी गिना जाता है

जो पुण गोणारि पमुहे वाले बुड्डे असंखलोयत्थे ।

संहारेइ असेसं तस्सेव हि किं भणिस्सामो ॥ २४५ ॥

यः पुनः गोमारो प्रभुखान् बालान् वृद्धान् असंख्यलोकस्थान् ।

संहरति अशेषान् तमेवहि किं भणिष्यामः ॥ २४५ ॥

अर्थ— फिर भला जो महादेव देव कहलाकर भी असंख्यात लोकों में रहनेवाले गाय स्त्रियां बालक वृद्ध आदि समस्त जीवों का संहार कर डालता है उसे क्या कहना चाहिये ? वह तो महा पापीयों से भी बढकर महा पापी हो सकता है ।

आगे और भी कहते हैं ।

अहवा जइ भणइ इयं सो देवो तस्स ण हु पावं ।  
तो वंम्ह सोसछेए वंभहच्चा कहं जाया ॥ २४६ ॥ ॥  
अथवा यदि भणतीदं स देवः तस्य भवति नहि पापम् ।  
तहि ब्रह्म शिरश्छेदे ब्रह्म हत्या कथं जाता ॥ २४६ ॥

अर्थ— यदि कदाचित् कोई यह कहे कि महादेव देव है सब से बड़ देव है इसलिये तीनों लोकों का नाश करने पर भी उनको हत्या का पाप नहीं लगता । परंतु ऐसा कहना भी सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि जब महादेवजी को इतनी प्रबल हत्या करने पर भी पाप नहीं लगता तो फिर जब उन्होंने ब्रह्मा के मस्तकपर का गधे का मस्तक काट डाला था उस समय उसको ब्रह्म हत्या का पाप कैसे लग गया था ?

भावार्थ— ब्रह्मा का मस्तक काटने पर महादेव को ब्रह्म हत्या का महापाप लगा था । तदनंतर—

किं हट्टं मुंडमाला कंधे परिवहइ धूल धूसरिओ ।  
परिभ्रमिओ तित्थाइं णरह क्वालम्मि भुजंतो ॥ २४७ ॥  
किं अस्थिमुंडमालां स्कंधे परिवहति धूलिधूतरितः ।  
परिभ्रमिता स्तीर्यानि नरस्य कपाले भुजानः ॥ २४७ ॥

अर्थ— उस ब्रह्म हत्या के पाप को नाश करने के लिये उसने अपने गले में हड्डियों की माला और मुंडमाला डाली थी, अपना शरीर धूलि से धूसरित कर लिया था और मनुष्य के कपाल में भोजन करता हुआ समस्त तीर्थों में परिभ्रमण करने लगा था ।

तहं वि ण सा वंभहच्चा किट्टइ रुद्धस्स जामतागामे ।  
वसिओ पलासणगामे सा विप्पो णियवल्लहेण ॥ २४८ ॥  
तथापि न सा ब्रह्महत्या स्फिटति रुद्रस्य यावत् ग्रामे ।  
उषितः पलाश नाग्नि तत्र विप्रः निजवल्लभेन ॥ २४८ ॥  
णिहओ सिंगेण भुओ वसहो सेओ वि कसणु संजाओ ।  
वाणारसिं च पत्तो रुहोवि य तस्स मग्गेण ॥ २४९ ॥

निहतः श्रृंगेण मृतः बृषभः श्वेतः कृष्णः संजातः ।

आगारसौ प्राप्तः रुद्रोर्षिं च तस्य मार्गेण ॥ २४९ ॥

गंगाजलं पविट्वा चत्ता ते दोषि बभूवुश्चाह ।

रुद्रस्य करय लग्नो लहयं पडियं कवालोसि ॥ २५० ॥

गंगां जले प्रविष्टी त्यक्तो तौ द्वावपि ब्रह्महत्याया ।

न रुद्रस्य करे लग्नं तत्र पाततं कपालं भिति ॥ २५० ॥

अर्थ - इस प्रकार उस महादेवने अनेक तीर्थों में परिभ्रमण किया तथापि उन महादेव की ब्रह्म हत्या छूट नहीं सकी थी । जब वह महादेव इस प्रकार परिभ्रमण करताहुआ पलाश नाम के एक गांव में पहुँचा तब उस गांव में उपवास किये हुए एक ब्राह्मण को उसी के एक बैल ने अपने सींगों मार डाला था । इस ब्रह्म हत्या के पाप से वह सफेद बैल उसी समय काला हो गया था । तदनंतर वह बैल अपना ब्रह्म हत्या का पाप दूर करने के लिये बनारस नगरी में पहुँचा । वह बैल भी पलाश गांव का था और वहीं पर महादेव पहुँच गया था । इसलिये उस कृत्य को देखकर महादेव भी उस बैल के पीछे पीछे बनारस में जा पहुँचा था । बनारस जाकर उन दोनों ने गंगा जल में प्रवेश किया तब कहीं जाकर वे दोनों ही ब्रह्म हत्या से मुक्त हुए । तथा ब्रह्म हत्या के कारण महादेव के हाथ में जो कपाल लग गया जो चिपक गया था वह भी उस समय गंगा जल में गिर पडा ।

आगे आचार्य समझा कर कहते हैं ।

जस्स गुरु सुरहिसुओ गं तोएण फिट्ठए हच्चा ।

सो देवो अण्णस्स य फेडइ कहं संचियं पाप्मं ॥ २५१ ॥

यस्य गुरुः सुरभिसुतः गंगातोयेन स्फिड्यते हत्या ।

स देवोऽन्यस्य च स्फोडयति कथं संचितं पाप्मं ॥ २५१ ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि देखो जिस महादेव ने अपनी ब्रह्म हत्या दूर करने के लिये बैल को तो गुरु बनाया और गंगा के जल से उसकी ब्रह्म हत्या दूर हुई वह महादेव अन्य संसारी जीवों के चिर काल



मे संचित हुए पापों को कैसे दूर कर सकते हैं ? अर्थात् कभी दूर नहीं कर सकते ।

आगे आचार्य इसी बात को और दिखलाते हैं ।

जो न तरह जियपाव गहियबओ अप्पणस्स फेडेउं ।  
असमत्थो सो णूणं कत्तित्त विणासणे रुद्धी ॥ २५२ ॥  
यो न शक्नोति निजपापं गृहीतव्रतः आत्मनः स्फोटयितुं ।  
असमर्थः स नूनं कर्तृत्वविनाशने रुद्रः ॥ २५२ ॥

अर्थ- जो महादेव व्रतों को ग्रहण करके भी अपने आत्मा के भी अपने पापों का नाश नहीं कर सकता वह महादेव इस ब्रह्मा के बनाये हुए लोक का विनाश भी नहीं कर सकता ।

इसलिये निश्चित सिद्धांत यह है कि-

णो वंभा कुणइ जयं किण्हो न धरेइ हरइ न उ रुद्धो ।  
एसो सहावसिद्धो णिच्छो दब्बेहि संछण्णो ॥ २५३ ॥  
न ब्रम्हा करोति जगत् कृष्णः न धरति हरति न च रुद्रः ।  
एषः स्वभावसिद्धः नित्यः द्रव्यैः संछन्नः ॥ २५३ ॥

अर्थ- न तो इस जगत् को ब्रम्हाने बनाया है, न कृष्ण वा विष्णु इसको धारण करता है और न महादेव इसका संहार करते हैं । यह जगत् स्वभाव से ही सिद्ध है, अनादि है, और अनिधन है तथा जिवादिक द्रव्यों में भरा हुआ है ।

भमइ णग्गउ भमइ णग्गउ वसहि सुमसाणि ।  
णर हंडसिर मंडयउ णरकवालि भिक्खाइं भुंजेइ ।  
सह कारिउ गउरियाहिदुक्खभाह अप्पहो णिउंज्जइ ।  
जो वभणेहं सिर कमले खुडिए न फेडइ वोसु ।  
सो इसरु कह अबहरइ तिहुवणु करइ असेसु ॥ २५४ ॥  
भ्रमति नरो भ्रमति नरो वगति इमशाने ।  
नररुण्डशिरोमण्डितः नरकपाले भिक्षां भुनक्ति ॥

सहकृतः गौरीभिः दुःखभूरे आत्मानं नियुक्ते ।

यो ब्रह्मणः शिरःकमले स्निग्धते न स्फोटयति दोषम् ।

स ईश्वरः कथमपहरति त्रिभुवनं करोति अशेषम् ॥ २५४ ॥

अर्थ— जो महादेव नग्न होकर पर्वतोंपर घूमता फिरता है  
इमजान में रहता है, मनुष्यों के हंड मुंडो में अपने मस्तक की शोभा  
बढ़ाता है, मनुष्य के कपाल में भिक्षा भोजन करता है, पावेंती को सदा  
साथ रखता है, अपने आत्मा को सदाकाल अनेक दुःखों के समूह में  
डालता रहता है, जिसने ब्रह्मा का मस्तक काट डाला और फिर उस  
हत्या से लगी हुई ब्रह्महत्या के महापाप को दूर नहीं कर सका वह  
महादेव भला ईश्वर कैसे हो सकता है और किस प्रकार इन समस्त  
तीनों लोकों का नाश कर सकता है । अर्थात् कभी नहीं कर सकता ।

उत्तरंतउ उत्तरंतउ पवर मुरसरिहि ।

पारासुर चलिउ मणुमुएलज्जकेवह णदिणि ।

आलिकिय तपहेउ धरिवास जाउ तावसुमहामुणि

भारउ पुणु हुउ दो वहिं केसग्गह पन्वेण ।

जिणु मल्लिय के केण जग्गिणियडय चवल मणेण ॥ २५५ ॥

अर्थ— पराशर मुनि गंगा के पार होने के लिये गंगा नदी के किनारे  
पहुँचे वहाँ पर मल्लाह की लड़की नाव चला रही थी इसलिये वे पारा-  
शर ऋषी उसी को आलिंगन करने लगे ।

अण्णाणि य रइयाइ एत्थ पुराणाइं अघडमाणाइं ।

सिद्धंतेहिं अजुत्तं पुब्बावरदोससंकिण्णं ॥ २५६ ॥

अन्यानि च रचितान्यत्र पुराणानि अघटमानानि ।

सिद्धांतरयुक्तं पूर्वापरदोषसंकीर्णम् ॥ २५६ ॥

अर्थ— और भी ऐसे बहुत से पुराण बने हुए हैं जो कभी संभव  
नहीं हो सकते, तथा जो सिद्धांत के सर्वथा विरुद्ध हैं, और पूर्वापर  
अनेक दोषों से भरे हुए हैं ।

एए उस्से देवो सब्बे सद्दहइ जो पुराणेहिं ।

अरिहंता परिचाए सम्मा भिच्छोत्ति णायव्वो ॥ २५७ ॥

एतानुक्तान् देवान् सर्वान् श्रद्धाति यः पुराणैः ।

अर्हतः परित्यज सम्यग्मिथ्यात्वं इति ज्ञातव्यम् ॥ २५७ ॥

अर्थ— जो पुरुष वीतराग सर्वज्ञ भगवान् अरहंत देवको छोड़कर ऊपर लिखे इन समस्त देवों का श्रद्धान् करता है तथा पुराणों में कहे हुए अन्य समस्त देवों का श्रद्धान् करता है उसे सम्यग्मिथ्या दृष्टी तीसरे गुण स्थान वाला समझना चाहिये ।

एतो सम्मामिच्छो परिहरियस्वो हवेइ नियमेणः ।

एतो अविरइ सम्मो कहिज्जमाणो णिसामेह ॥ २५८ ॥

एतत्सम्यग्मिथ्यात्वं परिहर्तुं भवति नियमेन ।

इतः अविरतसम्यक्त्वं कथयिष्यमाणं निश्चनुत ॥ २५८ ॥

अर्थ— इस प्रकार जो तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टी गुणस्थान का स्वरूप कहा है उसका सर्वथा त्याग नियम पूर्वक कर देना चाहिये । अब इसके आगे चौथे अविरत सम्यग्दृष्टी नाम के गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं, उसे सुनो ।

इस प्रकार तीसरे गुणस्थान का स्वरूप कहा ।

ब्रह्मा अल्पायुषोऽयं हरिर्विधि वशाद्धोषतिर्गर्भवासे,

चन्द्रा, क्षीणः प्रतापी भ्रमति दिनकरो देवमिथ्याभिमानि ।

कामः कायेनहीनश्चलयति पवनो विश्वकर्मा दरिद्री,

इन्द्राद्या दुःख पूर्णाः सुखनिधि सुभगः पातुनः पार्श्वनाथः ॥

अर्थ— ब्रह्मा का आयुष्य थोड़ा है, कर्मों के उदय से कृष्ण बाल के यहां हुए, चन्द्रमा का प्रताप क्षीण, जो देव पने का मिथ्या अभिमान करता हुआ सदा परिभ्रमण किया करता है । कामदेव शरीर रहित है वायु की गति सदा चंचल रहती है, विश्वकर्मा दरिद्री कहलाता है और इन्द्रादिक देव सब दुःखों से भरे हुए हैं । अतएवं अनंत सुख से सुशोभित होनेवाले भगवान् पार्श्वनाथ हम लोगों की सदा रक्षा करें ।

आग अविरत सम्यग्दृष्टी नाम के चौथे गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं ।

हवइ चउत्थं ठाणं अविरइ सम्मेत्ति णामयं वणियं ।  
तत्थहु खइओ भावो खय उवसमिओ समोवेव ॥ २५९ ॥  
भवति चतुर्थं स्थानमविरतसम्यक्त्वमिति नामकं भणितत् ।  
तत्रहि क्षायिको भावः क्षायोपशमिकः शमश्चेव ॥ २५९ ॥

अर्थ— चौथे गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टी है । इस गुणस्थान में क्षायिक भाव होते हैं, क्षायोपशमिक भाव होते हैं और उपशमिक भाव होते हैं ।

एए तिणिण वि भावा दंसणमोहं पडुच्च भणिआ हु ।  
चारित्तं णत्थि जदो अविरिय-अंतेसु ठाणेसु ॥ २६० ॥  
एते त्रयोपि भावा दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिता हि ।  
चारित्रं नास्ति यतः अविरतान्तेषु स्थानेषु ॥ २६० ॥

अर्थ— इस गुणस्थान में जो तीनों प्रकार के भाव बतलाये हैं वे दर्शन मोहनीय के क्षय, क्षयोपशम और उपशम को लेकर बतलाये हैं । इसका भी कारण यह है कि पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक चारित्र का संबंधा अभाव रहता है ।

भावार्थ— यद्यपि इस चौथे गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का उदय है इसलिये चौथे गुणस्थान वाले आदिक भाव भी कहे जा सकते हैं परंतु चौथे गुणस्थान तक चारित्र होता ही नहीं है इसलिये यहां पर चारित्र मोहनीय की अपेक्षा ही नहीं रखी है । दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व इस गुण गुणस्थान में होता है । इन्हीं प्रकृतियों का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है और इन्हीं प्रकृतियों का क्षयोपशम होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । इस गुणस्थान में ये तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन हो सकते हैं इसलिये दर्शन मोहनीय के क्षय क्षयोपशम या उपशम की मुख्यता को लेकर तीनों

प्रकार के भाव बतलाये हैं। अनंतानुबंधों कषायों का क्षयोपशमादिक दर्शन मोहनीय के साथ हो जाता है परंतु चारित्र मोहनीय की संशय प्रवृत्तियों का उदय ही रहता है इसलिये इस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की मुख्यता नहीं रक्खी है। केवल दर्शन मोहनीय की अपेक्षा से ही तीनों प्रकार के भाव बतलाये हैं।

आगे इस गुणस्थान का स्वरूप अथवा इस गुणस्थान में रहने वाले जीवों के भाव बतलाते हैं:-

णो इंद्रिएसु विरओ णो जीवेत्थावरे तसे वावि ।

ओ सद्दहइ त्तिणुलं अविरदं सम्पोत्ति णाम्भो ॥ २६१ ॥

नो इन्द्रियेषु विरतो नो जीवे स्थावरे तसे वापि ।

यो अदृधाति जिनोक्त अविरत सम्यक्त्वं इति ज्ञातव्यम्: ॥ २६१ ॥

अर्थ— इस गुणस्थान में रहने वाला जीव न तो इन्द्रियों से विरक्त रहता है न तस स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करता है। वह भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए वचनों पर गाढ श्रद्धान् करता है। इस प्रकार उसके यथार्थ देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान् करने को अथवा जीवादिक तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान् करने को चौथा अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थान कहते हैं।

भावार्थ— यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रियों से विरक्त नहीं होता और न तस स्थावर जीवों की रक्षा करने का नियम लेता है तथापि सम्यग्दर्शन के प्रगट होने से उसके संवेग वैराग्य अनुकंपा आदि आगे लिखे हुए गुण प्रगट हो जाते हैं इसलिये त्याग न होने पर भी चित्त में वैराग्य उत्पन्न होने के कारण वह अभक्ष्य भक्षण नहीं करता और अनुकंपा होने के कारण जीवों की हिंसा नहीं करता। यदि वह अभक्ष्य भक्षण करता है और जीवों की हिंसा करता है तो उसके संवेग वैराग्य और अनुकंपा आदि गुण नहीं हो सकते। तथा विना इन गुणों के उसके सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता। और विना सम्यग्दर्शन को यह चौथा गुणस्थान नहीं हो सकता। इसके सिवाय यह भी समझ लेना चाहिये कि अविरत सम्यग्दृष्टी पुरुष देव शास्त्र गुरु का यथार्थ श्रद्धान्

करता है भगवान् अरहंत देव के कहे हुए वचनोंपर अर्थात् जैन शास्त्रों पर पूर्ण विश्वास करता है। शास्त्रों में अभक्ष्य भक्षण का त्याग और हिंसा का निषेध लिखा ही है यदि वह शास्त्रों का श्रद्धान् करता है तो भी वह अभक्ष्य भक्षण नहीं कर सकता तथा जी वों की हिंसा नहीं कर सकता।

वर्तमान समय में बहुत से विद्वान् या विद्वान् त्यागी शास्त्रों के विरुद्ध उपदेश देते हैं, अयोग्यों को जिन मंदिर में जाने का उपदेश देते हैं, मुनि होकर भी दस्साओं के यहाँ आहार लेते हैं शास्त्रों में कही हुई भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा की विधि का निषेध करते हैं अपनी इच्छा-नुसार ही शास्त्रों में कही हुई पूजा की विधि के प्रतिकूल मन मानी विधि का प्रतिपादन करते हैं, वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था को मानते नहीं, वर्णसंकर वा जातिसंकर अथवा वीर्यसंकर संतान उत्पन्न करने का उपदेश देते हैं वे सर्वसम्यग्दृष्टी नहीं कहला सकते, क्योंकि वे भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए वचनोंपर श्रद्धान् नहीं करते किन्तु उसके विपरीत श्रद्धान् करते हैं।

आगे फिर भी सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं।

हिंसा रहिए धर्मे अठारह दोस वज्जिए वेवे ।

णिग्गन्धे पव्वयणो सट्ठहणं होइ सम्मत्तं ॥ २६२ ॥

हिंसा रहिते धर्मे अष्टावदा दोषवज्जिते वेवे ।

निर्ग्रन्थे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥ २६२ ॥

अर्थ— धर्म वही है जो हिंसा से सर्वथा रहित हो, देव वही है जो अठारह दोषों से रहित हो, और गुरु वा मुनि वे ही है जो बाह्य अभ्यंतर परिग्रहों से रहित सर्वथा निर्ग्रन्थ हो। इस प्रकार देव शास्त्र गुरु का यथार्थ श्रद्धान् करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आगे सम्यग्दर्शन के गुण कहते हैं।

संवेओ णिव्वेओ णिहा गरुहाइं उवसमो भत्तो ।

वच्छल्लं अनुकंपा अट्टगुणा होति सम्मत्ते ॥ २६३ ॥

संवेगो निर्वेगो निंदां गहो उपशमो भक्तिः

वात्सल्यं अनुकंपा अष्टौ गुणा भवन्ति सम्यक्त्वे ॥ २६३ ॥

अर्थ— संवेग निर्वेद निंदा गहो उपशम भक्ति वात्सल्य अनुकंपा ये सम्यग्दर्शन के आठ गुण होते हैं। संसार के दुःखों से भयभीत होने तथा धर्म में अन्तुलन होना संवेग है, संसार शरीर और भोगों से विरक्तता धारण करना निर्वेद है, अपने किये हुए पापों की निंदा अपने आप करना निंदा है, गुरु के समीप जाकर अपने दोषों का निराकरण करना गहो है। क्रोधादिक पञ्चीसों कषायों का त्याग करना उपशम है, दर्शन ज्ञान चास्त्र और तप का वा इनको धारण करनेवालों का विनय करना भक्ति है, व्रतों के धारण करने में अनुराग धारण करना वा व्रतियों में अनुराग धारण करना वात्सल्य है, वस स्थावर इन छहों प्रकार के जीवों की रक्षा करना उनपर दया धारण करना अनुकंपा है। सम्यग्दर्शन के ये आठ गुण कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर ये आठ गुण अवश्य प्रगट हो जाते हैं। जिसके ये गुण प्रगट न हो, समझना चाहिये उसके सम्यग्दर्शन भी नहीं है।

आगे सम्यग्दर्शन के भेद बतलाते हैं।

दुविहं तं पुन भणियं अह्वा त्रिविहं कहन्ति आयरिया ।

अण्णाय अधिगमे वा सहहणं जं पयस्थानं ॥ २६४ ॥

द्विविधं तत्पुनः भणितं अथवा त्रिविधं कथयन्त्याचार्याः ।

आज्ञया अधिगमेन वा श्रद्धानं यत् पदार्थानाम् ॥ २६४ ॥

अर्थ— आचार्यों ने उस सम्यग्दर्शन के दो भेद बतलाये हैं अथवा तीन भेद बतलाये हैं। भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए पदार्थों का जो श्रद्धान् भगवान् की आज्ञा प्रमाण कर लिया जाता है उसको आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं और किसी के उपदेश द्वारा जो पदार्थों का श्रद्धान किया जाता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके सिवाय सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज ये भी दो भेद हैं। जो सम्यग्दर्शन बिना किसी उपदेश के प्रगट हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो सम्यग्दर्शन किसी के उपदेश से प्रगट होता है उसको अधिगमज कहते हैं। इस प्रकार निमित्त कारण के भेद से दो

भेद हो जाते हैं ।

आगे सम्यग्दर्शन के तीन भेद दिखलाते हैं ।

अविरतविरतं च क्षायिकं उपशमं सम्यक्सत्तपुणं च उद्दिष्टम् ।

अविरतं विरयाणं पि य विरयाविरयाणं ते हुंति ॥ २६५ ॥

अयोपशमं च क्षायिकं उपशमं सम्यक्त्वं पुनश्चोद्दिष्टम् ।

अविरतानां विरतानामपि च विरताविरतानां तानि भवन्ति ॥ २६५ ॥

अर्थ— क्षायिक आयोपशमिक और औपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन के भेद हैं । ये तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन अविरत सम्यग्दृष्टी विरताविरत और विरत इन भवके होते हैं ।

आगे सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्रकट होता है, सो दिखलाते हैं ।

क्रोधं च उक्कं पदमं अणंतं बंधीणिणामयं भणियं ।

सम्मतं मिच्छत्तं सम्मा मिच्छत्तयं तिणिण ॥ २६६ ॥

क्रोधचतुष्कं प्रथमं अनन्तानुबन्धिनामकं भणितम् ।

सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं त्रीणि ॥ २६६ ॥

एएत्ति सत्तएहं उवसमं करणेण उवसमं भणियं ।

खयओ खइयं जायं अचलत्तं निम्मलं सुद्धं ॥ २६७ ॥

एतेषां सप्तनामुपशमकरणेन उपशमं भणितम् ।

क्षयतः क्षायिकं जातं अचलत्वं निर्मलं शुद्धम् ॥ २६७ ॥

अर्थ— अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ ये चारित्र मोहनीय की चार प्रकृतियाँ तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय की प्रकृतियाँ ये सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन को घात करने वाली हैं । इन सातों प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यग्दर्शन होता है तथा इन्हीं सातों प्रकृतियों के अत्यंत क्षय होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रकट होता है । यह क्षायिक सम्यग्दर्शन अचल है अर्थात् फिर कभी नष्ट नहीं होता सदा अनन्तानंत कालतक विद्यमान रहता है तथा अत्यंत निर्मल है और अत्यंत शुद्ध है ।



आगे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को कहते हैं ।

उदयाभाओ जत्थ य पयडोणं ताण सव्ववादीणं ।

छण्णाण उवसमो विय उदओ सम्प्रतं पयडोए ॥ २६८ ॥

उदयाभावो यत्र च प्रकृतीनां तासां सर्वधातिनीनाम् ।

वृष्णां उपशमोपि च उदयः सम्यक्त्वं प्रकृतेः ॥ २६८ ॥

क्षय उवसमं पडतं सम्प्रतं परम वीतराएहि ।

उवसमिय पंक सरिसं णिच्चं कम्मवखवण हेउं ॥ २६९ ॥

क्षयोपशमं प्रोक्तं सम्यक्त्वं परम वीतरागैः ।

उपशात पंक सबृशं नित्यं कर्म क्षपण हेतुः ॥ २६९ ॥

अर्थ— सम्यग्दर्शन को घात करने वाली सात प्रकृतियां जो ऊपर बतलाई हैं यत्र में वे अनंतानुक्तों के लोभ और मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वघाती हैं और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व नाम की एक प्रकृति देश घाती है । ऊपर लिखी छह प्रकृतियां सम्यग्दर्शन को घात करने वाली हैं इसलिये वे सर्वघाती कहलाती हैं और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व नामकी प्रकृति सम्यग्दर्शन का घात नहीं करती किंतु उसमें चल मलिन और अगाढ़ इन दोषों को उत्पन्न कर देती है । परिणामों में चंचलता होने को चल दोष कहते हैं, मलिनता होने को मलिन कहते हैं और अत्यंतगाढ़ श्रद्धा नही होना अगाढ़ दोष है । जब ऊपर लिखी हुई सर्वघाती छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय हो जाता है अर्थात् छहों प्रकृतियों का उदय नहीं रहता तथा आगे उदय होने वाली इन्हीं छह प्रकृतियों के उपशम होने से और देश घाती सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । ऐसा भगवान् वीतराग सर्वज्ञ देवने कहा है । जिस प्रकार किसी बर्तन में मिट्टी मिला पानी रक्खा हो तथा उसमें फिटकरी डाल दी जाय तो उसकी मिट्टी नीचे बैठ जाती है पानी निर्मल हो जाता है । इसी प्रकार जिस जीव के ऊपर लिखी हुई सातों प्रकृतियों का उपशम हो जाता है उसके औपशमिक सम्यग्दर्शन हो जाता है परन्तु जिस प्रकार हवा चलने पर वह निर्मल पानी फिर गदला हो जाता है उसी

प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अनंतर ही उन सातों प्रकृतियों का उदय हो जाता है और वह औपशमिक सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जिस वर्तन का पानी निर्मल होगया है मिट्टी पूर्ण रूप से नीचे बैठ गई है उसका पानी यदि किसी दूसरे वर्तन में लेलिया जाय तो उस निर्मल पानी में थोड़ा सा भी गदलापन नहीं रहता वह पानी पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है इसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन पूर्ण रूप से निर्मल होता है। उसमें फिर कभी भी गदलापन वा अशुद्धता नहीं आती। जिस गंदले पानी की अधिकतर मिट्टी नीचे बैठ गई है और थोड़ासा गदलापन उस पानी में रहगया है उसी पानी को दूसरे वर्तन में लेलिया जाय तो उसमें थोड़ा गदलापन रहताही है इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अत्यंत निर्मल और शुद्ध नहीं होता किंतु उसमें चल एलिन अगाध दोष रहते हैं। सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से ये दोष हो जाते हैं। तथापि इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के प्रगट हो जानेपर सदाकाल कर्मों का क्षय होता ही रहता है। अन्य सम्यग्दर्शनों के समान यह सम्यग्दर्शन भी कर्मों के क्षय होने का कारण है।

आगे जो इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को नहीं मानता वह अज्ञानी है ऐसा दिखलाते हैं।

जो न हि मण्णइ एयं खय उवसम भावजो य सम्मत्तं ।

सो अण्णाणी मूढो तेण न णायं समयसारं ॥ २७० ॥

यो नहि मन्यते एतत् क्षयोपशम भावजं च सम्यक्त्वम् ।

स अज्ञानी मूढस्तेन न ज्ञातं समयसारम् ॥ २७० ॥

जम्हा पंच पहाणा भावा अत्थिति सुत्त णिदिट्ठा ।

तम्हा खय उवसमिण् भावे जायं तु तं जाणे ॥ २७१ ॥

यस्मात्पंच प्रधाना भावाः सन्तीति सूत्र निदिष्टाः ।

तस्मात्क्षयोपशमेन भावेन ज्ञातं तु तत् ज्ञातव्यम् ॥ २७१ ॥

अर्थ— जो पुरुष इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होने वाले परिणामों को नहीं मानता, समझना चाहिये कि वह अज्ञानी और मूर्ख है, तथा वह पुरुष आत्मा के स्वरूप को भी नहीं जानता। इस का

भी कारण यह है कि सिद्धांत सूत्रों में अथवा उमास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र में वा उसकी समस्त टीकाओं में जीवों के प्रधान भाव पांच प्रकार के बतलाये हैं। औपशमिक शायिक शायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पांच भाव बतलाये हैं। इसलिये शायोपशमिक सम्यग्दर्शन के बिना पांचों भावों की पूर्ति हो नहीं हो सकती। इसलिये शायोपशमिक भाव और शायोपशमिक सम्यग्दर्शन मानना अत्यावश्यक है।

आगे सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाने है।

तं सम्मत्तं उत्तं जत्थ पयत्थाणं होइ सद्वृणं ।

परमप्पह कहियाणं परमप्पा दोसपरिचित्तो ॥ २७२ ॥

तत्सम्यक्त्वमुक्तं यत्र पदार्थानां भवति श्रद्धानम् ।

परमात्म कथितानां परमात्मा दोष परित्यक्तः ॥ २७२ ॥

अर्थ— परम परमात्मा बीतराग सर्वज्ञ देव श्रीजिनेन्द्र देव है उनके कहे हुए समस्त तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। वह परमात्मा वा श्रीजिनेन्द्रदेव समस्त दोषों से रहित ही होते हैं।

दोसा छुहाइ भणिया अठारस होति त्रिविह लोचम्मि ।

सामाण्या सयल जणे तेलि अहावेण परमप्पा ॥ २७३ ॥

दोषा क्षुधादयो भणिता अष्टादश भवन्ति त्रिविधलोके ।

सामान्या सकलजने तेषामभावेन परमात्मा ॥ २७३ ॥

ये कहे हुए क्षुधादिक अठारह दोष सामान्य रीति से तीनों लोकों के समस्त जीवों में रहते हैं। जब इन समस्त दोषों का नाश हो जाता है तभी यह जीव परमात्मा हो सकता है।

भावार्थ— परमात्मा वही हो सकता है जो बीतराग और सर्वज्ञ हो। तथा बीतराग वही हो सकता है जो अठारह दोषों से रहित हो और बिना बीतराग हुए सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिये जो अठारह दोषों से रहित होता है वही परमात्मा होता है।

आगे परमात्मा के भेद बतलाते हैं।

सो पुण बुद्धिहो षणिओ सयलो तह निष्कलोत्ति णायध्वो ।  
सयलो अरुह सखवो सिद्धो पुण निष्कलो षणिओ ॥ २७४ ॥

स एषः द्विविधः भणितः सकलः तथा निष्कलः ज्ञातव्यः ।  
सकलः अर्हत्स्वरूपः सिद्धः दुनः निष्कलः भणितः ॥ २७४ ॥

अर्थ— वह परमात्मा दो प्रकार का है । एक सकल परमात्मा और दूसरा निकल परमात्मा । यहा पर कल शब्द का अर्थ शरीर है जो शरीर सहित हो ऐसे अरहंत भगवान को सकल परमात्मा कहते है तथा शरीर रहित सिद्ध भगवान को निकल परमात्मा कहते है ।

जस्स ण गौरी गंगा काबालं णेव विसहरो कंठे ।  
ण य दप्पो कंदप्पो सो अरुहो भण्णए रुहो ॥ २७५ ॥  
यस्य न गौरी गंगा कपालं नैव विषधरः कण्ठे ।  
न च दर्पः कंदर्पः सोऽर्हन् भण्यते रुद्रः ॥ २७५ ॥

अर्थ— जिसने साथ न गौरी गंगा पार्वती है न गरडा है न हाथ में कपाल है न कण्ठ में सर्प है न जिनको अभिमान है और न जो कामा-सक्त है ऐसे भगवान अरहंत देव को ही महादेव कहना चाहिये ।

जस्स ण गया ण खक्कं णो संखो णेय गोविसंघाओ ।  
णवयरइ दहवयारे सो अरुहो भण्णए विण्हू ॥ २७६ ॥  
सस्य न गदा न चक्रं न शंखः नैव गोपीसंघातः ।  
नावतरति दशावतारे सोऽर्हन् भण्यते विष्णुः ॥ २७६ ॥

अर्थ— जिनके हाथ में न गदा है, न चक्र है, न शंख है, न जिनके साथ अनेक गोपियों क समुदाय है और न जो दश अवतार लेने है ऐसे भगवान अरहंत देव को ही विष्णु समझना चाहिये ।

ण तिलोत्तमाय छलिओ णय वयमहो ण चउमुहो जावो ।  
ण य रिच्छोए रत्तो सो अरुहो बुच्चए बंभो ॥  
न तिलोत्तमया छलितः न च वतभ्रष्टो न चतुर्मुखो जातः ।  
न श्रद्धयां रक्तः सोऽर्हन् उच्यते ब्रह्मा ॥ २७७ ॥

अर्थ— जो भगवान न तो तिलोत्तमा के द्वारा उगे जाते है न अपने तपश्चरण से कभी भ्रष्ट होते है न कामसक्त होकर चार मुख बनाते है और न रीछिनी के साथ कामासक्त होते है ऐसे वे अरहंत देव ही ब्रह्मा कहलाते है ।

भावार्थ— भगवान अरहंत देव ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहलाते है वे भगवान मोक्ष मार्ग का उपदेश देते है इसलिये ब्रह्मा कहलाते है अपने केवल ज्ञान के द्वारा लोक अलोक सबमें व्याप्त रहते है अपने ज्ञान के द्वारा सबको जानते है इसलिये विष्णु कहलाते है और वे सर्वोत्कृष्ट देव है इन्द्रादिक देव भी आकर उनको नमस्कार करते है इसलिये वे महादेव कहलाते है । अरहंत देव के सिवाय और कोई भी ब्रह्मा विष्णु महादेव नहीं है ।

आगे अरहंत देव के कहे हुए पदार्थों को कहते है ।

तेणुत्त णवपयत्था अण्णे पंचत्थिकाय छद्द्व्या ।

आणए अधिगमेण य सहहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २७८ ॥

तेनोक्तनव पदार्थान् अन्याति पंचास्तिकायषड्व्य्याणि ।

आजयाधिगमेन च श्रद्धधानस्य सम्यक्त्वम् ॥ २७८ ॥

अर्थ— भगवान जिनेंद्र देव ने नौ पदार्थ बतलाये है पांच अस्तिकाय बतलाये है और छह इव्य बतलाये है इन समस्त पदार्थों को जो भगवान की आज्ञा प्रमाण श्रद्धान करता है अथवा इन सबका स्वरूप जानकर श्रद्धान करता है उस श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

भावार्थ— ये सब पदार्थ भगवान जिनेंद्र देव ने कहे है । तथा उनका स्वरूप भी भगवान जिनेंद्र देव ने कहा है भगवान जिनेंद्र देव बीतराग सर्वज्ञ है । जो बीतराग सर्वज्ञ होता है वह कभी मिथ्या उपदेश नहीं देता । इस प्रकार भगवान की आज्ञा प्रमाण जो तत्वों का श्रद्धान करता है उसको आज्ञा सम्यक्त्व कहते है तथा तत्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर श्रद्धान करता है वह अधिगम सम्यक्त्व है ।

आगे सम्यग्दर्शन का और भी स्वरूप कहते हैं ।

संकादोसरहिषं निस्संकाईगुणज्जुअं परमं ।  
 कम्मणिज्जरणहेउं तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥  
 शंकादि दोषरहितं निःशंकादिगुणयुतं परमम् ।  
 कर्मेनिर्जराहेतु तच्छुद्धं भवति सम्यग्दर्शनम् ॥ २७९ ॥

अर्थ - जो सम्यग्दर्शन शंका आदि आठ दोषों से रहित होता है और निःशंकित आदि आठ गुणों में सुशोभित होता है उसको परम शुद्ध सम्यग्दर्शन कहते हैं । ऐसा परम शुद्ध सम्यग्दर्शन कर्मों की निर्जरा का कारण होता है ।

भावार्थ— शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ दृष्टि, अनुपगूहन अस्थिति करण अवात्सल्य और अग्रवभाना ये आठ दोष हैं तथा इनके विपरीत वा इनका त्याग करने से निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थिति करण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण प्रगट होते हैं । भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए मोक्ष मार्ग में वा देव गुरु शास्त्र के स्वरूप में वा तत्त्वों में " यह सत्य है वा नहीं " इस प्रकार की शंका करना दोष है । तथा ऐसी शंका कभी नहीं करना उस पर अटल श्रद्धान रखना निःशंकित गुण है इसको निःशंकित अंग कहते हैं । धर्म सेवन कर वा भगवान् की पूजा कर वा दान देकर किसी प्रकार की इच्छा करना आकांक्षा दोष है तथा ऐसी आकांक्षा न करना निःकांक्षित गुण है । किसी मुनि के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा दोष है और ग्लानि न करना किन्तु उनके गुणों में अनुराग रखना निर्विचिकित्सा गुण है । सब देवों को वा सब साधुओं को मानना मूढ़दृष्टि दोष है और भगवान् जिनेन्द्र देव के सिवाय किसी को देव नहीं मानना, निर्ग्रन्थ गुरु के सिवाय अन्य किसी को गुरु नहीं मानना, भगवान् जिनेन्द्र देव के वचनों को ही शास्त्र मानना अमूढ़ दृष्टि गुण है । किसी बालक वा अशक्त पुरुष के द्वारा धर्म कार्य में कोई दोष भी आ जाय तो उसको प्रगट कर देना अनुपगूहन दोष है और प्रगट न करना उपगूहन अंग वा गुण है । यदि कोई धर्मात्मा अपने कार्यों से श्रद्धान वा चारित्र्य से गिरता हो उसे छोड़ता हो तो उसे गिरने देना अस्थिति करण दोष है और उसको धर्म में लगा देना चारित्र्य वा श्रद्धान

मे भ्रष्ट न होने देना स्थिति करण गुण वा अंग है । धर्मात्मा पुरुषों में रत्नत्रय धारण करनेवाले पुरुषों में अनुराग न रखना दोष है और अनुराग रखना वात्सल्य नाम का गुण वा अंग है । धर्म की प्रभावना नहीं करना दोष है और धर्म की प्रभावना करना प्रभावना गुण है । इस प्रकार संक्षेप से आठ दोष और आठ गुण बतलाये । येही आठ गुण सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहलाते हैं ।

इसके सिवाय सम्यग्दर्शन में आठ मद तीन मूढ़ता और छह अनायतन ये सबह दोष और हे तथा इनका त्याग सबह गुण हो जाते हैं इस प्रकार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष और पच्चीस गुण कहलाते हैं। संक्षेप से इनका स्वरूप इस प्रकार है । ज्ञान का अभिमान करना, अपने वडप्पन का मद करना, कुल का मद, जाति का मद, बल का मद, ऋद्धि वा विभूतियों का मद करना, तपश्चरण का मद करना, और अपने धरीर का मद करना ये मद दोष हैं तथा इन आठों का मद न करना आठ गुण हो जाते हैं । देव मूढ़ता गुरु मूढ़ता और लोक मूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं । कुदेवों की सेवा करना बालू पत्थर के ढेर लगाकर पूजना देव मूढ़ता है, निर्ग्रन्थ मुनियों को छोड़कर अन्य रागी द्वेषी गुरुओं को मानना गुरु मूढ़ता है और नदी समुद्र में नहाना, पर्वत में गिरकर नदी में डूबकर मर जाना मत्ती होना आदि सब लोक मूढ़ता हैं ।

इन तीनों मूढ़ताओं का त्याग कर देना तीन गुण हो जाते हैं । कुदेव कुशाम्ब और कुगुरुओं को मानना तथा उनकी सेवा करने वालों का मानना छह अनायतन हैं और इन छहों का त्याग कर देना छह आयतन सम्यग्दर्शन के गुण हो जाते हैं । इस प्रकार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष और पच्चीस गुण बतलाये ।

आगे सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में प्रसिद्ध होनेवाले पुरुषों के नाम कहते हैं ।

रामगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणितो ।

चंपाए णिक्कंखा वणिधूवाणंतमहणामा ॥

राजगृहे निःशंकश्चोरो नाम्ना अंजनो भणितः ॥

चम्पायां निष्कांक्षा वणिक्सुताऽनन्तमती नाम्नी ॥ २८० ॥

अर्थ— राजगृह नगर मे एक अंजन नाम का चोर था वह निशंकित अंग मे प्रसिद्ध हुआ हे । तथा चंपापुर नगर में एक सेठ की पुत्री अमंतमती थी वह निःकाक्षित अंग मे प्रसिद्ध हुई हे ।

निविचिदिगिछो नाम उद्दयनो नाम रौरवे नगरे ।

रेवद मधुराणगरे अमूढ दिट्ठी मुण्येव्वा ॥ २८१ ॥

निविचिकित्से राजा उद्दयनो नाम रौरवे नगरे ।

रेवती मधुरा नगरे अमूढदुष्टिर्मन्तव्या ॥ २८१ ॥

अर्थ— रौरव वा रुद्रवर नगर का उद्दयन नाम का राजा निविचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध हुआ है और मधुरा नगर मे रेवती रानी अमूढदुष्टि अंग में प्रसिद्ध हुई है ।

ठिदिकरणमुणपउत्तो मगहा नगरन्मि वारिसेणो हु ।

हत्थिणिपुरम्भिनगरे वच्छल्लं धिरहुणा रइयं ॥ २८२ ॥

स्थितिकरणगुणप्रयुक्तो मगधनगरे वारिषेणो हि ।

हस्तिनापुरे नगरे वात्सल्यं विष्णुना रचितम् ॥ २८२ ॥

अर्थ— मगध नगर में वारिषेण नाम का राजपुत्र स्थिति करण अंग मे प्रसिद्ध हुआ है । हस्तिनापुर नगर में विष्णुकुमार मुनि वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध हुए है ।

उवगूहणमुण जुत्तो जिनदत्तोनाम तामलिसिणधरीए ।

वज्ज कुमारेणकया पहावणा चेव मधुराए ॥ २८३ ॥

उवगूहन गुणयुक्तो जिनदत्तो नाम ताम्रलिप्त नगर्याम् ।

वज्रकुमारेण कृता प्रभावता चैव मधुरायाम् ॥ २८३ ॥

अर्थ— ताम्रलिप्त नगर का रहने वाला सेठ जिनदत्त उपगूहन अंग मे प्रसिद्ध हुआ है और मधुरा नगर में वज्रकुमार मुनि ने जैन धर्म की प्रभावता कराकर प्रभावता अंग में प्रसिद्ध पाई थी इन सब महा-पुरुषों की सुन्दर कथाएं अन्य शास्त्रों से जान लेनी चाहिये ।

एरिस गुण अट्ठ जुयं सम्मत्तं जो वरेइ विट्ठित्तो ।

सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्वृत्तानोपपत्थायं ॥ २८४ ॥



अर्थ— इस प्रकार ऊपर जो सम्यग्दर्शन के आठ गुण बतलाये हैं उनके साथ चिन्त की दृढ़ता पूर्वक सम्यग्दर्शन धारण करता हुआ भगवान् जितेन्द्र देव के कहे हुए पदार्थों का श्रद्धान् करता है वह जीव सम्यग्दृष्टी कहलाता है । आगे नौ पदार्थों के नाम कहते हैं ।

ते पुण जीवा जीवा पुण्यं पावो य आसवो य तहा ।  
संवर निज्जरणं पि य बंधो मोक्खो य णाव होंति ॥ २८५ ॥

ते पुणः जीवाजीवौ पुण्यं पापञ्च आस्रवश्च तथा ।  
संवरौ निर्जराऽपि च बंधो मोक्षश्च नव भवन्ति ॥ २८५ ॥

अर्थ— जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नौ पदार्थ हैं ।

आगे जीवका स्वरूप कहते हैं ।

जीवो अणाद्द निचक्षो उधओग संजुवो देहमित्तो य ।  
कर्ता भोक्ता चेत्ता ण तु मुत्तो सहाव उद्धगई ॥ २८६ ॥  
जीवोऽनादिः नित्यः उपयोगसंयुतो देहमात्रश्च ।  
कर्ता भोक्ता चेतयता न तु मूर्तः स्वभावोर्ध्वगतिः ॥ २८६ ॥

अर्थ— यह जीव अनादि है, अनिधन है, उपयोग स्वरूप है शरीर के प्रमाण के समान है, कर्ता है भोक्ता है चेतना सहित है अमूर्त है और स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करने वाला है ।

पाणचउक्कपउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्वं ।  
ओवेइ वदुमाणं जीवत्तगुण समावण्णो ॥ २८७ ॥  
प्राण चतुष्क प्रयुक्तः जीविष्यति यो हि जीवतः पूर्वम् ।  
जीवति वर्तमाने जीवस्वगुणसमापन्नः ॥ २८७ ॥

अर्थ— इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण कहलाते हैं ये चारों प्राण बाह्य प्राण है और इस संसारी जीव के चारों प्राण रहते हैं । जो जीव पहले जीवित था अब जीवित है और आगे जीवित रहेगा वह जीव कहलाता है । इस प्रकार जो ऊपर लिखे चारों

प्राणों से जीवित रहता है वह जीवत्वगुण सहित जीव कहलाता है ।

पञ्जाण्यधि तस्मिन् दिष्टा आवृत्तिः देहग्रहणम्भि ।

अधुवत्तं पुन दिष्टं देहस्य विनाशने तस्म ॥

पर्यायेनापि तस्य हि वृष्टा आवृत्तिः देहग्रहणे ।

अधुवत्त्वं पुनः वृष्टं देहस्य विनाशने तस्य ॥ २८८ ॥

अर्थ— यह संसारी जीव अनेक पर्यायों धारण करता रहता है उसी के समान उसका आकार होजाता है । इस जीव में संकोच विस्तार होने की शक्ति है । जैसे दीपक घड़ में रख दिया जाय तो उसका प्रकाश उतना तथा उसे ही कमरे में रखने पर बढ कर उस कमरे के समान हो जाता है । इसी प्रकार जीव छोटा शरीर धारण करता है तब संकुचित होकर छोटे आकार वाला उसी छोटे शरीर के समान हो जाता है और जब बड़ा शरीर धारण करता है तो विस्तृत होकर उस बड़े शरीर के समान हो जाता है । यद्यपि जीव नित्य है कभी नष्ट नहीं होता तथापि शरीर के नाश होने से तथा दूसरा शरीर धारण कर लेने से वह अनित्य कहा जाता है इसके सिवाय इतना और समझ लेना चाहिये कि ऊपर जो चार प्राण बतलाये है उनके दस भेद हो जाते है क्योंकि स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियों के भेद है तथा आयु और श्वासोच्छ्वास को मिला कर दस भेद हो जाते है । इनमे से एकेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय कायबल आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते है । दो इन्द्रिय जीव के स्पर्शन रसना ये दो इन्द्रियां तथा कायबल वचनबल और आयु श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते है । तेइन्द्रिय जीव के स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियां कायबल वचनबल आयु श्वासोच्छ्वास ये सात प्राण होते है चौइन्द्रिय जीव के एक चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है इसलिय आठ प्राण होते है । असेनी पंचेन्द्रिय जीव के पांचों इन्द्रियां कायबल वचनबल आयु श्वासोच्छ्वास ये नौ प्राण होते है तथा सेनी पंचेन्द्रिय जीवों के दशों प्राण होते है । मन सहित जीवों को सेनी कहते है और मन रहित जीवों को असेनी कहते है । यह सब जीवों का स्वरूप व्यवहार नय से बतलाया है । निश्चय नय से

जिसके ज्ञानदर्शनरूप चेतना गुण हो उसको जीव कहते हैं। वह चेतना गुण संसारी मुक्त दोनों प्रकार के जीवों में रहता है।

आगे जीव के उपयोग गुण को कहते हैं।

सायारो अणयारो उवओगो द्विविह भेय संबुत्तो ।

सायारो अट्ठविहो चउप्पयारो अणायारो ॥ २८९ ॥

साकारोऽनाकार उपयोगो द्विविध भेदसंयुक्तः ।

साकारोऽष्टविधः चतुः प्रकारोऽनाकारः ॥ २८९ ॥

अर्थ— आत्मा के ज्ञान दर्शनरूप भावों को उपयोग कहते हैं। उस उपयोग के दो भेद हैं एक साकार उपयोग दूसरा अनाकार उपयोग। साकार उपयोग के आठ भेद हैं और अनाकार उपयोग के चार भेद हैं।

आगे साकार उपयोग को कहते हैं।

मइ सुइ उवहि विहंगा अण्णाण जुवाणि तिण्ण णाणाणि ।

सम्मण्णाणाणि पुणो केवल वट्ठाणि पंचेव ॥ २९० ॥

मतिश्रुतावधि विभंगानि अज्ञानयुक्तानि त्रीणि ज्ञानानि ।

सम्यग्ज्ञानानि पुनः केवलवृष्टानि पंचेव ॥ २९० ॥

अर्थ— कुमति ज्ञान कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान वा विभंगावधि ज्ञान ये तीनों ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाते हैं। तथा भगवान् जिनेन्द्र देव ने सम्यग्ज्ञान के पांच भेद बतलाये हैं।

आगे सम्यग्ज्ञान के पांच भेद बतलाते हैं।

मइणाणं सुयणाणं उवही मणपज्जय च केवल्यं ।

तिणिगसया छत्तीसा मई सुयं पुण वारसंगगयं ॥ २९१ ॥

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिः मनः पर्ययं च केवलम् ।

त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् मतिः श्रुतं पुनः द्वादशांगसम् ॥ २९१ ॥

अर्थ— मति ज्ञान श्रुत ज्ञान अवधि ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान ये पांच ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं इनमें से मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं तथा श्रुत ज्ञान के बारह अंग कहलाते हैं।

भावार्थ— मति ज्ञान के अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार भेद हैं। किसी पदार्थ को जानने के लिये सबसे पहले किसी भी इन्द्रिय से उसका दर्शन होता है उस दर्शन के अनन्तर जो प्रथम ज्ञान होता है उसको अवग्रह कहते हैं। जैसे दूर से देखकर यह पुरुष है ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। अवग्रह होने के अनन्तर उसके विशेष जानने की इच्छा को ईहा ज्ञान कहते हैं जैसे यह पुरुष दक्षिणी होना चाहिये। यह ईहा ज्ञान है। फिर यह दक्षिणी ही है ऐसे निश्चय रूप ज्ञान को अवाय कहते हैं और फिर उसको न भुलना धारणा है। यह चारों प्रकार का ज्ञान बहुत से पदार्थों का होता है, बहुत प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होता है, एक पदार्थ का होता है, एक प्रकार के पदार्थों का होता है, देखने मात्र से शीघ्र हो जाता है, देर से होता है, किसी एक भाग को जानकर शेष छिपे पदार्थ का ज्ञान होता है। प्रगट पदार्थ का होता है बिना कहे हुए ( बिना सुने ) पदार्थ का ज्ञान होता है कहे हुए का ज्ञान होता है ध्रुव स्वरूप ज्ञान होता है और अध्रुवरूप ज्ञान होता है। इस प्रकार बारह प्रकार से होता है और इस प्रकार मतिज्ञान के अडतालिस भेद हो जाते हैं। ये अडतालिस भेद पाँचों इन्द्रियों से तथा मन से होते हैं इस प्रकार दो सौ अठासी भेद हो जाते हैं। अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दो भेद हैं। पदार्थों के स्पष्ट ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं और स्पष्टता रहित ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहते हैं। किसी मिट्टी के सकोरे में एक दो तीन बूंद डालने से स्पष्ट नहीं होती उनका ज्ञान होना व्यंजनावग्रह है और और चौथी वा पाँचवी बूंद के स्पष्ट होने पर अर्थावग्रह है। उपर दो सौ अठासी भेद अर्थावग्रह के हैं। ऊपर व्यंजनावग्रह के ईहा अवाय धारणा नहीं होते तथा बहुत पदार्थों का वा एक पदार्थ का ज्ञान आदि बारह प्रकार का ज्ञान होता है और वह ज्ञान नेत्र और मन से नहीं होता केवल चार इन्द्रियों से होता है। इसलिये उसके अडतालिस भेद होते हैं। इस प्रकार दो सौ अष्टासी अर्थावग्रह के भेद और अडतालिस व्यंजनावग्रह के भेद मिल कर तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान के बारह अंग इस प्रकार हैं।

आचारंग, सूत्र कृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतकृदृशांग, अनुत्तरोपेपादिक-

देशांग, प्रश्न व्याकरणांग, विपाक सूत्रांग और दृष्टि वादांग । ये चार अंग कहलाते हैं ।

आगे अवधिज्ञान के भेद बतलाते हैं ।

देशावहि परमावहि सखावहि अवहि होइ तिरभेदा ।

भव गुण कारणभूया णामब्दा होइ णियमेण ॥

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिः अवधिः भवतिः त्रिभेदः ।

भवगुण कारणभूतः ज्ञातव्यो भवति नियमेन ॥ २६२ ॥

अर्थ— देशावधि परमावधि और सर्वावधि इस प्रकार तीन प्रकार का अवधिज्ञान होता है । इनमें उत्तरोत्तर जानने की शक्ति अधिक होती है । देशावधि के और परमावधिके उत्कृष्ट, मध्यम, अधम्य ये तीन भेद हैं । सर्वावधि का कोई भेद नहीं है । देशावधि के वर्धमान होयमान अवस्थित अनवस्थित अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाति प्रतिपाति इस प्रकार आठ भेद होते हैं । सर्वावधि के अवस्थित अनुगामी अननु- और अप्रतिपाति ये चार भेद होते हैं ।

आगे मनःपर्यय ज्ञान को कहते हैं ।

मणपज्जयं च बुद्धिहं रिउ विउलमइ तहेवाणायव्वं ।

केवलणाणां एकं सवत्थ पयासयणिक्खं ॥

मनः पर्ययश्च द्विविधः ऋजुबुध्दिपुलमती तथैव ज्ञातव्यः ।

केवलज्ञानं एकं सर्वथ प्रकाशकं नित्यम् ॥ २६३ ॥

अर्थ— मनः पर्ययज्ञान के दो भेद हैं । एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति । जो दूसरे के मन में ठहरे हुए सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थों को प्रत्यक्ष जाने उसको मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं । जो सरल मन में ठहरे हुए पदार्थों को जाने वह ऋजुमति है और जो कुकील मन में ठहरे हुए पदार्थों का भी जान ले वह विपुलमति है ।

अर्थ— ऋजुमति में विपुलमति अधिक और अधिक शुद्ध है । केवल ज्ञान एक है । वह नित्य है अनंत काल तक रहता है और लोक अलोक सब को प्रकाशित करता है सब को जो जानता है ।

एसो अट्ठपयारो णाणुवओगो हु होइ सायारो ।

जक्खु अचक्खु ओही केवलसहिओ अणायारो ॥

एषोष्टप्रकारो ज्ञानोपयोगो हि भवति साकारः ।

चक्षुरचक्षुरवधिः केवल सहितोऽनाकारः ॥ २९४ ॥

अर्थ— इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं और वह ज्ञानोपयोग साकार है । अनाकार वा आकार रहित उपयोग के चार भेद हैं अनाकार उपयोग दर्शन को कहते हैं । दर्शन के चार भेद हैं । चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन । किसी पदार्थ को चक्षुओं ने देखने को चक्षुदर्शन कहते हैं । चक्षु के सिवाय अन्य इन्द्रियों से देखना अचक्षुदर्शन है अवधि ज्ञान के साथ अवधि ज्ञान से पहले होने वाले दर्शन को अवधि दर्शन कहते हैं और केवल ज्ञान के साथ होने वाले दर्शन को केवल दर्शन कहते हैं । इस प्रकार उपयोग के बारह भेद बतलाये ।

आगे आत्मा का आकार बतलाते हैं ।

जम्हि भवे जे देहं तम्हि भवे तप्पमाणओ अप्पा ।

संहार वित्थर गुणो केवलणाणीहि उद्दिट्ठो ॥

यस्मिन् भवे यो देहः तस्मिन् भवे तत्प्रमाण आत्मा ।

संहार विस्तारगुणः केवलज्ञानिभिः उद्दिष्टः ॥ २९५ ॥

अर्थ— इस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह आत्मा अनेक योनियों में अनेक प्रकार के छोटे बड़े शरीर धारण करता है । जिस भाव में जैसा छोटा या बड़ा शरीर धारण करता है उस शरीर के प्रमाण के समान ही आत्मा का आकार हो जाता है । इसका कारण यह है कि इस आत्मा में संकोच और विस्तार होने की शक्ति है । इसलिये छोटे शरीर में जाता है तो संकुचित होकर छोटा आकार हो जाता है और बड़े शरीर में बड़ा हो जाता है ।

आगे यह जीव कर्ता भोक्ता है यह दिखलाते हैं ।

जो कत्ता सो भुत्ता व्यवहार गुणेण सोइ कम्मस्स ।

ण हु णिच्छएण भणिओ कत्ता भोत्ता य कम्माणं ॥

यः कर्त्ता सभोक्ता व्यवहार गुणेन भवति कर्मणाम् ।

न तु निश्चयेन भणितः कर्त्ता भोक्ता च कर्मणाम् ॥ २९६ ॥

अर्थ— यह जीव व्यवहार नय से जानावरणादि कर्मों का कर्त्ता है और यही आत्मा अपने आप किये हुए उन कर्मों के फलका भोक्ता है । निश्चय नय से न तो वह कर्मों का कर्त्ता है और न उन के फलका भोक्ता है । निश्चय नय से वह अपने शुद्ध स्वभावों का कर्त्ता है और उन्हीं शुद्ध स्वभावोंका भोक्ता है ।

आगे और भी कहने है ।

कम्ममलच्छादोवि य ण मूयह सो चेयण गुणं किं पि ।

जोणी लक्खगओ वि य जहिं कणय कदमे खित्तं ॥

कम्मलच्छादतोयि न जानाति विसत्तगुणं किमपि ।

योनिक्खगतोपि च यथा कदमे क्षिप्तम् ॥ २९७ ॥

अर्थ— यह संसारी आत्मा बीरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ कर्म रूपी मलसे आच्छादित हो रहा है इसलिये जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जाना नहीं जा सकता उसी प्रकार यह संसारी आत्मा अपने शुद्ध चेतना के स्वरूप को भी नहीं जानता है ।

आगे और भी कहने है ।

सुहमो अमुत्तित्तिवन्ती वण्णगंधादुपासपरिहीणो ।

पुग्गलमज्झिगओ वि य णय मित्तल्लह्णिमयसवभावं ॥

सूक्ष्मोऽमूर्तिमान् वर्णगंधावि स्पर्श परिहीनः ।

पुद्गलमध्यगतोपि च न च संचति निजकस्वभावम् ॥ २९८ ॥

अर्थ— यह आत्मा अत्यंत सूक्ष्म है अमूर्त है वर्ण रसगंध स्पर्श इन पुद्गलोंके चारों गुणों से रहित है । यद्यपि वह पुद्गलमय शरीर में रहता है पुद्गलमय जानावरणादि कर्मों से मिला हुआ है तथापि वह अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है । भावार्थ— आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप है यद्यपि वह ज्ञान दर्शन स्वभाव कर्मों से ढका हुआ

है। यद्यपि वह नष्ट नहीं होता, बना ही रहता है। अथवा आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है वह भी आत्मा में बना रहता है। कर्मों के उदय में उसकी विभाव परणति हो जाती है तथापि वास्तविक शुद्धता बनी ही रहती है।

आगे और भी कहते हैं।

स्वभावे णुद्धमई विदिसं परिहरिय गइ अउबकेण ।

गच्छेइ कम्मजुसो सुद्धो पुण रिज्जुगइ जाई ॥

स्वभावेनोर्ध्वगतिः विविशां परिहृत्य गतिचतुष्केन ।

गच्छति कर्मयुक्ताः शुद्धः पुनः ऋजुगतिं याति ॥ २९९ ॥

अर्थ— इस जीव का स्वभाव स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करना है। परंतु जो कर्म सहित जीव है वे विग्रह गति में चारों विदिशाओं को छोड़कर शेष छहों दिशाओं में गमन करते हैं। तथा जो शुद्ध जीव है वे ऋजुगति से ऊर्ध्व गमन ही करते हैं। भावार्थ— आकाश के प्रदेशों की पंक्ति ऊपर से नीचे पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण इस प्रकार छहों दिशाओं में है तथा विग्रह गति में जीवों की गति आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार होती है इसलिये वह छह दिशाओं में ही होती है विदिशाओं में नहीं होती।

आगे विग्रह गति में होनेवाली गति को दिखलाते हैं।

पाणि विमुक्ता लंगलि बंकगई होइ तह य पुण तइया ।

कम्माण काय जुत्तो दो तण्णि य कुणइ बंकाइ ॥

पाणिविमुक्ता लांगलिका वक्रगतिः भवति तथा च पुनः तृतीया ।

काम्मणकापयुक्ताः द्विप्रीणि करोति वक्राणि ॥ ३०० ॥

अर्थ— पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका इस प्रकार वक्र गति के तीन भेद हैं। विग्रह गति में इस जीव के काम्मण शरीर रहता है केवल काम्मण शरीर को धारण करनेवाले जीव एक दो वा तीन मोड़ लेते हैं। भावार्थ— एक शरीर को छोड़कर जब वह जीव दूसरा शरीर धारण करने के लिये जाता है तब उसकी उस गति को विग्रह गति



कहते हैं। उस समय जो बाणके के समान पीधो गति होती है उसको इषु गति वा ऋजुगति कहते हैं। हाथमे फेंके हुए पत्थर के समान जिसमें एक मोड़ लेनी पड़ती है उसको पाणिमुक्ता गति कहते हैं हलके मोड़ के समान जिसमें दो मोड़ लेनी पड़ती है उसको लांगलिका गति कहते हैं और चलने हुए बल के मूत्र के समान जिसमें तीन मोड़ लेनी पड़े उसको गोमूत्रिका गति कहते हैं। ऋजुगति वाला जीव जिस समय में निकलता है उसी समय में दूसरा शरीर प्राप्त कर लेता है। पाणि-मुक्ता गति वाला जीव दूसरे समय में पहुंचता है। एक समय उसका मोड़ लेने में लग जाता है। लांगलिका गति वाला तीसरे समय में पहुंचता है उसको दो समय दो मोड़ लेने में लगजाते हैं। गोमूत्रिका जीव चौथे समय में शरीर प्राप्त करता है उसको तीन समय तीन मोड़ लेने में लग जाते हैं। विग्रह गतिमें ऋगति वाला जीव निराहार नहीं रहता जिस समय निकलता है उसी समय पहुंचकर आहार ग्रहण कर लेता है। पाणिमुक्ता गति वाला एक समय निराहार रहता है। चौथे समय में पहुंच कर आहार वर्णिएँ ग्रहण कर लेता है।

तद्वै समए गिण्हइ चिरकयकम्मोदएण सो देहं ।

सुरणर णारवयाणं तिरियाणं चैव लेसवसो ॥

तृतीये समये गृह्णाति चिरकृत कर्मोदयेन स देहम् ।

सुरनरनारकाणां तिरश्चां चैव लेश्यावशः ॥ ३०१ ॥

अर्थ— अपनी अपनी लेश्याओं के निमित्त से देव मनुष्य तिर्यच देव आदि गतियों में अपने चिरकाल से उपार्जित किये कर्मों के उदय से जैसा शरीर धारण करना है वह शरीर पहले ही समय में वा दूसरे समय में वा तीसरे समय में अथवा चौथे समय में धारण कर लेता है।

सुह दुक्खं भुजंतो हिडवि जोणीसु सयसहस्सेसु ।

एयंवि यियल्लिदिय सयल्लिदिय पज्ज पज्जत्तो ॥

सुखदुःखं भुजानः हिण्डते योनिषु शतसहस्रेषु ।

एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय पर्याप्तापर्याप्तः ॥ ३०२ ॥

अर्थ— यह ससारी जीव इस प्रकार एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक आदि चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के सुख और दुःख भोगता रहता है ।

इस प्रकार अत्यंत संक्षेप से जीव तत्त्व का निरूपण किया ।

आगे अजीव पदार्थों का कहते हैं ।

होति अजीव दुर्विहा रूपा रूपा य रूवि चउ भेया ।

स्कंधंच तहा देसो स्कंधप्रदेशो य परमाणु ॥

भवन्ति अजीवा द्विविधा रूपरूपाश्च रूपिणश्चतुर्भेदः ।

स्कंधश्च तथादेशः स्कंध प्रदेशाश्च परमाणुः ॥ ३०३ ॥

अर्थ— अजीव पदार्थों के दो भेद हैं एक रूपी और दूसरा अरूपी उनमें रूपी पदार्थ एक पुद्गल है शेष सब अरूपी है । रूपी पुद्गल द्रव्य के भी दो भेद हैं एक परमाणु और दूसरा स्कंध । स्कंध के फिर तीन भेद होते हैं । स्कंध, स्कंध देश और स्कंधप्रदेश । पुद्गलका सबसे छोटा भाग परमाणु कहलाता है, उसके फिर टुकड़े नहीं होते । वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है । वह एक प्रदेशी ही कहलाता है उसमें और प्रदेश नहीं होते । वही एक प्रदेश, आदि है वही मध्य है और वही अंत है । उसमें एक रस रहता है एक गंध रहता है एक वर्ण रहता है और दो स्पर्श रहते हैं । वह अत्यंत सूक्ष्म होता है और अन्य स्कंधादिकों का कारण भूत होता है । अनंतानंत परमाणु मिलकर जब बंधरूप परिणत हो जाते हैं तब उसको स्कंध कहते हैं । स्कंध के आधे भागको देश कहते हैं और देश के आधे भागको प्रदेश कहते हैं । जिसको पकड़ सके कहीं रख सके फेंकसके इस प्रकार काम में आनेवाले पृथ्वी जल वायु अग्नि आदि सब स्कंध पुद्गल हैं बहुत से ऐसे भी स्कंध हैं जो सूक्ष्म होते हैं पकड़ने में नहीं आते परंतु अनंत परमाणुओं के समूह से बने होते हैं ।

यही बात आगे दिखलाते हैं ।

णिहिला वपं च खंधा तस्स य अद्धं च वुच्चदे देसो ।

अद्धं च पदेसो अविभागेहोद परमाणु ॥

निखिला बह्वदच्च स्कन्धः तस्यचअर्थ उच्यते देशः ।

अर्धार्धं च प्रदेशोऽविभागी भवति परमाणुः ॥ ३०४ ॥

अर्थ— समस्त परमाणुओं का पिंड स्कंध कहलाता है उसका आधा देश कहलाता है, उसका भी आधा प्रदेश कहलाता है और जिसका फिर विभाग न हो सके ऐसे सबसे छोटे भाग को परमाणु कहते हैं ।

आगे अन्य अजीव पदार्थों को कहते हैं ।

धम्माधम्मागासा अरुविणो होंति तह य पुण कालो ।

गइ ठाण कारणावय उग्गाहण वत्तणा कमसो ॥

धर्माधर्माकाशाः अरुषा भवन्ति तथा च पुनः कालः ।

गतिस्थान कारणमपि चावगाहनस्य वर्तनायाः क्रमशः ॥ ३०५ ॥

अर्थ— धर्म अधर्म आकाश और काल ये पदार्थ अरूपी हैं और इसीलिये ये अमूर्त हैं । इनमेंसे धर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की गति में कारण है, अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की स्थिति में कारण है, आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में कारण है और काल द्रव्य द्रव्यों की पर्याय बदलने में कारण है ।

आगे इसी बातको विशेष रूप से दिखलाते हैं ।

जीवाण पुग्गलाणं गइप्पव ताण कारण धम्मो ।

अह मच्छाणं तोयं स्थिरभूया णेवसो णेई ॥

जीवानां पुद्गलानां गति प्रवृत्तानां कारणं धर्मः ।

यथा भस्त्पानां तोयं स्थिरीभूतान् नैव स नयति ॥ ३०६ ॥

अर्थ— गमन करने की शक्ति जीव और पुद्गल इन दोनों पदार्थों में है । जिस प्रकार गमन करने की शक्ति मछली में है तथापि वह बिना पानी के गमन नहीं कर सकती । उसकी गति में पानी सहायक है उसी प्रकार गमन करने में प्रवृत्त होनेवाले जीव पुद्गलों को धर्म

द्रव्य सहायक होता है धर्म द्रव्य एक अमूर्त पदार्थ हैं और वह वह समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर भरा हुआ है । वह आकाश के समान एक अखंड द्रव्य है और मछलियों को पानी के समान जीव पुद्गलों को गमन करने में सहायक होता है । परंतु जो जीव पुद्गल ठहरे हुए हैं उनको न तो चलाता है न चलने की प्रेरणा करता है । यदि वे चलते हैं तो सहायक हो जाता है ।

आगं अधर्म द्रव्य को कहते हैं ।

ठिठो कारणं अधम्मो विसामठाणं च होइ नइ छाया ।

यहियाणं रुक्खस्स य गच्छंतं णेव सो धरई ॥

स्थिति कारणं अधर्मः विश्रामस्थानं च भवति यथा छाया ॥ ३०७ ॥

पथिकानां वृक्षस्य च गच्छतः नैव स धरति ॥ ३०७ ॥

अर्थ— धर्म द्रव्य के समान ही अधर्म द्रव्य है अरूपी और समस्त लोकाकाश में व्याप्त है । वह जीव जो पुद्गलों को ठहरने में सहायक होता है । जिस प्रकार गमन करते हुए पथिकों के लिये विश्राम स्थान में ठहरने के लिये वृक्ष की छाया सहायक होती है उसी प्रकार जो जीव पुद्गल गमन करते हुए ठहर जाते हैं । वा ठहरे हुए उनको ठहरने में अधर्म द्रव्य सहायक हो जाता है । जिस प्रकार छाया गमन करने वाले पथिक को रोकतीं नहीं उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी गमन करने वाले जीव पुद्गलों को रोकता नहीं ।

आगे आकाश द्रव्य को कहते हैं ।

सब्बेसिं दब्बाणं अवयासं वेइ तं तु आयासं ।

तं पुणु दुविहं भणियं लोयालोयं च जिणसमए ।

सर्वेषां द्रव्यानामवकाशं ददाति तत्त्वावकाशम् ।

तत्पुनः द्विविधं भणितं लोकालोकं च जिनसमये ॥ ३०८ ॥

अर्थ— जो जीव अजीव आदि समस्त पदार्थों को अवकाश देने में समर्थ है उसको आकाश कहते हैं । भगवान् श्री जितेन्द्र देव ने उसके दो भेद बतलाये हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश । भावार्थ—आकाश

एक अखंड अरुनी द्रव्य है तथा वह सर्वत्र व्याप्त है । उसमें से आकाश के मध्यभाग में लोकाकाश है । जितने आकाश में धर्म अधर्म द्रव्य भरे हुए हैं उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं । लोकाकाश और अलोकाकाश विभाग करने वाला धर्म द्रव्य ही है । जितने आकाश में द्रव्य है उतना ही आकाश लोकाकाश है । उसी लोकाकाश में जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आदि समस्त द्रव्य भरे हुए हैं । जितने आकाश में जीवादिक पदार्थ दिखाई पड़े उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं ।

आगे काल द्रव्य को कहते हैं ।

वतणगुण जुताणं ब्रव्वाणं हाइ कारणं कालो ।

सो दुविह भेय भिण्णो परमत्थो होइ व्यवहारो ॥

वर्तनागुणयुक्तानां द्रव्याणां भवति कारणं कालः ।

स द्विविधभेदभिन्नः परमार्थो भवति व्यवहारः ॥ ३०९ ॥

अर्थ— जो जीवादिक द्रव्य प्रति समय परिवर्तन स्वरूप होते हैं उनके उस परिवर्तन में काल द्रव्य कारण है । उस काल के दो पद हैं एक परार्थ काल और दूसरा व्यवहार काल ।

आगे परमार्थ काल को कहते हैं ।

परमत्थो कालाणु लोथपवेसु हि संठिया णिच्चं ।

एक्केक्के एक्केक्का अपएसा रयण रासिच्च ॥

परमार्थः कालाणुः लोकप्रवेशे हि संस्थिता नित्यम् ।

एकैकस्मिन् एकैका अप्रवेशा रत्नानां राशिरिव ॥ ३१० ॥

अर्थ— काल के जो अणु हैं उनको परमार्थ काल कहते हैं । वे कालाणु लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु ठहरा हुआ है । इसलिये लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं वे आपसमें मिलते नहीं हैं किंतु रत्नों की राशिके समान अलग अलग ही रहते हैं । इन्हीं कालाणुओं को परमार्थ काल कहते हैं । इन्हीं कालाणुओं से व्यवहार काल प्रगट होता है । पुद्गल का एक परमाणु जितने समय में एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश तक पहुंचता है उतनी देर को एक समय कहते हैं ।

यही बात आगे कहते हैं ।

वट्टण कालो समयो पुग्गलपरमाणु वाण संजाओ ।

व्यवहारस्स य मुख्यो उत्पणो तोद भावो स ॥

वर्तनाकालः समयः पुद्गलपरमाणूनां संजातः ।

व्यवहारस्य च मुख्यः उत्पद्यमानोऽतोतो भावो ॥ ३११ ॥

अर्थ— वर्तना काल जो मुख्य काल है । उस से व्यवहार काल उत्पन्न हो जाता है । कालाणु अणु रूप है इसलिये उससे उत्पन्न हुआ व्यवहार काल भी सबसे छोटा समय रूपी ही होता है । तथा वह व्यवहार काल पुद्गल परमाणुओं के निमित्त में होता है । अर्थात् एक पुद्गल का परमाणु जितनी देर में एक कालाणु से दूसरे कालाणु तक जाता है तथा मंद गति से जाता है तब एक एक समय होता है । ऐसे समय अनंतानंत बीत गये और आगे अनंतानंत समय होंगे । इस प्रकार भूत वर्तमान और भविष्य के भेद से उस व्यवहार काल के तीन भेद हो जाते हैं ।

आगे व्यवहार काल के और भी भेद कहते हैं ।

तेसिं पि थ समयानं संखारहियाण आवली होई ।

संखेज्जा वलि गुणिओ उस्सासो होइ जिणबिट्ठो ॥

तेषामपि च समयानां संख्यारहितानां आवली भवति ।

संख्यातावली गुणित उच्छ्वासो भवति जिनवृष्टः ॥ ३१२ ॥

अर्थ— असंख्यात समयों की एक आवली होती है तथा संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है ऐसा भगवान् जिनेंद्रदेव ने कहा है ।

सत्तु स्सासे थोओ सत्त थोएहि होइ लअ इक्को ।

अट्ठत्तीसद्ध लवा णाली वेणालिया मुहुत्तं तु ॥

सप्तोच्छ्वासेन स्तोकाः सप्तस्तोकैः भवति लव एकः ।

अष्ट त्रिंशद्वर्धलवा नाली द्विनालका मुहुत्तंस्तु ॥ ३१३ ॥

अर्थ— सात उच्छवागों का एक स्तोक होता है । सात स्तोकों का एक लव होता है । साडे अड़तीस लवों की एक नाली है और दो नाळियों का एक मुहूर्त होता है ।

तीस मुहुर्तो दिवसो पणद्वह दिवसेहि होइ पक्षं तु ।

विहि पक्षेहि य मासो रिउ एक्का बेसि मासेहि ॥

त्रिंशन्मुहूर्तं विवसं पंच वशदिवसैः भवति पक्षस्तु ।

द्वाभ्यां पक्षाभ्यां च मासः ऋतुरेको द्वाभ्यां मासाभ्याम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ— तीस मुहूर्त का एक दिन होता है, पंद्रह दिन का एक पक्ष होता है दो पक्ष का एक महीना होता है और दो महीने की एक ऋतु होती है ।

रिउ तिय भूयं अयणं अयण जुवलेण होइ वरिसोक्को ।

इय ववहारो उत्तो कमेण विद्धि गओ विविहो ॥

ऋतु त्रिभूतमयनं अयन युगलेन भवति वर्ष एकः ।

एष व्यवहार उक्तः क्रमेण वृद्धिगतो विविधः ॥ ३१५ ॥

अर्थ— तीन ऋतु का एक अयन होता है और दो अयनों का एक वर्ष होता है । इस प्रकार अनुक्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ अनेक प्रकार का व्यवहार काल कहा है ।

एयं तु वब्बच्छक्कं जिणेहि पंचस्थिकाइयं ऋणियं ।

धज्जिय कायं कालो कालस्स पएसयं णत्थि ॥

एतत्तु द्रव्य षट्कं जिनेःपंचास्ति कायिकं भणितम् ।

वर्जयित्वा कायं कालं कालस्यं प्रवेशो नास्ति ॥ ३१६ ॥

अर्थ— इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने छह द्रव्यों का स्वरूप कहा है । इन छहों द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं । जिनकी सत्ता हो उनको अस्ति कहते हैं और जो काय वा शरीर के समान अनेक प्रदेश वाले हों उसको काय कहते हैं । जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश ये पांचों द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इसलिये अस्ति-काय कहलाते हैं । काल के प्रदेश नहीं है वह एक ही प्रदेश है इसलिये

उसकी अस्तित्वात् नहीं कहते हैं ।

त्रै पुण रूपी ब्रह्मं गंधरफास वण्ण संजुत्तं ।

लहि ऊण जीव विट्ठा कारणं कम्मबंधस्स ॥

यत्पुनः रूपि ब्रह्मं गंधरसरूपशीर्षणसंयुक्तम् ।

लब्ध्वा जीवस्थितं कारणं कर्मबंधस्त ॥ ३१७ ॥

अर्थ— स्पर्श रस गंध वर्ण इन चारों गुणों सहित जो रूपी पुद्गल द्रव्य है वह जीव में रहनेवाले शुभ अशुभ भावों को पाकर कर्म बंध का कारण हो जाता है । भावार्थ— पुद्गल का एक भेद कर्मवर्ण है । वे समस्त संसार में फैली हुई हैं । जब यह जीव अनेक शुभ वा अशुभ भाव करता है तभी वे वर्णणाएँ उन शुभ अशुभ भावों की निमित्त पाकर कम रूप परिणत हो जाती और इस प्रकार वे ही कर्म वर्णणाएँ कर्म बंध का कारण बन जाती हैं । इस प्रकार अजीव पदार्थ का निरूपण किया ।

अत्र आगे पुण्य पाप को कहते हैं ।

सम्मत्तसुववएहि य कसाय उवसमण गुणसमाउत्तो ।

जो जीवो सो पुण्णं पापं विवरिय दोसाओ ॥

सम्यत्कश्चु तत्रतः कषायोपशमनगुणसमायुक्तः ।

यो जीवा स पुण्य पाप विपरीत दोषतः ॥ ३१८ ॥

अर्थ— जब यह जीव सम्यग्दर्शन को धारण कर लेता है, भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए शास्त्रों को जान लेता है, व्रतों को धारण कर लेता है और जिसकी कषायें सब शांत हो जाती हैं उस समय वह जीव पुण्यरूप कहलाता है अर्थात् ऊपर लिखे सब कारणों से पुण्य कर्म की प्राप्ति होती है तथा उसके विपरीत हिंसा आदि पाप करना मिथ्यात्व धारण करना मिथ्या शास्त्रों का अध्ययन करना आदि पाप कहलाते हैं आठ कर्मों में से साता वेदनीय, शुभ नाम, ऊँच गोत्र, और शुभ आयु ये पुण्य कर्म हैं तथा जानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, असाता वेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु और नीच गोत्र ये पाप कर्म हैं । इस प्रकार संक्षेप से पुण्य पाप का स्वरूप कहा ।



आगे आस्रव संवर का स्वरूप कहते हैं ।

गिरि निग्गल गल्लवाहो पल्लिसद् सरणिं जहाणपरयं ।

लहिऊण जीव चिठ्ठा तह कम्मं भावि आवसई ॥

गिरि निर्गत नदी प्रवाहः प्रविशति सरसि यथान्वरतम् ।

लब्ध्वा जीवस्थितं तथा कर्म भावि आस्रवति ॥ ३१९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार किसी नदी का प्रवाह किसी पर्वत से निकलता है और वह किसी सरोवर में निरंतर प्रवेश करता रहता है, उसी प्रकार जीव के शुभ अशुभ परिणामों को पाकर आगामी काल के लिये कर्मों का आस्रव होता रहता है ।

आसवइ सुहेण सुहं असुहं आसवइ असुहं जोएण ।

जइ णइजलं तलाए समलं वा णिम्मलं विसई ॥

आस्रवति शुभेन शुभं अशुभमास्रवति अशुभ योगेन ।

यथा नदी जलं तडागे समलं वा निर्मलं विशति ॥ ३२० ॥

अर्थ— कर्मों का आस्रव मन वचन काय इन तीनों योगों से होता है । अशुभ योगों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है और शुभ योगों से शुभ कर्मों का आस्रव होता है । मन वचन काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं । जो प्रवृत्ति सम्यक् रूप होती है व्रत चारित्र्य रूप होती है वह शुभ प्रवृत्ति कहलाती है इसी को शुभ योग कहते हैं । शुभ योगों से पुण्य कर्मों का आस्रव होता है तथा जो प्रवृत्ति हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह रूप होती है, राग द्वेष मोह रूप होती है वह अशुभ प्रवृत्ति कहलाती है इसी को अशुभ योग कहते हैं, और ऐसे अशुभ योगों से पाप कर्मों का आस्रव होता है ।

आगे संवर को कहते हैं ।

आसवइ जं तु कम्मंण वय काएहि रायदोसेहि ।

ते संवरइ निरुत्तं तिगुत्तिगुत्तो निरालंबो ॥

आस्रवति यत् कर्म मनोवचन कार्यं रागद्वेषः ।

तत्संयुणोति निरुत्तं त्रिगुप्तिं गुप्तो निरालम्बः ॥ ३२१ ॥

अर्थ - रागद्वेष पूर्वक होने वाली मन वचन काय की क्रियाओं में जिन कर्मों का आश्रय होता है वे कर्म उन मन वचन काय की क्रियाओं को रोक देने से फिर नहीं आते । इस का भी कारण यह है कि कर्मों के आने के लिये मन वचन काय की क्रियाएं ही कारण होती हैं यदि वे क्रियाएं सर्वथा रोक दी जायें तो फिर उन कर्मों के आने के लिये कारण वा आलंबन ही नहीं रहता है । बिना आलंबन वा कारण के वे कर्म आही नहीं सकते । इसी को संवर कहते हैं । वह संवर तीनों प्रकार की गुप्तियों से होता है । मन की क्रिया को सर्वथा रोक देना मनो गुप्ति, वचन गुप्ति और काय की क्रिया को सर्वथा रोक देना काय गुप्ति है ।

जा संकल्पवियप्यो ता कस्मं असुह सुह य दायारं ।

लब्धे सुद्ध सहाये सुसंवरो उह्यकस्मस्स ॥

यावत्संकल्पविकल्पः तावत्कर्म अशुभशुभवात् ।

लब्धे शुद्धस्वभावे सुसंवरः उभयकर्मणः ॥ ३२२ ॥

अर्थ- इस जीव में जब तक सकल्प विकल्प होता है तब तक शुभ कर्म वा अशुभ कर्म आते ही रहते हैं । शुभ संकल्पों से शुभ कर्म आते हैं और अशुभ संकल्प से अशुभ कर्म आते हैं । जब दोनों प्रकार के संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं तब शुभ अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का संवर हो जाता है ।

णट्ठे मणलंरूपे इन्द्रियधाधारवज्जिए जीवे ।

लब्धे सुद्ध सहाये उभयस्स य संवरो होई ॥

नष्टे मनः संकल्पे इन्द्रियव्यापारवजिते जीवे ।

लब्धे शुद्ध स्वभावे उभयस्स संवरो भवति ॥ ३२३ ॥

अर्थ- जिस जीव के मन के समस्त सकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं, समस्त इंद्रियों के व्यापार नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रगट हो जाता है तब दोनों प्रकार के शुभ अशुभ कर्मों का संवर हो जाता है । इस प्रकार संक्षेप में संवर का स्वरूप कहा ।

आगे बंध का स्वरूप कहते हैं ।

जीव कम्माण उहयं अण्णोणं जो पएस पवेसो हु ।  
 जो निणवेरहि वंधो भणितो इय विगयमोहेहि ॥  
 जीवकर्मणोरुभयोरन्धोन्यः धः प्रदेशप्रवेशस्तु ।  
 स जिनवरैः बन्धो भणित इति विमत मोहः ॥ ३२४ ॥

अर्थ— जीव के प्रदेश और कर्म के प्रदेश दोनों ही जब एक दूसरे के साथ परस्पर मिल जाते हैं उस को मोह रहित भगवान् जिनेन्द्रदेव बंध कहते हैं ।

जीवपएसेवकेके कम्मपएसा हु अंतपरिहोणा ।  
 होति घणा निविभूया सो बंधो होइ णायब्बो ॥  
 जीवप्रदेशे एकैकस्मिन् कर्मप्रवेशा हि अन्तपरिहोनाः ।  
 भवन्ति घना निविडमूताः स बन्धो भवति ज्ञातव्यः ॥ ३२५ ॥

अर्थ— जीव के एक एक प्रदेश के साथ अनंतानंत कर्मवर्गणाए बंधी हुई है और वे सब वर्मणाएं घनीभूत अंधकार के समान इकट्ठी होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ बंधी है । इस प्रकार जो आत्मा और कर्मों के प्रदेश परस्पर मिले हुए हैं उसको बंध समझना चाहिये ।

आगे यह कर्म बंध इस जीव के साथ कवसे है और कैसे होता है मो कहते हैं ।

अस्थि हु अणाइभूया बंधो जीवस्स विविह कस्मेण ।  
 तस्सोदएण जायइ भावो पुण रायवोसमओ ॥  
 अस्त्यनादि भूतो बन्धो जीवस्य विविधकर्मणः ।  
 तस्योदयेन जायते भावः पुन रागद्वेषमयः ॥ ३२६ ॥  
 भावेण तेण पुणरपि अण्णो बहु पुगला हु गगंति ।  
 जह तुप्पियपसस्स य निविडा रेणुब्ब लग्गंति ॥  
 भावेन तेन पुनरपि अन्ये बहवः पुद्गला हि लगन्ति ।  
 यथा घृतपात्रस्य च निविडा रेणवो लगन्ति ॥ ३२७ ॥

अर्थ— इस संसारी जीव के साथ अनेक प्रकार के कर्मों का बंध अनादि काल से लगा हुआ है जब उन कर्मों का उदय होता है तब इस

जीव के परिणाम राग द्वेष रूप हो जाते हैं । तब राग द्वेष रूप परिणामों के निमित्त ने फिर अनेक अन्य पुद्गल कर्म वर्णणाएँ जीव के साथ कर्म बंध रूप परिणत हो जाती हैं । जिस प्रकार घी के चिकने वर्तन पर धूल आ आ कर चिपक जाती है इसी प्रकार राग द्वेष परिणामों के होने ही भक्त बचन वाक्य की क्रियाओं के द्वारा फिर अनेक प्रकार के कर्मों का बंध हो जाता है । इस प्रकार पूर्व संचित कर्मों के उदय में राग द्वेष रूप परिणाम होने हैं और राग द्वेष रूप परिणामों में फिर कर्मों का बंध होता है । यह परंपरा मोक्ष प्राप्त होने तक बराबर चलती रहती है ।

एककलमएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेयेहि ।

परिणवड आयु कम्मं भूयाउ सेसेण ॥

एक समयेन बद्धं कर्म जीवेण सप्तभेदैः :

परिणति आयुः कर्मबद्धं भूतायुःशेषेण ॥ ३२८ ॥

अर्थ— जीव के साथ प्रत्येक समय में बंधे हुए कर्म सात भेदों में बंट जाते हैं । ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय नाम गोत्र अंतराय इन सातों कर्मों में बंट जाते हैं । आयु कर्म का बंध त्रिभाग में अर्थात् आयु के दो भाग बीत जाने पर होता है तथा उस समय भी आयु कर्म का बंध हो अथवा और भी आगे हो वा अंत समय में हो । जब आयु कर्म का बंध हो जाता है तब उसको भी भाग मिलने लगता है । इस प्रकार कर्मों का बंटवारा होता है ।

आगे बंध के भेद बतलाते हैं ।

सो बंधो चउभेओ नायव्वो होइ सुत्तणिहिदुओ ।

पयडि टिठदि अणुभागो पएसबंधो पुरा कहिओ ॥

ल बन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति सुत्र निर्विष्टः ।

प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेश बंधः पुरा कथितः ॥ ३२६ ॥

अर्थ— भगवान् जिनेन्द्रदेव के हुए सिद्धांत शास्त्रों में वह बंध चार प्रकार का कहा है । तथा प्रकृतिबंध स्थितिबंध अनुभाग बंध और प्रदेश बंध ये बंध के चार भेद हैं ।

णाणाण दंसणाणं आवरणं वेदणीयं मोहणीयं ।

आउस्सं णाम गोदं अंतरायाणि पयडीओ ॥

ज्ञानान्तरायाणां आवरणं वेदनीयं मोहनीयम् ।

आदुष्कं नाम गोत्रं अन्तरायः प्रकृतयः ॥ ३३० ॥

अर्थ— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ प्रकृतिबंध के भेद हैं ।

आगे इनके भेद कहते हैं ।

णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिदिट्ठं ।

जह पडिमोक्खरि खित्तं छावणयं होइ कप्पडयं ॥

ज्ञानावरणं कर्म पंचविधं भवति सूत्रं निदिष्टम् ।

यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं छादनकं भवति कपटकम् ॥ ३३१ ॥

अर्थ— जिस प्रकार किसी प्रतिमा के ऊपर कपड़े का आच्छादन डाल देने से प्रतिमा ढक जाती है उसी प्रकार जो आत्मा के ज्ञान गुण को ढक लेता है उसको ज्ञानावरण कर्म कहते हैं । उस ज्ञानावरण कर्म के पांच भेद हैं । मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्यय ज्ञानावरण, और केवल ज्ञानावरण । ऐसा सिद्धांत सूत्र में कहा है ।

दंसण आवरणं पुण जह पडिहारो विणिवइ वारम्मि ।

तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाएण्हं सुत्तम्मि ॥

दर्शनावरणं पुनः यथा प्रतिहारो वारयति द्वारे ।

तत्पञ्चविधं प्रोक्तं स्फुटार्थवादिभिः सूत्रे ॥ ३३२ ॥

अर्थ— जिस प्रकार प्रतिहार वा द्वारपाल द्वारपर बैठा रहता और राजा के दर्शन नहीं होने देता । जाने वालों को द्वारपर रोक देता है उसी प्रकार जो आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट न होने दे, उसको ढकले, उसको दर्शनावरण कर्म कहते हैं । उस दर्शनावरण कर्म के नौ भेद हैं । इस प्रकार स्पष्टवादी भगवान् जिनेंद्रदेव ने अपने सिद्धांत सूत्रों में कहा है । चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण,

केवदशेनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, और स्त्यान गृध्रिये नौ भेद दर्शनावरण के हैं ।

मोहेद् मोहणीयं जह मदरा अहध कोदमा पुरिसं ।

तह अठ्ठाईस विभिण्णं णायव्वं जिणुवएसेण ॥

मोहयति मोहनीयं यथा मदिरा अथवा कोद्वं पुरुषम् ।

तथा अष्टाविंशति विभिन्नं ज्ञातव्यं जिनोपदेश ॥ ३३३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार मद्य पुरुषों को मोहित कर देता है, अथवा कोदों पुरुषों को मोहित कर देता है उसी प्रकार जीवों को जो मोहित कर देता है उसको मोहनीय कर्म कहते हैं । उस मोहनीय के अठ्ठाईस भेद भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं । मोहनीय के दो भेद हैं दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय । दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं । मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व । चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं । अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्याना-वरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ । हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवद, नपुंसक वेद । इस प्रकार मोहनीय कर्म के अठ्ठाईस भेद हैं ।

महुलित्त खग सरिसं बुविहं पुण होइ वेयणीयं तु ।

सायासाय विभिण्णं सुह बुक्खं देइ जीवस्स ॥

मधुलिप्त खगसदृशं द्विविधं पुनः भवति वेदनीयं तु ।

सातासात विभिन्नं सुखदुःखे ददाति जीवाय ॥ ३३४ ॥

अर्थ— जिस प्रकार शहदलपेटी तलवार की धार चाट लेने पर मीठी लगती है परंतु जीभ कट जाने से दुःख अधिक होता है उसी प्रकार जो कर्म जीवों को सुख दुःख देता है उसको वेदनीय कर्म कहते हैं । उसके दो भेद हैं साता वेदनीय और असाता वेदनीय । साता वेदनीय जीवों को सुख देता है और असाता वेदनीय दुःख देता है ।

आऊ चउप्पयारं सुर णारय मणुय तिरिय गइवद्धं ।

हड्डिस्सि पुरिस तुल्लं जीवे भवधारण समत्थं ॥

आयुश्चतुःप्रकारं सुरतारक मनुष्य तिर्यग्गतिबद्धम् ।

हलि क्षिप्त पुरुष तुल्यं जीवे भवधारणम् समर्थम् ॥ ३३५ ॥

अर्थ— जिस प्रकार जिसका पांव ( पैर ) काठ में फंसा हुआ है वह काठ उस पुरुष को कहीं जाने नहीं देता, वहीं रोख रखता है उसी प्रकार जो कर्म एक ही शरीर में रोक् रक्खे उसको आयु कर्म कहते हैं उसके चार भेद हैं देवायु, नरकायु, मनुष्य आयु और तिर्यच आयु । यह आयु कर्म ही भव धारणा कराना करता है ।

चित्तपटवविचित्रं गणना नामोहि बलणं नाम ।

तेणवद् संखगुणियं गड् जाड् शरीर आर्द्धिहि ।

चित्रपटवत् विचित्रं नानानामभिः वर्तनं लामं ।

त्रिनवतिः संखगुणितं गतिजातिशरीरादिभिः ॥ ३३६ ॥

अर्थ— जिस प्रकार किसी वस्त्रपर अनेक प्रकार के चित्र बनाने हैं उसी प्रकार जो गति जाति शरीर आदी अनेक नामों को जो बनावे उसको नाम कर्म कहते हैं । उसके तिरानवे भेद हैं । देवगति, नरक गति, मनुष्यगति, तिर्यचगति, एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रिय जाति, तेइन्द्रिय जाति, चौइन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, आदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारिक शरीर, तैजस शरीर, कामण शरीर, आदारिक शरीर— रांगोपांग, वैक्रियिक शरीरांगोपांग, आहारकशरीरांगोपांग, स्थान निर्माण प्रमाण निर्माण, आहारक शरीर बंधन आदि पांचों शरीरों के पांच बंधन, आदारिकशरीर संचात आदि पांचों शरीरों के पांच सांघत, सम— चतुरस्रसंस्थान, त्र्यगोथ परिमंडल संस्थान, स्वातिक संस्थान, कुवज्जक संस्थान, वामन संस्थान, हुंडक संस्थान, वज्र वृषभ नाराच संहनन, वज्र नाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्द्ध नाराच संहनन, कोलक संहनन, असंप्राप्तासृपाटक संहनन, कर्कश, मृदु, गुरु, लघु स्निग्ध, रुक्ष, शीत, उष्ण ये आठ स्पर्श, तिक्त, कटुक कषाय, आम्ल, मधुर ये पांच रस, मुरभि, अमुरभि, दो गंध कृष्ण, नील, रक्त, पीत, शुल्क ये पांच वर्ण नरक गत्यानु पूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी देव गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपधात, परधात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, सादारण, अस, स्थावर, सभेग, दुर्भेग, सुस्वर, दुःस्वर

शुभ, अशुभ, सूक्ष्म, वादर पर्याप्तक, अपर्याप्तक, स्थिर, अस्थिर, आदेश्य, अनोदय यशस्कीर्ति, अयशकीर्ति तीर्थकरत्वं ये तिरानवे प्रकृतियां नाम कर्म की है ।

गोदं कुलाल सरिसं णिच्चुच्च कुलेसु पायणे दण्डम् ।  
घट रंजणाइ करणे कुंभकारो जहा णिउणो ॥  
गोत्रं कुलाल सदृशं नीचोच्चकुलेषु प्रापणे वक्ष्यम् ।  
घट रंजनावि करणे कुम्भकारो यथा निपुणः ॥ ३३७ ॥

अर्थ— जिस प्रकार कुंभार छोटे वा बड़े घड़े बनाने में निपुण होता है उसी प्रकार जो ऊँच गोत्र में उत्पन्न करे वह ऊँच गोत्र है और नीच कुल में उत्पन्न करे वह नीच गोत्र है । गोत्र कर्म के ये दो भेद हैं ।

जइ भंडयारि पुरिसी घणं निवारैइ रायणा विण्णं ।  
तह अंतराय कम्मं निवारणं कृणइ लब्धीणं ॥  
यथा भाण्डागारी पुरुषः धनं निवारयति राजा वत्तम् ।  
तथान्तराय कर्म निवारणं करोति लब्धीनाम् ॥ ३३८ ॥  
तं पंचभेद उत्तं वाणे लाहे य भोइ उवभोए ।  
तह वीरि एण भणियं अंतरायं जिणिदेहि ॥  
तत्पंच भेद युक्तं वाने लाभे च भोगे उपभोगे ।  
तथा वीर्येण भणितं अन्तरायं जिनेन्द्रः ॥ ३३९ ॥

अर्थ - जिस प्रकार राजा के दिये हुए धन को मंडारी (खजांची) पुरुष देने नहीं देता उसी प्रकार अंतराय कर्म पाँचों लब्धियों को प्राप्त नहीं होने देता, देने से निवारण कर देता है । उस अंतराय कर्म के पाँच भेद हैं । दानांतराय लाभान्तराय भोगान्तराय उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय । इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अंतराय कर्म के पाँच भेद बतलाये हैं । इस प्रकार आठ कर्मों के एकसो अड़तालीस भेद होते हैं ।

आगे अनुभाग बंध को कहते हैं ।

एतो पयडीबंधो अणुभागो होइ तस्स सत्तीए ।  
अणुभवनं चं सीवे तिव्वं भवे मंदाणु रुवेण ॥



एषः प्रकृतिबन्धोऽनुभागो भवति तस्य शस्त्र्याः ।

अनुभवतं यत्तीव्रं तीव्रं मन्दे मंदानुरूपेण ॥ ३४० ॥

अर्थ— इस प्रकार प्रकृति बंध का स्वरूप कहा । इन प्रकृति बंध कर्मों में जो फल देने की शक्ति है उसको अनुभाग बंध कहते हैं । यदि उन कर्मों में तीव्र फल देने की शक्ति है तो उसका अनुभव वा उदय तीव्रता के साथ होता है और यदि मंद फल देने की शक्ति है तो उसका अनुभव वा फल मंदता के साथ होता है ।

आगे स्थितिबंध बतलाते हैं ।

एहं खलु पठमाणं उक्त्सं अंतरादयस्सेव ।

सं कोडाकोडी सागरणामाण मे व ठिदी ॥

तमणां खलु प्रथमाना मुत्कृष्ट भस्तरायस्य च ।

त्रिशत्कोटाकोटि सागर नाम्ना मेव स्थितिः ॥ ३४१ ॥

म हस्स सत्तरी खलु बीसं पुन होइ नाम गोत्तस्स ।

तेतीस सागराणां उवभाओ आउसस्सेव ॥

मोहस्य सप्ततिः खलु विशपिः पुन भवति नामगोत्रयोः ।

त्रयस्त्रिंशत्सागराणां उपमा आयुष एव ॥ ३४२ ॥

अर्थ— जानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है, नाम गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर है और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है ।

आगे जघन्य स्थिति बतलाते हैं ।

वारसय वेयणीए णामा गोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।

भिण्ण मुहुत्तं तु ठिदी सेसाणां सावि पंचण्ह ॥

द्वादश वेवनीये नाम गोत्रयोश्च अष्टौ मुहूर्ताः ।

भिन्न मुहूर्तस्तुस्थितिः शेषाणां सापि पंचानाम् ॥ ३४३ ॥

अर्थ— वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति वारह मुहूर्त है, नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष पाँचों कर्मों की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है । इस प्रकार स्थिति बंधका स्वरूप कहा ।

आगे निर्जरा का स्वरूप कहते हैं ।

पुट्व क्य कम्म सडणं णिज्जरा सा पुणो हवे द्विविहा ।

पठमा विवायाया विदिया अधिवाय जाया य ॥

पूर्वकृतकर्मसटनं निर्जरा सा पुनः भवति द्विविधा ।

प्रथमा विपाक जाता द्वितीया अविपाकजाता च ॥ ३४४ ॥

अर्थ— पहले संचित हुए कर्मों का सडना है छूटना है आत्मा से उनका संबंध हट जाना है उसको निर्जरा कहते हैं । उस निर्जरा के दो भेद हैं । एक विपाकजा और दूसरी अविपाकजा ।

आगे दोनों निर्जराओं का स्वरूप कहते हैं ।

कालेण उवाएण पचन्ति जहा वणफई फलाइं ।

तह कालेण तवेण य पचन्ति कयाइ कम्माइ ॥

काले नोपायेन च पचन्ति यथा वनस्पतिफलानि ।

तथा कालेन तपसा च पचन्ति कृतानि कर्माणि ॥ ३४५ ॥

अर्थ— जिस प्रकार वनस्पति के आम आदि फल एक तो अपने समय के अनुसार पकते हैं और दूसरे पाल में देकर वा अन्य किसी उपाय से पकालिये जाते हैं उसी प्रकार जो कर्म अपने समय के अनुसार स्थितिबंध पूर्ण होने पर अपना फल देकर खिर जाते हैं नष्ट हो जाते हैं उसको विपाकजा निर्जरा कहते हैं । विपाक का अर्थ फल देना है । फल देकर जो कर्म खिरते हैं उसको विपाक निर्जरा कहते हैं । तथा जो कर्म बिना फल दिये तपश्चरण के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं वह अविपाक निर्जरा कहलाती है । इस प्रकार निर्जरा के दो भेद हैं ।

इस प्रकार निर्जरा का स्वरूप कहा ।

अब आगे मोक्ष का स्वरूप कहते हैं ।

णिस्सेस कम्म मुक्को सो मुक्खो जिणवरं हि पएणत्तो ।

रायहोसाभावे सहाय थक्कएण जीवस्स ॥

निःशेष कर्म मोक्षः स मोक्षः जितवरैः प्रज्ञप्तः ।

रागद्वेषाभावे स्वभाव स्थितस्य जीवस्य ॥ ३४६ ॥

अर्थ— जो जीव राग द्वेष का सर्वथा नाश कर देता है और अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो जाता है उस समय जो समस्त कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव मोक्ष कहते हैं । मोक्ष शब्द का अर्थ छूटना है । यह आत्मा जो अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है वह जब राग द्वेष के अभाव होने पर और शुद्ध स्वभाव में बौद्ध होने पर समस्त कर्मों से छूट जाता है तब उसको मुक्त जीव कहते हैं । मुक्त होने पर कर्मों के साथ साथ शरीर भी नष्ट हो जाता है ।

सो पुण्ण द्विविहो भणिओ एक्कदेसो य सच्चमोक्खो य ।

देसो चउघाइएण सच्चो णिस्सेस णामम्मि ॥

स पुनः द्विविधो भणितः एकदेशश्च सर्वमोक्षश्च ।

देशः चतुर्घातिसयं सर्वः निःशेषणाशे ॥ ३४७ ॥

अर्थ— वह मोक्ष दो प्रकार है । एक देश और सर्वदेश । चारों घातिया कर्मों का नाश हो जाना एक देश मोक्ष है और समस्त कर्मों का नाश हो जाना सर्वदेश मोक्ष है । भावार्थ— इन समस्त कर्मों में घातिया कर्म सब में प्रबल है । इन का जब नाश हो जाता है तब शेष कर्मों का नाश अवश्य ही होता है । इनमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । तथा घातिया कर्मों के नाश होने पर यह जीव वीतराग सर्वज्ञ हो जाता है । अनंत दर्शन अनंत ज्ञान अनंत सुख और अनंत वीर्य ये चार अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं और फिर वे अनंत चतुष्टय अनंतानंत काल तक रहते हैं । इसी कारण से वे भगवान् एक देशमुक्त कहलाते हैं । जब तक आयु कर्म रहता है तब तक वे उस अवस्था में रहते हैं आयु कर्म पूर्ण होने पर वे अवश्य मुक्त हो जाते हैं ।

इस प्रकार मोक्ष का स्वरूप कहा ।

अब आगे अंत में फिर सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं ।

णए सत्तवयारा जिणदिठ्ठा भासिया मए तत्त्वा ।

सद्दहइ जो हु जीवो सम्माइठ्ठी हवे सो हु ॥

एतानि सप्त प्रकाराणि जिन दृष्टानि भणितानि मया तत्त्वानि ।

अद्वधाति यस्तु जीवः सम्यग्दृष्टिः भवेत स तु ॥ ३४८ ॥

अर्थ— इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहें हुए सात तत्त्वों का स्वरूप अत्यंत संक्षेप से मैंने कहा । जो जीव इन सातों तत्त्वों का श्रद्धान करता है वही सम्यग्दृष्टी पुरुष है ।

अविरय सम्माइठ्ठी एसो उत्तो मया समासेण ।

एत्तो उड्ढं वोच्छ समासदो देस विरदो य ॥

अविरत सम्यग्दृष्टिः एष उक्तः मया समासेण ।

इत ऊरुवं वक्ष्ये समासतो देश विरतं च ॥ ३४९ ॥

आगे— इस प्रकार मैंने अत्यंत संक्षेप से अविरत सम्यग्दृष्टी नाम के चौथे गुणस्थान का स्वरूप कहा । अब इससे आगे संक्षेप से ही देश विरत अथवा विरताविरत नाम के पांचवें गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं ।

इस प्रकार अविरत गुणस्थान का स्वरूप समाप्त हुआ ।

आगे पांचवें विरताविरत गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं ।

पंचमयं गुणठाणं विरयाविरज्जि नामयं भणियं ।

तत्थवि खय उवसमिओ खाइओ उवसमो खेव ॥

पंचमकं गुणस्थानं विरताविरत इति नामकं भणितम् ।

तत्रापि क्षायोपशमिकः क्षायिकः औपशमिकश्च ॥ ३५० ॥

अर्थ— भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पांचवे गुणस्थान का नाम विरताविरत वतलाया है । तथा उसमें औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव होते हैं ।

आगे विरताविरत का अर्थ वतलाते हैं ।

जो तसवहाउ विरओ णो विरओ तह य थावरबहाओ ।

एक्क समयस्मि जीवो विरयाविरज्जि जिणु कहई ॥

यस्त्रसवघाटिरलो णो विरतस्वशा च इयत्तरवशात् ।

एक समये जीवो विरताविरत इति जिनः कथयति ॥ ३५१ ॥

अर्थ— जो जीव त्रस जीवों की हिंसा त्याग कर देता है और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करता वह जीव एक ही समयमें विरत और अविरत वा विरताविरत कहलाता है ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

इलयाइथावराणं अत्थिपवित्तिरिति विरदि इयराणं ।

मूलगुणठ्ठ पउत्तो वारह वयभूसिओ हु देसनई ॥

इलायि स्थावराणा मस्ति प्रवृत्तिरिति विरतिरितरेषाम् ।

मूलगुणाष्ट प्रयुक्तो द्वादसव्रतभूषितो हि देशयतिः ॥ ३५२ ॥

अर्थ— पांचवे गुण स्थान में रहने वाले विरताविरत जीवों की प्रवृत्ति पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति आदि स्थावर जीवों के घात करने में होती है इसलिये वह इन स्थावर जीवों के घात का त्याग नहीं कर सकता, शेष त्रस जीवों के घात का त्याग कर देता है इसलिये एक देश यति अथवा विरताविरत श्रावक कहलाता है वह श्रावक आठों

मूलगुणों को धारण करता है और बारह व्रतों से विभूषित रहता है । मद्य का त्याग, मांस का त्याग, शहदे का त्याग, रात्रिभोजन का त्याग, वडफल, पीपलफल, गूलर, पाकर फल, अंजीर फल इन पांचों उद्वारों का त्याग, प्रतिदिन प्रातः काल पंच परमैष्ठी को नमस्कार करना, जीवों की दया पालन करना और पाती छान कर पीना ये आठ मूल गुण कहलाते हैं । श्रावकों के लिये इनका पालन करना अत्यावश्यक है ।

आगे अनुक्रम से बारह व्रतों का स्वरूप कहते हैं ।

हिसाविरई सत्त्वं अदत्तपरिव्रज्जनं च मूलवयं ।

परमहिलापरिहारो परिदमाणं परिग्रहस्सेव ॥

हिसाविरतिः सत्यं अदत्तपरिव्रजनं च स्थूलव्रतम् ।

पर महिलापरिहारः परिमाणं परिग्रहस्यैव ॥ ३५३ ॥

अर्थ— इस जीवों की हिंसा का त्याग करना, सत्य बोलना, बिना दिये हुए पदार्थ को कभी ग्रहण न करना, परस्त्री सेवन त्याग और परिग्रह का परिमाण करना ये पांच अंगुव्रत कहलाते हैं ।

विसिद्धिदिसि पञ्चव्रतानां अणत्यदंष्टानां होइ परिहारो ।

भोगोपभोगसंख्या ए एह गुणस्त्वया तिणि ॥

दिग्बिदिक् प्रत्याख्यानं अनर्थदण्डानां भवति परिहारः ।

भोगोपभोगे संख्या एतानि हि गुणव्रतानि त्रीणि ॥ ३५४ ॥

अर्थ— दिशा विदिशाओं में आने जाने का नियम धारण कर उनकी सीमा नियत कर शेष हिंसा विदिशा में आने जाने त्याग करना, पांचों प्रकार के अनर्थ दंडों का त्याग करना, भोगोपभोग पदार्थों की संख्या नियत कर शेष भोगोपभोग पदार्थों का त्याग कर देना ये तीन गुण व्रत कहलाते हैं । भावार्थ—चार दिशाएं, चार विदिशाएं, ऊपर नीचे ये दश दिशाएं कहलाती हैं इनकी सीमा की मर्यादा नियतकर उसके बाहर नहीं जाना चाहिये । पाप रूप कार्यों का उपदेश देना, हिंसा करने के उपकरणों या दान देना, दूसरे का बुरा चिंतन करना, मिथ्या-शास्त्रों का पढ़ना सुनना और पंच स्थावरों की व्यर्थ हिंसा करना ये

पांच अनर्थ दंड कहलाते हैं, इनमें पाँच तो अधिक लगता है परंतु लाभ कुछ नहीं होता ऐसे इन अनर्थ दंडों का त्याग कर देना चाहिये । जो एक बार काम में आवे ऐसे भोजनादिक, भोग है । और जो बार बार काम आवे ऐसे वस्त्रादिक उपभोग है । इन सब की संख्या नियत कर लेनी चाहिये । ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं । इनसे अणुव्रतों के गुण बढ़ते हैं इसलिये इनको गुणव्रत कहते हैं ।

देवे धुवइ तियाले पढवे पढवे सुपोसहोवास ।

अति हीण संविभागे मरणते कुणइ सल्लिहण ॥

देवान् स्तौति त्रिकाले पर्वणि सुप्रोषधोपवासः ।

अतिथीना संविभासः भरणान्ते करोति सल्लेखनाम् ॥ ३५५ ॥

अर्थ— प्रातः काल मध्यम काल संध्याकाल इन तीनों समय में पंचमैष्ठी की स्तुति करना, प्रत्येक महीने की दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में प्रोषधोपवास करना, प्रति दिन अतिथियों को दान देना

१

और सल्लेखना धारण करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं । इस प्रकार पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह अणुव्रत कहलाते हैं । देश वृत्ति श्रावक को आठ मूलगुण और ये बारह व्रत अवश्य धारण करने चाहिये । इन बारह व्रतों को उत्तर गुण भी कहते हैं ।

१. मित्र कलत्रे विभवे तनूजे सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहं ।

संस्मर्यते पंचपदं स्वचित्ते सल्लेखना सा विहिता मुनीन्द्रैः ॥

अर्थ— मित्र स्त्री विभूति पुत्र सुख गृह आदि सबसे मोहका त्याग कर अपने हृदय में पंच परमैष्ठी का स्मरण करना सल्लेखना है । ऐसा भगवान् जिनैन्द्रदेव ने कहा है ।

आगे मूलगुण वतनाते हैं ।

महुमज्जमंस विरई चाओ पुण उयव्वराण पंचण्ह ।

अट्ठेवे मूलगुणा हवन्ति फुट्टं देश विरयम्मि ॥

मधुमद्यमांस विरतिः त्यागः पुनः उवम्बराणां पंचानाम् ।

अष्टावैते मूलगुणा भवन्ति स्फुटं देशविरते ॥ ३५६ ॥

अर्थ— मद्य मांस मधु का त्याग और पांच उद्वेगों का त्याग ये देवव्रतियों के आठ मूलगुण कहलाते हैं ।

आगे इस गुणस्थान में होने वाले ध्यान बतलाते हैं ।

अद्वैतं ज्ञानं भद्रं अतिथिं तस्मिन् गुणस्थाने ।

बहु आरंभपरिग्रहं जुत्तस्स यं नित्यं तं धम्मं ॥

आर्तं रौद्रं ध्यानं भद्रं अस्तीति तस्मिन् गुणस्थाने ।

बहुवारम्भं परिग्रहं युद्धतस्य च वास्ति तद्धर्मम् ॥ ३५७ ॥

अर्थ— इस पांचवे गुणस्थान में अर्तध्यान रौद्रध्यान और भद्रध्यान ये तीन प्रकार के ध्यान होते हैं । इस गुणस्थान वाले जीव के बहुतसा आरंभ होता है और बहुतसा ही परिग्रह होता है इसलिये इस गुणस्थान में धर्मध्यान नहीं होता ।

धर्मेवैषां जीवो असुहं परि चयइ सुहगई लेई ।

कालेण सुखं मिल्लइ इन्द्रियवल कारणं जाणि ॥

धर्मोदयेन जोषोऽशुभं परित्यजति शुभगतिं प्राप्नोति ।

कालेन सुखं मिलति इन्द्रियवल कारणं जानीहि ॥ ३५८ ॥

अर्थ— धर्म सेवन करने से इस जीव के अशुभ परिणाम और अशुभ गतियाँ आदि नष्ट हो जाती हैं । और शुभ गति प्राप्त होती है । तथा समयानुसार इन्द्रियों को बल देने वाला सुख प्राप्त होता है ।

आगे आर्तध्यान को बतलाते हैं ।

इठ विओए अट्टं उप्पजइ तह अणिठ्ठसंओए ।

रोय पकोवे तइयं णिघाण करणे चउत्थं तु ॥

इष्टं वियोगे आर्तं उत्पद्यते तथा अनिष्टं संयोगे ।

रोगप्रक्षोप तृतीयं निदानकरणे चतुर्थं तु ॥ ३५९ ॥

अर्थ— किसी इष्ट पदार्थ के वियोग होने पर उसके संयोग का चिंतन करना पहला आर्तध्यान है । किसी अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसके वियोग होने का बार बार चिंतन करना दूसरा आर्त-



ध्यान है । किसी रोग के प्रकोप होने पर उसको दूर करने के लिये बार बार चितवन करना तीसरा आर्तध्यान है और निदान करना चौथा आर्तध्यान कहलाता है ।

अदृज्ज्ञाण पउत्तो बंधइ पावं निरंतरं जीवो ।

मरिएण य तिरियगई को विणरो जाइ तज्ज्ञाणे ॥

आर्तध्यान युक्तो बध्नाति पापं निरंतरं जीवः ।

मृत्वा च तिर्यग्गतिं कोऽपि नरो यातितद्ध्याने ॥ ३६० ॥

अर्थ— इस आर्तध्यान में करने से यह जीव निरंतर पाप कर्मों का बंध करता रहता है । तथा कोई कोई मनुष्य इस आर्तध्यान के करने से तिर्यच गति को प्राप्त होता है ।

रुदं कसाय सहियं जीवो संभवइ हिंसयाणंदं ।

मोसाणंदं विदियं थेयाणंदं पुणो लइयं ॥

रुदं कषाय सहितं जीवः संभवति हिंसानन्दम् ।

मृषानन्दं द्वितीयं स्तेयानन्दं पुनस्तृतीयम् ॥ ३६१ ॥

हवइ चउत्थं ज्ञाणं रुदं णामेण रक्खणाणंदं ।

अस्स य माहूपेण य णरयगई भायणो जीवो ॥

भवति चतुर्थं ध्यानं रौद्रं नाम्ना रक्षणानन्दम् ।

यस्य च माहात्म्येन नरकगतिभाजने जीवः ॥ ३६२ ॥

अर्थ— जिनजीव की कषाये अत्यन्त तीव्र होती है उसके रौद्रध्यान होता है । उस रौद्रध्यान के चार भेद हैं । हिंसा में आनन्द मानना

१. जिनेज्या पात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः ।

भद्रज्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रयात् बुधैः ॥

अर्थ— भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, पात्रदान देना, तथा समयानुसार पूजा और दान की विधि करना भद्रध्यान कहलाता है । ऐसा ध्यान यथोचित गृहस्थ धर्म में ही होता है । इसीलिये विद्वान् लोग इसे धर्मध्यान कहते हैं ।

हिसानन्द रौद्रध्यान है । झूठ बोलने में आनंद मानना मृषानंद आर्तध्यान है । चोरी में आनंद मानना स्तेयानंद नाशक तीसरा आर्तध्यान है । तथा बहुतसे परिग्रह की रक्षा में आनंद मानना रक्षणानंद वा परिग्रहानंद नाम का चौथा आर्तध्यान है । इस रौद्रध्यान का चिंतन करने से यह जीव नरक का पात्र होता है ।

गिहवाधाररयाणं गेहीणं इद्विद्यत्थ परि कलियं ।

अट्टज्ज्ञाण जायइ रुहं वा मोह छण्णाणं ॥

गृहव्यापार रतानां गेहिनामिन्द्रियार्थ परिकलितम् ।

आर्तध्यानं जायते रौद्रं वा मोहच्छानाम् ॥ ३६३ ॥

अर्थ- जो गृहस्थ घर के व्यापार में लगे रहते हैं और इन्द्रियों के विषयभूतपदार्थों में संकल्प विकल्प करते रहते हैं उनके आर्तध्यान होता है तथा जिनके मोहनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उनके रौद्रध्यान होता है ।

ज्ञाणेहि तेहि पाव उत्पण्णं तं खवइ भद्दज्ञाणेण ।

जीवो उवसप जुत्तो देस जई णाणसंपण्णो ॥

ध्यानं स्तैः पापं उत्पन्नं तत्क्षपयति भद्रध्यानेन ।

जीवः उपशम युक्तो देशयतिः ज्ञानसम्पन्नः ॥ ३६४ ॥

अर्थ- इन आर्तध्यान और रौद्रध्यान से जो पाप उत्पन्न होता है उसको यह उपशम परिणामों को धारण करने वाला और सम्यग्ज्ञान का धारण करने वाला देश व्रती श्रावक अपने भद्रध्यान से नाश कर देता है ।

आगे भद्रध्यान को कहते हैं ।

भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चित्तेइ भोगपरिमुक्को ।

चित्तिथ धम्मं सेवइ पुणरपि भोए जहिच्छाए ॥

भद्रस्स लक्षणं पुनः धर्मं चिन्तयति भोग मरिमुक्तः ।

चिन्तयित्वा धर्मं सेवते पुनरपि भोगान यथेच्छया ॥ ३६५ ॥

अर्थ— जो जीव भोगों का त्याग करता धर्म का चित्तवन करता है, और धर्म का चित्तवन करता हुआ भी फिर भी अपनी इच्छानुसार भोगों का सेवन करता उसको भद्रध्यान समझना चाहिये । भावाथ— भोगों का सेवन करता हुआ भी जो धर्मध्यान धारण करता है उसे भद्रध्यान समझना चाहिये ।

आगे धर्मध्यान के भेद बतलाते हैं ।

धर्मज्ञानं भणितं आज्ञापायविषाकविचयं च ।

संठाणं विचयं तद् कहिय ज्ञाणं समासेण ॥

धर्मध्यानं भणितं आज्ञापायविषाकविचयं च ।

संस्थापनं विचयं जगत् उचितं ज्ञानं समासेण ॥ ३६६ ॥

अर्थ— आज्ञा विचय, अपाय विचय, विषाक विचय और संस्थान विचय ये चार अत्यंत संक्षेप से धर्मध्यान के भेद हैं ।

आगे आज्ञाविचय धर्मध्यान का स्वरूप कहते हैं ।

छद्द्व्यणवपयत्था सत्तवि तच्चाइं जिणावरएण्ण ।

विचयइ विसय विरत्तो आणा विचयं तु तं भणियं ॥

षड्द्रव्यनवपदार्थानि सप्तापि तत्त्वानि जिनवराजया ।

चिन्तयति विषयविरक्तः आज्ञाविचयं तु तद् भणितम् ॥ ३६७ ॥

अर्थ— जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर भगवान् की आज्ञा प्रमाण छह द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्त्वों का चित्तवन करता है उसको आज्ञा विचय नाम का पहला धर्मध्यान कहते हैं ।

आगे अपाय विचय को कहते हैं ।

असुह कम्मस्स णाणो सुहस्स वा हवेइ केणुवाएण ।

इय चिंतंतस्स हवे अपाय विचयं परं ज्ञाणं ॥

अशुभकर्मणः नाशः शुभस्य वा भवति केनोपायेन ।

एतच्चिन्तयतः भवेदपायविचयं परं ध्यानम् ॥ ३६८ ॥

अर्थ— अपाय शब्द का अर्थ नाश है । इन अशुभ कर्मों का नाश

किस उपाय से होगा अथवा शुभ कर्मों का आस्रव किस उपाय से होगा इस प्रकार जो जीव चितवन करता है उसका वह ध्यान अपाय विजय नाम का दूसरा उत्तम धर्मध्यान कहलाता है ।

आगे विपाक विचय को कहते हैं ।

असुह सुहस्र विवाओ चितइ जीवाण चडगइययाणं ।  
विवाविचयं ज्ञाणं भणियं तं जिणवरिदेहि ॥

अशुभ शुभस्य विपाकं विवदन्ति जीवानां त्रतुर्गति गतानाम् ।  
विपाक विचयं ध्यानं भणितं तज्जिनवरेन्द्रः ॥ ३६९ ॥

अर्थ— चारों गतियों में परिभ्रमण करने वाले जीवों के शुभ कर्मों के उदय का तथा अशुभ कर्मों के उदय को जो चितवन करता है उसका वह ध्यान विपाकविचय कहलाता है । ये जीव अपने अपने शुभ अशुभ कर्मों के उदय में ही सुख दुःख भोगते हैं ऐसा चितवन करना और इन दुखी जीवों का दुःख किस प्रकार दूर हो, ये श्रेष्ठ मार्ग में किस प्रकार लगे इस प्रकार का चितवन करना अपाय विचय नाम का तीसरा धर्म-ध्यान है ।

आगे संस्थान विचय को कहते हैं ।

अह उइडतिरिय लोए चितेइ सपज्जयं ससंठाणं ।  
विचयं संठाणस्स थ भणियं ज्ञाणं समासेण ॥

अथ ऊर्ध्व तिर्यग्लोकं चित्तयन्ति सपर्ययं ससंस्थानम् ।  
विचयं संस्थानस्य च भणितं ध्यानं समासेन ॥ ३७० ॥

अर्थ— संस्थान आकार को कहते हैं । लोक के तीन भाग हैं अधो लोक, मध्य लोक, वा तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक इनका चितवन करना तथा इनमें भरे हुए पदार्थों का उनकी पर्यायों का उन सबके आकारों का चितवन करना अत्यन्त संक्षेप से संस्थान विचय नाम का चौथा धर्मध्यान कहलाता है ।

आगे यह धर्मध्यान कहाँ होता है सो कहते हैं ।

मुख्यं धम्मज्ज्ञाणं उत्तं तु पमादविरहिणं ठाणे ।

देशे विरहे प्रमत्ते उपचारेणैव नायत्थं ॥

मुख्यं धर्मध्यानमुक्तं तु प्रमादविरहिते स्थाने ।

देश विरते प्रमत्ते उपचारेणैव ज्ञातव्यम् ॥ ३७१ ॥

अर्थ— यह धर्मध्यान मुख्यता से प्रमादरहित सातवें गुणस्थान में होता है तथा देश विरत पांचवें गुणस्थान में और प्रमत्त संयत छठे गुणस्थान में भी यह धर्मध्यान उपचार से होता है । ऐसा समझना चाहिये ।

आगे दूसरे प्रकार से धर्मध्यान का स्वरूप कहते हैं ।

बहलक्षण संजुतो अहवा धम्मोति वणिणो सुत्तं ।

चिन्ता या तस्य भवेत् भणितं तं धम्मज्ञाणमुत्ति ॥

बहलक्षणसंयुक्तोऽथवा धर्म इति वणितः सूत्रे ।

चिन्ता या तस्य भवेत् भणितं तद्धर्मध्यानमिति ॥ ३७२ ॥

अर्थ— अथवा सिद्धांत सूत्रों में उत्तमक्षमा आदि दश प्रकार का धर्म बतलाया है उन दशों प्रकार के धर्मों का चिंतन करना भी धर्म्य-कहालाता है ।

अहवा वत्थुसहावो धम्मं वत्थु पुणो न सो अप्पा ।

जायंताण कहियं धम्मज्ञाण मुणिदेहि ॥

अथवा वस्तुस्वभावो धर्मः वस्तु पुनश्च स आत्मा ।

ध्यायमानानां तत्कथितं धर्म्यध्यानं मुनीन्द्रैः ॥ ३७३ ॥

अर्थ— वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं तथा वस्तुओं में वा पदार्थों में मुख्य वस्तु वा मुख्य पदार्थ आत्मा है । इसलिये उस आत्मा का ध्यान करना तथा जिसके शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना धर्म्यध्यान है । ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

आगे इस धर्म्यध्यान के दूसरे प्रकार के भेद बतलाते हैं ।

तं फुट्टु बुविहं भणियं साल्खं तह पुजो अणाल्खं ।

साल्खं पच्चण्हं परमैठ्ठीणं सरुवं तु ॥

तत्स्फुटं द्विविधं भणितं सालम्बं तथा पुनः अनालम्बम् ।

सालम्बं पञ्चानां परमेष्ठिनां स्वरूपं तु ॥ ३७४ ॥

अर्थ— वह धर्म्यध्यान दो प्रकार है एक आलम्बन सहित और दूसरा आलम्बन रहित । इन दोनों में से पंच परमेष्ठी के स्वरूप का चिंतन करना है उसको सालम्ब ध्यान कहते हैं ।

आगे अनुक्रमस पंच परमेष्ठियों का स्वरूप कहते हैं ।

हरिरइय समवसरणो अट्ठमहापाडिहेर संजुत्तो ।

सियकिरणविष्फुरंतो ज्ञायब्बो अरुहपरमेष्ठी ॥

हरिरचितसमवसरणाञ्च महाप्रातिहार्यसंयुक्तः ।

सितशरणेन विस्फुरन् व्योमजातोर्हो परमेष्ठी ॥ ३७५ ॥

अर्थ— जो इन्द्र के द्वारा बनाये हुए समवसरण में विराजमान है तथा आठ महा प्रतिहार्यों से सुशोभित है और जो अपनी प्रभाकी श्वेत किरणों से वेदीप्यमान हो रहें हैं ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव को अरहंत परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये ।

णट्ठट्ठ कम्मबन्धो अट्ठगुणट्ठो य लोयसिहरत्थो ।

सुद्धो णिच्चो सुहमो ज्ञायब्बो सिद्धपरमेष्ठी ॥

नष्टाष्ट कर्मबन्धोऽष्टगुणस्थश्च लोक शिखरस्थः ।

शुद्धो नित्यः सूक्ष्मः ध्यातव्यः सिद्धपरमेष्ठी ॥ ३७६ ॥

अर्थ— जिन के आठों कर्म सर्वथा नष्ट हो गये हैं, जो सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सुशोभित हैं, लोक शिखर पर विराजमान हैं, जिनका आत्मा अत्यंत शुद्ध है, नित्य है, और सूक्ष्म है ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये ।

१ छत्तीस गुणसमगो णिच्चं आयरइ पंच आयारो ।

सिस्साणुग्गह कुसलो भणिओ सो सूरिपरमेष्ठी ॥

षट्त्रिंशद्गुणसमग्रः नित्यं आचरति पंचाचारम् ।

शिष्यानुग्रहकुशलः भणितः स सूरिपरमेष्ठी ॥ ३७७ ॥

अर्थ— जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हों जो ज्ञानाचार, दर्शना-  
चार, चारित्र्याचार, वीर्याचार, तप आचार इन पाँचों आचारों का प्रति-  
दिन पालन करते हैं तथा जो शिष्यों के अनुग्रह करने में अत्यंत कुशल  
होते हैं उनको आचार्य परमेष्ठी कहते हैं ।

१- बारह तप, दश धर्म, पाँच आचार, छह आवश्यक, तीन  
गुप्ति ये छत्तीस गुण आचार्य परमेष्ठी के हैं ।

अथवा आचार्य परमेष्ठी के ये भी छत्तीस गुण हैं ।

१ पंचाचार का पालन करना २ आधारवत्त्व ३ व्यवहारित्व  
४ प्रकारकत्व ५ अपायोपायोपदेशकत्व ६ उत्पीलक ७ अपरिश्रमविता  
८ निर्वापक ९ नग्नत्व १० उद्देशिकाहारत्यागत्व ११ शय्याधराशनवि-  
विजितवृत्तिता १२ राजपिंडग्रहणविजितवृत्तिता १३ कृतिकर्मनिरतत्व  
१४ व्रतारोपणयोग्यत्व १५ सर्वज्येष्ठता १६ प्रतिक्रमणपट्टिनाचार्यता  
१७ मासैकवासिता १८ वार्षिकयोगयुक्तत्व १९ अनशनतपोः युक्तत्व  
२० अवमौढर्यतपोयुक्तता २१ वृत्तिपरिसंख्यानसहितत्व २२ रसपरित्या-  
गपरिपुष्टता २३ विविक्तशय्यासनतपोयुक्तता २४ काग्रल्लेख तपोयुक्तता  
२५ प्रायश्चित्ताचार्यता २६ विनयनिरतत्व २७ बैयावृत्तिसंगुक्ता  
२८ रवाध्यायधारकता २९ व्युत्सर्गसहितता ३० ध्याननिष्ठता ३१ सा-  
मायिकमहितत्व ३२ स्तवननिरतता ३३ वंदनानिरतता ३४ प्रतिक्रमण-  
निरतता ३५ प्रत्याख्याननिरतता ३६ कायोत्सर्गसंगन्त्व ।

## आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस गुण

१ पंचाचार गुण— जो दर्शना चार, ज्ञाना चार, चरित्रा चार,  
तप अचार, और वीर्याचार इन पाँचों आचारों को स्वयं पालन करें  
और अन्य मुनियों से पालन करावें ।

२ आधारवत्त्व गुण— जो ग्यारह अंग नौ पूर्व अथवा दश पूर्व  
अथवा चौदह पूर्व श्रुतज्ञान को जानने वाले वा धारण करने वाले हो ।

३ व्यवहारित्व गुण— जो सामायिक, छेदो प्रस्थापना, परिहार विशुद्धि, सुदम मांषराय और यथाख्यात इन पांच प्रकार के चारित्र को पालन करें तथा अन्य मुनियों से पालन करावें ।

४ प्रकारकत्व गुण - समाधि मरण धारण करने वाले क्षपक साधु के लिये परिवार का काम करना उनकी परिचर्या करना प्रकारकता गुण है ।

५ आपायापायोपदेकत्व गुण— आलोचना करने वाले मुनियों के चित्त में यदि कुछ कुटीलता भी हो तो भी उनके गुण दोष दोनों को प्रकट कर दोषों का स्पष्ट कर लेता ।

६ उत्पीलक गुण— जिन मुनियों के हृदय में कुछ कुटिलता हो और उन्होंने अपने अतिचारों को अपने मन में छिपा रक्खा हो उन अतिचारों को भी अपनी कुशलता से बाहर प्रकट करा लेता ।

७ अपरिस्राविता गुण— जिस प्रकार पीया हुआ रस बाहर नहीं निकलता उसी प्रकार किसी क्षपक मुनिने अपनी आलोचना में जो दोष कहे हैं उनको कभी प्रकट नहीं करना ।

८ निर्वापक गुण— जो समाधिमरण धारण करने क्षपक साधु, क्षुधा तृषा आदि परीषहों से दुखी हो रहे हो उनके उस दुःख को अनेक प्रकार की कथा सुनाकर दूर करना और इनको समाधिमरण में दृढ़ करना ।

९ नग्नत्व गुण— सूती ऊनी रेशमी वृक्ष के पत्ते छाल आदि सब प्रकार के वस्त्रों का त्याग कर नग्न वा दिगम्बर अवस्था धारण करना ।

१० उद्देशिकाहारत्याग गुण— जो उद्देशयुक्त आहार के त्यागी हो एवं अन्य श्रमणों के लिये किये हुए आहार के भी त्यागी हों ।

११ शय्याधरासन विवर्जित गुण— जो शय्या पृथ्वी आसन सबके त्यागी हों उनका संस्कार आदि भी न करते हों ।

१२ राज पिंड ग्रहण विवर्जित गुण— जो राजा मंत्री सेनापति कोतवाल आदि का आहार न ग्रहण करते हों ।

१३ कृति कर्म निरत गुण— जो छहों आवश्यकों को स्वयं पालन करते हो तथा अन्य मुनियों से कराते हों ।



१४ व्रतारोपण योग्य गुण— उद्देश्ययुक्त आहार का त्याग करने वाले दिगम्बर अवस्था धारण करनेवाले और पञ्च परमैष्टी की भक्ति करने वाले आचार्य स्वयं व्रत पालन करने और अन्य मुनियों को दीक्षा देकर महाव्रतों को धारण कराने की योग्यता रखना ।

१५ सर्व ज्येष्ठत्व गुण— जो आर्यिका क्षुल्लक साधु उपाध्याय आदि सब से अधिक श्रेष्ठता धारण करते हों ।

१६ प्रतिक्रमण पंडीतत्व गुण— जो आचार्य मन वचन काय से किसी भी प्रकार का अपराध हो जाने पर उसकी शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करने की दक्षता धारण करने वाले हों ।

१७ मार्सकवासित्व गुण— जो मोह और सुख का त्याग करने के लिये किसी भी स्थान पर एक महीने से अधिक न रहते हों ।

१८ वार्षिक योग युक्तत्व गुण— जीवों की रक्षा के लिये वर्षा ऋतु में चार महीने तक एक ही स्थान पर रहना ।

१९ अनगन तपोयुक्तता गुण— इन्द्रियों को जीतने के लिये चारों प्रकार के अहार का त्याग कर उपवास धारण करना ।

२० अवमोदर्य तपोयुक्तता गुण— प्रमाद दूर करने के लिये वत्तीस ग्रास न लेकर दो चार दश आदि ग्रास हो लेकर अल्प आहार लेना ।

२१ वृत्ति परिसंख्यान गुण— आशा का त्याग करने के लिये किसी घर का अन्न आदि का संकल्प कर ( यदि ऐसा घर होगा वा ऐसा दाता होगा वा ऐसा अन्न होगा तो आहार लूंगा नहीं तो ऐसा संकल्प कर आहार के लिये निकलना ।

२२ रसपरि त्याग— दूध दही घी मीठा आदी रसों का त्याग करना ।

२३ विविक्तशय्यासन तप— जन्तुओं से रहित, स्त्रियों से रहित मनमें विकार उत्पन्न करने वाले कारणों से रहित गुफा सूना घर आदि एकान्त स्थान में शय्या आसन आदि धारण करना ।

२४ काय क्लेशत्व गुण— ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर, जाड़े के दिनों में वन में वा नदी के किनारे, वर्षा में वृक्ष के नीचे ध्यान धारण कर सुख की मात्रा दूर करने के लिये शरीर को कष्ट पहुंचाना ।

२५ प्रायश्चित्ताचारत्व गुण— लगे हुए दोषों को शोधन करने के लिये प्रायश्चित्त लेना और व्रतों को शुद्ध रखना ।

२६ विनय निरतत्त्व गुण— सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य को धारण कर उनका विनय करना उपचार विनय करना रत्नत्रयको धारण करने वालों का विनय करना ।

२७ वैयावृत्तित्व गुण— आचार्य उपाध्याय साधु आदि दश प्रकार के मुनियों की शरीर जन्य पीडा को दूर करने के लिये उनकी सेवा सुश्रुषा करना ।

२८ स्वाध्याय धारकत्वगुण-वाचना, पृच्छना; अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेश के द्वारा जिनागमका स्वाध्याय करना ।

२९ व्युत्सर्गत्व गुण— बाह्याभ्यंतर परिग्रहो का त्याग करना गुप्तियों का पालन करना ।

३० ध्यान निष्ठत्व गुण— आर्त रौद्र दोनों ध्यानों का त्याग कर धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करना ।

३१ सामायिकत्व गुण— रागद्वेष को दूर करने के लिये छह प्रकार का सामायिक करना ।

३२ स्तव निरतत्त्व गुण— प्रति दिन चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना ।

३३ वंदना निरतत्त्व गुण— किसी एक तीर्थंकर की स्तुति करना

३४ प्रतिक्रमण निरतत्त्व गुण— ईयापथ शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करना । दैवसिक प्रतिक्रमण करना पाक्षिक मासिक चातुर्मासिक वार्षिक प्रतिक्रमण करना ।

३५ प्रत्याख्यान निरतत्त्व गुण— पूर्वोपाजित कर्मोंको नाश करने

को, उदय में आये हुए कर्मों का नाश करने के लिये समस्त विकारों का त्याग करना ।

३६ कायोत्सर्ग संगतत्व गुण— निद्रा तंद्रा आदि दूर करने के लिये खण्डासन से योग धारण कर शरीर में ममत्व का त्याग करना ।

अज्ञावयगुणं जूभो धम्मोवदेसयारि चरियदुठो ।

णिस्सेसागम कुसलो परमेठ्ठी पाठओ भाओ ॥

अध्यापनगुणयुक्तो धर्मोपदेशकारी चर्यास्थः ।

निःशेषागमकुशलः परमेष्ठि पाठको ध्येयः ॥ ३७८ ॥

अर्थ— जो मुनि अध्यापन कार्य में शिष्यों को पढ़ाने में अत्यंत निपुण है जो सदा काल धर्मोपदेश देते रहते है जो अपने चारित्र्य में स्थिर रहते है और जो समस्त आगम में कुशल होते है अथवा जो द्वादशांग के पाठी होने है उनको उपाध्याय परमेष्ठि कहते है, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठि का ध्यान करना चाहिये ।

उगतवतधियं गत्तो तियाल ओएण गमिय अहरत्तो ।

साहित्य मोक्खस्स पओ भाओ सो साधु परमेठ्ठी ॥

उग्रतपस्तपितगात्रः त्रिकालयोगेन गमिताहोरात्रः ।

साधितमोक्षपदः ध्येयः स साधुपरमेष्ठि ॥ ३७९ ॥

अर्थ— जो प्रतिदिन तीव्र तपश्चरण करते है प्रतिदिन त्रिकाल योग धारण करते है और सदा काल मोक्ष मार्ग को सिद्ध करते रहते है उनको साधु परमेष्ठि कहते है । ऐसे साधु परमेष्ठि ध्यान करने योग्य है ।

आगे इन के ध्यान करने का फल कहते है ।

एवं तं साल्खं धम्मज्झाणं हवेइ नियमेण ।

भायंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं ॥

आचार्य परमेष्ठि अपने शिष्यों को प्रायश्चित्त देकर उनके व्रतों को निर्दोष कहते है यह शिष्यों का सब से बड़ा उपकार है ।

एवं तत्सालम्बं धर्मध्यानं भवति नियमेन ।

ध्यायमानानां जायते विनिर्जरा अशुभकर्मणाम् ॥ ३८० ॥

अर्थ— ऊपर लिखे इन पांचों परमेष्ठियों का ध्यान करना नियम पूर्वक आलम्बन सहित धर्मध्यान कहलाता है । इन पांचों परमेष्ठियों का ध्यान करने में अशुभ कर्मों की विशेष निर्जरा होती है ।

आगे निरालम्ब ध्यान के लिये कहते हैं ।

ज पुणु वि निरालम्बं तं क्षणं गद्यगद्य गुणठाणे ।

चलेगृहस्य जायइ धरियं जिणलिंगरुवस्स ॥

यत्पुनरपि निरालम्बं तद्ध्यानं गतप्रमादगुणस्थाने ।

त्यक्त गृहस्य जायते भूतजिनलिंगपुरुषस्य ॥ ३८१ ॥

अर्थ— जो गृहस्थ अवस्थाको छोड़कर जिनलिंग धारण कर लेता है । अर्थात् दीक्षा लेकर निर्ग्रन्थ मुनि हो जाता है और जो मुनि होकर भी अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान में पहुँच जाता है तब उसीके निरालम्ब ध्यान होता है । गृहस्थ अवस्था में निरालम्ब ध्यान कभी नहीं हो सकता ।

जो भणइ को वि एवं अत्थि गृहस्थाण निश्चलं ज्ञाणं ।

शुद्धं च निरालम्बं ण पुणइ सो आयसो जइणो ॥

यो भणति कोप्येवं अस्ति गृहस्थानां निश्चलं ध्यानम् ।

शुद्धं च निरालम्बं न मनुते स आगमं यतीनाम् ॥ ३८२ ॥

अर्थ— यदि कोई पुरुष यह कहै कि गृहस्थों के भी निश्चल, निरालम्ब और शुद्ध ध्यान होता है तो समझना चाहिये कि इस प्रकार कहने वाला पुरुष मुनियों के शास्त्रों को ही नहीं मानता है ।

कहियाणि चिठ्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि ज्ञाणाणि ।

तम्हा स देस विरओ मुख्यं धम्मं ण ज्ञाएई ॥

कथितानि दृष्टिवादे प्रतीत्य गुणस्थानानि जानीही ध्यानानि ।

तस्मात्स देशविरतो मुख्य धर्म्यं न ध्यायति ॥ ३८३ ॥

अर्थ— दृष्टिवाद नाम के वारहवे अंग में गुणस्थान को लेकर ही ध्यान का स्वरूप बतलाया है जिससे सिद्ध होता है कि देशविरती गृहस्थ मुख्य धर्म्यध्यान का ध्यान नहीं कर सकता ।

आगे इसका कारण बतलाते हैं ।

किं जं सो गृहवंतो वहिरतरगन्धपरिमितो निच्छं ।

बहु आरंभपउत्तो कहं शायइ सुद्धपप्पाणं ॥

किं यत् स गृहवान् बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरिमितो निच्छम् ।

बहुवारम्भप्रयुक्तः कथं ध्यायति शुद्धमात्मानम् ॥ ३८४ ॥

अर्थ— गृहस्थों के मुख्य धर्म्यध्यान न होने का कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल दाह्य आभ्यन्तर परिणत परिमित रूप में रहते हैं तथा आरंभ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते हैं इसलिये वह शुद्ध आत्मा का ध्यान कभी नहीं कर सकता ।

घर बाधारा केई करणीया अत्थि ते ण ते सव्वे ।

ज्ञाणठिठयस्स पुरओ चिठ्ठंति निमीलियच्छिस्स ॥

गृह व्यापाराणि क्रियन्ति करणीयानि सन्ति तेन तानि सर्वाणि ।

ध्यान स्थितस्य पुरतः तिष्ठन्ति निमीलिताक्षः ॥ ३८५ ॥

अर्थ— गृहस्थों का घर के कितने ही व्यापार करने पड़ते हैं । जब वह गृहस्थ अपने नैत्रों को बंद कर ध्यान करने बैठता है तब उससे सामने घर के करने योग्य सब व्यापार आ जाते हैं ।

अहं ठिकुलियां ज्ञाणं शायइ अहवा स सोधए ज्ञाणी ।

सोवन्तो ज्ञायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥

अथ ठिकुलिकं ध्यानं ध्यायति अथवा स स्वपिति ध्यानी ।

स्वपतः ध्यातव्यं न तिष्ठति चित्ते विकले ॥ ३८६ ॥

अर्थ— जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहता है तो उसका वह ध्यान ढेकी के समान होता है । जिस प्रकार ढेकी धान कुटने में लगी रहती है परंतु उससे उसका कोई लाभ नहीं होता उसको

तो परिश्रम मात्र ही होता है इसी प्रकार गृहस्थों का निरालंब ध्यान वा शुद्ध आत्मा का ध्यान परिश्रम मात्र होता है। अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाला वह गृहस्थ उस ध्यान के वहाने सो जाता है। जब वह सो जाता है तब उसके व्याकुल चित्त में वह ध्यान करने योग्य शुद्ध आत्मा कभी नहीं ठहर सकता। इस प्रकार किसी भी गृहस्थ के शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान कभी नहीं हो सकता।

ज्ञाणानं संताणं अहवा ज्ञाणस्स ।

आलंबण रहियस्स य ण ठाह चित्तं थिरं जम्हा ॥

ध्यानानां संताणं अथवा जायते तस्य ध्यानस्य ।

आलम्बन रहितस्य च न तिष्ठति चित्तं स्थिरं यस्मात् ॥३८७॥

अर्थ— अथवा यदि वह सोता नहीं तो उसके ध्यानों की संतानरूप परंपरा चलती रहती है। इसका भी कारण यह है कि निरालंब ध्यान करनेवाले गृहस्थ का चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता। भावार्थ— गृहस्थ का चित्त स्थिर नहीं रहता इसलिये उसके निरालंब ध्यान कभी नहीं हो सकता। यदि वह गृहस्थ निरालंब ध्यान करने का प्रयत्न करता है तो निरालंब ध्यान तो नहीं होता परंतु किसी भी ध्यान की संतान परंपरा चलती रहती है।

अब आगे गृहस्थों के करने योग्य ध्यान बतलाते हैं।

तम्हा सो सालंबं ज्ञायउ ज्ञाणं पि गिहवई णिज्जं ।

पंच परमेष्ठिरूवं अहवा मंतक्खरं तेसि ॥

तस्मात् स सालम्बं ध्यायतु ध्यानमपि गृहपतिर्नित्यम् ।

पंच परमेष्ठिरुपमथवा मंत्राक्षरं तेषाम् ॥ ३८८ ॥

अर्थ— इसलिये गृहस्थों को सदा काल आलंबन सहित ध्यान धारण करना चाहिये। या तो उसे पंच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये अथवा पंच परमेष्ठी के वाचक मंत्रों का ध्यान करना चाहिये।

जइ मणइ को वि एवं गिहवाधारेसु बट्टमाणो वि ।

पुण्णे अम्ह ण कज्जं जं संसारे सुवाडैई ॥

यदि भणति कोप्येवं गृहव्यापारेषु वर्तमानोऽपि ।

पुण्येनास्माकं न कार्यं यत्संसारे सुपातयति ॥ ३८९ ॥

अर्थ—कदाचित् कोई गृहस्थ यह कहे कि यद्यपि हम गृहस्थ व्यापारों में लगे रहते हैं तथापि हमें सावधान ध्यान कर पुण्य उपाजन करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि पुण्य उपाजन करते से भी तो इस जीव को संसार में ही पड़ना पड़ेगा ।

ऐसा कहने वाले के लिये आचार्य उत्तर देते हैं ।

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवलक्ख सुहम जीवांडे ।

इय जिणवरेहिं भणियं वज्जंतरणिगंथरूवेहिं ॥

मैथुनसंज्ञारूढो मारयति नवलक्ष्यसूक्ष्म जीवान् ।

एतज्जिनवरैः भणितं बाह्याभ्यन्तरनिर्ग्रन्थरूपैः ॥ ३९० ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि देखो जो पुरुष मैथुन संज्ञा को धारण करता है अपनी स्त्री का सेवन करता है वह गृहस्थ नौ लाख सूक्ष्म जीवों का घात करता है । ऐसा बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह रहित भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है । इसके सिवाय—

गेहे वट्ठत्तस्स य वावारसयाइं सया कुणंतस्स ।

आसवइ कम्म मसुहं अब्ब इउहे पवत्तस्स ॥

गेहे वर्तमानस्य च व्यापारशतानि सदा कुर्वतः ।

आश्रवति कर्माशुभं आतर्द्वैतप्रवृत्तस्य ॥ ३९१ ॥

अर्थ— जो पुरुष घरे में रहता है और सदाकाल गृहस्थी के सबंधों व्यापार करता रहता है वह आतर्ध्यान और रौद्रध्यान में भी अपनी प्रवृत्ति करता रहता है इसलिये उसके सदा काल अशुभ कर्मों का ही आश्रव होता रहता है ।

अइ गिरिणईं तलाए अणवरयं पविसए सलिल परिपुण्णं ।

मण वयतणु जोएहिं पविसइ अमुहेहिं तह पाबं ॥

यथा गिरिनदी तडागेऽनवरतं प्रविशति सलिलपरिपूर्णं ।

मनवचनतनुयोगैः प्रविशति अशुभैः तथा पापम् ॥ ३९२ ॥

अर्थ— जिस प्रकार किसी पर्वत में निकलती हुई नदी का पानी किसी जल में भरे हुए तालाब में निरंतर पड़ता रहता है उसी प्रकार गृहस्थी के व्यापार में लगे हुए पुरुष के अशुभ मन वचन काय इन तीनों अशुभ योगों द्वारा निरंतर पाप कार्यों का आस्रव होता है ।

इसलिये ऐसे गृहस्थों के लिये आचार्य उपदेश देत है—

जाम ण छंडइ गेहं ताम ण परिहरइ इतयं पावं ।

पावं अपरिहरतो हेओ पुण्यस्य मा चयउ ॥

यावत्त्यजति गृहं तावत्परिहरति एतत्पापम् ।

पापम् परिहरन् हेतुं पुण्यस्य मा त्यजतु ॥ ३९३ ॥

अर्थ— इस प्रकार ये गृहस्थ लोग जब तक घर का त्याग नहीं करते गृहस्थ धर्म को छोड़ कर मुनि धर्म धारण नहीं करते तब तक उनसे ये पाप छूट नहीं सकते । इसलिये जो गृहस्थ पापों को नहीं छोड़ना चाहते उनको कम से कम पुण्य के कारणों को तो नहीं छोड़ना चाहिये । भावार्थ—गृहस्थों को सदा काल पाप कर्मों में ही नहीं लगे रहना चाहिये किंतु साथ में जितना कर सके उतना पुण्य कर्मों का भी उपार्जन करते रहना चाहिये । तथा पुण्य उपार्जन करने के लिये सावलंबन ध्यान वा भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा अथवा सुपात्र दान देते रहना चाहिये ।

आगे आचार्य फिर भी कहते हैं ।

सा मुक्क पुण्णहेउं पावस्सासवं अपरिहरतो य ।

वज्जइ ऊवेण णरो सो दुग्गइ जाड परिउणं ॥

मा त्यजपुण्य हेतुं पापस्यास्रवं मपरिहरं वच्च ।

वध्यते पापेन नरः सदुर्गतिं याति मृत्वा ॥ ३९४ ॥

अर्थ— जो गृहस्थ पाप रूप आस्रवों का त्याग नहीं कर सकते अर्थात् गृहस्थ धर्म छोड़ नहीं सकते उनको पुण्य के कारणों का त्याग कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि जो मनुष्य सदाकाल पापों का बंध करता रहता है वह मनुष्य मर कर करकादिक दुर्गति को ही प्राप्त होता है ।



आगे कैसा पुरुष पुण्य के कारणों का त्याग कर सकता है सा कहते हैं ।

पुण्यस्य कारणानि पुरिसो परिहरत जेण जियचिन् ।

विसय कसय पउत्त निगहिं ह्यपमाण ॥

पुण्यस्य कारणानि पुरुषः परिहरतु येन निजचित्तम् ।

विषकषायप्रयुक्तं निगृहीतं हतप्रमादेन । ३९५ ॥

अर्थ— जिस पुरुष ने अपने समस्त प्रमाद नष्ट कर दिये हैं तथा इन्द्रियों के विषय और कषाय में लगे हुए अपने चित्तको जिसने सर्वथा अपने वशमें कर लिया है ऐसा पुरुष अपने पुण्य के कारणों का त्याग कर सकता है । भावार्थ— पुण्य के कारणों का त्याग सातवे गुणस्थान में होता है । इस से पहले नहीं होता इसलिये गृहस्थों को तो पुण्य के कारण कभी नहीं छोड़ने चाहिये ।

आगे यही बात दिखलाते हैं ।

गृह्यावारतो गृह्यं जिणसिं रक्षिषसपाओ ।

पुण्यस्य कारणानि परिहरत सदा वि सो पुरिसो ॥

गृह्यापारविरक्तो गृहीतजिनलिंगः रहितस्वप्रमादः ।

पुण्यस्य कारणानि परिहरतु सदापि स पुरुषः ॥ ३९६ ॥

अर्थ— जिस पुरुष ने गृहस्थ के समस्त व्यापारों का त्याग कर दिया है जिसने भगवान् जिनेन्द्रदेव का निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर लिया है तथा निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने के अनन्तर जिसने अपने समस्त प्रमादों का त्याग कर दिया है । ऐसे पुरुष को ही सदा के लिये पुण्य के कारणों का त्याग करना उचित है, अन्यथा नहीं । भावार्थ— प्रमादों का त्याग सातवे गुणस्थान में होता है । सातवे गुणस्थान में ही वे मुनि उपशम श्रेणी में अथवा क्षपक चढ़ते हैं । उपशम श्रेणी में कर्मों का उपशम होता रहता है । और क्षपक श्रेणी में कर्मों का क्षय होता रहता है । इसलिये वहाँपर पुण्य के कारण अबने आप छूट जाते हैं । गृहस्थों को पुण्य के कारण कभी नहीं छोड़ने चाहिये ।

अशुहस्स कारणेहि य कम्म छक्केहि णिच्चं वट्ठतो ।

पुण्णस्स कारणाहं बंधस्स भयेण णिच्छंतो ॥

अशुभस्य कारणे च कर्मषट्के नित्यं वर्तमानः ।

पुण्यस्य कारणानि बंधस्य भयेन नेच्छन् ॥ ३९७ ॥

ण मुणइ इय जो पुरिसो जिण कहिय पयत्थ णवसरुवं तु ।

अप्पाणं सुयण मज्झे हासस्स य ठाणयं कुणइ ॥

न सन्तुने एतत् म पुरुषो जिनकथित पदार्थं नवस्वरूपं तु ।

आत्मानं सुजनमध्ये हास्यस्य च स्थानकं करोति ॥ ३९८ ॥

अर्थ— यह गृहस्थ अशुभ कर्मों के आने के कारण ऐसे असिमसि कृषि वाणिज्य आदि छोड़ कर कर्मों में लगा रहता है अर्थात् इन छोड़ों कर्मों के द्वारा सदा काल अशुभ कर्मों का आश्रय करता रहता है तथापि जो केवल कर्मबन्ध के भय से पुण्य के कारणों को करने की इच्छा नहीं करता, कहना चाहिये कि वह पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए नौ पदार्थों के स्वरूप को भी नहीं मानता, तथा वह पुरुष अपने को सज्जन पुरुषों के मध्य में हंसी का स्थान बनाता है । भावार्थ— वह हंसी का पात्र होता है । इसलिये किसी भी गृहस्थ को पुण्य के कारणों का त्याग कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे पुण्य के भेद बतलाते हैं —

पुण्णं पुब्बायरिया बुविहं अवसंति सुत्तउत्तीए ।

मिच्छ पउत्तेण कथं विवरियं सम्म जुत्तेण ॥

पुण्यं पूर्वाचार्या द्विविधं कथयन्ति सूत्रोक्त्या ।

मिथ्यात्वं प्रयुक्तेन कृतं विपरीतं सम्यक्त्वयुक्तेन ॥ ३९९ ॥

अर्थ— पूर्वाचार्यों ने अपने सिद्धांत सूत्रों के अनुसार उस पुण्य के दो भेद बतलाये हैं । एक तो मिथ्यादृष्टी पुरुष के द्वारा किया हुआ पुण्य और दूसरा इसके विपरीत सम्यग्दृष्टी के द्वारा किया हुआ पुण्य ।

आगे मिथ्यादृष्टी के द्वारा किये हुए पुण्य को और उसके फल को बतलाते हैं ।

मिच्छादृष्टीपुष्पं फलइ कुदेवेषु कुणर तिएसु ।

कुच्छिय भोग घरासु य कुच्छिय पत्तस्स दाणेण ॥

मिथ्सादृष्टिपुष्पं फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।

कुत्तित भोगधरासु च कुत्तित पात्रस्थ दानेन ॥ ४०० ॥

अर्थ— मिथ्या दृष्टी पुरुष प्रायः कुत्तित पात्रों को दान देता है इसलिये वह पुरुष उस कुत्तित दान के फल से कुदेवों में उत्पन्न होता है, कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है, नीचे तिर्यचों में उत्पन्न होता है, और कुभोग भूमियों में उत्पन्न होता है ।

जइ वि मुजायं वीयं ववसाय पउत्तओ बिजइ कसओ ।

कुच्छिय खेत्ते ण फलइ तं वीय जह तहा दाणं ।

यद्यपि मुजात्तं वीजं व्यवसायप्रयुक्तो वपति कृषकः ।

कुत्तित क्षेत्रे न फलति तद्बीजं यता तथा दानम् ॥ ४०१ ॥

अर्थ— यद्यपि किसान किसी उत्तम जाति के बीज को विधिपूर्वक (भूमि को अच्छी तरह जोत कर) बोता है तथापि कुत्तित खेत में बोने से उस पर फल नहीं लगते इसी प्रकार कुत्तित पात्रों को दान देने से उसका कुछ भी फल नहीं मिलता है ।

जइ फलइ कह वि दाणं कुच्छिय जाईहि कुच्छिय सरोरं ।

कुच्छिय भोए दाउं पुनरवि पाडेइ संसारे ।

यदि फलति कथमपि दानं कुत्तित नातिषु कुत्तितशरीरम् ।

कुत्तित भोगान् बत्वा पुनरपि पातयति संसारे ॥ ४०२ ॥

अर्थ— यदि किसी प्रकार कुत्तित पात्रों को दिये हुए दान का फल मिलता भी है तो कुत्तित जाति में उत्पन्न होना, कुत्तित शरीर धारण करना और कुत्तित भोगोपभोगों का प्राप्त होना आदि कुत्तित रूप ही फल मिलता है तथा कुत्तित पात्रों को दिया हुआ वह दान जीव-को चतुर्गति रूप इस संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है ।

संसार चक्कयाले परिभ्रमंतो ह जोगि लक्खाइं ।

पावइ विविहे दुक्खे विरयंतो विविह कम्माइं ॥

संसार चक्रवाले परिभ्रमन् हि योनिलक्षाणि ।

प्राप्नोति विविधान् दुःखाग् विरचयन् विविधकर्माणि ॥ ४०३ ॥

अर्थ— कुपाश्री को दान देने वाला पुरुष चौरासी लाख योनियों में भ्रम हुआ इस संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के कर्मों का उपार्जन करता रहता है और उन अशुभ कर्मों के फल से अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है । इस प्रकार मिथ्य दृष्टियों के द्वारा विच्य हुए पुण्य का स्वरूप और उसका फल कहा ।

अब आगे सम्यग्दृष्टि के द्वारा किये हुए पुण्य का फल बतलाते हैं ।

सम्भादिदृष्टौ पुण्यं न होइ संसारकारणं नियमा ।

मोक्षस्स होइ हेउ जइ बि नियमाणं न सो कुणइ ॥

सम्यग्दृष्टेः पुण्यं न भवति संसारकारणं नियममात् ।

मोक्षस्य भवति हेतुः यदि च निदानं न स करोति ॥ ४०४ ॥

अर्थ— सम्यग्दृष्टी के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता यह नियम है । यदि सम्यग्दृष्टी पुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य में निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है । भावार्थ— कोई भी पुण्य कार्य कर उससे आगामी काल के भोगों की इच्छा करना या और कुछ चाहना निदान है, निदान मरक का कारण है । इसलिये उत्तम पुरुषों को निदान कभी नहीं करना चाहिये ।

अकइयणियाणसम्मो पुण्यं काऊण णाणचरवट्ठो ।

उप्पज्जइ विदलोए सुहपरिणामो सुलेसो बि ॥

अकृतनिदान सम्यग्दृष्टिः पुण्यं कृत्वा ज्ञानचरणस्यः ।

उत्पद्यते विवि लोके शुभपरिणामः सुलेख्योऽपि ॥ ४०५ ॥

अर्थ— जिस सम्यग्दृष्टी पुरुष के शुभ परिणाम है, शुभ लेख्याएं हैं तथा जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य को चरण करता है, ऐसा सम्यग्दृष्टी पुरुष यदि निदान नहीं करता है तो वह पुरुष मरकर स्वर्ग लोक में ही उत्पन्न होता है ।

अन्तरमुहूर्तमज्ज्ञे देहं चहऊण माणुसं कुणिमं ।

गिण्हइ उत्तमदेहं सुचरिय कम्माणु भावेण ॥

अन्तर्मुहूर्तमध्ये देहं त्यक्त्वा मानुषं कुणिमम् ।

गृह्णाति उत्तमं देहं सुचरितकर्मानुभावेन ॥ ४०६ ॥

अर्थ— ऊपर लिखा हुआ सम्पददृष्टी पुरुष अपने पुण्य कार्य के प्रभाव से इस धृणित मनुष्य शरीर का त्याग कर अन्तर्मुहूर्त में ही स्वर्ग में जाकर उत्तम शरीर प्राप्त कर लेता है ।

चर्मं रुहिरं मांसं मेज्जा अट्ठि च तह वसा सुक्कं ।

सिम्मं पित्तं अंतं मूत्तपुरीसं च रोमाणि ॥

चर्मं रुधिर मांसं मेदोऽस्थि च तथा वसां शुक्लम् ।

श्लेष्म पित्तं अंत्रं मूत्रं पुरीषं च रोमाणि ॥ ४०७ ॥

अहं दंतं सिरिण्हाए लालां सेउयं च भिन्निस आलस्यं ।

णिद्रा तण्हा य जरा अंगे देवाण ण हि अदिय ॥

नख दंत शिरानारलालाः स्वेदकं च निमेषं आलस्यम् ।

निद्रा तंद्रा च जरा अंगे देवानां न हि सन्ति ॥ ४०८ ॥

अर्थ— चर्म ( चमड़ा ) रुधि, मांस, मेदा, हड्डी, चर्बी, शुक, ( वीर्य ) कफ, पित्त, आंतें, मल, मूत्र, रोम, नख, दांत, शिरा, ( नाडी नयें ) नाह, लार, परीना, नेत्रों की टिमिकार, आलस्य, निद्रा, तंद्रा और बुढ़ापा ये सब देवों के शरीर में कभी नहीं होते ।

सुइ अमलो वरवण्णो देहो सुह फास गंधसंपण्णो ।

बाल रवि तेयसरिसो चारुसरुद्धो सदा तरुणो ॥

शुचिः अमलो वरवर्णः देहः शुभस्पर्शगंधसम्पन्नः ।

बालरवितेजः सवृक्षः चारुस्वरूपः सदा तरुणः ॥ ४०९ ॥

अणिमा महिमा लहिमा पावइ पागम्म तइ य ईसत्तं ।

धसयस कामरुवं एतियाई गुणो हि संजुत्तो ॥

अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं तथा चेशित्वम् ।

वशित्वं कामरूपं एतैः गुणैः संयुक्तः ॥ ४१० ॥

देवाण्य होइ देहो सङ्गत्तमेण पुण्येण संपुण्णो ।

सहजाहरण णित्तो अइरम्भो होइ पुण्येण ॥

देवाना भवति देहोऽप्युत्तमेन पुण्यदलेन सम्पूर्णः ।

सहजाभरणनियुक्तोऽतिरम्भो भवति पुण्येन ॥ ४११ ॥

अर्थ— देवों का शरीर पुण्य कर्म के उदय से अत्यंत पवित्र होता है, अत्यंत निर्मल होता है, अत्यंत सुंदर वर्ण होता है, उनके शरीर का स्पर्श गंध अत्यंत शुभ होता है, उगते हुए सूर्य के तेज के समान उनका तेज होता है, उनका शरीर अत्यंत सुंदर और सदा काल तरुण अवस्था को धारण करता है, अणिमा महिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व वशित्व कामरूप इन आठों गुणों से सुशोभित रहता है। अत्यंत उत्तम पुद्गलों से बना होता है। सब प्रकार से पूर्ण होता है। अत्यंत मनोहर होता है और अपनी स्थिती के अनुसार नियत समय पर हृदय से उत्पन्न हुए अमृत से परिपुष्ट होता है। देवों को ऐसा उत्तम शरीर पुण्य कर्म के उदय से ही प्राप्त होता है। ऊपर जो अणिमा महिमा आदि देवों के, शरीर के गुण बतलाये हैं उनका अर्थ इस प्रकार है। छोटे से छोटे शरीर को बना लेने की शक्ति होना अणिमा है, मेरु पर्वत से भी बड़ा शरीर बनाने की शक्ति होना महिमा है, वायु से भी हलका शरीर बनाने की शक्ति होना लघिमा है, पृथ्वी पर ठहर कर भी अपनी उंगली के अग्रभाग से मेरु पर्वत के शिखर को भी स्पर्श करने की शक्ति होना प्राप्ति है, जल में भूमि के समान गमन करने की शक्ति होना तथा भूमि में जल के समान डूबना उछलना आदि की शक्ति होना प्राकाम्य है, तीनों लोकों की प्रभुता प्राप्त कर लेने की शक्ति होना ईशित्व है, समस्त जीवों को वश करने की शक्ति होना वशित्व है, तथा एक साथ अनेक रूप धारण कर लेने की अनेक शरीर बना लेने की शक्ति होना कामरूपत्व है। इस प्रकार देवों के शरीर में आठ ऋदियां होती हैं।

उत्पण्णो कणयमए कायककत्तिहि भासिये भवणे ।

पेच्छंस्तो रयणमयं पासायं कणय दित्तिल्लं ॥

उत्पन्नः कनकमये कायकान्तिभिः भासिते भवने ।

पश्यन् रत्नमयं प्रासादं कनक दीप्तिम् ॥ ४१२ ॥

अर्थ— इस प्रकार अपने पुण्य कर्म के उदय से वह जीव स्वर्ग ने अपने शरीर की कांति से सुशोभित होने वाले सुवर्णमय भवन में वह देव उत्पन्न होता है। वहाँ पर वह सुवर्ण की कांति से सुशोभित ऐसे रत्नमय भवनों को देखता है।

अनुकूलं परियणयं तरलियञ्चयं च अचक्षुराणिवह् ।

पिच्छन्तो णमिय सिरं तिर कइय करञ्जली देवे ॥

अनुकूलं परिजनकं तरलितनयनं च अप्सरोनिबहम् ।

पश्यन् नमित शीर्षान् शिरःकृतकराञ्जलीन् देवान् ॥ ४१३ ॥

अर्थ— वहाँ पर वह अपने परिजनों को अपने अनुकूल देखता है, जिनके सुंदर नेत्र अत्यंत चंचल हैं, ऐसी अप्सराओं के समूह के देखता है तथा जिन के मस्तक नभीभूत हो रहे हैं और जिन्होंने अपने हाथ जोड़ कर अपने मस्तक पर रख लिये हैं, ऐसे देवों को देखता है।

णिमुणंतो योतसए सुर वर सत्थेणविरइए लल्लिए ।

तुं वुरु गाइयगीए वीणासइएण सुइसुहए ॥

निःशृण्वन् स्तोत्रशतान् सुर वर सार्थेन विरचितान् ललितान् ।

तुम्बुरु गीतगीतान् वीणा शब्देन श्रुति सुखदान् ॥ ४१४ ॥

अर्थ— इसके सिवाय वह उत्पन्न हुआ देव अनेक उत्तम देवों के द्वारा बनाये हुए सैकड़ों सुंदर स्तोत्रों को सुनता है तथा कानों को सुख देने वाले और तुंबर जाति के देवों के द्वारा वीणा के साथ गाये हुए गीतों को सुनता है।

चित्तिइ कि एवइहं मज्झ पउत्तं इमं पि कि जायं ।

किं ओ लग्गइ एसो अमरगणो विणयसंघणो ॥

चिन्तयति किमेतावन् सप्त प्रमुत्वं इवमपि कि जातम् ।

किमुत लगति एषः अस्रग्गणः विनयसम्पन्नः ॥ ४१५ ॥

अर्थ— तदनंतर वह उत्पन्न हुआ देव अपने मन में चिंतवन करता है कि क्या यह सब मेरा प्रभुत्व है अथवा यह सब क्या है ? अथवा ऐसा मालूम होता है कि विनय को धारण करने वाले ये सब देव गण हैं ।

कोहं इह कस्माद्योकेण विहाणेण इयं गहं पत्तो ।

तविओ को उग्गतवो केरिसियं संजमं विहियं ॥

अर्थ— इह कस्मात्सत्ताः मेवा विहाणेन इयं गृहं प्राप्तः ।

तस्मिन् किमुग्रतपः कोट्टशं संयमं विहितम् ॥ ४१६ ॥

अर्थ— तदनंतर वह देव फिर चिंतवन करता है कि मैं कौन हूँ ? मैं इस भवन में क्यों आ गया और किस प्रकार आ गया । मैंने ऐसा कौनसा उग्र तपश्चरण धारण किया था अथवा कौनसा संयम पालन किया था जिससे कि मैं यहाँ आकर उत्पन्न हुआ हूँ ।

किं दानं मे दिण्णो केरिसपत्ताण काय सु भत्तीए ।

जेणाहं कयपुरण्णो उप्पण्णो देवल्लोयम्मि ॥

किं दानं मया दत्तंकीवृश पात्राणं कया सुभक्त्या ।

येनाहं कृतपुण्य उत्पन्नो देवल्लोके ॥ ४१७ ॥

अर्थ— वह देव फिर भी चिंतवन करता है कि क्या मैंने पहले भवमें दान दिया था और दान भी दिया था तो कैसे पात्रको दिया था और किस उत्तम भक्ति से दिया था । जिससे मैं पुण्य उपार्जन कर इस देव लोक में आकर उत्पन्न हुआ हूँ ।

इयं चित्तो पसरइ ओहीणार्णं तु भवसहावेण ।

जाणइ सो आइयभव विहियं धम्मप्यहावं च ॥

इति चिन्तयन् प्रसारयति अवधिज्ञानं तु भवस्वभावेन ।

जानाति स अतीतं सर्वं विहितं धर्मप्रभावं च ॥ ४१८ ॥

अर्थ— इस प्रकार चिंतवन करता हुआ वह देव अपने साथ उत्पन्न हुए भवप्रत्यय अवधि ज्ञान को फैलाता है और उस अवधि ज्ञान से वह अपने पहले भवको जान लेता है तथा पहले भवमें उसने जो धर्म प्रभा-



वना की थी जिससे कि वह देव हुआ था, उसको भी जान लेता है ।

पुनरपि तमेव धर्मं मनसा सहृदइ सम्मद्विष्टी सो ।

वंदेइ जिणावरानं णंदिसर पट्टइ सव्वाइ ॥

पुनारपि तमेव धर्मं मनसा श्रद्धधाति सम्यग्दृष्टिः सः ।

वन्दते जिनवरान् नन्दीश्वरप्रभृतिसर्वान् ॥ ४१९ ॥

अर्थ— तदनंतर वह सम्यग्दृष्टी देव फिर भी अपने मन में उसी धर्म का श्रद्धांत करता है और पंच मेरु नन्दीश्वरद्वीप आदि के अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करता है, उनमें विराजमान जिव प्रतिमाओं की वंदना करना है और विदेह क्षेत्र के जिनेन्द्रदेव की भी वंदना करता है ।

इह बहुकालं सगो भोगं भुंजंतु विविह रमणीयं ।

चइऊण आउस खए उण्यज्जइ मच्च लोयम्मि ॥

इति बहुकालं स्वर्गे भोगं भुंजानः विविधरमणीयम् ।

च्युत्वा आयुः क्षये उत्पद्यते मर्त्यलोके ॥ ४२० ॥

अर्थ— इस प्रकार वह जीव स्वर्ग से जाकर बहुत काल तक अनेक प्रकार के सुन्दर भोगों का अनुभव करता है । तदनंतर आयु पूर्ण होने पर वहां से च्युत होता है और इस मनुष्य लोक में आकर जन्म लेता है ।

उत्तम कुले महंतो बहुजण नमणीय सपयापउरे ।

होऊण अहियरुवो बल जोव्वण रिद्धिसंपुण्णो ॥

उत्तम कुले महति बहुजन नमनीये सम्पदाप्रचुरे ।

भूत्वा अधिकरूपः बल यौवनधिसम्पूर्णः ॥ ४२१ ॥

अर्थ— मनुष्य लोक में भी आकर वह बहुत महत्व शाली उत्तम कुल में उत्पन्न होता है तथा ऐसे कुल में उत्पन्न होता है जिसको बहुत से लोग मानते हैं नमस्कार करते हैं और जिसमें बहुतसी संपदा होती है । उसके सिवाय उसका बहुत सुन्दर रूप होता है और वह बल ऋद्धि यौवन आदि से परिपूर्ण होता है ।

तत्थवि विविहे भोए णरखेतभवे अणोवमे परमे ।  
 भुंज्जिता णिविण्णे संजमयं तेव गिण्हेई ॥  
 तन्नोपि विविधान् भोगान् तरक्षेत्र भवाननुपमात् परमान् ।  
 भुक्त्वा निविण्णः संयमं चैव गृह्णाति ॥ ४२२ ॥

अर्थ— उस मनुष्य लोक में भी उत्पन्न होकर वह जीव मनुष्य क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले सर्वोत्कृष्ट अनुभव तथा अनेक प्रकार के भोगों का अनुपम करता है और फिर संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर संयम धारण कर लेता है ।

लद्धं जइ चरम तणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा ।  
 पाविय केवल णागं जह् खाइय संजमं सुद्धं ॥  
 लब्धं यदि चरमतनं चिरकृतपुण्येन सिद्ध्यति नियमात् ।  
 प्राप्य केवलज्ञानं यथाख्यात संयमं शुद्धम् ॥ ४२३ ॥

अर्थ— यदि वह जीव अपने चिर काल के संचित किये हुए पुण्य कर्म के उदय से चरम शरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यात नाम के शुद्ध चारित्र्य को धारण कर तथा केवल ज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है ।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं भोक्खस्स कारणं हवई ।  
 इय णाऊण निहत्थो पुण्णं चायरउ जसेण ॥  
 तस्मात्सम्यग्दृष्टेः पुण्यं मोक्षस्य कारणं भवति ।  
 इति ज्ञात्वा गृहस्थः पुण्यं चार्ययतु यत्नेन ॥ ४२४ ॥

अर्थ— इस ऊपर लिखे कथन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टी का पुण्य मोक्ष कारण होता है यही समझ कर गृहस्थों को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये ।

आगे पुण्य के कारण बतलाते हैं ।  
 पुण्णत्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ वेवपूया य ।  
 कायश्वा भत्तोए सावयवग्गेण परमाय ॥

पुण्यस्य कारणं स्फुटं प्रथमं सा भवति देवपूजा च ।

कर्तव्या भक्त्या श्रावक वर्गेण परमया ॥ ४२५ ॥

अर्थ— पुण्य के कारणों में सबसे प्रथम भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करना है, इस लिये समस्त श्रावकों को परम भक्ति पूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करना चाहिये ।

अब आगे पूजा की विधि कहते हैं:-

फासुय जलेण ण्हाइय णिवसिय वत्थाइ तं पि तं ठाणं ।

इरियावहं च सोहिय उअविसियं पडिमआसेण ॥

प्रासुक जलेन स्नात्वा निवेश्य वस्त्राणि गन्तव्यं तत्स्थानम् ।

ईर्यापथं च शोधयित्वा उपविश्य प्रतिमासनेन ॥ ४२६ ॥

अर्थ— पूजा करने वाले गृहस्थ को सबसे पहले प्रासुक जल से स्नान करना चाहिये शुद्ध वस्त्र पहनाना चाहिये फिर पूजा करने के स्थान पर जाना चाहिये तथा जाने समय ईर्यापथ शुद्धि से जाना चाहिये और वहां जाकर पद्मासन से बैठना चाहिये ।

पुज्जाउअयरणाइ य पासे सण्णिहिय मंतपुब्बेण ।

ण्हाणेणं ण्हाइत्ता आचमणं कुणउ मंतेण ॥

१- पद्मासनसमासीतो नासाग्रन्यस्तलोचनः ।

मौनी वस्त्रावृतास्योऽयं पूजां कुर्याज्जिनेशिनः ॥

अर्थात्— पूजाकरने वाला पद्मासन से बैठ कर पूजा करे अपनी दृष्टि नासिक पर रखे, मौन धारण करे, और वस्त्र से अपना मुख ढक लेवे ।

२- ओं ह्रीं अमृते अमृतो ऋवे अमृत वार्षिणि अमृतं श्रावय श्रावय सः मं ल्कीं ल्कीं वलू मूलूं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रावय हं शं श्वीं श्वीं ह सः असि आ उ सा हूं नमः स्वाहा । यह अमृत स्नान मंत्र है । ओं ह्रीं श्वीं श्वीं वं मं हं सं तं पं द्रां द्रीं ह सः स्वाहा यह आचमन मंत्र है ।

धूपोपकरणानि च पार्श्वे सन्निधाय मंत्रपूर्वेण ।

स्नानेन स्नात्वा आचमनं करोति मंत्रेण ॥ ४२७ ॥

अर्थ— तदनंतर पूजा के समस्त उपकरण अपने पास रखना चाहिये फिर मंत्र स्नान करना चाहिये और फिर मंत्र पूर्वक आचमन करना चाहिये ।

आसनं कृत्वा किञ्चा सम्मत्तपुष्पं तु ज्ञादौ अग्न्या ।

शिखि मंडल मज्झत्यं ज्वालासयजलिपणियदेहं ।

आसनस्थानं कृत्वा सम्यक्पूर्वं तु ध्यायतु आत्मानम् ।

शिखिमण्डलमध्यस्थं ज्वालाशतज्वलितनिजदेहम् ॥ ४२८ ॥

अर्थ— अग्नि मंडल के मध्य में अपना आसन लगा कर बैठे और फिर सम्यक् रीति से परमात्मा का ध्यान करे । उस ध्यान में अग्नि-मंडल में निकलती हुई सौ ज्वालाओं से अपना शरीर जल रहा है ऐसा चितवन करना चाहिये ।

सबसे पहले अग्निमंडलका चितवन करना चाहिये एक त्रिकोण आकार का यंत्र बनाना चाहिये उसके तीनों ओर सौ रेफ या रकार बनाना चाहिये । उन रकारों के ऊपर आधे रकार का आकार और बनाना चाहिये । इसको अर्द्ध रेफ की ज्वाला कहते हैं । ऐसे रेफों से व्याप्त अग्निमंडल के मध्य में अपने शरीर को स्थापन करना चाहिये तथा ध्यान कर अपने शरीर के मूल को दग्ध करना अर्थात्—जलाना चाहिये । उसकी विधि इस प्रकार है " ओं न्ही अर्ह भगवते जिनभास्कराय बोधसहस्र किरणैर्मम किरणेन्धनस्य द्रव्यं शोषयामि घे घे स्वाहा । " दाभ के छोटे पूले को दीपक से सेक लेना चाहिये और फिर उस दाभ को अग्निमंडल में भस्म कर देना चाहिये । सो ही लिखा है—

अग्नि मंडलमध्यस्थं रेफैर्ज्वालाशताकुलैः ।

सर्वांगदेशैर्जध्यात्वा ध्यानं दग्धं वपुर्मलम् ॥

अर्थात्— अग्निमंडल के मध्य में बैठ कर सौ रेफ ज्वालाओं से व्याप्त होकर तथा सब शरीर से ध्यान के द्वारा शरीर के मूल को जलाना चाहिये ।

पूजा करने वाले को दर्भासन पर बैठकर ऊपर लिखा मंत्र पढ़ कर अपने पाप संबंधी पाप मल को जलाने के लिये दाभको दोपकसे जला नर अग्नि मंडल पर रखना चाहिये । फिर ओं न्हीं अहं श्रीजिन-प्रभुजिनायकर्मभस्मविष्णुं नमः कुरु कुरु स्वाहा " इस मंत्र को पढ़ कर उस जली हुई दाभ की भस्म पर जल धारा देकर उसको बुझा देना चाहिये फिर पंच परम गृह मुद्रा धारण करनी चाहिये । फिर अ सि आ उ सा इनका न्यास करना चाहिये अर्थात्—इनको स्थापन करना चाहिये । फिर जल मंडल यंत्र बनाकर उसके ऊपर झं वं हवः पः इन अमृत बीजों को स्थापन कर अपने मस्तक पर जल छोटना चाहिये । उसकी विधि इस प्रकार है—किसी ताँबे के पात्र में (गोल कटोरा आदि में) जल भर कर उसमें अनामिका (तीसरी उंगली) उंगली से जल मंडल यंत्र लिखना चाहिये । सो हि लिखा है—" झं ठं स्वरावृतं तोयं मंडलं द्व्यवेष्टितम् ।"

फिर उस जल मंडल में आचमनी (छोटी चमची) रखकर " ओं न्हीं अमृते अमृतो द्रुवे अमृतं स्वावय स्वावय सं सं बलीं बलीं बलूं बलूं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रावय द्रावय हं हं ह्वीं ह्वीं हं सः अ सि आ उ सा अहं नमः स्वाहा " यह मंत्र पढ़ कर आचमनी से जल लेकर मस्तक पर डालना चाहिये और इस प्रकार तीन बार करना चाहिये । यह अमृत स्नान है । फिर अपने दोनों हाथों की कनिष्ठा (सबसे छोटी) अंगुली से लेकर अनुक्रम से अंगूठे पर्यंत मूल की रेखा से ऊपर की रेखा तक पंच नमस्कार का न्यास करना अर्थात्—स्थापन करना चाहिये । उसकी विधि इस प्रकार है—ओं न्हीं णमो अरहंताणं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं अनामिकाभ्यां नमः, ओं न्हीं णमो आइरियाणं मध्यमाभ्यां नमः, ओं न्हीं णमो उवज्जायाणं तजिनीभ्यां नमः, ओं न्हीं णमो लोए सव्वसाहूणं अंगुठाभ्यां नमः, इस प्रकार अलग अलग मंत्र पढ़ कर दोनों ही हाथों की उंगलियों की मूल रेखा से लेकर ऊपर के पर्वतक अंगूठा लगाकर अलग अलग नमस्कार करना चाहिये । इसको कर न्यास कहते हैं ।

फिर " ओं न्हीं अहं वं मं सं तं पं असि आ उ सा हस्त संपुटं करोमि स्वाहा " यह मंत्र पढ़कर दोनों हाथ मिलाकर कमल की कर्णिका

के समान संपुट रूप करना चाहिये अर्थात् हाथ जोड़ना चाहिये तथा दोनों हाथों के अंगूठों को ऊंचा खड़ा रखना चाहिये । फिर नीचे लिखे मंत्र पढ़ कर अंग न्यास करना चाहिये उसकी विधि इस प्रकार है । 'ओं न्हीं णमो अरहंताणं स्वाहा हृदि, यह मंत्र पढ़कर उन जुड़े हुए हाथों के खड़े अंगूठों को हृदय से लगाना चाहिये । ओं न्हीं णमो सिद्धाणं स्वाहा ललाटे, ओं न्हीं णमो आयरियाणं स्वाहा शिरसी, ओं न्हीं णमो उवज्झायाणं स्वाहा शिरोदक्षिण भागे, ओं न्हीं णमो लोए सब्ब साहूणं स्वाहा शिरोपश्चिमदेशे, इन मंत्रों को पढ़ कर दोनों हाथों के अंगूठों को अनुक्रम से हृदय, ललाट, मस्तक, दाई और बाई ओर नमस्कार पूर्वक स्पर्श करना चाहिये, उस समय हाथ जुड़े ही रखने चाहिये । यह अंग न्यास है, अर्थात् अपने शरीर और हाथों में मंत्र पूर्वक पंचपरमेष्ठी का स्थापन करना है । इसके बाद दस विधि से और इन्हीं ऊपर लिखे मंत्रों से दूसरा अंग न्यास करना चाहिये । उसके स्थान ये हैं — ओं न्हीं णमो अरहंताणं स्वाहा शिरो मध्ये, ओं न्हीं णमो सिद्धाणं स्वाहा शिरो अग्रभागे, ओं न्हीं णमो आइरीयाणं स्वाहा शिरो नैऋत्यां, ओं न्हीं णमो उवज्झायाणं स्वाहा शिरो वायव्याम्, ओं न्हीं णमो लोए सब्ब साहूणं शिरो ईशानो । इस प्रकार शिर के मध्य में, शिर के आगे, शिर की नैऋत्य दिशा में, शिर की वायव्य दिशा में और शिर की ईशान दिशा में अंगन्यास करे । फिर तीसरा अंगन्यास ऊपर लिखे मंत्र पढ़कर अनुक्रम से दाहिनी भुजा, नाभि, दाईं कांख और बाईं कांख में करे । यथा ओं न्हीं णमो अरहंताणं स्वाहा दक्षिण भुजायाम्, ओं न्हीं णमो सिद्धाणं वाम भुजायां, ओं न्हीं णमो आयरीयाणं नाभौ, ओं न्हीं णमो उवज्झायाणं दक्षिण कुक्षौ, ओं न्हीं णमो लोए सब्ब साहूणं वामकुक्षौ । तदनंतर बाये हाथ की तर्जनी अंगूली में पंच मंत्र को स्थापन कर पूर्व दिशाको आदि लेकर दशों दिशाओं में नीचे लिखे मंत्र पढ़ कर सरसों क्षेपण करनी चाहिये । ओं क्षो स्वाहा पूर्वस्यां, ओं क्षी स्वाहा आग्नेये, ओं क्षु स्वाहा दक्षिणे, ओं क्षे स्वाहा नैऋत्ये, ओं क्षो स्वाहा पश्चिमे, ओं क्षो स्वाहा वायव्ये, ओं क्षो उत्तरे, ओं क्ष स्वाहा ईशाने, ओं क्षः स्वाहा अबः ओं क्षः स्वाहा ऊर्ध्व । इस प्रकार दशों दिशाओं में सरसों स्थापन करनी चाहिये । फिर ओं, न्हां, न्हीं, न्ह, न्हें, न्हौ, न्हें, न्हं, न्हः स्वाहा' इस मंत्र को

पढ़ कर दसों दिशाओं में सरसों क्षेपण करनी चाहिये यह सूच्य बीज है इस प्रकार दसों दिशाओं का बंधन करना चाहिये । फिर मंत्र को जाननेवाले श्रावक को मंत्र पूर्वक कवच और कर न्यास करना चाहिये । इसकी विधि इस प्रकार है— ओं न्हों दयाय नमः शिरसि, आं न्हों शिखाय वषट् कवचाय न्हूं अस्त्राय फट् यह मंत्र पढ़ कर पृथक् पृथक् मंत्रों में मस्तक का स्पर्श करना चाहिये । बाँटो का मार्ग कर चाँदी में गाँठ बांधनी चाहिये । फिर कंधे से लेकर समस्त शरीर को दोनों हाथों से स्पर्श कर फिर दोनों हाथों से ताली बजाकर शब्द करना चाहिये । फिर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये । ध्यान के मंत्र ये हैं— ओं न्हों णमो अरहंताणं अर्हद्भ्यो नमः इसको इकईस बार अपना चाहिये । ओं न्हों णमो सिद्धाणं सिद्धेभ्यो नमः स्वाहा इसको भी इकईस बार जपना चाहिये । इन मंत्रों के द्वारा पद्मासन से कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार सकली करण विधान के द्वारा अपना मन शुद्ध करना चाहिये । शौच दो प्रकार है एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर । जल मिट्टी आदि से तो बाह्य शौच करना चाहिये और मंत्र से आभ्यन्तर शौच करना चाहिये यह सकली करण विधि है ।

पापेण सह संदेह आणो उज्झंतयं त्वु चित्ततो ।

बंधज संतीमुद्रा पंच परमेष्ठिणामाय ॥

पापेन सह स्वदेहं ध्याने दह्यमानं खलु चिन्तयन् ।

बध्नन्तु शान्तिमुद्रां पंच परमेष्ठिं नाम्नीम् ॥ ४२९ ॥

अर्थ— उस ध्यान में “ मेरा शरीर मेरे पापों के साथ जल रहा है ” ऐसा चिंतन करना चाहिये और फिर पाँचों परमेष्ठियों की वाचक ऐसी शान्त मुद्रा बनानी चाहिये ।

अमयकलरे निवेशय पंचसु ठाणेषु शिरसि धरिऊण ।

सा मुद्रा पुणु चित्तउ धाराहि सबवयं अमयं ॥

अमृताक्षरं निवेशयतु पंचसु स्थानेषु शिरसि धृत्वा ।

ता मुद्रां पुनः चिन्तयतु धारसिः कवचमृतम् ॥ ४३० ॥

अर्थ— उस गुरु मुद्रा को मस्तक पर रख कर पांचों स्थानों में अमृताक्षरों का निवेश करो । जिसकी धारा में अमृत झर रहा है इस प्रकार उस गुरु मुद्रा को फिर चितवन करो ।

पावेण सह शरीरं बद्धं जं आसि ज्ञान जलणेन ।

तं जायं जं छारं पक्खालउ तेण संतेण ॥

पापेन सह शरीरं पाधं यत् आसीत् ध्यानज्वलनेन ।

तज्जातं यत्सारं प्रक्षालयतु तेन मंत्रेण ॥ ४३१ ॥

अर्थ— उस ध्यान की ज्वाला में जो पापों के साथ शरीर जल गया था और उससे जो धार वा राख उत्पन्न हुई थी उसको उसी मंत्र से धो डालो ।

पडिबिक्सं जं पाधं पुरिसो आसवइ तिविह जोएण ।

तं णिदहइ णिरुत्तं तेण ज्ञानेण संजुत्तो ॥

प्रति बिक्सं यन्पाधं पुरुषः आस्रवति त्रिविध योगेन ।

तन्निर्दहति निःशेषं तेन ध्यानेन संयुक्तः ॥ ४३२ ॥

अर्थ— यह पुरुष अपने मन वचन काय तीनों योगों से जो प्रति दिन पाप कर्मों का आस्रव करता है उस आस्रव से आने वाले समस्त पाप कर्मों को वह पुरुष ऊपर लिखे अनुसार ध्यान धारण कर शीघ्र ही नाश कर देता है ।

जं सुद्धो तं अप्पा सकायरहिओ य कुणइ षहु किं पि ।

तेण पुणो णियदेहं पुण्णाण्णवं चित्ते ज्ञाणी ॥

यः शुद्धः आत्मा स्वकायरहितश्च करोति न हि किमपि ।

तेन पुनर्निजदेहं पुण्यार्णवं चिन्तयेत् ध्यानी ॥ ४३३ ॥

अर्थ— इस प्रकार जो अपनी आत्मा अपने शरीर से रहित होकर अत्यंत शुद्ध हो चुका है वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकता इसलिये उस ध्यान करने वाले पुरुष को अपना शरीर एक पुण्य के समुद्र रूप चित्त-वत्त करना चाहिये । भावार्थ— उस ध्यान करने वाले पुरुषने जो अपने शरीर को पाप सहित दग्ध करने रूप चितवन किया था उससे शरीर



और पाप नष्ट हो जाने पर वह आत्मा शुद्ध और शरीर रहित चितवन में आगया । तथा शरीर रहित शुद्ध आत्मा कुछ कर नहीं सकता । इसलिये वह फिर अपने शरीर को एक पुण्य के सागर के समान चितवन करता है ।

उट्ठाविऊण देह संपुण्ण कोटि चंद संकासं ।

पच्छा सकली करण कुणओ परमेठ्ठि मतेण ॥

उत्थाप्य देहं सम्पूर्णं कोटि चन्द्र संकाशम् ।

पश्चाच्छकलीकरणं करोतु परमेष्ठिमन्त्रेण ॥ ४३४ ॥

अर्थ— तदनंतर करोड़ों चन्द्रमाओं के समान निर्मल और वेदी-व्यमान अपने शरीर को चितवन करता हुआ तथा शरीर को पूर्ण रूप से चितवन करता हुआ उस ध्यान से उठ बैठना चाहिये और फिर पंच परमेष्ठी वाचक मंत्रों से उस पुरुष को सकली करण करना चाहिये । सकली करण की विधि पहले लिख चुके हैं ।

अहवा छिप्पउ साहा णिस्सेउ करंगुलीहि धामेहि ।

पाए णाहो हियए मुहे य सोसे य ठविऊणं ॥

अथवा क्षिपतु शेषां निवेशयतु करांगुलैः वामैः ।

पादे नाभ्यां हृदये मुखे च शिरसि च स्थापयित्वा ॥ ४३५ ॥

अर्थ— अथवा दशों दिशाओं में सरसों स्थापन करना चाहिये तथा बायें हाथ की अंगुलियों से करन्यास करना चाहिये अर्थात् पैरों में नाभि में हृदय में मुख में और मस्तक पर बायें हाथ की उंगलियों को रख कर पाँचों स्थानों में पंच परमेष्ठी की स्थापना करना चाहिये । यदि साहा के स्थान में सेहा पाठ है तो सरसों के स्थान में शेषाक्षत लेना चाहिये । यह सब विधि तथा आगे लिखा अंग न्यास सब पीछे सकली करण में लिखा है ।

अंगे णासं किच्चा इवो हं कप्पिऊण पियकाए ।

कंकण सेहरं मुहो कुणओ जण्णोपवीयं च ॥

अंगे न्यासं कृत्वा इन्द्रोऽहं कल्पयित्वा निजकाये ।

कंकणं शेखरं मृत्त्रिकां कुर्यात् यज्ञोपवीतं च ॥ ४३६ ॥

अर्थ— तदनंतर अंगन्यास करना चाहिये । फिर अपने शरीर में 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसी कल्पना करनी चाहिये और कंकण मुकुट मुद्रिका और यज्ञोपवीत पहनना चाहिये ।

पीठं मेरुं कप्पिय तस्योपरि ठाविऊण जिनपडिमा ।

पच्चक्खं अरहंत चित्ते भावेउ भावेण ॥

पीठं मेरुं कल्पयित्वा तस्योपरि स्थापयित्वा जिनप्रतिमान् ।

प्रत्यक्षं अहन्तं चित्ते भावयेत् भावेन ॥ ४३७ ॥

अर्थ— तदनंतर स्थापन किये हुए सिंहासन में मेरु पर्वत की कल्पना करनी चाहिये, उस सिंहासन पर भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा विराजमान करना चाहिये और फिर अपने चित्त में अपने निर्मल भावों से य साक्षात् भगवान् अरहन्त देव है ऐसी भावना करनी चाहिये ।

कलस चउक्कं ठाविय चउसु वि कोणेषु नीरपरिपुण्णं ।

घय बुद्ध बहिय भरियं णव सयदलछण्णमुहकमलं ॥

कलश चतुष्कं स्थापयित्वा चतुर्ष्वपि कोणेषु नीरपरिपूर्णं ।

घृतवृक्षवधिभृतं नवशतदलच्छन्नमुखकमलम् ॥ ४३८ ॥

अर्थ— तदनंतर चारों कोनों में जल से भरे हुए चार कलश करने चाहिये तथा मध्य में पूर्ण कलश स्थापन करना चाहिये । इनके सिवाय घी दूध दही इनसे भरे हुए कलश भी स्थापन करने चाहिये । इन सब कलशों के मुख पर नवीन सौ दल वाले कमल रखने चाहिये ।

आवाहिऊण देवे सुरबद्ध सिंहकाल णेरिए वरुणे ।

पवणे जल्ले ससूली सप्रियसवाहणे ससत्थे य ॥

आहुय देवान् सुरपतिशिशिकालनैऋत्यान् वरुणान् ।

पवनान् यक्षान् सशूलिनः सप्रियसवाहानान् सशस्त्रांश्च ॥ ४३९ ॥

अर्थ— तदनंतर इन्द्र अग्नि यम नैऋत वरुण पवन कुबेर ईशान धरणीन्द्र और चन्द्र इन दश दिक्पालों की स्थापना कर अर्घ्य चढ़ाना चाहिये । इन दशों दिक्पालों को उनकी पत्नी वाहन और शस्त्रों सहित स्थापना करनी चाहिये ।

दाऊण पुज्जद्वयं बलि खरुयं तहं य जणभायं च ।

सर्वेसि मंते हि य बोधवत्तर णाम जुत्तेहि ॥

दत्त्वा पूजाद्रव्यं बलि चरुकं तथा च यज्ञभागं च ।

सर्वेषां मंत्रैश्च बीजाक्षरनामयुक्तैः ॥ ४४० ॥

अर्थ— इन सब दिक्पालों को पूजा द्रव्य बलि नैवेद्य यज्ञभाग देना चाहिये । सबका बीजाक्षर सहित अलग अलग नाम लेकर मंत्र पूर्वक आह्वानन स्थापन मन्त्रिधीकरण कर यज्ञ भाग पूजा द्रव्य और नैवेद्य देना चाहिये । इनके स्थापन करने आदि के मंत्र ये हैं । ओं न्हीं आं क्रीं प्रशस्त वर्ण सर्व लक्षण संपूर्ण स्वायुध वाहन युवती सचिन्ह सहित इन्द्र देव अत्र आगच्छ आगच्छ संवौषट्, अत्र तिष्ठ तिष्ठः ठः, अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ओं आं क्रीं न्हीं इन्द्र देवाय इदं अर्घ्यं पाद्यं गंधं पुष्पं दीपं धूपं चरुं बलिं स्वस्तिकं अक्षतं यज्ञभागं च यजामहे यजामहे प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्यतामिति स्वाहा । यह मंत्र पढ़ कर अलग अलग देवों को स्थापन करना चाहिये । इन्द्र को पूर्व दिशा में स्थापन कर बाई ओर से आठों दिशाओं में आठ देव अबो दिशामे घरणीन्द्र ऊर्ध्व दिशा में चन्द्र को स्थापन करना चाहिये । शेष विधि अभिषेक पाठ मे से कर लेनी चाहिये ।

उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणळ देवदेवस्स ।

णीर घय खीर वहियं खिबउ अणुक्कमेण जिणसीसे ॥

उच्चार्य मंत्रान् अभिषेकं कुर्यात् देवदेवस्य ।

नीरघृतक्षीरवधिकं क्षिपेत् अनुक्रमेण जितशीर्षे ॥ ४४१ ॥

अर्थ— तदनंतर देवाधिदेव भगवान् अरहंत देव का अभिषेक करना चाहिये । वह अभिषेक अनुक्रम से जल घी दूध दही आदि पदार्थों से मंत्रों का उच्चारण करते हुए भगवान् के मस्तक परसे करना चाहिये ।

गृह्यणं काऊण पुणो अमलं गंधोदयं च वंदित्ता ।

सबलहणं च जिणिदे कुणळ कस्सोर मलएहि ॥

स्नपनं कारयित्वा पुनः अमलं गन्धोदकं च वन्दित्वा ।

उद्धर्तनं च जिनेन्द्रे कुर्यात् काश्मीरमलयैः ॥ ४४२ ॥

अर्थ— इस प्रकार अभिषेक कर निर्मल गन्धोदक की वंदना करनी चाहिये और फिर काश्मीर केसर तथा चंदन आदि से भगवान् का उद्धर्तन करना चाहिये । अभिषेक के अनन्तर चन्दन केसर आदि द्रव्यों की धूप बना कर उससे प्रतिमा का उद्धर्तन करना चाहिये । फिर कोण कलशों में तथा पूर्ण कलश से अभिषेक करना चाहिये । यह विधि अत्यंत मंदार ने कही है । इसकी पूर्ण विधि अभिषेक पाठ से जान लेनी चाहिये ।

आलिहउ सिद्धचक्रं पट्टे पन्नेहि शिरसुगन्धेहि ।

गुह उवएसेण फुडं संपएणं सव्वमंतेहि ॥

आलिखेत् सिद्धचक्रं पट्टेद्रव्यैः निसुगन्धैः ।

गुरुपदेशेन स्फुटं संपन्नं सर्वमंत्रैः ॥ ४४३ ॥

अर्थ— तदनंतर किसी वस्त्र पर या किसी थाली में वा किसी पाट पर अत्यंत सुगन्धित द्रव्यों से सिद्ध चक्र का मंत्र लिखना चाहिये । तथा गुरु के उपदेश के अनुसार उसे स्पष्ट रीति से सर्व मंत्रों से पूर्ण रूप देकर लिखना चाहिये ।

आगे उसमें बनाने की विधि बतलाते हैं ।

सोल दल कमल मञ्जरे अरिहं विलिहे इबिदुकलसहियं ।

वंधेण वेहइत्ता उवरि पुणु माय वीएण ॥

षोडशदल कमल मध्ये अहं विलिखेत् त्रिदुकलसहितम् ।

ब्रह्मणा वेष्टयित्वा उपरि पुनः मायाबीजेन ॥ ४४४ ॥

सोलस सरेहि वेहउ देह विधप्पेण अट्ठ वग्गा वि ।

अट्ठेहि दळेहि सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं ॥

षोडश स्वरं वेष्टय देहविकल्पेन अष्टवर्गानभि ।

अष्टमिर्दलैः सुपवं अहंभ्यो नमः सहितम् ॥ ४४५ ॥

मायाए तं एवं तिउणं वेहेह अंकुसारुद्धं ।

कुणह धरामंडलयं बाहिरयं सिद्धचक्रकस्स ॥

मायया तत्सर्वं त्रिगुणं वेष्टयेत् अंकुशारुद्धम् ।

कुर्यात् धरामण्डलकं बाह्यं सिद्धचक्रस्य ॥ ४४६ ॥

अर्थ— एक सोलह दल का कमल बनाना चाहिये इसके मध्य में कर्णिका पर बिंदु और कला सहित 'हं' लिखना चाहिये । फिर उसको बहून स्वरों से वेष्टित करना चाहिये ।

अर्थात् उससे चारों ओर सोलह स्वर लिखना चाहिये । फिर उन सबको माया बीज से वेष्टित करना चाहिये अर्थात् तीन रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये । तदनंतर सोलह दल का कमल बनाना चाहिये जिसमें आठ दल हों और आठ वर्ग हों । आठों वर्गों में सोलह स्वर तथा कवर्ग चवर्ग आदि अक्षर हों तथा आठों दलों में 'अहंद्भ्यो नमः' लिखना चाहिये । इन सबको तीन माया रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये । ऊपर की ओर अंकुश से आरुद्ध करना चाहिये । तथा फिर चारों ओर बाहर धरा मंडल बना देना चाहिये ।

सिद्ध चक्र का विधान पूजा में इस प्रकार लिखा है —

ऊर्ध्वोर्धोरयुतं सविंदुसपरं ब्रह्मस्वरावेष्टितं ।

वर्गपूरितदिग्गताम्बुजदलं तत्संधितत्त्वान्वितम् ॥

अंतःपत्र त्रदेष्वनाहतयुतं न्हीं कार सवेष्टितं ।

देवं ध्यायति यः स मुक्तिं सुभगी वैरीभक्तधीरवः ॥

अर्थात्—जिसके ऊपर और नीचे दोनों स्थानों में 'र' कार है तथा जो बिंदु अर्थात् अर्धचंद्रकार कला सहित ऐसा 'स' से आगे का अक्षर 'ह' कार मध्य में लिखना । जिस ह कार के ऊपर र कार हो नीचे र कार हो और अर्द्ध चन्द्र वा अर्ध बिंदु ऊपर हो ऐसा न्हीं मध्य में लिखना चाहिये । उस न्हीं के चारों ओर बहून स्वर अर्थात् सोलह स्वर लिखना चाहिये । इतना सब तो वी चकी कर्णिका में लिखना चाहिये । फिर उस कर्णिका के चारों दिशाओं में और चारों विदिशाओं में आठ संधियाँ बना कर उन संधियों के मध्य में अष्ट दल आकार का कमल बनाना चाहिये । उन अष्ट दलों में अनुक्रम से अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ ऋं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

१

इय संखेवं कद्वियं जो पूयइ गंध दीप धूपेहि ।

कुसुमेहि जवइ जिह्वं सो हणइ पुराणयं पावं ॥

इति संक्षेप्य कथितं यः पूजयति गन्ध दीप धूपैः ।

कुसुमैः जपति नित्यं स हन्ति पुराणकं पापम् ॥ ४४७ ॥

अर्थ— इस प्रकार संक्षेप से सिद्ध चक्र का विधान कहा । जो पुरुष गंध दीप धूप और फूलों से इस यंत्र की पूजा करता है तथा नित्य इसका जप करता है वह पुरुष अपने संचित किये हुए समस्त पापों का नाश कर देता है ।

जो पुणु बड्डद्वारो सखो भणिओ हु सिद्धचक्रकस्त ।

सो एइ ण उद्धिरिओ इण्हि सामग्गि ण हु तस्स ॥

स थ द ध न प फ व भ म य र ल व श ष स ह ल्ल अः इस क्रम से लिखना चाहिये । तथा इन्हीं दलों में सोलह स्वरों में से प्रत्येक दल में दो स्वर लिखना चाहिये तथा इन्हीं दलों के अंत भाग में अनाहत मंत्र लिखना चाहिये । तथा उन आठ दलों के मध्य में जो आठ संधियां हैं उनको तत्त्व से सुशोभित करना चाहिये । “ णमो अरहंताणं ” इस मंत्र को तत्त्व कहते हैं । अर्थात् आठो संधियों में णमो अरहंताणं लिखना चाहिये । फिर तीन बलय देकर अंगुल से वेष्टित करना चाहिये फिर क्षिति बीज और इन्द्रायुध लिखना चाहिये । इस प्रकार यंत्र रचना कर सिद्धचक्र का ध्यान करना चाहिये ।

१ जो जीव इस सिद्ध चक्र का ध्यान करता है वह श्रेष्ठ मोक्ष पदको प्राप्त होता है । यह सिद्ध चक्रदेव शत्रुरूपी हाथियों को जीतने के लिये सिंह के समान है ।

अनाहत का लक्षण—

उ विन्द्वाकार हरोर्ध्वरेफ विन्द्वाकारवाक्षरं । मालाघः स्पन्दिपीयूष विन्दु विदुरनाहृतम् ॥ उ, अनुस्वार, ईकार, ऊर्ध्व रकार, हकार, हकार, निम्न रकार अनुस्वार ईकार इन नौ अक्षरों से अनाहत मंत्र बनता है ।

चः पुनः बृहदुद्धारो सर्वो भणितो हि सिद्धचक्रस्य ।

सोऽत्र न उद्धर्तव्यः इदानीं सामग्री न च तस्य ॥ ४४८ ॥

अर्थ— इसके सिवाय एक सिद्ध चक्र का बृहत् उद्धार और भी है, महा उद्धार वा महा पूजा है जो अन्य शास्त्रों में कही है परंतु उसका उद्धार वा महा सिद्ध चक्र पूजा इस समय नहीं करना चाहिये । क्योंकि इस समय उसकी पूर्ण सामग्री प्राप्त नहीं होती ।

आगे शान्ति चक्र विधान कहते हैं ।

जइ पुज्जइ को वि णरो उद्धारिता गुरुवएसेण ।

अट्ठ दल विउण त्रिउणं चउगुणं बाहिरे कं रे ॥

यवि पूजयति कोपि नर उद्धार्य गुरुपदेशेन ।

अष्ट दल द्विगुण त्रिगुणं चतुर्गुणं बाह्योक्ते ॥ ४४९ ॥

मज्झे अरिहं देवं पंचपरमेष्ठिमंतसंतुत्तं ।

लहि ऊण कण्णिआए अट्ठदले अट्ठवेणीओ ॥

मध्ये अहं देवं पंचपरमेष्ठिमंत्रयुक्तम् ।

लिखित्वा कणिकाया अष्टदले अष्टवेणीः ॥ ४५० ॥

सोलह बलेसु सोलह त्रिज्जा वेणीउ मंतसहियाओ ।

चउवीसं पत्ते सु य जक्खा जक्खी य चउवीसं ॥

षोडश दलेषु षोडश विद्यावेणीः मंत्र सहिताः ।

चतुर्विंशति पत्रेषु च यथान् यथीश्च चतुर्विंशतिम् ॥ ४५१ ॥

वत्तीला अमरिवा लिहेह वत्तीस कंज पत्तेसु ।

णिय निय मंत पउत्ता गणहर वलयेण वेढेइ ॥

द्वात्रिंशतममरेन्द्रान् लिखेत् द्वात्रिंशत्कंजपत्रेषु ।

निज निज मंत्र प्रयुक्तान् गणघर वलयेन वेष्टयेत् ॥ ४५२ ॥

सप्तपयारा रेहा सत्त वि । लिहेह वज्रसंजुता ।

चउरंसो चउ दारा कुणह वयसेण जुत्तीए ॥

सप्तप्रकाराः रेखाः सप्तापि विलिखेत् यज्र संयुक्ताः ।

चतुरंगांश्चतुर्द्वारान् कुर्यात् प्रसक्तेन युत्तया ॥ ४५३ ॥

शान्ति चक्र यंत्रोद्धार:-

मध्य में कर्णिका का लिखना चाहिये फिर वलय देकर उसके बाहर चार दिशा और चारों विदिशाओं में अष्टदलाकार कमल बनाना चाहिये । फिर उसके बाहर वलय देकर सोलह दल का कमल बनाना चाहिये । फिर उसके बाहर वलय देकर चौबीस दल का कमल बनाना चाहिये । फिर उसके बाहर वलय देकर वत्तीस दल का कमल बनाना चाहिये । उसके बाहर वलय देकर पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर इन चारों दिशाओं में भद्र के आकार चार द्वार वा दरवाजा बनाना चाहिये । फिर एक एक द्वार के दोनों ओर तीन तीन त्रिशूलाकार वज्र लिखना चाहिये । इस प्रकार चारों ओर के उन आठ त्रिशूलों के चौबीस श्रोम (यक्षों के स्थान) करने चाहिये । फिर चारों विदिशाओं के खल के बाहर दो दो अलग अलग क्षिति मंडल के लिये त्रिशूलाकार वज्र बनाना चाहिये और उसके आठवज्र लिखना चाहिये । इस प्रकार क्षिति मंडल सहित शान्ति चक्र यंत्र का उद्धार करना चाहिये ।

सबसे पहले कर्णिका के मध्य भाग में “ ओं न्हीं अर्हद्भ्यो नमः ” लिखना चाहिये । फिर उसी कर्णिका में इस मंत्र के पूर्व की ओर ‘ओं न्हीं सिद्धेभ्यो नमः’ यह मंत्र लिखना चाहिये । फिर उसकी दक्षिण दिशा में ‘ओं न्हीं सूरिभ्यो नमः’ लिखना चाहिये । पश्चिम की ओर ‘ओं न्हीं पाठकेभ्यो नमः’ लिखना चाहिये । उत्तर की ओर के दल में ‘ओं न्हीं साधुभ्यो नमः’ लिखना चाहिये । तदनंतर उसी कर्णिका में चार विदिशाओं के चार दलों में से अग्नि कोण के दल में “ ओं न्हीं सम्यग्दर्शनाय नमः ” नैऋत कोण में “ ओं न्हीं सम्यग्ज्ञानाय नमः ” वायव्य कोण में ‘ओं न्हीं सम्यक् चारित्र्याय नमः’ और ईशान कोण में “ओं न्हीं सम्यक्त्वसे नमः” लिखना चाहिये । यह कर्णिका में बने हुए नौ कोठों का उद्धार है ।

इस कर्णिका के बाहर जो अष्ट दलाकार कमल है उसमें से पूर्व के दल में ‘ओं न्हीं जयार्थ स्वाहा’ दक्षिण के दल में ‘ओं न्हीं विजयार्थ स्वाहा’ पश्चिम के दल में ‘ओं न्हीं अजितार्थ स्वाहा’ उत्तर के दल में ओं न्हीं अपराजितार्थ स्वाहा’ लिखना चाहिये । फिर अग्नि



अर्थ— इसके सिवाय गुरु के उपदेश से शांति चक्र का उद्धार कर उसकी भी पूजा करनी चाहिए। जो इस प्रकार है— बीच में कर्णिका रखकर वलय देकर उसके बाहर आठ दल का कमल बनावे फिर वलय देकर सोलह दल का कमल बनावे फिर वलय देकर उसके बाहर चौबीस दल का कमल बनावे फिर वलय देकर बत्तीस दल का कमल बनावे। उसके मध्य में कर्णिका पर मंत्र सहित अरहंत परमेष्ठी लिखे। चारों दिशाओं में अन्य परमेष्ठियों को लिखे विदिशाओं में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य तप लिखे। बाहर आठ दलों में जया आदि

कोण में 'ओं न्हीं जंभायै स्वाहा, नैऋत कोण में 'ओं न्हीं मोहायै स्वाहा' वायव्य कोण में 'ओं न्हीं स्तंभायै स्वाहा' तथा ईशान कोण में 'ओं न्हीं स्तंभिन्यै स्वाहा' लिखना चाहिए, इन सब मंत्रों को प्रणव माया बीज पूर्वक होमांत लिखना चाहिए। इस प्रकार कर्णिका के बाहर का अष्ट दल कमल भर देना चाहिए।

उसके बाहर वलय के बाहर सोलह दल का कमल है उसमें पूर्व दिशासे प्रारंभ कर अनुक्रम से सोलह विद्या देवियों के नाम लिखना चाहिए। यथा— ओं न्हीं रोहिण्यै स्वाहा १ ओं न्हीं प्रजपत्यै स्वाहा २ ओं न्हीं वज्रशृङ्खलायै स्वाहा ३ ओं न्हीं वज्राकुशायै स्वाहा ४ ओं न्हीं अप्रतिचक्रायै स्वाहा ५ ओं न्हीं पुरुषदक्षायै स्वाहा ६ ओं न्हीं काल्यै स्वाहा ७ ओं न्हीं महाकाल्यै स्वाहा ८ ओं न्हीं गांधार्थ्यै स्वाहा ९ ओं न्हीं गार्थ्यै स्वाहा १० ओं न्हीं ज्वालामालिन्यै स्वाहा ११ ओं न्हीं बैरा— ड्यै स्वाहा १२ ओं न्हीं अच्युतायै स्वाहा १३ ओं न्हीं अपराजितायै स्वाहा १४ ओं न्हीं मानसी देव्यै स्वाहा १५ ओं न्हीं महा मानसी देव्यै स्वाहा १६ इस प्रकार सोलह कमल दल भर देने चाहिए।

तदनंतर सोलह दल कमल के बाहर चौबीस दल का कमल है उसमें पूर्व दिशा से प्रारंभ कर अनुक्रम से चौबीस शासन देवियों का स्थापना करना चाहिये। यथा— ओं न्हीं चक्रेश्वरी देव्यै स्वाहा १ ओं न्हीं रोहिण्यै स्वाहा २ ओं न्हीं प्रजपत्यै स्वाहा ३ ओं न्हीं वज्रशृङ्खलायै स्वाहा ४ ओं न्हीं पुरुषदत्तायै स्वाहा ५ ओं न्हीं मनोवेगायै स्वाहा ६ ओं

न्ही काल्यं स्वाहा ७ ओं न्ही महाकाल्यं स्वाहा ८ ओं न्ही ज्वाला  
मालिन्यं स्वाहा ९ ओं न्ही मानव्यं स्वाहा १० ओं न्ही गौर्यं स्वाहा ११  
ओं न्ही गांवार्यं स्वाहा १२ ओं न्ही वैराट्यं स्वाहा १३ ओं न्ही अनन्त  
मर्त्यं स्वाहा १४ ओं न्ही मानसी देव्यं स्वाहा १५ ओं न्ही महा मानसी  
देव्यं स्वाहा १६ ओं न्ही तथ्यं स्वाहा १७ ओं न्ही विजयाय स्वाहा  
१८ ओं न्ही अपराजिताय स्वाहा १९ ओं न्ही बहुरुपिन्यं स्वाहा २० ओं  
न्ही चामुंडाय स्वाहा २१ ओं न्ही कूष्मांडिन्यं स्वाहा २२ ओं न्ही पद्मा-  
वर्त्यं स्वाहा २३ ओं न्ही सिद्धायिन्यं स्वाहा २४ इस प्रकार चौबीस दल  
कमल को भर देना चाहिये ।

चौबीस दल कमल के बाहर वलय के बाद वत्तीस दल कमल है ।  
उसमे भी पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर अनुक्रम से वत्तीस इन्द्रों को ब्रह्म  
माया बीज से प्रारंभ कर होमांत लिखना चाहिये अर्थात् जिसके आदि  
मे ओं न्ही यह ब्रह्म और माया बीज हो तथा मध्य मे चतुर्थी विभक्ति  
सहित देवी वा इन्द्र का नाम हो और अंत मे होमांत अर्थात् होम के  
अंत मे कहे जाने वाला स्वाहा शब्द हो इस प्रकार सब देव देवियों को  
स्थापन करना चाहिए । यथा ओं न्ही असुरेन्द्राय स्वाहा १ ओं न्ही  
नागेन्द्राय स्वाहा २ ओं न्ही विद्युदिन्द्राय स्वाहा ३ ओं न्ही सुपर्णेन्द्राय  
स्वाहा ४ ओं न्ही अग्नीन्द्राय स्वाहा ५ ओं न्ही वातेन्द्राय स्वाहा ६ ओं  
न्ही स्तनितेन्द्राय स्वाहा ७ ओं न्ही उदधीन्द्राय स्वाहा ८ ओं न्ही द्वीपे-  
न्द्राय स्वाहा ९ ओं न्ही दिगिन्द्राय स्वाहा १० ओं न्ही किन्नरेन्द्राय स्वाहा  
११ ओं न्ही किपुरुषेन्द्राय स्वाहा १२ ओं न्ही महोरगेन्द्राय स्वाहा १३  
ओं न्ही गंधर्वेन्द्राय स्वाहा १४ ओं न्ही यक्षेन्द्राय स्वाहा १५ ओं न्ही  
राक्षसेन्द्राय स्वाहा १६ ओं न्ही भूतेन्द्राय स्वाहा १७ ओं न्ही पिशाच्चे-  
न्द्राय स्वाहा १८ ओं न्ही चन्द्रेन्द्राय स्वाहा १९ ओं न्ही आदित्येन्द्राय  
स्वाहा २० ओं न्ही सौधर्मेन्द्राय स्वाहा २१ ओं न्ही ईशानेन्द्राय स्वाहा  
२२ ओं न्ही सानत्कुमारेन्द्राय स्वाहा २३ ओं न्ही माहेन्द्राय स्वाहा २४  
ओं न्ही ब्रह्मेन्द्राय स्वाहा २५ ओं न्ही लांतवेन्द्राय स्वाहा २६ ओं न्ही  
शुकेन्द्राय स्वाहा २७ ओं न्ही शंसारेन्द्राय स्वाहा २८ ओं न्ही आनतेन्द्राय  
स्वाहा २९ ओं न्ही प्राणतेन्द्राय स्वाहा ३० ओं न्ही आरणेन्द्राय स्वाहा

आठ देवियों का लिखें । सोलह कमलों में मंत्र सहित सोलह विद्या देवियों को लिखें, चौबीस कमलों में चौबीस यक्षियों को लिखें, वत्तीस कमलों में वत्तीस इन्द्रों को लिखें । इन सबको अपने अपने मंत्र सहित लिखना चाहिये । इस प्रकार सात रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये तथा सातों ही रेखाएं बलु सहित होनी चाहिये । चारों ओर चार द्वार करना चाहिये । बाहर प्रत्येक दिशा में छह छह यक्षों का निवेश करना चाहिये । इस प्रकार इस यंत्र का उद्धार करना चाहिये ।

३१ ओं नहीं अच्युतेन्द्राय स्वाहा ३२ इस प्रकार वत्तीस दल कमल को भर देना चाहिये ।

तदनंतर चारों दिशाओं के चारों द्वारों के ओर लिखे हुए चौबीस वक्षों में गोमुख आदि चौबीसो यक्षों को वेद शक्ति बीज सहित होमांत लिखना चाहिये । इन सबको पूर्व दिशा से प्रारंभ कर पश्चिम की ओर होते हुए अनुक्रम से लिखना चाहिये । इस प्रकार एक एक दिशा में छह छह यक्ष लिखना चाहिये । यथा ओं नहीं गोमुखाय स्वाहा १ ओं नहीं महायज्ञाय स्वाहा २ ओं नहीं त्रिमुखाय स्वाहा ३ ओं नहीं यज्ञेश्वराय स्वाहा ४ ओं नहीं तुंगुरवे स्वाहा ५ ओं नहीं कुसुमाय स्वाहा ६ ओं नहीं वरनंदिने स्वाहा ७ ओं नहीं विजयाय स्वाहा ८ ओं नहीं अजिताय स्वाहा ९ ओं नहीं ब्रह्मेश्वराय स्वाहा १० ओं नहीं कुमाराय स्वाहा ११ ओं नहीं षण्मुखाय स्वाहा १२ ओं नहीं पातालाय स्वाहा १३ ओं नहीं किन्नराय स्वाहा १४ ओं नहीं क्षिपुषाय स्वाहा १५ ओं नहीं गरुडाय स्वाहा १६ ओं नहीं गंधर्वाय स्वाहा १७ ओं नहीं महेंद्राय स्वाहा १८ ओं नहीं कुबेराय स्वाहा १९ ओं नहीं वरुणेंद्राय स्वाहा २० ओं नहीं विद्युत्प्रभाय स्वाहा २१ ओं नहीं सर्वाह्वाय स्वाहा २२ ओं नहीं धरणेन्द्राय स्वाहा २३ ओं नहीं मातंगाय स्वाहा २४ इस प्रकार चारों दिशाओं में चौबीस यक्षों को लिखना चाहिये ।

तदनंतर पूर्वदिक् चारों दिशाओं में तथा चारों विदिशाओं में तथा पूर्व और पश्चिम में प्रणव माया बीज आदि होमांतयुक्त इन्द्रादिक दश दिक्पालों को स्थापन करना चाहिये । तथा ओं नहीं इन्द्राय स्वाहा

१ पूर्वे, ओं न्हीं अग्नीन्द्राय स्वाहा २ आग्नेय्याम्, ओं न्हीं यमाय स्वाहा  
३ दक्षिणे, ओं न्हीं नेऋत्याय स्वाहा ४ नेऋत्य दिशायां, ओं न्हीं वरुणाय  
स्वाहा ५ पश्चिमे, ओं न्हीं पवनाय स्वाहा ६ वायव्याम्, ओं न्हीं कुबेराय  
स्वाहा ७ उत्तरे, ओं न्हीं ईशानाय स्वाहा ८ ईशाने, ओं न्हीं धरणीन्द्राय  
स्वाहा ९ पूर्वे, ओं न्हीं सोमाय स्वाहा १० पश्चिमे ।

तदनंतर—पूर्वादिक चारों दिशाओं यथा चारों त्रिदिशाओं में और  
दुबार पूर्व दिशाओं में इस प्रकार नौ स्थानों में प्रणवपूर्वक स्वाहा पर्यंत  
आदित्यादिक नव ग्रहों को लिखना चाहिये और उनको पूर्व दिशा से  
प्रारंभ कर अनुक्रम से पश्चिम की ओर घूमते हुए पूर्व दिशा तक  
लिखना चाहिये । यथा ओं न्हीं आदित्याय स्वाहा १ ओं न्हीं सोमाय  
स्वाहा, ओं न्हीं भीमाय स्वाहा, ओं न्हीं बुधाय स्वाहा, ओं न्हीं बृहस्पतये  
स्वाहा, ओं न्हीं शुक्राय स्वाहा ओं न्हीं शनैश्चराय स्वाहा ओं न्हीं राहवे  
स्वाहा, ओं न्हीं केतवे स्वाहा ।

एवं जंतुद्वारं इत्थं मइ अविस्त्रयं समासेण ।

सेसं किंपि विहाणं णायब्बं गुरु पसाएण ॥

एवं यंत्रोद्वारं इत्थं मया कथितं समासेन ।

शेषं किमपि विधानं ज्ञातव्यं गुरु प्रसादेन ॥ ४५४ ॥

अर्थ— इस प्रकार मैंने यह यंत्रोद्वार का स्वरूप अत्यंत संक्षेप से  
कहा है । इसका शेष विधान वा विस्तार गुरुओं के प्रसाद में जान लेना  
चाहिये ।

अट्ठ विह अरुण्णाए पुज्जेयब्बं इमं खु जियमेण ।

वळ्ळेहि सुअंघेहि य लिहियब्बं अइपवित्तेहि ॥

अष्टविधार्चनया पूजितव्यं इदं खलु नियमेन ।

द्रव्यैः सुगन्धैश्च लेखितव्यं अति पवित्रैः ॥ ४५५ ॥

अर्थ— इन यंत्रों को पवित्र धातुओं पर अत्यंत पवित्र और सुगं-  
धित द्रव्यों से लिखना चाहिये । तदनंतर नियमपूर्वक आठों द्रव्यों से  
प्रति दिन पूजा करना चाहिये ।

आगे इसका फल बतलाते हैं ।

जो पुज्जइ अणवरयं पार्व णिद्दहइ आसिभव वद्धं ।  
पडिदिणकय च विहुणइ अंधइ पउराई पुण्णाइं ॥

यः पूजयति अनवरतं पापं निर्दहति पूर्वभववद्धम् ।  
प्रतिदिनकृतं च विद्धिनोति बध्नाति प्रचुराणि पुण्यानि ॥ ४५६ ॥

अर्थ— जो पुरुष इन यंत्रों की प्रतिदिन पूजा करता है वह अपने पूर्व भवों में संचित किये हुए समस्त पापों को जला देता है नष्ट कर देता है । तथा प्रति दिन के पापों को भी नष्ट कर देता है । इसके साथ ही वह बहुत अधिक मात्रा में पुण्य कर्मों का संचय करता है ।

इह लोए पुण भता सब्बे सिज्झन्ति पट्ठिय मित्तेण ।  
विज्जाओ सब्बाओ हवन्ति फुडु साणुकूलाओ ॥

इह लोके पुनर्मन्त्राः सर्वे सिध्यन्ति पठितमात्रेण ।  
विद्याः सर्वा भवन्ति स्फुटं सानुकूलाः ॥ ४५७ ॥

अर्थ— इसके पठन करने मात्र से पाठ करने में इस लोक में भी समस्त मंत्र सिद्ध हो जाता है तथा जितनी विद्याएं हैं वे सब स्पष्ट गीति में अपने अनुकूल हो जाती हैं ।

गह भूय डायणीओ सब्बे णत्सति तस्स णामेण ।  
णिब्बिसयरणं पयडइ सुसिद्ध चक्कप्यहावेण ॥

ग्रहभूतपिशाचिन्यः सर्वा नश्यन्ति तस्य नाम्ना ।  
निर्विषीकरणं प्रकटयति सुसिद्ध चक्रप्रभावेन ॥ ४५८ ॥

अर्थ— ग्रहभूत डाकिनी पिशाच आदि सिद्ध चक्र का नाम लेने से ही सब नष्ट हो जाते हैं । तथा इसी सिद्ध चक्र के प्रभाव से समस्त प्रकार के विष दूर हो जाते हैं । निर्विषीकरण प्रकट हो जाता है ।

फिर सबके बाहर 'ओं ह्रीं आं क्रौं अनावृताय स्वाहा' यह मंत्र लिख कर अनावृत यक्ष को स्थापन करना चाहिये तदनंतर भूमंडल देकर अष्ट वज्र सहित क्षिति बीज और अष्ट इन्द्रायुध के बीजकर सहित लिखना चाहिये । इस प्रकार यह यंत्र विधि है ।

वसियरणं आइद्वी यं न जेहं च मंति कम्माणि ।  
 नानाजराणां हरणं कुणेइ तं माणजोएण ॥  
 वशीकरणं आकृष्टि स्तम्भनं स्नेहं शान्ति कर्म ।  
 नानाजराणां हरणं करोति तद्ध्यासयोगेन ॥ ४५९ ॥

अर्थ— इन यंत्र मंत्रों का ध्यान करने में वशीकरण आकर्षण स्तम्भन शान्ति कर्म स्नेह आदि सब मंत्र सिद्ध हो जाते हैं । इन्हीं मंत्रों का ध्यान करने से वशीकरण हो जाता है जिसको आकर्षण करना चाहो वह आकर्षित हो जाता है जिसका स्तम्भन करना चाहो इसका स्तम्भन हो जाता है रुका जाता है जिसको शांत करना चाहो वह शांत हो जाता है बुढ़ापा दूर हो जाता है तथा और भी अनेक प्रकार के लाभ हो जाते हैं ।

प्रहरन्ति न तस्म रिपुणा सत्तू मित्तत्तण च उबयादि ।  
 पुज्जा हवेह लोए सुवल्लहो णरवरिदाण ॥  
 प्रहरन्ति न तस्य रिपवः शत्रुः मित्रत्वं च उपयाति ।  
 पूजा भवति लोके सुवल्लभो नरवरेन्द्राणाम् ॥ ४६० ॥

अर्थ— इस यंत्र मंत्र का ध्यान करने वाले पुरुष को उसका कोई भी शत्रु मार नहीं सकता, उसके सब शत्रु मित्र के समान हो जाते हैं, संसार में उसकी पूजा प्रतिष्ठा होती है और वह पुरुष राजा महाराजाओं का तथा इन्द्रों का भी प्रिय वा वल्लभ होता है ।

किं बहुणा उत्तेण य मोक्खं सोक्खं च लब्धमई जेण ।  
 केत्तिय मेत्तं एयं सुसाहियं सिद्ध चक्केण ॥  
 किं बहुता उक्तेन च मोक्षः सौख्यं च लभ्यते येन ।  
 कियन्मात्रमेतत् सुसाधितं सिद्धचक्रेण ॥ ४६१ ॥

अर्थ— अथवा बहुत कहने से क्या ? जिस सिद्ध चक्र के प्रताप से इस मनुष्य को मोक्ष के अनंत सुख प्राप्त होते हैं फिर मला ये संसारिक लाभ उसके सामने क्या पदार्थ है अर्थात् कुछ भी नहीं ।

आगे पंच परमेष्ठी चक्र को कहते हैं ।

अथवा जइ असमर्थो पुज्जइ परमेष्ठिपंचकं ।

तं पायडं खु लोए इच्छिय फलदायकं परमं ।

अथवा यद्यसमर्थः पूजयेत्परमेष्ठिपंचकं चक्रम् ।

तत्प्रकट खलु लोकं इच्छितफलदायकं परमम् ॥ ४६२ ॥

अर्थ- अथवा जो कोई पुरुष इन मंत्रों के बनाने में वा पूजा अर्चा करने में असमर्थ हो तो उसको पंच परमेष्ठी चक्र की पूजा करनी चाहिये । वह पंच परमेष्ठी चक्र भी इस लोक में सर्वोत्कृष्ट इच्छानुसार फलको देने वाला है ।

आगे पंच परमेष्ठी चक्र का यन्त्रोद्धार बतलाते हैं ।

सिररेह भिण्ण सुणं चंदकला विदुएण संजुतं ।

मत्ताहिय उवरगयं सुवेडियं कामबीएण ॥

शिरोरेफभिन्नशून्यं चन्द्रकलाचिन्दुकेन संयुक्तम् ।

मात्राधिकोपरिगतं सुवेष्टितं कामबीजेन ॥ ४६३ ॥

चामदिसाइनयारं मयार सविसग्ग दाहिणे भाए ।

बहि अट्ट पत्र कमलं तिउणं वेहेइ माथाए ॥

वाम दिशायां नकारं मकारं सविसर्गं दक्षिणे भागे ।

अहिरकटपत्रकमलं त्रिगुणं वेष्टयेत् मायया ॥ ४६४ ॥

पणमंति भुत्तिमेगे अरहंतं पयं बलेसु सेसेसु ।

धरणीमंडलं मज्जे माएह सुरच्चियं चक्रं ॥

प्रणव इति मतिमेकस्मिन् अर्हत्पदं बवेषु शेषेषु ।

धरणीमंडलमध्ये ध्यायेत्सुरार्चितं चक्रम् ॥ ४६५ ॥

अह एउणवण्णासे कोहे काऊण विउलरेहाहि ।

अइरोइ अक्खराइं कमेण विण्णिसहं सव्वाइं ॥

१ बहुत तलाश करने पर भी दक्षिण उत्तर में कही भी इसका यन्त्र नहीं मिला तथा बिना यन्त्र के इन पद्यों का अर्थ भी नहीं लग सका इसके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं ।

अथवा एकोनपंचाशान् कोष्ठान् कृत्वा विपुलरेखाभिः ।

अतिरोच्यक्षराणि क्रमेण विनिवेशय सर्वाणि ॥ ४६६ ॥

ता गिसर्वं अह्यारं मज्जिम ठाणेषु ठाइ जुत्तीए ।

वेठइ बीएण पुणो दलमंडल उयरमज्जत्थं ॥

तावत् निवेशय यथाकारं मध्यमस्थानेषु स्थापत्य युक्त्या ।

वेठय बीजेन पुनः इलामण्डलोदरमध्यस्थम् ॥ ४६७ ॥

अथवा अनेक रेखाओं से एक उनचास कोठे का यन्त्र बनाना चाहिये । मध्य में पंच परमेष्ठी का नाम देना चाहिये । तथा फिर अनुक्रम से अम्ल वर्यु आम्ल वर्यु इस प्रकार समस्त अक्षरों के मन्त्र लिखना चाहिये । जैसा कि यन्त्र में लिखा है । फिर तीन रेखाओं से घरा मण्डल लिखना चाहिये । इस प्रकार यन्त्र बनता है ।

एए जंतुद्वारे पुज्जइ परद्विपंच अहिहाणे ।

इच्छइ फलदायारो पापघणपडलहंतारो ॥

एतान् यंत्रोद्धारान् पूजयेत् परमेष्ठिपंचाभिधानान् ।

इच्छित फलदातृन् पापघनपटलहन्तृन् ॥ ४६८ ॥

अर्थ— ये यंत्रोद्धार पंच परमेष्ठी वाचक है इनकी पूजा करने से इच्छानुसार फल की प्राप्ति होती है, तथा पापरूपी घने बादलों के समूह सब नष्ट हो जाते हैं । इसलिये इन यंत्रों के द्वारा पंच परमेष्ठी की पूजा प्रति दिन करनी चाहिये ।

अष्टविहचचण काउं पुष्व पउत्तम्मि ठावियं पडिमा ।

पुज्जेह तगयमणो विविहहि पुज्जाहि भत्तीए ॥

अष्टविधार्चनां कृत्वा पूर्वप्रोक्ते स्थापितां प्रतिमाम् ।

पूजयेत् तद्गतमनाः विविधाभिः पूजाभिः भक्त्या ॥ ४६९ ॥

अर्थ— इस प्रकार अष्ट द्रव्य से यंत्रों के द्वारा पंच परमेष्ठी की पूजा करके पहले अभिषेक के लिये विराजमान की हुई प्रतिमा में अपना मन लगाकर भक्ति पूर्वक अनेक प्रकार के द्रव्यों से अभिषेक बाद उन प्रतिमाओं की पूजा करनी चाहिये ।



आगे अष्ट द्रव्यों के नाम और उनमें होनेवाली पूजा का फल बतलाते हैं ।

पद्ममङ्ग रयं शलेनं जिण्णत्तकपत्तेषु तिण्ण जलधारा ।

भिग्गारणाल जिग्गड्ढ भमंतीभिर्नोहि कब्धुरिया ॥

प्रशमति रजः अशेषं जिनपद कमलेषु दत्तजलधारा ।

भग्गारणालनिर्गता भमद् भृंगैः कर्तुरित्ता ॥ ४७० ॥

अर्थ— सबसे पहले जल की धारा देकर भगवान की पूजा करनी चाहिये । वह जल की धारा शृंगार ( झारी ) की नाल से निकलनी चाहिये तथा वह जल इतना सुगन्धिय होना चाहिये कि उस पर भ्रमर आजाय और जल धारा के चारों ओर घूमते हुए उन भ्रमरों से वह जल की धारा अनेक रंग की दिखाई देम लगे ऐसी जल की धारा भगवान के चरण कमलों पर पड़नी चाहिये । इस प्रकार जल की धारा से भगवान की पूजा करनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म शांत हो जाते हैं ।

चन्दनसुगन्ध ले ओ विण्णवर चरणेषु जो कुणि भविओ ।

लह्दइ तणूविक्कि रिय सहाधसुयंघयं अमलं ॥

चन्दन सुगन्ध लेपं जिण्णवर चरणेषु यः करोति भव्यः ।

लभते तनुं वैक्रियिकं स्वभावसुगन्धकं अमलम् ॥ ४७१ ॥

अर्थ— जो भव्य पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों पर ( जिन प्रतिमा के चरण कमलों पर ) सुगन्धित चन्दन का लेप करता है उसको स्वर्ग में जाकर अत्यन्त निर्मल और स्वभाव से ही सुगन्धित वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है । भावार्थ— चन्दन से पूजा करने वाला भव्य जीव स्वर्ग में जाकर उत्तम देव होता है ।

पुण्णाण पुज्जे हि य अक्खए पुज्जेहि देवपथपुरओ ।

लवधंसि जंघिणिहाणे सुअक्खए चक्कवत्तित्तं ॥

पूर्णेः पूजयेच्छ अक्षतपुजैः देवपद पुरतः ।

लभ्यन्ते नव निधानानि सु अक्षयानि चक्रवर्तित्वम् ॥ ४७२ ॥

अर्थ— जो भव्य जीव भगवान् जिनैन्द्रदेव के सामने पूर्ण अक्षतां के पुंज चढ़ाता है अक्षतां से भगवान् की पूजा करता है वह पुरुष चक्रवर्ती का पद पाकर अक्षय रूप नव निधियों को प्राप्त करता है । चक्रवर्ती को जो निधियां प्राप्त होती हैं उनमें से चाहे जितना सामान निकाला जाय निकलता ही जाता है कम नहीं होता ।

अलि चुंघिर्हि पुज्जइ जिणपयकमलं च जाइमल्लीहि ।

सो हवइ सुरवरिंदो रमेइ सुरतरुवर वणेहि ॥

अलि चुम्बितैः पूजयति जिनपद कमलं च जातिमल्लिकैः ।

स भवति सुरवरेन्द्रः रमते सुरतरुवरवनेषु ॥ ४७३ ॥

अर्थ— जो भव्य पुरुष भगवान् जिनैन्द्रदेव के चरण कमलों की जिन पर अमर धूम रहे है ऐसे चमेली मोगरा आदि उत्तम पुष्पों से पूजा करता है वह स्वर्ग में जाकर अनेक देवों का शरणागत होता है और वह वहां पर चिरकालतक स्वर्ग में होने वाले कल्प वृक्षों के वनों में (वगीचों में) क्रीडा किया करता है ।

दहिखीर सप्पि संभव उत्तम चरुणहि पुज्जए जो हु ।

जिणवरपाय पओरुह सो पावइ उत्तमे भोए ॥

दधि क्षीर सर्पिः सम्भवोत्तम चरुणैः पूजयेत् योहि ।

जिनवर पादपथोरुहं स प्राप्नोति उत्तमान् भोगान् ॥ ४७४ ॥

अर्थ— जो भव्य पुरुष दही दूध घी आदि में बने हुए उत्तम नैवेद्य से भगवान् जिनैन्द्रदेव के चरण कमलों को पूजा करता है उसे उत्तमोत्तम भोगों की प्राप्ति होती है ।

कप्पूर तेल्ल पयलिय मंव मरुपहयणडिदीवेहि ।

पुज्जइ जिण पय पोमं ससि सूरवि सम तणुं लहई ॥

कर्पूर तेल प्रज्वलित मन्द मरुत्प्रहतनटितदीपैः ।

पूजयति जिन पदमं शशिसूर्यसम तनुं लभते ॥ ४७५ ॥

अर्थ— जो दीपक कपूर घी तेल आदि से प्रज्वलित हो रहा है औ मन्द मन्द वायु से नाच ला रहा है ऐसे दीपक से जो भव्य पुरुष

भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है वह पुरुष सूर्य चन्द्रमा के समान तेजस्वी शरीर को धारण करता है ।

शिलारस अयस्य मिस्सिय णिगाइ धूर्वेहि बहल धूर्मेहि ।

धूवइ जो जिण चरणेस लहई सुहवत्तणं तिजए ॥

शिलारसागुहमिश्रितनिर्गतधूपैः बहलधुम्रैः ।

धूपयेद्वयः जिनचरणेसलभते शुभवर्तनं त्रिजगति ॥ ४७६ ॥

अर्थ— जिससे बहुत भारी धूआं निकल रहा है और जो शिलारस ( शिलाजीत ) अगुह चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी हुई है ऐसी धूप अग्नि में खेंकर भगवान् जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों को धूपित करता है वह तीनों लोकों में उत्तम गद को प्राप्त होता है । धूप को अग्नि में खेंना चाहिये और उससे निकला हुआ धूआं दायें हाथ से भगवान् की ओर करना चाहिये ।

पक्केहि रसड्ढ समुज्जलेहि जिणचरणपुरओ ।

णाणा फलेहि पावइ पुरिसो हिय इच्छियं सुफलं ॥

पक्वैः रसाढ्यैः समुज्जलैः जितवरचरणपुरः ।

नानाफलैः प्राप्नोति पुरुषः हृदयेप्सितं सुफलम् ॥ ४७७ ॥

अर्थ— जो भव्य पुरुष अत्यंत उज्ज्वल रससे भरपूर ऐसे अनेक प्रकार के पके फलों से भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के सामने समर्पण कर पूजा करता है वह अपने हृदय अनुकूल उत्तम फलों को प्राप्त होता है ।

इधं अठ्ठमेय अच्चण काऊं पुण अबइ मूलविज्जा य ।

जा जस्य जहा उता सयं च अठ्ठोत्तरं आवा ॥

इति अष्टमेवार्चनं कृत्वा पुनः जपेत् मूलविद्यां च ।

यां यत्र यथोक्तां शतं चाष्टोत्तरं जाप्यम् ॥ ४७८ ॥

अर्थ— इस प्रकार अष्ट द्रव्यों से भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करनी चाहिये तदनंतर मूल मन्त्र का जप करना चाहिये । जिस पूजा में जो मूल मन्त्र बतलाया है उसी मन्त्र को एक सौ आठ बार जपना चाहिये ।

आगे किस रूप से भगवान का ध्यान करना चाहिये सो बतलाते हैं ।

किञ्चा काउस्सगं वेवं आएह् समवसरणत्थं ।

लद्धु पाडिहेरं णवकेवल लद्धि संपुण्णं ॥

कृत्वा कायोत्सर्गं देवं ध्यायेत् सभवसरणस्थम् ।

लब्धाष्ट प्रातिहार्यं नवकेवललब्धिसम्पूर्णम् ॥ ४७९ ॥

अर्थ— मृदनन्तर कायोत्सर्ग कर भगवान जिनेन्द्र देव का ध्यान करना चाहिये । आगे किस रूप से ध्यान करना चाहिये सो बतलाते हैं । भगवान समवसरण में विराजमान है आठों प्रातिहार्यों से सुशोभित है यथा नी केवल लब्धियों से परिपूर्ण है । अशोक वृक्ष का होना देवों के द्वारा पुष्प वृष्टी का होना, देवों के द्वारा बाजे बजना, सिंहासन, समर, छत्र भामंडल का होना दिव्य ध्वनी का होना ये आठ प्रातिहार्य कहलाते हैं । अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान क्षायिक ज्ञान क्षायिक लाभ क्षायिक भोग क्षायिक उपभोग क्षायिक वीर्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र्य ये नौ लब्धियां कहलाती हैं ।

आगे और भी बतलाते हैं ।

णट्ठ चउ घाइ कम्मं केवल णाणेण मुणिय तियलोयं ।

परमेठ्ठी अरिहंतं परमस्थं परम ज्ञाणत्थं ॥

नष्ट चतुर्घाति कर्माणं केवल ज्ञानेन ज्ञातत्रिलोकम् ।

परमेष्टिनमर्हन्तं परमात्मानं परमध्यानस्थम् ॥ ४८० ॥

अर्थ— जिनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये है जो अपने केवल ज्ञान से तीनों लोकों को प्रत्यक्ष जानते है जो अरहंत पद में विराजमान है, परम परमेष्टी है परमात्मा है और परम वा सर्वोत्कृष्ट ध्यान में लीन है । ऐसे भगवान अरहंत देव का ध्यान करना चाहिये ।

ज्ञाणं ज्ञाऊण पुणो मअसाणिय वंणत्थ काऊण ।

उवसंहुरिय विसज्जे जे पुज्यावाहिया देवा ॥

ध्याने ध्यात्वा पुनः साध्याह्निकवन्दनामत्र कृत्वा ।

उपसंहृत्य विसर्जयेत् यान् पूर्वमाहूतान् देवान् ॥ ४८१ ॥

अर्थ— इस प्रकार अरहेत भगवान का ध्यान कर साध्याह्निक वन्दना करनी चाहिये । तदनंतर उपसंहार कर पहले आव्हान किये हुए देवों का विसर्जन करना चाहिये ।

आगे पूजा का फल कहते हैं ।

एण विहाणेण पुडं पुज्जा जो कुणइ भत्ति संजुत्तो ।

सो डहइ णियं पार्थ वंधइ पुण्णं तिजय खोहं ॥

एतद् विधानेन स्फुटं पूजां यः करोति भक्तिसंयुक्तः ।

सदहति निजं पापं बध्नाति पुण्यं त्रिजगत्क्षोभम् ॥ ४८२ ॥

अर्थ— इस प्रकार जो भव्य पुरुष भक्ति सहित ऊपर लिखी विधि के अनुसार भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करता है वह अपने समस्त पापों को नाश कर देता है तथा तीनों लोकों को क्षोभ उत्पन्न करने वाले पुण्य का बंध करता है ।

उप्पज्जइ दिवलोए भुंजइ भोए मणिच्छिण्णं इठ्ठे ।

बहुकालं वविय पुणो उत्तम मणुयत्तणं लहई ॥

उत्पद्यते स्वर्गलोके भुंक्ते भोगान् मन इच्छितान् इष्टान् ।

बहुकालं च्युत्वा पुनः उत्तममनुष्यत्वं लभते ॥ ४८३ ॥

अर्थ— तदनंतर आयु पूर्ण होने पर वह स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है, वहां पर अपने मन की इच्छानुसार अनेक प्रकार के इष्ट भोगों का अनुभव करता है तथा चिरकाल तक उन भोगों का अनुभव करता रहता है । आयु पूर्ण होनेपर वहां से च्युत होता है और मनुष्य लोक में आकर उत्तम मनुष्य का शरीर प्राप्त करता है ।

होऊण चक्क बट्टी चउदह रयणेहि णव णिहाणेहि ।

पालिय छक्खंडधरा भुंजिय मोए णिरुगरिठ्ठा ॥

भूत्वा चक्रवर्ती चतुर्दशरत्नैर्नव निधानैः ।

पारसित्वा षट्खण्डधरां भुक्त्वा भोगान् निर्गरिष्ठान् ॥ ४८४ ॥

अर्थ— उत्तम मनुष्य शरीर को पाकर वह चक्रवर्ती पद प्राप्त करता है चौदह रत्न और नौ निधियों को प्राप्त करता है छहों खंड पृथ्वी का पालन करता है और उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करता है ।

संपत्तं वोहि लाहो रज्जं परिहरिय भविय निगन्धो ।

लहिकुण सयलसंजम धरिऊण महखया पंच ॥

संप्राप्तबोधिलाभः राज्यं परिहृत्य भूत्वा निर्ग्रन्थः ।

लब्ध्वा सकलसंयमं धृत्वा महाव्रतानि पंच ॥ ४८५ ॥

अर्थ— तदनंतर वह संसार शरीर और भोगों से धिक्कत होकर रत्नश्रेय को धारण करता है, राज्य का त्याग कर दीक्षा लेकर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करता है सकल संयम को धारण करता है और पंच महाव्रतों को धारण करता है ।

लहिकुण मुक्कसराणं उत्पाइय केवलं वरं णाणं ।

सिज्जेइ णडुकम्मो अहिसेयं लहिय मेरुम्मि ॥

लब्ध्वा शुक्लध्यानं उत्पाद्य केवलं वरं ज्ञानम् ।

सिद्ध्यति नष्टकर्मा अभिषेकं लब्ध्वा मेरौ ॥ ४८६ ॥

अर्थ— पंच महाव्रत धारण कर वह शुक्ल ध्यान को धारण करता है चारों घातिया कर्मों को नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है । यदि वह फिर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ तो वहां से आकर तीर्थंकर होकर मेरु पर्वत पर अपना अभिषेक कराता है और फिर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त कर अनेक जीवों को मोक्षमार्ग में लगाकर मोक्ष प्राप्त करता है ।

इय णाउण बिसेसं पुण्णं आधरइ कारणे तस्स ।

पावहणं आम् सयलं संजमयं अप्पमत्तं च ॥

इति ज्ञात्वा विशेषं पुण्यं अर्जयेत् कारणं तस्य ।

पापघ्नं यावत् सकलं संयमं अप्रमत्तं च ॥ ४८७ ॥

अर्थ— यह सब पुण्य की विशेष महिमा समझकर जबतक सकल संयम प्राप्त न हो जाय तब तक समस्त पापों को नाश करने वाले और

मोक्ष के कारण भूत ऐसे विशेष पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये ।

आगे विशेष पुण्य के लिये और क्या क्या करना चाहिये मो कहते हैं ।

भावह अणुव्याइं पालह सीलं च कुणह उववासं ।

पढवे पढवे नियमं विज्जह अणवरय दाणाइं ॥

भावयेत् अणुव्रतानि पालयेत् शीलं च कुर्यादुपवासम् ।

पर्वणि पर्वणि नियमं दद्यात् अनवरतं दानानि ॥ ४८८ ॥

अर्थ— ऐसे विशेष पुण्य को उपार्जन करने के लिये अणुव्रतों का पालन करना चाहिये, गुणव्रत शिक्षाव्रत रूप शीलों का पालन करना चाहिये । प्रत्येक पर्व के दिन उपवास करना चाहिये और नियम पूर्वक निरन्तर दान देना चाहिये ।

अभय पपाणं पढमं विवियं तह होइ सत्थ दाणं च ।

तइयं ओसह दाणं आहारदाणं चउत्थं च ॥

अभयप्रदानं प्रथमं द्वितीयं भवति शास्त्रदानं च ।

तृतीयं त्थौषदानं आहारदानंचतुर्थं च ॥ ४८९ ॥

अर्थ— दान के चार भेद हैं पहला अभयदान, दूसरा शास्त्रदान, तीसरा औषधदान और चौथा आहार दान ।

आगे इन दानों का फल बतलाते हैं ।

सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरुणं ।

मो णिढमओ तिल्लोए उत्तस्सो होइ सव्वेसिं ॥

सर्वेषां जीवानां अभयं यो ददाति मरण भीरुणाम् ।

स निर्भयः त्रिलोके उत्कृष्टो भवति सर्वेषाम् ॥ ४९० ॥

अर्थ— जो जीव अपने मरने से भयभीत हो रहे है ऐसे समस्त जीवों को जो अभयदान देता है वह पुरुष तीनों लोकों में निर्भय होता है और सब मनुष्यों में उत्कृष्ट होता है ।

श्रुतदानेण प लब्धइ मइ सुइ णाणं च ओहिमणणाणं ।  
बुद्धितवेणय सहियं पच्छा वर केवलं णाणं ॥

श्रुतदानेण च लभते मतिश्रुज्ञानं च अवधि मनोज्ञानम् ।  
बुद्धि तपोभ्यां च सहितं पश्चाद्वरकेवलं ज्ञानम् ॥ ४९१ ॥

अर्थ— जो पुरुष शास्त्रदान देता है, जिनागम को पढ़ाता है वह पुरुष मति ज्ञान श्रुतज्ञान दोनों को पूर्ण रूप से प्राप्त करता है, बुद्धि और तपश्चरण के साथ साथ अवधि ज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान को प्राप्त करता है ।

ओसहदाणेण णरो अतुलित बलपरक्कमोमहासत्तो ।  
याहि विमुक्क सरोरो चिराय सो होइ तेयठ्ठो ॥

औषधदानेन नरोऽतुलितबलपराक्रमो महोसत्त्वः ।  
व्याधि विमुक्त शरीरश्चिरायुः स भवति तेजस्थः ॥ ४९२ ॥

अर्थ— जो पुरुष औषध दान देता है वह अतुलित वा सर्वोत्कृष्ट बल और पराक्रम को धारण करता है महाशक्ति को धारण करता है, वह चिरायु होता है, तेजस्वी होता है और उसका शरीर समस्त रोग व्याधियों से रहित होता है ।

दानस्साहारं फलं को सक्कइ वर्णिऊण भुवणयत्ते ।  
दिण्णेण जेण भोओ लब्धंति मणिच्छयासब्बे ॥

दानस्य आहारस्य फलं कः शबनोति वर्णयितुं भुवमतले ।  
वत्सेन येन भोगा लभ्यन्ते मन इच्छिताः सर्वे ॥ ४९३ ॥

अर्थ— इन तीनों लोकों में आहार दान के फल को वर्णन करने के लिये भला कौन समर्थ है । भावार्थ— आहार दान के फल को कोई

ज्ञानवान् ज्ञानदानेण निर्भयोऽभय दानतः ।  
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥

अर्थ— यह जीव ज्ञान दान से शांति होता है, अभयदान से निर्भय होता है अन्नदान से सुखी होता है और औषधदान से निरोग होता है ।



कह ही नहीं सकता क्योंकि आहार दान के देने से अपने मन को इच्छा  
नुसार समस्त उत्तम भोगों की प्राप्ति होती है ।

दायारो वि य पत्तं दाण विसेसो तहा विहाणं च ।

एए चउ अहियारो णायव्वा होति भव्वेण ॥

दातापि च पात्रं दानविशेषस्तथा विधानं च ।

एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति भव्वेन ॥ ४९४ ॥

अर्थ— भव्य जीवों को सबसे पहले दान देने के चार अधिकार  
समझ लेने चाहिये । दाता, पात्र, दान, देने योग्य द्रव्य और देने की  
विधि ये चार अधिकार हैं ।

दान देने वाले को दाता कहते हैं जिसको दान दिया जाता है वह  
पात्र कहलाता है, दान में जो द्रव्य दिया जाता है वह दान विशेष है  
और दान देने के नियमों को विधि कहते हैं ।

दायारो उवसंतो मणवय काएण संजुओ दच्छो ।

दाणे कयउच्छाहो पयडय धर छगुणो अमये ॥

दाता उपशान्तो मनीवच्चल कायेन संयुक्तो दक्षः ।

दाने कुतोत्साहः प्रकटित बरखड्गुणः अभयः ॥ ४९५ ॥

अर्थ— जो भव्य जीव दात परिणामों को धारण करता है, जो  
मन वचन काय से दान देने में लगा हो अत्यन्त चतुर हो, दान देने में  
जिसका उत्साह हो, जो मद का अभिमान रहित हो और दाता के छह  
गुणों से सुशोभित हो ऐसा भव्य जीव दात गिना जाता है ।

भक्ती तुठ्ठी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ ।

विउणाण तत्काले सत्तगुणा होति दायारे ॥

भक्तिः तुष्टिः क्षमाश्चद्धा सत्त्वं च लोभपरित्यागः ।

विज्ञानं तत्काले सत्तगुणाः भवन्ति दातरि ॥ ४९६ ॥

अर्थ— जिनको दान देना है उनमें जिसकी भक्ति हो, दान देने में  
जिसकी संतोख हो, क्षमा को धारण करने वाला हो, देव शास्त्र गुरु में

वा पात्र में श्रद्धा रखता हो, दान देने की शक्ति रखता हो, जिसके लोभ का त्याग हो और दान देने में क्या क्या करना चाहिये इस बात का जिसको पूरा ज्ञान हो वही उत्तम दाता कहलाता है। भावार्थ-दाता में ये सात गुण अवश्य होने चाहिये।

आगे पात्रों के भेद बतलाते हैं।

त्रिविधं भणति पतं मज्झिमं तह उत्तमं जहणं च ।

उत्तम पतं साह मज्झिमपतं च सावया भणिया ॥

त्रिविधं भणस्ति पात्रं मध्यमं तथोत्तमं जघन्यं च ।

उत्तमपात्रं साधुः मध्यमपात्रं च श्रावका भणिताः ॥ ४९७ ॥

अविरट् सम्मादिट्ठी जहण पतं तु अविलयं समये ।

णाउण पतविलेसं विज्जइ दाणाइ भत्तोए ॥

अधिरत सम्यग्दृष्टिः अव्यवदात्रं तु कथितं वृत्तये ।

ज्ञात्वा पात्रविशेषं दद्यात् दानानि भक्त्या ॥ ४९८ ॥

अर्थ— पात्र तीन प्रकार के हैं उत्तम पात्र मध्यम पात्र और जघन्य पात्र। इनमें उत्तम पात्र रुन्तत्रय को धारण करने वाले निर्गन्ध मुनि हैं मध्यम पात्र अणुव्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं। ऐसा शास्त्रों में निरूपण किया है। इसलिये भव्य त्रिवों को इन पात्रों के भेद और विशेषता समझकर भक्ति पूर्वक दान देना चाहिये।

आगे जैसा पुरुष जैसे पात्र को दान देता है उसको वैसा ही उत्तम फल मिलता है यही दिखलाते हैं।

मिच्छादट्ठी दुरितो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते ।

सो पावइ वर भोए फुट्ट उत्तम भोग भूमीसु ॥

मिथ्यादृष्टिः पुरुषो शर्नं यो ददाति उत्तमे पात्रे ।

स प्राप्नोति वर भोगान् स्फुटं उत्तमभोगभूमीषु ॥ ४९९ ॥

अर्थ— यदि कोई मिथ्यादृष्टी पुरुष किसी उत्तमपात्र को दान

देता है तो वह पुरुष उत्तम भोगभूमि के उत्तम भोगों को प्राप्त होता है ।

मज्झिम पत्ते मज्झिम भोगभूमिषु पावए भोए ।

पावइ जहण्ण भोए जहण्ण पत्तस्स पाणेण ॥

मध्यमपात्रे मध्यमभोगभूमिषु प्राप्नोति भोगान् ।

प्राप्नोति जघन्यभोगान् जघन्यपात्रस्य दानेन ॥ ५०० ॥

अर्थ— यदि मिथ्या दृष्टि पुरुष किसी मध्यम पात्र को दान देता है तो वह मध्यम भोग भूमि के भोगों को प्राप्त होता है और यदि वहाँ मिथ्या दृष्टि पुरुष किसी जघन्य पात्र को दान देता है तो वह जघन्य भोग भूमि में जन्म लेकर वहाँ के भोगों का अनुभव करता है ।

आगे फलों में यह न्यूनाधिकता क्यों होती है सो बतलाते हैं ।

उत्तम छित्ते वीर्यं फलइ जहा लक्ख कोडि गुण्णेहि ।

दाणं इत्तम पत्ते फलइ तहा किमिच्छ भणिण्ण ॥

उत्तम क्षेत्रे बीजं फलति यथा लक्षकोटि गुणैः ।

दानं उत्तमपात्रे फलति तथा किमिच्छभणितेन ॥ ५०१ ॥

अर्थ— जिस प्रकार उत्तम पृथ्वीपर बोया हुआ बीज लाखों गुणा या करोड़ों गुणा फलता है उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया हुआ दान इच्छानुसार फलको देता है ।

समादिट्ठो पुरिसो उत्तम पुरिसस्स विण्ण दाणेण ।

उत्तवज्जइ विव लोए हवइ स महद्दिउओ देओ ॥

सम्यग्दण्टिः पुरुषः उत्तम पुरुषस्य दानदानेन ।

उत्पद्यते स्वर्गलोके भवति स महर्द्धिको देवः ॥ ५०२ ॥

अर्थ— यदि कोई सम्यग्दृष्टी पुरुष उत्तम पात्र को दान देता है तो वह स्वर्ग लोक में जाकर महा ऋद्धियों को महा विभूतियों को धारण करने वाला उत्तम देव होता है ।

जह्ण जीरं उच्छुगयं कालं परिणवइ अमिय रुत्तेण ।

तह् दाणं वर पत्ते फलेइ भोएहि विविहे हि ॥

यथा नीरमिक्षुगतं काले परिणमति अमृतरूपेण ।  
तथा दानं परपात्रे फलति भोगैः विविधैः ॥ ५०३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार ईख के खेत में दिया हुआ पानी अपने समय पर अमृतरूप ( मीठे रसरूप ) परिणत हो जाता है उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया हुआ दान अपने समय पर अनेक प्रकार के भोगों से फलित है।

उत्तमरत्नं खलु जहा उत्तम पुरिसासियं च बहुमुत्तलं ।  
तह उत्तम पत्तमयं दाणं णिउणेहि णायत्वं ॥

उत्तमरत्नं खलु यथा उत्तम पुरुषाश्रितं च बहुमूल्यम् ।  
तथोत्तमपात्रगतं दानं निपुणैः ज्ञातव्यम् ॥ ५०४ ॥

अर्थ— जिस प्रकार कोई उत्तम रत्न किसी उत्तम पुरुष के आश्रय में बहुमूल्य माना जाता है उसी प्रकार किसी उत्तम पात्र को दिया हुआ दान विद्वान् लोगों के द्वारा सर्वोत्तम माना जाता है ऐसा समझना चाहिये ।

किञ्चिद्वेदमयं पत्तं किञ्चिद्वेद पत्तं तपोभयं परमं ।  
तं पत्तं संसारे तारक्यं होइ णियमेण ॥

किं किञ्चिदपि वेदमयं किञ्चिदपि पात्रं तपोमयं परमम् ।  
तत्पात्रं संसारे तारकं भवति नियमेन ॥ ५०५ ॥

अर्थ— अन्य प्रकार से पात्रों के और भी दो भेद हैं । एक तो थोड़े वा बहुत वेद को जानने वाले को वेदमय पात्र और दूसरे थोड़ा बहुत परमोत्कृष्ट तपश्चरण करने वाले को तपोमय पात्र ऐसे पात्र के दो भेद हैं, ये दोनों प्रकार के पात्र नियम पूर्वक संसार से पार कर देने वाले होते हैं ।

आगे वेद क्या है और वेदमय पात्र कैसे होते हैं सो दिखलाते हैं ।

वेओ किल सिद्धन्तो तस्सट्ठा णवपयत्थं छद्द्वं ।  
गुण मग्गणठाणाब्बियं जीवट्टाणाणि सध्वाणि ॥

वेदः किल सिद्धातः तस्योर्थनिःख पदार्थ षड् द्रव्याणि ।  
गुणमार्गणा स्थानात्यपि च जीवस्थानानि सर्वाणि ॥ ५०६ ॥

परमव्ययस्तु खवं जीव कस्मात्तु उह्य सवभावं ।  
जो जाणइ सविसेसं वेदमयं होइ तं पत्तं ॥

परमात्मनो रूपं जीवकर्मणोरुभयोः स्वभावम् ।  
यो जानाति सविशेषं वेदमयं भवति तत्पात्रम् ॥ ५०७ ॥

अर्थ— वेद शब्द का अर्थ सिद्धांत शास्त्र है, जो पुरुष सिद्धांत शास्त्रों की तथा उसके अर्थ की जानता है, जो पदार्थों के स्वरूप को छहों द्रव्यों के स्वरूप को जानता है, समस्त गुणस्थान, मार्गणा स्थान और जीवस्थानों को जानता है, परमात्मा के स्वरूप को जानता है, जीवों का स्वभाव कर्मों का स्वभाव और कर्म विशिष्ट जीवों का स्वभाव जानता है तथा इन सबका स्वरूप विशेष रीति से जानता है उसको वेदमय पात्र कहते हैं ।

बहिरब्धंतर तवसा कालो परित्यजइ जिणोपदेशेण ।  
विदं बंधचेर णाणी पत्तं तु तपोमयं भणियं ॥  
बाह्याभ्यन्तरतपसा कालं परित्यजति जिनोपदेशेन ।  
दृढब्रह्मचर्यो ज्ञानी पात्रं तु तपोमयं भणितम् ॥ ५०८ ॥

अर्थ— जो पुरुष भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए बाह्य और अभ्यंतर तपश्चरण के द्वारा अपना समय व्यतीत करता है तथा जो अपने ब्रह्मचर्य व्रत को दृढ़ता के साथ पालन करता है और सम्यग्ज्ञान को धारण करता है उसको तपोमय पात्र कहते हैं । इस प्रकार वेदमय और तपोमय दो प्रकार के पात्र बतलाये । आगे उदाहरण देकर पात्र-दान का फल बतलाते हैं ।

जह्ण नावा निच्छिन्ना गुणमइया त्रिविधं रयण परिपुण्णा ।  
तारइ पारावारे बहु जलयर संकटे भीमे ॥  
यथा नौः निच्छिन्ना गुणमया त्रिविधरत्न परिपुण्णा ।  
तारयति पारावारे बहुजलचर संकटे भीमे ॥ ५०९ ॥

तद् संसार समुद्रे जाइ जरामरण जलधरा किण्णे ।

दुक्ख सहस्सावत्ते तारेइ गुणाहिर्य पत्तं ॥ ५१० ॥

तथा संसार समुद्रे जातिजरामरणजलधराकीर्णे ।

दुःखसहस्रा वत्ते तारयति गुणाधिकं पात्रम् ॥ ५१० ॥

अर्थ— जिस प्रकार अनेक प्रकार के रत्नों से भरी हुई और नाव में होने वाले अनेक गुणों को धारण करने वाली बिना छिद्रवाली नाव अनेक जलचर जीवों से भरे हुए और अत्यंत भयानक ऐसे समुद्र से पार कर देती है उसी प्रकार अधिक अधिक गुणों से सुशोभित होने वाला पात्र जो जन्म जरा मरण रूपी विकट जलचर जीवों से भरा हुआ है और जिसमें हजारों दुःखरूपी भंवर पड़ रहे हैं ऐसे इस संसार समुद्र से भव्य जीवों को पार कर देता है । इस प्रकार संक्षेप से पात्रों का स्वरूप बतलाया ।

आगे दानमें देने योग्य द्रव्य को बतलाते हैं ।

कुच्छिगयं जत्सउणं औरइ तवक्षाणवंध चरिएहि ।

सो पत्तो णित्थारइ अप्पाणं चेव दायारं ॥ ५११ ॥

कुक्षिगलं यस्यान्नं जीर्यते तपो ध्यान ब्रह्मचर्यः ।

तत्पात्रं निस्तारयति आत्मानं चैव दातारम् ॥ ५११ ॥

अर्थ— जिसका जो अन्न पेटमें पहुंचने पर तपश्चरण ध्यान और ब्रह्मचर्य रादि के द्वारा सुखपूर्वक जीर्ण हो जाय पच जाय वही अन्न पात्र को भी संसार से पार कर देता है और दान देने वाले दाता को भी संसार से पार कर देता है ।

एरिस पत्तम्मि वरे विज्जइ आहारदाणमणवज्जं ।

पासुय सुद्धं अमलं जोगं मणदेह सुवणयरं ॥ ५१२ ॥

एनादृश पात्रे वरे दद्यात् आहारदान मनवद्यम् ।

प्रासुकं शुद्धं अमलं योग्यं सतोदेहसुखकरम् ॥ ५१२ ॥

अर्थ— इस प्रकार कहे हुए उत्तम पात्रों को निरन्तर आहार दान देना चाहिये । वह आहार निर्दोष हो प्रासुक हो, शुद्ध हो, निर्मल हो,

योग्य हो और मन तथा शरीर को सुख देने वाला हो ।

कालस्स य अणुरुखं रोयारोयन्नणं च णाऊणं ।  
 दायव्वं जह् जोग्गं आहारं गेहवन्तेण ॥ ५१३ ॥  
 कालस्य चानुरूपं रोगारोगत्वं च ज्ञात्वा ।  
 दातव्यं यथायोग्यं आहारं गेहवता ॥ ५१३ ॥

अर्थ— गृहस्थों को यथा योग्य ऐसा आहार दान देना चाहिये जो समय वा ऋतुओं के अनुरूप हो, तथा जिसमें रोग वा नीरोगता का भी विचार हो ।

पत्तस्सेस सहाखी नं विण्णं दायगेण भत्तीए ।  
 तं कर पत्ते सोहिय गहियव्वं विगइरायेण ॥ ५१४ ॥  
 पात्रस्येष स्वभावो यद्दत्तं दायकेन भक्त्या ।  
 तत्कर पात्रे शोधयित्वा गृहीतव्यं विगतरागेण ॥ ५१४ ॥

अर्थ— पात्रका भी यह स्वभाव होना चाहिए कि दाता ने जो भक्तिपूर्वक दान दिया है उसको कर पात्र में लेना चाहिये और उसको शोधकर बिना किसी राग द्वेष के ग्रहण कर लेना चाहिये ।

आगे दाता का भी स्वभाव बतलाते हैं ।

दायारेण पुणो विय अण्णाणो सुखसि मिच्छमाणेण ।  
 देय उत्तम दाणं विहिणा वरणीय सत्तीए ॥ ५१५ ॥  
 दात्रा पुनरपि च आत्मनः सुखमिच्छता ।  
 देयं उत्तमदानं विधिना वार्षितशक्त्या ॥ ५१५ ॥

अर्थ— जो दान देने वाला दाता अपने आत्मा को सुख पहुँचाना चाहता है उसको विधि पूर्वक ऊपर कही हुई शक्ति के अनुसार उत्तम दान देना चाहिये ।

आगे लोभी दाता के लिये कहते हैं ।

जो पुण हंसइ धण कणइ नुनिहि कुभोयणु देइ ।  
 जम्मि नम्मिदालिदवहण पुठ्ठिठ ण सहो छंढेइ ॥ ५१६ ॥

यः पुनः सतिधन कनके मुनिभ्यः कुभोजनं ददासि ।

जन्मनि जन्मनि वारिद्वय बहनंपूठं न तस्य त्यजति ॥ ५१६ ॥

अर्थ— जो पुरुष अन्न धन आदि के होते हुए भी मुनियों को कुभोजन देता है उसकी पीडा की दण्डिता अनेक जन्मों तक भी नहीं छोड़ती अर्थात् वह अनेक जन्म तक दरिद्री बना रहता है ।

आमं आहार दान के लाभ बतलाते हैं ।

देहो प्राणा रुपं विज्ञा धर्मं तपो सुखं मोक्षं ।

सर्वं क्षिणं नियमा हवेद् आहारदानेन ॥

देहः प्राणाः रूपं विद्या धर्मः तपः सुखं मोक्षः ।

सर्वं दत्तं नियमात् भवेत् आहारदानेन ॥ ५१७ ॥

अर्थ— शरीर, प्राण, रूप, विद्या, धर्म, तप, सुख और मोक्ष ये सब आहार के ऊपर निर्भर हैं । इस लिये जो भव्य पुरुष भक्तियों को आहार दान देता है वह नियम से शरीर, प्राण, रूप, विद्या, धर्म, तप, सुख मोक्ष आदि सबका दान देता है ऐसा समझना चाहिये ।

भुक्खं समा णहु वाही अण्णसमाणं य ओसहं णस्थि ।

तम्हा अहार दाणे आरोगत्तं हवे दिण्णं ॥

वृभुक्षासथो नहि व्याधिः अन्नसमाण च औषधं नास्ति । ~

तस्मादाहारदानेन आरोग्यत्वं भवेद्दत्तम् ॥ ५१८ ॥

अर्थ— इस संसार में भूख के समान अन्य कोई व्याधि नहीं है और अन्न के समान कोई औषधि नहीं है । इस लिये जो भव्य आहार दान देता है वह पुरुष आरोग्य दान भी देता है ऐसा अवश्य समझना चाहिये ।

आहार मओ देहो आहारेण विणा पडेइ नियमेण ।

तम्हा जेणाहारो दिण्णो देहो हवे तेण ॥

आहार मथो देहः आहारे बिना पतति नियमेन ।

तस्मात्प्रेता ऽऽ हारो दत्तो देहो भवेत्तेन ॥ ५१९ ॥



अर्थ— यह शरीर आहार मय है अन्न का कीड़ा है । यदि इसको आहार न मिले तो नियम से शिथिल होकर गिर पड़ता है । इस लिये जिसने ऐसे शरीर के लिये आहार दिया उसने उस शरीर को ही दिया ऐसा समझना चाहिये ।

ता देहो ता पाणा ता रुवं ताम णाण विष्णाणं ।

जाभा हारो पविसइ देहे औवाण सुखयरो ॥

तावदेहस्तावत्प्राण स्तावद्रूपं तावद्ज्ञान विज्ञानम् ।

यावदाहारो प्रविशति देहे जीवानां सुखकरः ॥ ५२० ॥

अर्थ— इस संसार में जब तक जीवों को सुख देने वाला आहार इस शरीर में रहता है तब तक ही यह शरीर है तब तक ही प्राण रहते हैं तबतक ही रूप रहता है, तबतक ही ज्ञान रहता है और तब तक ही विज्ञान रहता है । बिना आहार के ये सब नष्ट हो जाते हैं ।

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रय सडणं ।

रय णासेण य णाणं णाणे भुक्खो जिणोभणइ ॥

आहाराशने देहो वेहन तपस्तपसा रजः सटनम् ।

रजोनाशेन च ज्ञानं ज्ञाने मोक्षो जिनो भणति ॥ ५२१ ॥

अर्थ— आहार ग्रहण करने से शरीर की स्थिति रहती है, शरीर की स्थिति रहने से तपश्चरण होता है, तपश्चरण से ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों का नाश होता है, ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों के नाश होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान की प्राप्ति होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा भगवान् जिनेंद्रदेव ने कहा है ।

आगे आहारदान से चारों दानों का फल मिलता है ऐसा कहते हैं ।

चउविहवाणं उतं जे तं सयलमवि होइ इह विष्णं ।

सवितेसं दिष्णेणय इक्केणाहारवाणेण ॥

चतुर्विधदानं उक्तं यत् तत् सकलमपि भवति इह वक्तम् ।

सविशेषं दत्तेन च एकेनाहार दानेन ॥ ५२२ ॥

अर्थ— जो पुरुष विशेष रीति से एक आहार दान को ही देना है वह उस एक आहार दान से ही समस्त चारों दान दिये, ऐसा समझा जाता है ।

आमं यही दात दिखलाते है ।

भुक्त्वा कथं मरणभयं नांशद् जीवाण तेण तं अभयं ।

सो एव हणद् वाही उसहं फुडअत्थितेण आहारो ॥ ५२३ ॥

बुभुक्षाकृत मरण भयं नाशयति जीवानां तेन तदभयम् ।

स एव हन्ति व्याधिं औषधं स्फुटमस्ति तेनाहारः ॥ ५२४ ॥

अर्थ— देखो भूख की पीड़ा अधिक होने से मरने का भय होता है इसलिये आहार दान देने से अभयदान की भी प्राप्ति होती है । तथा भूख ही सबसे प्रबल व्याधि है । और वह आहार दान से नष्ट होती है । इसलिए आहार दान देने से ही औषध दान समझना चाहिये ।

आपाराई सत्थं आहारवलेण पढ्ढि णिस्सेसं ।

तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदानेण ॥ ५२४ ॥

आचारादि शास्त्रं आहारवलेन पठति निःशेषम् ॥

तस्मात् तच्छ त्वानं दत्तं आहार दानेन ॥ ५२४ ॥

अर्थ— इस आहार के ही बलसे आचार आदि समस्त शास्त्रों का पठन पाठन होता है इसलिये एक आहार दान देने से ही शास्त्र दान का भी फल मिल जाता है । इस प्रकार एक आहार दान से चारों के फल मिल जाते हैं ।

आगे आहार दान का और भी महत्व बतलाते हैं ।

हय गयगो वाणाइं धरणीरय कणय अण वाणाइं ।

तिस्सि ण कुणंति सया जह् तित्ति कुणइ आहारो ॥ ५२५ ॥

हयगज गोवातानि धरणी रत्नकनक यानदानानि ।

तृप्तिं न कुर्वन्ति सदा यथा तृप्तिं करोति आहारः ॥ ५२५ ॥

अर्थ— घोड़ा हाथी और गायों का दान, पृथ्वी, रत्न, अन्न, वाहन

आदि का दान देने से दान लेने वालों को उतनी तृप्ति नहीं होती जितनी तृप्ति सदाकाल आहार दान देने से होती है ।

आगे और भी कहते हैं ।

जह रयणाण षड्वरं सेलेसु य उत्तमो जहा मेरु ।  
तह दाणाणं पवरो आहारो होइ णायब्बो ॥ ५२६ ॥  
यथा रत्नानां वज्रं शैलेषु च उत्तमो यथा मेरुः ।  
तथा दानानां प्रवरः आहारो भवति जातव्यः ॥ ५२६ ॥

अर्थ— जिस प्रकार समस्त रत्नों में वज्र रत्न उत्तम है, और समस्त पर्वतों में मेरु पर्वत उत्तम है उसी प्रकार समस्त दानों में आहार दान सबसे उत्तम है ऐसा समझना चाहिये ।

आगे आहार दान देने की विधि बतलाते हैं ।

सो दायब्बो पत्ते विहाण जुत्तेण सा बिही एस ।  
पडिगह मुच्चव्वाणं पादोदय अच्चणं प्रणामं च ॥ ५२७ ॥  
तत् वातव्य पात्रे विधानं युक्तेन स विधिरेव ।  
प्रतिग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमचनं प्रणामं च ॥ ५२७ ॥  
मणवयण कायसुद्धी एसणसुद्धी य परम कायव्वा ।  
होइ फुडं आयरणं णवब्बिहं पुब्ब कम्मेण ॥ ५२८ ॥  
मनो वचन काय शुद्धि रेषण शुद्धिश्च परमा कर्तव्या ।  
भवति स्फुटमाचरणं नवविधं पूर्वकर्म णा ॥ ५२८ ॥

अर्थ— वह आहार दान पात्र को ही देना चाहिये और विधि— पूर्वक ही देना चाहिये । उसकी विधि इस प्रकार है ! प्रतिग्रह उच्च—स्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन शुद्धि काय और आहार शुद्धि इस प्रकार नवधा (नौ प्रकार) भक्ति पूर्वक आहार देना चाहिये ।

जब मुनि अपने समय पर वा श्रवकों के घर भोजन बन जाने के समय पर चर्या के लिये निकलते हैं तब वे प्रायः श्रावकों के घर के सामने होकर निकलते हैं । जिससमय मुनि अपने घर के सामने आवें

उस समय श्रावक को कहना चाहिये कि हे स्वामिन् नमोस्तु नमोस्तु  
त्रिण्ड त्रिण्ड

आहार जलं शुद्धं वर्तते अर्थात् हे स्वामिन् नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु  
इस प्रकार तीनवार हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर नमस्कार करना  
चाहिये कि महाराज यहां ठहरिये ठहरिये आहार जल शुद्ध है। इतना  
कहने पर जब वे खड़े होजाय तो तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये और फिर  
कहना चाहिये कि महाराज घर पधारिये। इतना कहकर उस श्रावक  
को आगे चलना चाहिये। इसको प्रतिग्रह कहते है। घर जाकर उनको  
किमी ऊंचे स्थान पर पाटा या कुरसी पर बिठाना चाहिये। महाराज  
इस पर विराजो ऐसा कहकर बिठाना चाहिये। इसको उच्चस्थान  
कहते है। तदनंतर प्रासुक गर्भ जल किसी थाली में उनके पैर धोने  
चाहिये और चरणादक को मस्तक पर एक अर्घ्य देकर उन मुनि की  
पूजा करनी चाहिये इसको अर्पण कहते है। इसके अनंतर कहना  
चाहिये कि महाराज मेरा मन शुद्ध है वचन शुद्ध है शरीर शुद्ध है और  
आहार शुद्ध है। आप चौका में पधारिये। इतने कहने पर वे चौका में  
चले जाते है। मुनि खड़े होकर आहार लेते है इसलिये उनको खड़े होने  
के लिए एक पाटा बिछा रखना चाहिये जो हिले नहीं तथा उसके सामने  
किमी छोटी सी ऊंची चौकी पर या छोटी मेजपर एक बड़ा भगोना या  
तसला रखाना चाहिये जिसमे थोड़ी सूखी घास रक्खी हो यदि आहार  
लेते समय हाथ में पानी गिरे तो उसी में गिरे और घास रखने में  
इधर उधर छींटे नहीं जाते यह नवधा भक्ति है और यथा योग्य सब  
ही पात्रों के लिये होती है।

एवं विहिणा वृत्तं देयं वाणं तिसुद्ध भवतीए ।

वज्जिय कुच्छियपत्तं तह प अपत्तं च निस्तारं ॥ ५२९ ॥

एवं विधिना युक्तं देयं वानं त्रिशुद्धि भवत्यया ।

वर्जयित्वा कुत्तिसत्पात्रं तथा चापात्रं च निस्तारम् ॥ ५२९ ॥

अर्थ— इस प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक तथा मन वचन काय की  
शुद्धता पूर्वक पात्रों को दान देना चाहिये, तथा कुत्तिसत् पात्र या कुपात्र

और अपात्र इन दोनों का कभी दान नहीं देना चाहिये । क्योंकि इन दोनों को दान देना निःसार है ।

आगे कुत्सित पात्रों को कहते हैं ।

जं रयणत्तय रहियं मिच्छमय कहियधम्म अणुलग्गं ।  
जइ विहु तवइ सुधोरं तहावितं कुच्छियं पत्तं ॥ ५३० ॥

तद्रत्नत्रयरहितं मिथ्यामत कथित धर्मानुलम्बम् ।  
यद्यपि हि तप्यते सुधोरं तथापि तत् कुत्सितं पात्रम् ॥ ५३० ॥

अर्थ— जो पुरुष रत्नत्रय से रहित है और मिथ्या मत में कहे हुए धर्म में लीन रहता है ऐसा पुरुष चाहे जितना धीर तपश्चरण करे तथापि वह कुत्सित पात्र वा कुपात्र ही कहलाता है ।

आगे अपात्र को कहते हैं ।

जस्स ण तवो ण चरणं ण चापि जस्सत्थि वर गुणो कोई ।  
तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥ ५३१ ॥

यस्य न तपो न चरणं न चापि यस्यास्ति वरगुणः कोऽपि ।  
तज्जानीयादपात्रमफलं दानं कृतं तस्य ॥ ५३१ ॥

अर्थ— जो न तो तपश्चरण करता है, न किसी प्रकार का चारित्र्य पालन करता है और न उसमें कोई अन्य श्रेष्ठ गुण है ऐसा पुरुष अपात्र कहलाता है ऐसे अपात्र को दान देना सर्वथा व्यर्थ है । उसका कोई फल नहीं होता है ।

ऊसर रिवत्ते धीयं सुखे रुक्खे य णीर अहिसेओ ।  
जह तह दाणमपत्ते विण्णं खु णिरत्थयं होई ॥ ५३२ ॥

ऊपर क्षेत्रे धीजं शक्के वृक्षे च नीराभिषेकः ।  
यथा तथा दानमपात्रे दत्तं खलु निरर्थकं भवति ॥ ५३२ ॥

अर्थ— जिस प्रकार ऊसर पृथ्वीपर बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है और सूके हुए वृक्ष में पानी देना व्यर्थ जाता है उसी प्रकार अपात्र को दिया हुआ दान सर्वथा व्यर्थ जाता है ।

आगे कुपात्रों को दिये हुए दान का फल बतलाते हैं ।

कुच्छिद्य पत्ते किञ्चि वि फलह कुदेवेषु कुगरतिरिएसु ।

कुच्छिद्य भोगधरासु य लवणवुहि कालोवहीसु ॥ ५३३ ॥

कुत्सितपात्रे किञ्चिदपि फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।

कुत्सित भोग धरासु च लव णाम्बुधि कालोवधिषु ॥ ५३३ ॥

अर्थ— कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का कुत्सित ही फल मिलता है और वह उस कुपात्र दान के फलसे कुदेवों में उत्पन्न होता है, कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है छोटे तिर्यचों में उत्पन्न होता है और लवणोदधि तथा कालोदधि समुद्र में होने वाली कुभोग भूमियों में उत्पन्न होता है ।

आगे उन कुभोगभूमियों को और उनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को कहते हैं ।

लवणे अड्यालीसा काल समुद्रे य तित्तियाचे व ।

अंतरदीवा भणिया कुभोग भूमीय विख्याया ॥ ५३४ ॥

लवणे अष्ट चत्वारिंशत् कालसमुद्रे च तावन्त एव ।

अन्तर्द्वीपा भणिता; कुभोग भूम्यः विख्याताः ॥ ५३४ ॥

अर्थ— लवणादधि समुद्र में अडतालीस अंतर्द्वीप है और कालोदधि समुद्र में भी अडतालीस अंतर्द्वीप है । इस प्रकार इन छियानवें अंतर्द्वीपों से कुभोग भूमियां हैं ।

उत्पज्जन्ति मणुस्सा कुपत्तवाणेण तत्थभूमीसु ।

जुवलेण गेहरहिया णाग्गा तरुमूलिणिवसन्ति ॥ ५३५ ॥

उत्पद्यन्ते मनुष्याः कुपात्रदानेन तत्र भूमिषु ।

युगलेन गृहरहिता नग्नाः तरुमूले निवसन्ति ॥ ५३५ ॥

अर्थ— जो मनुष्य कुपात्रों को दान देता है वह मनुष्य इन कुभोग भूमियों में मनुष्य होकर उत्पन्न होता है । वहां पर सब मनुष्य युगलियां (स्त्री पुरुष दोनों साथ साथ) उत्पन्न होते हैं, उनके रहने के लिये घर

नहीं होते वृक्षों के नीचे रहा करते हैं और नग्न रहते हैं ।

पल्लोवम आजस्सा वत्थाहरणेहि वज्जिया णिच्च ।  
तरुपल्लव पुष्परसं फलानां रसं चैव भक्षयन्ति ॥ ५३६ ॥

पल्लोपमायुषः वत्त्राभरणेन वज्जिता नित्यम् ।  
तरुपल्लव पुष्परसं फलानां रसं चैव भक्षयन्ति ॥ ५३६ ॥

अर्थ— इन मनुष्यों की आयु एक पल्ल की होती है तथा ये लोग सदा काल वस्त्राभरण से रहित होते हैं और वृक्षों के पत्ते, फूलों का रस और फलों का रस भक्षण करते रहते हैं ।

दीवे कहिं पि मणु या सक्कर गुड खंड सणिहा भूमि ।  
भक्खन्ति पुट्ठि जणया अइसरसा पुब्ब कम्मेण ॥ ५३७ ॥

द्वीपे कुत्रापि मनुजाः शर्करा गुडखण्डसंनिधा भूमिम् ।  
भक्षयन्ति पुष्टिजनकां अतिसरसां पूर्वकर्मणा ॥ ५३७ ॥

किसी किसी द्वीप की भूमि गुड शक्कर और खांड के समान मीठी होती है, पोष्टिक होती है और अत्यन्त सरस होती है । इसलिये उन द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अपने पूर्व कर्म के उदय से उसी भूमि की मिट्टी को खाकर रहते हैं ।

केई गय सीह मुहा केई हरि महिस कवि कोल मुहा ।  
केई आवरिस मुहा केई पुण एय पाया य ॥ ५३८ ॥

केचित् गजसिंह मुखाः केचिद्धरिमहिष केपि कोलूकमुखा ।  
केचिदादर्शमुखाः केचित्पुतः एकपादाश्च ॥ ५३८ ॥

अर्थ— उन द्वीपों में रहने वाले मनुष्यों में कितने ही मनुष्यों के मुख हाथी के मुख के समान होते हैं, कितने मनुष्यों के मुख सिंह के मुख के समान होते हैं, कितने ही मेंसा के से मुखवाले होते हैं, कितने ही सूअर के से मुखवाले होते हैं और कितने ही मनुष्य बंदर के से मुखवाले होते हैं और कितने ही मनुष्य ब्रह्मण के समान मुखवाले होते हैं । इसके सिवाय कितने ही मनुष्य एक पैर वाले होते हैं । तथा—

सससुक्कलि कण्णाविय कण्णद्यावरण वीह कण्णा य ।  
 लांगूलधरा अपरे अपरे मणुया अभासा य ॥ ५३९ ॥  
 शश शङ्कुलिकर्णा अविच कर्णप्रधरणा दीर्घ कर्णश्च ।  
 लांगूलधरा अपरे अपरे मनुष्या अभाषकाश्च ॥ ५३९ ॥

अर्थ— उन मनुष्यों में से कितने ही मनुष्य खरगोश जैसे कान वाले होते हैं, कितने ही पूरी के से कान वाले होते हैं कितने ही मनुष्यों के चौड़े कान होते हैं और कितने ही मनुष्यों के लम्बे कान होते हैं । इनके सिवाय कितने ही मनुष्यों के पूंछ होती हैं और कितने मनुष्य किसी भी प्रकार की भाषा नहीं बोलते ।

ए ए णरा पसिद्धा तिरिया वि हवन्ति कुभोग भूमिसु ।  
 मणुसुतर बाहिरेसु अ असंख दीवेषु ते होति ॥  
 एते नराः प्रसिद्धाः तिर्यचोपि भवन्ति कुभोग भूमिषु ।  
 मानुषोत्तर बाह्येषुच असंख द्वीपेषु ते भवन्ति ॥ ५४० ॥

अर्थ— इन सब कुभोग भूमियों में मनुष्य ही होते हैं, तथा इनके सिवाय मानुषोत्तर पर्वत के बाहर असंख्यात द्वीपों में होने वाली कुभोग भूमियों तिर्यच भी होते हैं ।

सब्बे मंद कसाया सब्बे निस्सेस बाहि परिहीणा ।  
 मारुअण वितरा विह जोइसु भवणेषु जायन्ति ॥  
 सर्वे मन्दकषायाः सर्वे निःशेषव्याधिपरिहीणाः ।  
 मृत्वा व्यन्तरेष्वपि हि ज्योतिर्भवनेषु जायन्ते ॥ ५४१ ॥

अर्थ— ये सब मनुष्य और तिर्यच मंद कषायी होते हैं और सबके संपूर्ण व्याधियों से रहित होते हैं । वे सब मरकर कितने व्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं, और कितने ही ज्योतिषी और भवन वासी देवों में उत्पन्न होते हैं ।

तत्थ चुया पुण संता तिरियणरा पुण हवन्ति ते सब्बे ।  
 काऊण तत्थ पाव पुणोवि निरयापहा होति ॥  
 ततश्च्युताः पुनःसन्तः तिर्यग्भराः पुनः भवन्ति ते सर्वे ।  
 कृत्वा तत्र पापं पुनरपि नरकपथा भवन्ति ॥ ५४२ ॥



अर्थ— कुपात्र दान देने वाले मनुष्य जो सरकार कुभोग भूमि में उत्पन्न होते हैं और वहां से आकर भवन वासी व्यंत्तर ज्योतिषियों में उत्पन्न होते हैं वहां की भी आयु पूर्णकर वे फिर मनुष्य वा तिर्यंच होते हैं और वहां भी अनेक प्रकार के पापकर तरकमे जाकर पड़ते हैं ।

चांडालभिल्ल छिपिय डोंब य कल्लाल एव माईणि ।

दीसंति रिद्ध पत्ता कुचिछय पत्तस्स दाणंण ॥

चांडालभिल्लछिपक डोम्ब कलवारा एवमादिकाः ।

दृश्यन्ते ऋद्धिप्राप्ताः कुत्सितपात्रस्य दानेन ॥ ५८३ ॥

अर्थ— वर्तमान में जो चांडाल भील छोरी डांग कलाल आदि निम्न श्रेणी के लोग धन और विभूति आदि से परिपूर्ण दिखाई देते हैं वे सब कुत्सित पात्रों को दान देने में ही बनी होते हैं । भावार्थ— निम्न श्रेणी के लोगों में धन विभूति का होना कुपात्र दान का ही फल है ।

केई पुण गय तुरया गेहेरायाण उण्णई पत्ता ।

दिस्सति मच्च लए कुचिछय पत्तस्स दाणंण ॥

केचित्पुनः गजतुरया गृहे राज्ञां उन्नतिं प्राप्ताः ।

दृश्यन्ते मर्त्यलोके कुत्सित पात्रस्य दानेन ॥ ५८४ ॥

अर्थ— इस मनुष्य लोक में राजाओं के घर जो कितने ही हाथी घोड़े आदि उन्नति को प्राप्त हुए दिखाई देते हैं बहुत सुखी दिखाई देते हैं वह सब कुपात्र दान देने का फल समझना चाहिये ।

केई पुण बिब लोए उव्वण्णा वाहणतणेण ते मण्णया ।

सोसंति जाइ दुक्खं पिच्छिय रिद्धी सुदेवानां ॥

केचित्पुनः स्वर्गलोके उत्पन्ना वाहनरवेन ते मनुजाः ।

शोचन्ति जाति दुःखं प्रेक्ष्य ऋद्धि सुदेवानाम् ॥ ५८५ ॥

अर्थ— कुपात्रों को दान देने वालों में से कितने ही मनुष्य स्वर्ग-लोक में भी उत्पन्न होते हैं परन्तु वहां पर वे वाहन रूपसे उत्पन्न होते हैं अन्य बड़े देवों के वाहन बनकर रहते हैं । इसलिये वे बड़े देवों की ऋद्धियों को देखकर अपनी वाहन रूप जाति के दुःख का शोक करते रहते हैं ।

पाऊण तत्स दोषं सम्माणह मा कया विसविणम्मि ।  
 परिहरह सया दूरं बुहियाण वि सविस सप्यं व ॥ ५४६ ॥  
 ज्ञात्वा तस्य दोषं सम्मानयेन्मा कदाविपि स्वप्ने ।  
 परिहरेत्सदा दूरं ज्ञात्वा सविषसर्ववत् ॥ ५४६ ॥

अर्थ— कुपात्रों को दान देने में अनेक प्रकार के दोष होते हैं उन सबको समझकर स्वप्न में भी उनका सम्मान नहीं करना चाहिये, तथा कदा किसी अवस्था में भी उनका सम्मान नहीं करना चाहिये । विषधर सर्प के समान कुपात्रों का त्याग तो दूर स ही कर देना चाहिये ।

पत्थर मया वि दीणी पत्थर मप्पाणयं च बोलेई ।  
 जह तह कुच्छिय पत्तं संसारे चेव बोलेई ॥ ५४७ ॥  
 प्रस्तर मय्यनि दीणी प्रस्तरमप्पणं च निमज्जयति ।  
 यथा तथा कुत्तिसत्पात्र संसारे एव निमज्जयति ॥ ५४७ ॥

अर्थ— जिस प्रकार पत्थर की बनी हुई और पत्थरों से भरी हुई नाव उन पत्थरों को भी डुबो देती है और स्वयं भी डूब जाती है उसी प्रकार कुपात्र भी संसार समुद्र में डूब जाता है और दूसरों को भी डूबा देता है ।

याथा जह सच्छिद्दा परमप्पाणं च उवहि सलिलम्मि ।  
 वो लेइ तह कुपत्तं संसारमहोवही भीमे ॥ ५४८ ॥  
 नौर्यथा सच्छिद्दा परमात्मानं चोदधिसलिले ।  
 निमज्जयति तथा कुपात्रं संसारमहोवधौ भीमे ॥ ५४८ ॥

अर्थ— जिस प्रकार छिद्र सहित नाव समुद्र के जल में अपने आप डूब जाती है उसी प्रकार कुपात्र भी इस संसार रूपी भयानक महा समुद्र में अपने आप डूब जाता है ।

लोहमए कुत्तरंडे लग्गो पुरिसो हु तारिणी वाहे ।  
 बुड्ढइ जह तह बुड्ढइ कुपत्तं सम्माणओ पुरिसो ॥ ५४९ ॥  
 लोहमये कुत्तरण्डे लग्नः पुरुषो हि तारिणीवाहे ।  
 मज्जति यथा तथा मज्जति कुपात्रसम्मानकः पुरुषः ॥ ५४९ ॥

अर्थ - जिस प्रकार लोहे की बनी नाव में अवश्य डूब जाना है उसी प्रकार कुपात्रों का सन्मान करने वाला पुरुष भी इस संसार रूपी समुद्र में अवश्य डूबता है ।

गलहन्ति फलं गुरुयं कुच्छियं पटुविस सेविया पुरिसा ।

जह तह कुच्छिय पत्ते विष्णा दाणा मुणेयव्वा ॥ ५५० ॥

न लभन्ते फलं गुरुकं कुत्सितप्रभुत्व सेवकाः पुरुषाः ।

यथा तथा कुत्सितपात्रे दत्तानि दानानि मन्तव्यानि ॥ ५५० ॥

अर्थ - जिस प्रकार किसी कुत्सित स्वामी के आश्रित रहने वाले सेवक पुरुष को उसकी सेवा का अच्छा श्रेष्ठ फल नहीं मिलता उसी प्रकार कुत्सित पात्रों को दिया हुआ दान समझना चाहिये । भावार्थ - कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का फल भी श्रेष्ठ फल कभी नहीं मिल सकता ।

णत्थि वय सील संजम ज्ञाणं तब नियम संभवेरंच ।

एमेव भणइ पत्तं अप्पाणं लेय मज्झम्मि ॥ ५५१ ॥

नास्ति व्रतशीलसंयम ध्यानं तपोनियमब्रह्मचर्यं च ।

एवमेव भणन्ति पात्र आत्मानं लोकमध्ये ॥ ५५१ ॥

अर्थ - जो न तो व्रतों को पालन करते है न शीलों को पालन करते है, जिनके न संयम है न ध्यान है जो न किसी प्रकार का तपश्च- करने है न किसी नियम का पालन करते है और न ब्रह्मचर्य का पालन करते है ऐसे लोग भी इस लोक में अपने को पात्र कहते है ।

आगे और भी कहते है ।

मय कोह लोह गहिओ उड्डिय हत्थोय जायणा सीलो ।

गिह वावारासत्तो जो सो पत्तो कहं हवइ ॥ ५५२ ॥

मदक्रोध लोभमभित उत्थितहस्तश्च याचनाशीलः ।

गृहव्यापारासक्तः यः स पात्रं कथं भवति ॥ ५५२ ॥

अर्थ - भला विचार करने की बात है कि जो झूठमूठ ही अपने

बड़प्पन का अभिमान करते हैं जो कोधी है लोभी है हाथ उठाकर सर्वत्र मागते मंगते फिरते हैं और जो गृहस्थों के व्यापार में सदा लगे रहते हैं ऐसे लोग पात्र कैसे हो सकते हैं अर्थात् कभी नहीं हो सकते ।

हिंसाइदोस ६त्तो अत्तरउद्देहि गमिय अहरत्तो ।

क्रय विक्रय चदत्तो इन्द्रिय विसणु लोहितलो ॥ ५५३ ॥

हिंसादिदोषयुक्त आतंरौद्रेः गमिताहोरात्रः ।

क्रयविक्रयवर्तमानः इन्द्रिय विषयेषु लुब्धः ॥ ५५३ ॥

उत्तम पत्तं णिंदिय गुरुठाने अप्पयं पकुब्बंतो ।

होउं पावेण गुरु बुहुइ पुण कुगइ उवहिम्मि ॥ ५५४ ॥

उत्तमपात्रं निन्दित्वा गुरुस्थाने आत्मानंप्रकुर्वन् ।

भूत्वा पापेन गुरुः सुडति पुनः कुपत्युदधौ ॥ ५५४ ॥

अर्थ— जो पुरुष हिंसा झूठ चोरी आदि पापों में लगा रहता है, रातदिन आतंरध्यान अथवा रौद्र ध्यान में लगा रहता है, संसार भर के सामानों को खरीदने और बेचने में लगा रहता है, और इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त लोलुपता धारण करता है, इसके सिवाय जो उत्तम पात्रों की सदा निन्दा करता रहता है और गुरुओं के स्थान में अपनी आत्मा को नियुक्त करता है अर्थात् अपने आप स्वयं गुरु बन बैठता है । इस प्रकार जो अपने ही पापों से अपने को गुरु मानता है वह मनुष्य नरक निगोद रूपी कुगतियों के समुद्र में अवश्य डूब जाता ।

जो बोलइ अप्पाणं संसार महण्वम्मि ।

सो अप्पाणं कह तारइ तस्सणुमग्गे जणे लगं ॥ ५५५ ॥

यः निभज्जयति आत्मानं संसारमहणवे गुरुके ।

स अन्यं कथं तारयति यस्यान्मार्गे जनलग्नम् ॥ ५५५ ॥

अर्थ— इस प्रकार अपने को गुरु मानने वाला पुरुष इस संसार रूपी महा भयानक समुद्र में अपने आत्मा को डुबा देता है । वह मिथ्या गुरु उस मिथ्या गुरु के पीछे पीछे लगे हुए मनुष्य को भला पार कैसे कर सकता है अर्थात् ऐसे गुरु के पीछे जो मनुष्य लगता है वह भी उसके

साध साथ अवश्य डूबता है ।

एवं पत्तविसेसं णाऊणं देह दाणमणवरयं ।

णिय जीव सम्गमोक्खं इच्छयमी पयत्तेण ॥ ५५६ ॥

एवं पात्र विशेषं ज्ञात्वा देहि दानमनवरतम् ।

निज जीव स्वर्गमोक्षाविच्छन् प्रयत्नेन ॥ ५५६ ॥

अर्थ— जो पुरुष अपने आत्मा को स्वर्ग मोक्ष में पहुँचाना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे ऊपर लिये अनुसार पात्र अर्थात् के भेदों को अच्छी तरह समझ कर प्रयत्न पूर्वक सदाकाल उत्तम पात्रों को दान देते रहे ।

आगे समर्थ होकर भी जो दान नहीं देता उसके लिये कहते हैं ।

लहिऊण संपया जो देइणवाणाइ मोह संछण्णो ।

सो अप्पाणं अप्पे बंचेइ य णत्थि संदेहो ॥

लब्ध्वा सम्पत् यो वदाति न दानादि मोहसंचछन्नः ।

स आत्मानं आत्मना वंचयति च नास्ति सन्देहः ॥ ५५७ ॥

अर्थ— जो पुरुष धन संपदा पाकर भी उसमें अत्यन्त मोह करता है और पात्रों को भी जान नहीं देता वह अपने ही आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा को ठगता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।

णय देइ णेय भुंजइ अत्थं णिखणेइ लोहसंछण्णो ।

सो तणकय पुरिसो इव रक्खइ सत्थं परस्सत्थे ॥

न च वदाति नैव भुंक्तेऽर्थं निक्षिपति लोभसंचछन्नः ।

स तणकृत पुरुषः इव रक्षति सत्थं परस्यार्थे ॥ ५५८ ॥

अर्थ— जो धनी पुरुष न तो किसी को दान देता है न अपने भोगो-पभोगों में धन को लगाता है केवल तीव्र लोभ में पड़कर उसकी रक्षा करता रहता है वह पुरुष घास-फूस के बने हुए पुरुषाकार पुतले के समान केवल दूसरों के लिये खेतों की रक्षा करता है । भावार्थ— बहुत से लोग घासफूस का पुतला बनाकर खेतों में गाड़ देते हैं उसको देखकर

तथा उसको मनुष्य समझकर उस खेत में जानवर आकर नहीं खाते । इस प्रकार वह पुतला न तो दूसरों को खाने देता है और न स्वयं कुछ खाता है । उसी प्रकार जो न तो दान देता है और न स्वयं खाता पीता है वह पुरुष पुंस के पुतले के समान दूसरों के लिये धनका रक्षा करता रहता है ।

क्रिविणेण संचयधनं ण होइ उवयारियं जहाँ तस्स ।

महूयारि इव संचियमहु हरंति अण्णे सपाणेहि ॥

कृपणेन संचित धनं न भवति उपकारकं यथा तस्य ।

मधुकरेण इव संचितमधु हरन्ति अन्ये सपाणयः ॥ ५५९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार मधुमक्खी अपने छत्ते में मधु वा शहद को इकट्ठा करती है परन्तु वह स्वयं उसका उपभोग नहीं करती । इसलिये दूसरे मनुष्य आकर उस छत्ते को तोड़कर उसका इकट्ठा किया हुआ शहद भी ले जाते हैं और सैकड़ों हजारों मक्खियों को मार भी जाते हैं इसी प्रकार जो कृपण मनुष्य केवल धन को इकट्ठा करता रहता है उसका धन उसके काम में कभी नहीं आता । वह दूसरे के ही काम आता है ।

आगे कृपण के लिये और भी कहते हैं ।

कस्स धिरा इह लच्छि कस्स धिरं जुब्बणं धणं जीवं ।

इय मूणिज्जण सुपुरिसा वित्ति सुपत्तेसु दाणाइ ॥

कस्य स्थिरेह लक्ष्मीः कस्य स्थिरं यौवनं धनं जीवितम् ।

इति ज्ञात्वा सुपुरुषा ददति सुपात्रेषु वानानि ॥ ५६० ॥

अर्थ— इस संसार में लक्ष्मी किसके यहां स्थिर रही है, यौवन किसका स्थिर रहा है, धन किसका स्थिर रहा है और अर्थात् लक्ष्मी यौवन धन जीवन कभी किसी का स्थिर नहीं रहता । यही समझकर श्रेष्ठ पुरुषों को श्रेष्ठ पात्रों को सदा काल दान देते रहना चाहिये ।

आगे इसका कारण बतलाते हैं ।

दुक्खेण लहइ वित्तं वित्ते लद्धे वि दुल्लहं चित्तं ।

लद्धे चित्ते वित्ते सुदुल्लहो पत्तलंभी व ॥

दुःखेन लभते वित्तं वित्ते लब्धेऽपि दुर्लभं चित्तम् ।

लब्धे चित्ते वित्ते सुवर्लभः पात्रलाभश्च ॥ ५६१ ॥

अर्थ— इस संसार में धन की प्राप्ति बड़े दुःख से होती है यदि कदाचित् किसी भाग्य विशेष से धन की प्राप्ति हो भी जाय तो चित्त में दान देने की उत्सुकता होना अत्यन्त कठीन है । कदाचित् चित्त में दान देने की उत्सुकता भी प्राप्त हो जाय और धन भी प्राप्त हो जाय तो दान देने के लिये किसी पात्रका लाभ होना अत्यन्त कठीन है ।

चित्तं वित्तं पुत्रं तिडिअ वि भावेइ कहवि जइ पुरिसो ।

तोर लहइ अनुकूलं सयनं पुत्रं कलत्रं च ॥

चित्तं वित्तं पात्रं श्रोष्यपि प्राप्नोति कथमपि यदि पुरुषः ।

तर्हि न लभतेऽनुकूलं स्वजनं पुत्रं कलत्रं च ॥ ५६२ ॥

अर्थ— यदि किसी शुभ कर्म के उदय से धन भी मिल जाय, चित्तमें दान देने की उत्सुकता भी प्राप्त हो जाय और पात्र मिलने का भी संयोग प्राप्त हो जाय तो दान देने के लिये अपने स्वजन परिजन पुत्र स्त्री आदि अपने अनुकूल नहीं होते हैं ।

प्रतिकूलमाइ काऊं विघ्नं कुर्वन्ति धम्म दानस्य ।

उवएसन्ति पुब्बुद्धिं दुग्गहगम कारया असुहा ॥

प्रतिकूलमावि कृत्वा विघ्नं कुर्वन्ति धर्मदानस्य ।

उपदिशन्ति दुर्बुद्धिं दुर्गतिगमनकारकामशुभाम् ॥ ५६३ ॥

अर्थ— यदि स्त्री पुत्र स्वजन आदि अपने प्रतिकूल हो जाते हैं तो फिर वे लोग धर्मस्थानों में दान देने में विघ्न करते हैं । तथा नरकादिक दुर्गतियों के कारण भूत और अत्यन्त अशुभ दुर्बुद्धि का उपदेश देते हैं । भावार्थ— प्रतिकूल होने से पुत्रादिक धर्मस्थानों में तो दान का निषेध कर देते हैं और नरकादिक, दुर्गतियों में लेजाने वाले दान का वा ऐसे कार्यों का उपदेश देते हैं ।

आगे और भी कहते हैं ।

सो कह सयणो भण्णइ विग्घं जो कुणइ धम्मदाणस्स ।

दाऊण पाव बुद्धी हाडइ दुक्खायरं णरए ॥

स कथं स्वजनो भण्यते विघ्न यः करोति धर्मवाननाय ।

दत्त्वा पापदुग्धिं पतयति दुःखाकरे नरके ॥ ५६४ ॥

अर्थ— विचार करने की बात है कि स्वजन होकर भी जो धर्म कार्यों में दिये हुए दान का निषेध करता है और पाप एवं बुद्धि का उप-  
देश देकर अनेक दुःखों से भरे हुए नरक में डालना चाहता है वह अपना  
स्वजन कैसे हो सकता है । भावार्थ— उसे तो पूर्ण शत्रु समझना चाहिये ।

सो सयणो सो बंधू सो मित्रो जो सहिज्जओ धम्मे ।

जो धम्म विग्घपारो सो सत्तू णत्थि संदेहो ॥

स स्वजनः स बंधुः स मित्र यः सहायकः धर्मे ।

यो धर्म विघ्नकारी स शत्रुः नास्ति संदेहः ॥ ५६५ ॥

अर्थ— इस संसार में जो पुरुष अपने धर्म का पालन करने में  
सहायक होता है उसीको स्वजन समझना चाहिये उसीको बन्धु समझना  
चाहिये और उसीको मित्र समझना चाहिये । जो पुरुष धर्मकार्यों में  
विघ्न करता है धर्म पालन करने में विघ्न करता है वह पुरुष शत्रु ही  
है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।

ने यण्णा लोयत तेहिं णिरुद्धाईं कुगईं गयणाणि ।

वित्तं पत्तं चित्तं पाप्पवि जहिं दिण्ण दाण्णइ ॥

ते धन्या लोक त्रये तैः निरुद्धानि कुणति गमनानि ।

वित्तं पात्रं चित्तं प्राप्यार्पिः दत्तदानानि ॥ ५६६ ॥

अर्थ— जिन पुरुषों को यथेष्ट धन का प्राप्ति हुई है चित्तमें दान  
दान देने की बुद्धि प्राप्त हुई है और सुपात्रों का लाभ भी प्राप्त हुआ  
है । इन तीनों संयोगों को पाकर जो सुपात्रों को दान देते रहते हैं वे  
पुरुष तीनों लोकों में धन्य समझे जाते हैं और ऐसे ही नरकादिक दुर्ग-  
तियों को सदा के लिये शोक देते हैं ।

मुणिभोयणेण दत्तं जस्स गयं जुखणं च तवयरणे ।

सण्णासेण य जीवं जस्स गयं किं गयं तस्स ॥



मृनि भोजनेन द्रव्यं यस्य गतं धौवनं च तपश्चरणे ।

संन्यासेन तु जीवितं यस्य गतं किं गतं तस्य ॥ ५६७ ॥

अर्थ— जिस महापुरुष का धन मुनियों के भोजन कराने में चला गया जिसकी युवावस्था तपश्चरण करने में चली गई और जिसका जीव सन्यास ( समाधिमरण ) धारण कर चला गया उसका क्या गया ? अर्थात् उसका तो कुछ भी नहीं गया । भावार्थ— जिसने अपना धन पात्र दान में लगा दिया उसने आगे के जन्म के लिये अनन्त गुणी सम्पत्ति वा स्वर्ग सम्पदा प्राप्त करने का साधन बना लिया । तपश्चरण करते हुए जिसकी युवावस्था चली गई उसने उत्तम सुगन्धित देवों के शरीर को प्राप्त करने का या मोक्ष प्राप्ति करने का साधन बना लिया तथा जिसने समाधि मरण पूर्वक मरण किया उसने अजर अमर पद प्राप्त करने का साधन बना लिया । इस प्रकार ऐसे जीवों को थोड़ी सी विभूति के बदले अतुल्य विभूति प्राप्त होती है ।

आगे और भी दान देने की प्रेरणा करते हैं ।

जह् जह् बड्ढड लच्छी तह् तह् दाणाइं देह पत्तंसु ।

अहवा हीयइ जह् जह् देह विसेसेण तह् तह् यं ॥

यथा यथा बद्धंते लक्ष्मीः तथा तथा दानानि देहि पात्रेषु ।

अथवा हीयते यथा यथा देहि विशेषेण तथा तथाएव ॥ ५६८ ॥

अर्थ— इसलिये श्रावकों का उचित है कि यह धन जितना जितना बढ़ता जाय उतना उतना ही सुताओं को अधिक दान देता जाय । यदि कदाचित् धन घटता जाय तो जितना जितना घटता जाय उतना उतना ही विशेष रूपसे अधिक दान देता जाय । भावार्थ— लक्ष्मी के बढ़ने पर तो अधिक दान देना स्वाभाविक ही है । परन्तु जब लक्ष्मी घटने लगे तब समझना चाहिये कि यह लक्ष्मी अब ती जा रही है और चली ही जायगी इसलिये इसको और कामों में क्यों जाने दिया जाय इसको तो सुपात्र दान में ही दे देना चाहिये । यही समझकर लक्ष्मी के घटने पर भी विशेषरीति से सुपात्रों को अधिक दान देना चाहिये ।

आगे जिनपूजा और पात्रदान न देनेवालों की दुर्गति का वर्णन करते हैं ।

जेहि ण दिणं दाणं ण चापि पूज्जा किया जिणिदस्स ।

ते होणदीण दुग्गय भिक्खण ल्हंति जायंता ॥

ये न दत्तं दानं न चापि पूजा कृतां जिनेन्द्रस्य ।

ते होन, दीन, दुर्गत, भिक्षां न लभन्ते याचमानाः ॥ ५६९ ॥

अर्थ— जो पुरुष न तो कभी भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं और न कभी सुगर्भों को दान देते हैं वे पुरुष अत्यन्त दीन होन हो जाते हैं उनकी अवस्था अत्यन्त दुर्गति रूप में परिणत हो जाती है और माँगने पर भी उनको कुछ नहीं मिलती ।

पर पेसणाइ णिच्च करंति भतीए ल्ह य णिय देहं ।

पूरंति ण णियय घरे परयस गासेण जीवन्ति ॥

पर पेसणादिकं नित्यं कुर्वन्ति भक्त्या तथा च निजोदरम् ।

पूरयन्ति न जिनगृहे पर वशग्रासेन जीवान्ति ॥ ५७० ॥

अर्थ— जिन जीवों ने कभी जिनेन्द्रदेव की पूजन नहीं की है और न कभी पात्रों को दान दिया है ऐसे जीव भक्ति पूर्वक दूसरों का अन्न पीस पीस कर अपना पेट भरते हैं । तो भी उनको पेट भरने योग्य अन्न अपने घर में नहीं मिलता है । वे पर बश होकर दूसरों के अन्न के टुकड़ों से ही जावित रहते हैं ।

संक्षेण वहंति णरं गासत्थं दीह पंथ समसंता ।

तं चेव विण्णवन्ता मुहकय कर विणय संजुत्ता ॥

संक्षेपेन वहन्ति नरं ग्रासार्थं दीर्घं पथ समासक्ताः ।

तमेव विनमन्तः मुखकृतं कर विनय संयुक्ताः ॥ ५७१ ॥

अर्थ— जो पुरुष जिन पूजा और पात्र दान नहीं करते वे जीव परलोक में जाकर अन्न के टुकड़ों के लिए मनुष्यों को अपने कंधों पर रहकर (पालकी डोली पानस आदि में बिठाकर) बहुत दूर दूर तक ले जाते हैं तथा अपने मुख की दीन आकृति बनाकर और हाथ जोड़कर उसकी बहुत बड़ी विनय करते जाते हैं ।

पहु तुम्ह समं जायं कोमल अण्णाइ मुट्ठु सुहियाइं ।

हय मुह पियाइं काळं मल्लंति पाया सहत्थेहि ॥

प्रभो युष्माभिः समं जातानि कामलांगानि सुष्ठु सुमगानि ।  
इति मुखप्रियाणि कृत्वा संबहन्ते पावान् स्वहस्ताभ्याम् ॥ ५७२ ॥

अर्थ— जिन पूजन और पात्र दान न करने वाले पुरुष परलोक में अपने हाथ से दूसरों के पेर दाबते फिरते हैं और मुह से बड़े मधुर मधों के द्वारा प्रिय शब्दों के द्वारा कहते जाते हैं कि हे प्रभो आपके शरीर के अंग बड़े ही कोमल हैं, बड़े ही श्रेष्ठ हैं और बहुत ही सुन्दर हैं ।

रक्षन्ति गोगवाइं छेलयखर तुरय छेत खलिहाणं ।  
वृण्णन्ति कप्प डाइं घट्ठन्ति पिडउल्लयाइं च ॥

रक्षन्ति गोगवादिकं अजाखरतुरग क्षेत्रखलिनान् ।  
कुर्वन्ति कर्पटादिकं घटन्ते पिडरादिकानि ॥ ५७३ ॥

अर्थ— दान पूजा न करने वाले पुरुष परभव में गाय भैंस बकरी गधा घोड़ा खेत खलिहान आदि की रखवाली करते रहते हैं और कितने ही लोग खाट पीढ़ी आदि बढई के छोटे छोटे काम किया करते हैं ।

धावन्ति सत्यहत्था उण्हं च गणन्ति तहं य सीयाइं ।  
तुरय मुहं फेण सित्ता रयलित्ता गलियपायेसा ॥

धावन्ति शस्त्र हस्ता उणं न गणयन्ति तथा च शीतादि ।  
तुरय मुख फेन सिक्ता रजो लिप्ता गलित प्रस्वेदाः ॥ ५७४ ॥

अर्थ— दान पूजा न करने वाले कितने ही जीव हाथमें शस्त्र लेकर दौड़ते हैं राजा महाराजाओं की सवारी के आगे आगे दौड़ते हैं उस समय न तो वे धूप वा गर्मी को गिनते हैं और न शीत वा ठंडक को गिनते हैं । उस समय उनका शरीर घोड़ों के मुख से निकलते हुए फेन में भर जाता है, धूल उनके शरीर पर लिपट जाती है और पसीने की धार बंध जाती है ।

पिच्छिय पर महिलाओ घणघण मय णयण चंड वयणाइं ।  
ताडैइ णियंसीसं झूरइ हियमम्मि वीण सुहो ॥

प्रेक्ष्य परमहिताः धनस्तन मदतयन चन्द्रवदनानि ।  
 ताडयति निजं शीर्षं शूरयति हृदये दीनमुखाः ॥५७५॥  
 पर संपत्तिं गिणैर्जं पमणइ हा किं मया ण विण्णाई ।  
 दाणाई पर पत्ते उत्तमम भत्ती य जूत्तण ॥  
 पर सम्पदः दृष्ट्वा प्रणमति हाकिं मया न दत्तानि ।  
 ज्ञानानि प्रवर पात्रे उत्तम भक्त्या युक्तेन ॥ ५७६ ॥

अर्थ— जिन पूजा और पात्र दान न देने वाले पुरुष परभव में जाकर इतने दीन दुखी होते हैं कि वे लोग जिनके स्तन अत्यन्त कठिन हैं जिनके नेत्रों में मद छाया हुआ है और चन्द्रमा के समान जिनका सुन्दर मुख है ऐसी पर स्त्रियों को देखकर अपने मस्तक को घुना करते हैं और दीन मुख होकर अपने हृदय में रोया करते हैं। इसके सिवाय दूसरों की संपत्ति को देखकर वे लोग रो रो कर कहते हैं कि हाय हाय क्या हमने पहले भगवत् में उत्तम भक्ति पूर्वक उत्तम पात्रों को दान नहीं दिया था। यदि पहले भव में हमने भी पात्र दान दिया होता तो हमें भी ऐसी संपत्तियाँ अवश्य प्राप्त होती।

एवं पाऊण फुडं लोहो उवसानिऊण गियचित्ते ।  
 गिय वित्ताणुस्सारं दिज्जइ दाणं सुपत्तेसु ॥  
 एवं ज्ञात्वा स्फुटं उपसम्य निज चित्ते ।  
 निज वित्ता नुसारं देहि दानं सुपात्रेषु ॥ ५७७ ॥

अर्थ— इस प्रकार पात्र दान के फल को जानकर और पात्र दान न देने के फल को जानकर अपने हृदय में लोभ को दबाना चाहिये, लोभ नहीं करना चाहिये और अपने धन संपत्ति के अनुसार सुपात्रों को अवश्य दान देना चाहिये।

आगे कमाये हुए द्रव्य को किस प्रकार खर्च करना चाहिये सो कहते हैं।

जं उत्पज्जइ दब्बं तं कायव्वं च बुद्धिवत्तेण ।  
 छहणाश्रयं सच्चं पढमो भावो हि धम्मस्स ॥

यवुत्पत्त्यते ब्रह्मं तत्कर्तव्यं च बुद्धिमता ।

षड्भागगतं सर्वं प्रथमो भागो हि धर्मस्य ॥ ५७८ ॥

अर्थ— बुद्धिमान् गृहस्थों को उचित है कि वे जितना धन उत्पन्न करें उसके छह भाग करें । उसमें से पहला भाग धर्म के लिये निकाल दे ।

वीओ भावो गेहे दायव्वो कुड्ढं पोसणत्थेण ।

तद्वओ भावो भोए चउत्थओ सयण वग्गम्मि ॥

द्वितीयो भागो गृहे दातव्यः कुटुम्ब पोषणार्थम् ।

तृतीयो भागो भोगे चतुर्थः स्वजन वर्गे ॥ ५७९ ॥

अर्थ— दूसरा भाग अपने कुटुम्ब के भरण पोषण के लिये अपने घर वालों को देना चाहिये । तीसरा भाग अपने भोगों के लिये रखना चाहिये और चौथा भाग अपने स्वजन परिवार आदि के लिये रखना चाहिये ।

सैसा जे वे भावा ठायव्वा होति ते वि पुरिसेण ।

पूज्जा महिमा कज्जे अहवा कालावकालस्स ॥

शेषौ यौ द्वौ भागौ स्थापनीयौ भवतः तावपि पुरुषेण ।

पूजामहिमा कार्ये अथवा कालापकालाय ॥ ५८० ॥

अर्थ— इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार चार भाग तो काममें लाने चाहिये । और शेष बचे हुए दो भाग उस पुरुष को जमा रखना चाहिये वे बचे हुए दोनों भाग भगवान् जिनेंद्रदेव की विशेष पूजा करने में लगाना चाहिये अथवा किसी प्रभावना के कार्य में धर्म की महिमा बढ़ाने के कार्य में लगाना चाहिये । अथवा वे बचे हुए दोनों भाग किसी आपत्ती काट के लिये रख छोड़ना चाहिये ।

आगे लोभी पुरुषों के लिये आचार्य फिर समझाते हैं ।

अहवा णियं विवत्तं कस्स वि मा वेहि होइ लोहितलो ।

सो कौ वि कुण उवाऊ अह तं दक्खं समं जाइ ॥

अथवा निजं वित्तं कस्यापि मा देहिं भव लुब्धः ।

स कमपि कुरु उपायं तथा तव द्रव्यं समं याति ॥ ५८१ ॥

अर्थ— अथवा प्रत्येक गृहस्थ को अपना द्रव्य किसी को भी नहीं देना चाहिये और अत्यंत लोभी बनकर कोई भी ऐसा उपाय करना चाहिये जिसमें कि वह द्रव्य मरने के बाद भी अपने साथ चला चले ।

आगे कीन्ता द्रव्य अपने साथ जाता है और कौनसा नष्ट हो जाता है सो कहते हैं ।

तं द्रव्यं जाइ समं जं क्षीणं पुज्ज महिम दाणेहिं ।

जं पुण धरा णिहत्ते णठ्ठे से जाणि नियमेण ॥

तद्द्रव्यं याति समं यत् क्षीणं पूजा महिम दानैः ।

यत्पुनः धरानिचितं नष्टं तज्जानीहि नियमेन ॥ ५८२ ॥

अर्थ— जो द्रव्य भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा में खर्च होता है, जो द्रव्य धर्म की महिमा बढ़ाने में, धर्म की प्रभावना करने में खर्च होता है और जो द्रव्य पात्र-दान में खर्च होता है वही द्रव्य परलोक में अपने साथ जाता है । तथा जो द्रव्य पृथ्वी में गाढ़ कर रख दिया जाता है । उसको नियम पूर्वक नष्ट हुआ समझो ।

आगे पृथ्वी में गढ़ा धन कैसे नष्ट होता है सो कहते हैं ।

सइ ठाणाओ मुल्लह अहवा भूसेहि णिज्जए तं पि ।

अह भाओ अह पुत्तो चोरो तं लेई अह राओ ॥

स्वयं स्थानं विस्मरति अथवा मूषकैः नीयते तदापि ।

अथ भ्राता अथ पुत्रः चोर स्तत् गृह्णाति अथ राजा ॥ ५८३ ॥

अर्थ— जो पुरुष पृथ्वी में धन गाढ़ कर रखता है वह या तो स्वयं उस स्थान को भूल जाता है अथवा चुहे उस द्रव्य को लेकर दूसरे स्थान पर रख देते हैं, अथवा उसे भाई बन्धु ले जाते हैं अथवा पुत्र ले जाता वा चोर ले जाते हैं और इनसे भी बच रहता है तो उसे राजा ले लेता है ।

अथवा—

अथवा तरुणी महिला जायद् अण्णेण जार पुरिसेण ।

सह तं गिण्हय दब्बं अण्णं वेसंतर दुट्ठा ॥

अथवा तरुणी महिला याति अन्येन जारपुरुषेण ।

सह तद् गृहीत्वा द्रव्यं अनन्यदेशान्तरं दुष्टा ॥ ५८४ ॥

अर्थ— अथवा अपनी दुष्ट तरुण स्त्री उस समस्त द्रव्य को लेकर किसी अन्य जार पुरुष के साथ दूर देशांतर को भाग जाती है । इस प्रकार अनेक प्रकार से वह गढ़ा हुआ धन नष्ट हो जाता है ।

आगे द्रव्य का सदुपयोग बतलाते हैं ।

इय जाणिऊण णूणं वेह सुपत्तेसु चहुविहं दाणं ।

जह कय पावेण सया मुच्येह लिथेव् सुपुण्णेण ॥

इतिज्ञात्वा नूनं देहि सुपात्रेषु चतुर्विधं दानम् ।

यथाकृतपावेन मुञ्जत लिप्सेत सुपुण्येन ॥ ५८५ ॥

अर्थ— इस प्रकार निश्चय रीति से समझ कर सुपात्रों के लिये चारों प्रकार का दान देना चाहिये । जिससे कि किये हुए पापों का नाश हो जाय और श्रेष्ठ पुण्य का उपार्जन हो ।

आगे दान में उत्पन्न होने वाले पुण्य का फल बतलाते हैं ।

पुण्णेण कुलं विउलं कित्ति पुण्णेण भसइ तियलोए ।

पुण्णेण रूपमतुलं सोहागं ओवणं तेयं ॥

पुण्येन कुलं विपुलं कीर्तिः पुण्येन भ्रमति त्रिलोके ।

पुण्येन रूपधनतुलं सौभाग्यं तेजः ॥ ५८६ ॥

अर्थ— इस संसार में पुण्य के उदय से उत्तम कुल की ओर बहुत से कुटुम्ब की प्राप्ति होती है, पुण्य के ही उदय से इस मनुष्य की कांति तीनों लोकों में फैल जाती है पुण्य से ही सर्वोत्तम उपमा रहित रूप प्राप्ति होती है, पुण्य से ही सुहाग की प्राप्ति होती है पुण्य से ही वृद्धावस्था प्राप्त होती है और पुण्य से ही तेज की प्राप्ति होती है ।

पुण्णवलेणुव वज्जइ कहयधि पुरिसो य भोय भूमीसु ।

भुंजेइ तत्थभोए वह कप्पतसम्भवे हिच्चे ॥

पुण्यवलेनोत्पद्यते कथमपि पुरुषश्च भोगभूमीयू ।

सुंयते तत्र भोगान् दशकल्पतरुद्भवान् दिव्यान् ॥ ५८७ ॥

अर्थ - पुण्य कर्म के उदय से ही यह जीव किसी प्रकार भोग भूमि में भी उत्तम पुरुष उत्पन्न होता है और वहाँ पर दश प्रकार के कल्प-वृक्षों से उत्पन्न हुए दिव्य भोगों का अनुभव करता है ।

गिह तरुवर वरगेहे भोयण रुक्खाय भोयणे सरसे ।

कण्ठमय भायणाणिय भायण रुक्खा पयच्छन्ति ॥

गृहतरुवरा वरगृहानपि भोजन वृक्षाश्च भोजनानि सरसेनि ।

कनकमने भाजनानि च भाजन वृक्षा प्रयच्छन्ति ॥ ५८८ ॥

अर्थ - वहाँ पर दश प्रकार के कल्पवृक्ष है । उनमें से गृह जाति के कल्पवृक्ष उत्तम उत्तम घर देते हैं भोजन जाति के वृक्ष सरस भोजन देते हैं और भाजन जाति के वृक्ष सुवर्णमय पात्र वा बर्तन देते हैं ।

वत्थंगा वर वेत्ये कुसुमंगा दिति कुसुम मालाये ।

दिति सुगंध विलेखण विलेखणंगा महारुक्खा ॥

वस्त्रांगा वर वस्त्राणि कुसुमांगा ददाति कुसुममालाः ।

वदाति सुगंध विलेपनं विलेपनांगा महारुक्खाः ॥ ५८९ ॥

अर्थ - वस्त्रांग जाति के वृक्ष अनेक प्रकार के सुन्दर वस्त्र देते हैं पृथ्वांग जाति के वृक्ष पुष्प वा पुष्पो की मालाएं देते हैं और विलेपनांग जाति के वृक्ष सुगन्धित विलेपन उबटन आदि देते हैं ।

तूरंगा वर तूरे मञ्जंगादिति सरस मञ्जङ्गा ।

आहारणंगा दितिय आहरणे कण्ठमणि जडिह ॥

तूर्यांगा वर तूर्याणि मद्यांगा ददाति सरस मद्यानि ।

आभरणंगा ददाति च आभरणानि कनकमणि जटितानि ॥ ५९० ॥

अर्थ - वाद्यंग जाति के वृक्ष तुरई आदि अनेक प्रकार के बाजे देते हैं, मद्यांग जाति के वृक्ष सरस पीष्टिक मद्य ( एक प्रकार का रस जो केवल पीष्टिक होता है ) देते हैं और आभरणांग जाति के वृक्ष अनेक प्रकार के मणियों से जड़े हुए सुवर्णमय आभूषण देते हैं ।



वयणिदिणं ससि सूरजह तह दीवन्ति जोइसाकक्खा ।

पायव दसप्ययारा चित्तिथयं दिति मणुयाणं ॥

रजमी दिनयोः शशिसूरा तथा तथा दीप्यन्ते ज्योतिर्वृक्षाः ।

पावपा दशप्रकाराः चिन्तितं वदति मनुष्येभ्यः ॥ ५९१ ॥

अर्थ— ज्योतिष जाति के वृक्ष सूर्य चन्द्रमा के समान रात दिन प्रकाश करते रहते हैं । इस प्रकार भोगभूमियों में दश प्रकार के कल्प-वृक्ष होते हैं जो मनुष्यों को चितवन करने मात्र से अपनी इच्छानुसार पदार्थ देते हैं ।

जरसोय बाहि वेअण कासं सासं च जिभणं छिवका ।

ए ए अण्णे दोसा णहवन्ति हु भोय भूमोसू ॥

जरा शोक व्याधि वेदना कासं श्वासनं जृम्भणं क्षुत्तम् ।

एते अन्ये दोषा न भवन्ति हि भोग भूमिषु ॥ ५९२ ॥

अर्थ— बुढ़ापा, व्याधि, वेदना, कास, श्वास, जंभाई, छींक आदि कितने ही दोष भोग भूमियों में नहीं होते हैं ।

सब्बे भोए दिव्वे भुजित्ता आउसाव साणम्मि ।

सम्मादिट्ठी मणुया कप्पा वासेसु जायन्ति ॥

सर्वान् भोगान् दिव्यान् भुक्त्वा आयुरवसाने ।

सम्यग्दृष्टी मनुजाः कल्प वासिषु जायन्ते ॥ ५९३ ॥

अर्थ— इन भोग भूमियों में जो सम्यग्दृष्टि पुरुष उत्पन्न होते हैं वे सब दीर्घ काल तक वहां के दिव्य भोगों को भोगते रहते हैं और फिर आयु पूर्ण होने पर वे लोग मर कर कल्प वासी देव होते हैं ।

जे पुणु मिच्छादिट्ठी वितर भवने सुजोइसाहोति ।

जम्हा मंव कसाया तम्हा देवेसु जायन्ति ॥

ये पुन मिथ्या दृष्टयः व्यन्तर भावनाः सुज्योतिष्का भवन्ति ।

यस्माद् सन्वक्षायास्तस्माद्देवेषु जायन्ते ॥ ५९४ ॥

अर्थ— जो इन भोग भूमियों में मिथ्या दृष्टि पुरुष उत्पन्न होते

हे वे वहां के भोगों को भोग कर आयु के अन्त में भवन वासी व्यन्तर वा ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं। भोग भूमियों में उत्पन्न होने वाले जीव सब मंद कषाय वाले होते हैं इसलिये वे मर कर देव ही होते हैं।

केई समवसरणगया जोइस भावेण सुवितरा देवा ।

कहिऊण सम्भवंसण तत्थ चूया हुंति वा पुरिसा ॥

केचित्सन्वसरणागता ज्योतिष्क भावनाः सुव्यन्तरा देवाः ।

गृहीत्वा सम्यग्दर्शनं ततश्च्युता भवन्ति वा पुरुषाः ॥ ५९५ ॥

अर्थ— उन भवन वासी व्यन्तर ज्योतिषी देवों में से कितने ही देव भगवान के समव सरण में जाकर सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं और फिर वहां से आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्य होते हैं।

लहिऊण वेस भंजम सयल वा होइ सुरोत्तमो सरगे ।

भोत्तूण सुहे रम्मे पुणोवि अवयरइ मणुयत्ते ॥

लब्ध्वा देश संयमं सकलं वा भवति सुरोत्तमः स्वर्गे ।

भुक्त्वा शुभान् रम्यान् पुनरपि अवतरति मनुजत्वे ॥ ५९६ ॥

अर्थ— मनुष्य होकर वे जीव देश संयम धारण करते हैं अथवा सकल संयम धारण कर स्वर्गों में उत्तम देव होते होने हैं। वहां पर वे मनोहर सुखों का अनुभव कर आयु के अन्त में फिर भी मनुष्य भव धारण करते हैं।

तत्थवि सुहाई भुत्तं दिक्खा गहिऊण भविय निगंथो ।

सुक्कज्जाणं पाविय कम्म हणिऊण सिज्जेई ॥

तत्रापि शुभान् भुक्त्वा दीक्षा गृहीत्वा भूत्वा निर्गन्धः ।

शुक्लध्यानं प्राप्य कर्म हत्वा सिद्धति ॥ ५९७ ॥

अर्थ— उस मनुष्य भव में भी अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। तदनन्तर दीक्षा धारण कर निर्गन्ध अवस्था धारण करता है तथा शुक्ल ध्यान को धारण कर समस्त कर्मों का नाश करता है और अन्त में सिद्ध प्राप्त कर लेता है।

सिद्धस्वरूपं कर्म रहितं च होइ ज्ञानेन ।  
सिद्धावासी य नरो न ह्वइ संसारिओ जीवो ॥

सिद्धं स्वरूपरूपं कर्म रहितं च भवति ध्यानेन ।  
सिद्धावासी च नरो न भवति संसारी जीवः ॥ ५९८ ॥

अर्थ— सिद्धों का स्वरूप शुद्ध आत्मस्वरूप होता है तथा जड़ का ध्यान के द्वारा समस्त कर्मों से रहित हो जाता है । सिद्धध्यान में रहने वाले समस्त सिद्ध परमैष्टी जीव फिर कभी भी संसार नहीं आते हैं ।

पंचमयं गुणस्थानं एव कहिय मया समासेन ।  
एतौ उद्धृष्टं वीक्ष्य प्रमत्तविरयं तु छमयं ॥  
पंचमं गुणस्थानं एतत्कथितं मया समासेन ।  
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये प्रमत्तविरतं तु षष्ठमकम् ॥ ५९९ ॥

अर्थ— इस प्रकार मैंने अत्यंत संक्षेप से पांचवे गुण स्थान का स्वरूप कहा । अब इस के आगे प्रमत्तविरत नाम के छठे गुणस्थान का स्वरूप कहता हूँ ।

इस प्रकार विरता विरत नाम के पांचवे गुण स्थान का स्वरूप समाप्त हुआ

आगे छठे प्रमत्त संयत गुण स्थान का लक्षण कहते हैं ।

इत्थेव तिष्ठिण भावा खय उय समाइ ह्येति गुणस्थाने ।  
पणइह ह्येति पमाया प्रमत्त विरली ह्वे तम्हा ॥

अत्रैव त्रयो भावाः क्षयोपशमादयः भवन्ति गुणस्थाने ।  
पंचपदश भवन्ति प्रमादा प्रमत्तविरतो भवेत्तस्मात् ॥ ६०० ॥

अर्थ— इस प्रमत्त विरत नाम के गुण स्थान में औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक तीनों प्रकार के भाव होते हैं, तथा पंद्रह प्रमाद भी इसी गुण स्थान तक होते हैं इसलिये इस गुण स्थान को प्रमत्त विरत कहते हैं । भावार्थ— यद्यपि प्रमाद सब नीचे के गुण स्थानों में ली रहते हैं परन्तु नीचे के गुण स्थानों में पापों का सर्वथा त्याग नहीं

हे इसलिये उन पापों के साथ प्रमाद भी रहते ही है । परन्तु इस छठे गुण स्थान में पापों का सर्वथा त्याग हो जाता है पंच महाव्रत धारण किये जाते हैं तथा उनके साथ प्रमाद भी रहते हैं पापों का त्याग होने पर भी प्रमादों का त्याग नहीं होता इसलिये इस गुण स्थानको प्रमत्त विरत कहते हैं ।

आगे इस गुण स्थान का लक्षण कहते हैं ।

वृत्तावृत्त पमाए जो निवसद्द पमत्तसंयतो होइ ।

सयल गुण शील कलिओ नह्व्वई चित्तलाचरणो ॥

व्यक्ताव्यक्त प्रमादे यो निवसति प्रमत्त संयतो भवति ।

सकल गुणशील कलितो महाव्रतो चित्रलाचरणः ६०१ ॥

अर्थ— जो मुनि अठ्ठाईस मूल गुणों को पालन करते हैं शील वा उत्तर गुणों को पालन करते हैं महाव्रतों का पालन करते हैं ऐसे मुनि अब व्यक्त वा अव्यक्त या प्रमाद से निवास करते हैं तथा वे प्रमत्त संयत वा प्रमत्त संयमी मुनी कहलाते हैं । ऐसे मुनियों का चारित्र्य अत्यंत शुद्ध नहीं होता किन्तु अनेक रंगों से बने हुए चित्र के समान होता है ।

भावार्थ— प्रमाद के होने से कुछ ना कुछ दोष उसमें लगे ही रहते हैं ।

आगे प्रमादों को कहते हैं ।

विकथा तह्य कसाया इन्द्रियाणि तह्य पणओ य ।

चउ चउ पण भेगेगे हुंति पमाया हु पण्णरसा ॥

विकथास्तथा च कषाय इन्द्रियाणि निद्रा तथा च प्रणयश्च ।

चतस्रः चत्वारः पंच एका एकः भवन्ति प्रमादहि पंचदशा । ६०२ ।

अर्थ— चार विकथा चार कषाय पांच इन्द्रियां निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद कहलाते हैं ।

भावार्थ— राजकथा, भोजन कथा, देश कथा, और चोर कथा ये चार विकथाएं कहलाती हैं । इन कथाओं के सुनने से वा कहने से पाप का बंध होता है इसलिये इनको विकथा कहते हैं ।

क्रोध माध माया लोभ ये चार कषाय है । ये भी पाप बन्ध के कारण है । पांचों इंद्रियों के विषय भी पाप बन्ध के कारण है निद्रा पाप बन्ध का कारण है ही । तथा स्नेह वा प्रणय भी पाप बन्ध का कारण है इसलिये इन सब को प्रमाद कहते है तथा इन्ही प्रमादों के कारण चारित्र्य की अत्यन्त शुद्धता नहीं होती । प्रमादों के कारण उनमें दीव वा अशुद्धी उत्पन्न हो ही जाती है ।

आगे इस गुण स्थान मे कौनसा ध्यान होता है सो बतलाते है ।

स्वाध्याय धम्मज्झाणं अहं पि य णो कसाय उवयाओ ।

सज्झाय भावणाए उवसामइ पुणु वि ज्ञाणम्भि ॥

ध्यायति धर्म्य ध्यानं आर्तमपि नो कषायो वयात् ।

स्वाध्याय भावनाभ्यां उपशम्यति पुनरपि ध्याने ॥ ६०३ ॥

अर्थ— छठे गुण स्थान मे रहने वाले मुनि धर्मध्यान का चितवन करते है । तथा नो कषाय के उदय होने से उनके आर्तध्यान भी हो जाता है । तथापि स्वाध्याय और रत्नत्रय की भावना के कारण उसी ध्यान में वे उस आर्तध्यान का उपशम कर देते है । भावार्थ— मुनियों के आर्तध्यान कभी कभी होता है तथा तीन ही प्रकार का आर्तध्यान होता है निदान नाम का आर्तध्यान नहीं होता । यदि किसी मुनि के निदान नामका आर्तध्यान हो जाय तो फिर उस मुनि का छठा गुण स्थान ही छूट जाता है ।

तज्झाण जाय कम्मं खवेइ आवासएहिं परिपुण्णो ।

णिंदण गरहण जुत्तो पडिक्कमण किरियहिं ॥

तद्ध्यानं जातकर्म क्षिपति आवश्यकैः परिपूर्णः ।

निन्दनगर्हण युक्ती युवतः प्रतिक्रमण क्रियाभिः ॥ ६०४ ॥

अर्थ— छठे गुण स्थान में रहने वाले वे मुनि अपने छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करते है । तथा उन्ही आवश्यकों के द्वारा उस स्वल्प आर्तध्यान में उत्पन्न हुए कर्मों को नाश कर देते है । इसके सिवाय वे मुनि उस आर्तध्यान के कारण अपनी निन्दा करते रहते हैं और अपनी गद्दी करते रहते है प्रतिक्रमण करते रहते है और अपनी समस्त क्रियाओं का पालन करते रहते है ।

जाव पमाए वदइ जावथिरं आइ णिच्चल ध्यानं ।

णिदण गहण जुतो आवसइ कुणइ ता भिक्षू ॥

यावत्प्रमादे वर्तते यावन्न स्थिरं तिष्ठति निश्चल ध्यानम् ।

निन्दन गर्हण युक्तः आवश्यकानि करोति तावद् भिक्षुः ॥ ६०५ ॥

अर्थ— वे छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनि जबतक प्रमाद सहित रहते हैं जबतक उनका निश्चल ध्यान अत्यंत स्थिर नहीं होता है तब तक वे मुनि अपनी मिन्दा करते रहते हैं गर्हा करते रहते हैं और छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करते रहते हैं ।

छट्ठ मए गुणठाणे वदंतो परिहरेंइ छावासं ।

जो साधु सोण मुणई परमायम सार संबोहं ॥

षष्ठमके गुणस्थाने वर्तमानः परिहरसि षडावश्यकानि ।

यः साधुः स न जानाति परमागमसारसन्दोहम् ॥ ६०६ ॥

अर्थ— जो साधु छठे गुणस्थान में रहकर भी छहों आवश्यकों को नहीं करता वह साधु परमागम के सार को नहीं समझता ऐसा समझना चाहिये । भावार्थ— छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनियों को छहों अवश्यक अवश्य करने चाहिये और प्रतिदिन ही करने चाहिये । इनको कभी नहीं छोड़ना चाहिये ।

आगे जो साधु आवश्यक नहीं करता उसके लिये कहते हैं ।

अहव मुणंतो छंडइ सब्बावासाइ सुत्तवद्धाइ ।

तो तेण होइ चत्तो सुआयमो जिणवावस्स ॥

समता वन्दना स्तोत्रं प्रत्याख्यानं प्रतिक्रिया ।

व्युत्सर्गश्चेति कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि षट् ॥

समता धारण करना, वन्दना करना, स्तुति करना, प्रत्याख्यान वा त्याग करना' प्रति क्रमण करना और व्युत्सर्ग करना ये छह आवश्यक कहलाते हैं ।

अथवा जानन् त्यजति सर्वाविशयकानि सूत्रबद्धानि ।  
 तर्हितेन भवति त्यक्तः स्वागमो जिनेन्द्रेन्द्रस्य ।  
 आयमन्वाए चत्तो परमप्पया होइ तेण पुरिसेण ।  
 परमप्पय चायेण य मिच्छत्तं पोसियं होइ ॥  
 आगमे त्यक्त्वे त्यक्तः परमात्मा भवति तेन पुरुषेण ।  
 परमात्मनः त्यागेन मिथ्यात्वं पोषितं भवति ॥ ६०८ ॥

अर्थ— अथवा जो साधु जान बूझ कर सिद्धांत सूत्रों में कहे हुए आवश्यकों का त्याग कर देता है । ओह आवश्यकों को नहीं करता वह साधु भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए आगम का ही त्याग कर देता है ऐसा समझना चाहिये तथा यह बात भी निश्चित है कि जिसने आगम का त्याग कर दिया उसने परमात्मा का भी त्याग कर दिया और परमात्मा का त्याग करने से वह पुरुष मिथ्यात्व की ही पुष्टि करता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । भावार्थ— आगम सब भगवान् जिनेन्द्र देवका कहा हुआ है इसलिये जो पुरुष आगम को नहीं मानता वह पुरुष भगवान् जिनेन्द्र देव को भी नहीं मानता वह पुरुष मिथ्या दृष्टि ही समझा जाता है । इसलिये आगम की अवहेलना करना महापाप माना जाता है ।

एवं णाऊण सया जावण पावेहि निश्चलं ज्ञानं ।  
 मण संकप्प विमुक्कं तावासय कुणह वयसहियं ॥  
 एवं ज्ञात्वा सदा यावन्न प्राप्नोति निश्चलं ध्यानम् ।  
 मनः संकल्पविमुक्तं तावदावश्यकं कुर्यात् तत्रसहितम् ॥ ६०९ ॥

अर्थ— यही समझ कर मुक्तियों को उचित है कि जबतक मनके गंवान्य विकल्पों से रहित होकर निश्चल ध्यान की प्राप्ति नहीं होती तब तक उनको छहों आवश्यक प्रतिदिन अवश्य करते रहना चाहिये तथा अपने अन्य समस्त व्रतों का पालन करते रहना चाहिये ।

आगे आवश्यक आदि कार्यों का फल बताते हैं ।

आवासयाइ कम्मं विज्जावच्छं च क्षण पूजाइं ।  
 जं कुणइ समविट्ठी तं सखं निज्जर निमित्तं ॥

आवश्यकादि कर्म वैद्यावृत्यं च दान पूजादि ।

यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरा निमित्तम् ॥ ६१० ॥

जो सम्यग्दृष्टीं पुरुष प्रतिदिन अपने आवश्यकों का पालन करता है, व्रत नियम आदि का पालन करता है वैद्यावृत्य करता है, पात्र दान देता है और भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करता है उस पुरुष का वह सब कार्य कार्यों की निर्जरा का कारण माना जाता है ।

जस्सण गहगामित्तं पावधिलेषो ण ओसही लेवो ।

सो नावाइ समुद्धं तरेइ किमिच्छ भणिण्ण ॥

यस्य न नभोगामित्वं पावधिलेषो न औषधिलेषः ।

स नौरिव समुद्रं ताशयति किमिच्छ भणितेन ॥ ६११ ॥

अर्थ— जिनके न तो आकाश गामिनी ऋद्धि है, न पौरो को स्थिर कर आकाश में चलने की वृद्धि है और न औषधि लेप ऋद्धि है तथापि वह नाव के समान भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देता है ।  
भावार्थ— जिन मुनियों के कोई किसी प्रकार की वृद्धि नहीं है ऐसे साधारण मुनि भी अपने रत्नत्रय स्वरूप शरीर से अपने धर्मोपदेश से अनेक भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देते हैं मुनियों की महिमा अपार बचनातीत है ।

जा संकप्पो वित्ते सुहासुहो भोयणाइ किरियाओ ।

ताकुणउसोविकिरियं पडोक्मणाईय निस्सेसं ॥ ६१२ ॥

यावत्सकल्पश्चित्ते शुभाशुभः भोजनादि क्रियातः ।

तावत्करोतु तामपि क्रियां प्रतिक्रमणादिकां च निःशेषाम् ॥ ६१२ ॥

अर्थ— इस छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनियों के हृदय में जब तक शुभ संकल्प वा अशुभ संकल्प विकल्प होते रहते हैं और जब तक भोजनादिक क्रियाओं की प्रवृत्ति होती रहती है, तब तक उन मुनियों को प्रतिक्रमण आदि समस्त क्रियाएँ करते रहना चाहिये ।

एसो पमत्त विरओ साहु मए कहिउ समासेण ।

एत्तो उड्ढं धोच्छं अप्पमत्तो निसामेह ॥



एषः प्रमत्त विरतः साधुमया कथितः समासेन :

इतः ऊर्ध्वं वक्ष्येऽप्रमत्तं निशामयत् ॥ ६१३ ॥

अर्थ— इस प्रकार मैंने प्रमत्त विरत नाम के छठे गुण स्थान का स्वरूप अत्यंत संक्षेप में कहा । अब इसके आगे अप्रमत्त विरत नाम के सातवें गुणस्थान का स्वरूप कहता हूँ, उसे सुनो ।

इस प्रकार प्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप समाप्त हुआ ।

णट्ठासेसपमाओं वय गुणसीलेहि बंदिओ गाणी :

अणुष समुओ अखवओ ज्ञाणणिलीणोहु अप्रमत्तो सो ॥

नष्टाशेष प्रमादो व्रतगुण शीलैर्मण्डितो जानी ।

अनुपशमकोऽक्षपको ध्यान विलीनोहि अप्रमत्तः ॥ ६१४ ॥

अर्थ— जिनके ऊपर लिखे प्रमाद सब नष्ट हो गये हैं जो व्रत शील गुणों में सुशोभित हैं जो सम्यग्जानी हैं, और ध्यान में सदा लीन रहते हैं तथा जो न तो उपशम श्रेणी में चढ़ रहे हैं और न क्षपक श्रेणी में चढ़ रहे हैं ऐसे मुनि अप्रमत्त कहलाते हैं । भावार्थ— सातवें गुण स्थान वर्ती मुनि पाँचों महाव्रतों को पालन करते हैं अट्ठाईस मूल गुणों को पालन करते हैं उपशम श्रेणी वा क्षपक श्रेणी में चढ़ने के लिये सन्मुख रहते हैं तथा ध्यान में ही लीन रहते हैं ।

पुबुत्ता जे भावा हवन्ति णिण्णेष तत्थ नायब्बा ।

सुखं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण इत्थेव ॥

पूर्वोक्ता ये भावा भवन्ति अय एव तत्र ज्ञातव्याः ॥

मुख्यं धर्म्यं ध्यानं भवेत् नियमेन अत्रैव ॥ ६१५ ॥

अर्थ— इस सातवें गुणस्थान में पहले कहे हुए औपशमिक भाव क्षाधिक भाव और क्षायोपशमिक भाव तीनों भाव होते हैं । तथा इस गुणस्थान में नियम पूर्वक मुख्य रीति से धर्म ध्यान होता है ।

ज्ञायारी पुण ज्ञाणं सेयं तहवफलं च तस्सेव ।

ए ए चउ अहिंयारा णायब्बा होंति णियमेण ॥

ध्याता पुनर्ध्यानं ध्येयं तथा वा फलं च तत्संबन्धम् ।  
एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति नियमेन ॥ ६१६ ॥

अर्थ— इस गुण स्थान में चार अधिकार बतलाये हैं ध्यान करने वाला ध्याता, चिंतवत करने रूप ध्यान, जिसका चितवन किया जाय ऐसा आत्मा ध्येय और उस ध्यान का फल । ये चार अधिकार नियम पूर्वक इस गुण स्थान में होते हैं ।

आने ध्यान का लक्षण कहते हैं ।

आहारासण्णिद्धा विजयो तह इन्द्रियाण पंचण्हं ।  
बावीस परि सहाणं कोहाईणं कयायाणं ॥

निस्संगो निम्भोहो निगय बावार करण सुत्तद्धो ।  
विढकाओ थिरचित्तो एरिसओ होइ मायारो ॥ ६१७ ॥

आहारासननिद्राणां विजयस्तथा इन्द्रियाणां पञ्चानाम् ।  
द्वाविंशति परिग्रहानां क्रोधादिनां कषायाणाम् ॥

निःसंगो निर्मोहो निर्गतव्यापार करण सूत्रादयः ।  
दृढकायः स्थिरचित्तः एतादृशो भवति ध्याता ॥ ६१८ ॥

अर्थ— जिने आहार का विजय कर लिया है निद्रा का विजय कर लिया है, पाँचों इन्द्रियों का विजय कर लिया है, जो बाईस परिग्रहों के विजय करने में समर्थ है, जिसने क्रोधादिक समस्त कषायों का विजय कर लिया है दश प्रकार के बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार अन्तरंग परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, मोह का सर्वथा त्याग कर दिया है, जिसने अपने समस्त इन्द्रियों के व्यापार का त्याग कर दिया है, जो सिद्धांत सूत्रों का जानकार है, जिसका शरीर अत्यंत दृढ़ ॥

✽ खेत धन घर धान्य सोना चांदी दासी दास बर्तन कुप्य (वस्त्रादिक) दश बाह्य परिग्रह हैं । हास्य रति अरति शोक मय जुगुप्सा मिथ्यात्व स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसक वेद क्रोध मान माया लोभ ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं ।

है और जिसका चित्त अत्यन्त स्थिर है, ऐसा साधु ध्यान करने योग्य ध्याता कहलाता है ।

आगे ध्यान का स्वरूप कहते हैं ।

चित्तनिरोहे ज्ञाणं चतुर्विधमेवं च तं मृण्येयम् ।

पिंडस्थं च पदस्थं रूपस्थं रसवज्जिज्ञेयं चैव ॥

चित्त निरोधे ध्यानं चतुर्विधं भेदं च तन्मन्तव्यम् ।

पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूपं वर्जितं चैव ॥ ६१९ ॥

अर्थ— चित्त का निरोध करना ध्यान है अर्थात् चित्त में अन्य समस्त चित्तवनों का त्याग कर किसी एक ही पदार्थ का चित्तवन करना, उस एक पदार्थ के सिवाय अन्य किसी पदार्थ का चित्तवन न करना ध्यान कहलाता है । उस ध्यान के चार भेद हैं पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ।

आगे पिंडस्थ ध्यान को कहते हैं ।

पिंडो वुच्चइ देहो तस्स मज्झतिष्ठओ हु णियअप्पा ।

झाइज्जइ अइमुद्धो विस्फुरिओ सेय किरणठ्ठो ॥

पिण्ड उच्यते देहस्तस्य मध्यस्थितो हि निजात्मा ।

व्यायते अति शुद्धो विस्फुरितः सित किरणस्थः ॥ ६२० ॥

अर्थ— यहां पर पिंड शब्द का अर्थ शरीर है, उस शरीर के मध्य में विराजमान अपने आत्मा का ध्यान करना चाहिये । तथा वह अपना आत्मा अत्यन्त शुद्ध है, उसमें से सफेद किरणें निकल रही हैं और वह अत्यन्त दीदीप्यमान हो रहा है ऐसे अपने आत्मा का चित्तवन करना चाहिये ।

देहत्यो झाइज्जइ देहस्संबंध विरहिओ णिच्छं ।

णिम्मल सेय फुरंतो गयणत्तले सूर बिचेय ॥ ६२१ ॥

जीवन्मुक्तेऽपचयं पुरिसाचारं हि विषयदेहस्थं ।

अमलगुणं क्षायतं ज्ञाणं पिंडस्थं अभिज्ञाणं ॥ ६२२ ॥

देहस्थो ध्यायते देह सम्बन्ध विरहितो नित्यम् ।  
 निर्मल तेजसा स्फुरन् गगनतले सूर्य बिम्ब इव ॥ ६२१ ॥  
 जीव प्रदेश प्रचयं पुरुषाकारं हि निज देहस्थम् ।  
 अमल गुणं ध्यानम् ध्यानं पिण्डस्थामिधानम् ॥ ६२२ ॥

अर्थ— वह अपना शुद्ध आत्मा अपने शरीर में विराजमान है तथापि उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह आत्मा अत्यंत निर्मल है और जिस प्रकार आकाश में सूर्य दीप्यमान होता है उसी प्रकार वह आत्मा भी अपने तेज से दीप्यमान हो रहा है उस आत्मा के प्रदेशों का प्रचय वा समूह पुरुषाकार है वह प्रदेशों का समूह अपने ही शरीर में ठहरा हुआ है और उसमें अनेक निर्मल गुण भरे हुए हैं। इस प्रकार जो शरीर में स्थित अपने आत्मा का ध्यान किया जाता है उसको पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं।

आगे रूपस्थ ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

यारिसओ देहस्थो साइज्जइ देह बाहिरे तह य ।  
 अप्पा सुद्ध सहायो तं रुवत्थं फुडं भाणं ॥  
 यादूशो देहस्थो ध्यायते देह बाह्ये तथा परगतं च ।  
 आत्मा शुद्धस्वभावस्तद् रूपस्थं स्फुटं ध्यानम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ— ऊपर लिखे पिण्डस्थ ध्यान में अपने ही शरीर में स्थित अपने ही शुद्ध निर्मल और अत्यन्त दीप्यमान आत्मा का ध्यान करना बात— लाया है उसी प्रकार शरीर के बाहर अपने ही शुद्ध निर्मल अत्यन्त दीप्यमान और शुद्ध स्वभाव आत्मा का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है।

रुवत्थं पुणं बुविहं सगयं तह परगयं च जायस्सं ।  
 तं परगयं भणिज्जइ साइज्जइ जत्थ पंच परमेठ्ठी ॥  
 रूपस्थं पुनः द्विविधं स्वागतं तथा परगतं च ज्ञातव्यम् ।  
 तत्परगतं भण्यते ध्यायते यत्र पंच परमेष्ठि ॥ ६२४ ॥

अर्थ— इस रूपस्थ ध्यान के दो भेद हैं एक स्वागत आत्मा का

ध्यान और दूसरा परमगत आत्मा का ध्यान । जहाँ पर पंच परमेष्ठियों का ध्यान किया जाता है उस ध्यान को परमगत रूपस्थ ध्यान कहते हैं । पंच परमेष्ठियों का आत्मा अत्यंत शुद्ध है परन्तु वह अपने आत्मा से भिन्न है इसलिए उसको परमगत रूपस्थ ध्यान कहते हैं ।

सगयं तं रूपस्थं साद्वज्जइ जस्थ अप्पणो अप्पा ।

णियवेहस्स बहिस्थो फुरंत रवितेय संकासो ॥

स्वगतं तु रूपस्थं ध्यायते यत्र आत्मना आत्मा ।

निज देहाद्वहिःस्थः स्फुरद् रवितेजः संकाशः ॥ ६२५ ॥

अर्थ— जो अपना आत्मा सूर्य के तेज के समान अत्यन्त दीर्घायमान है अत्यंत शुद्ध है निर्मल है ऐसा अपना आत्मा अपने ही आत्मा के द्वारा अपने शरीर के बाहर ध्यान किया जाता है उसको स्वागत रूपस्थ ध्यान कहते हैं । इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का स्वगत स्वरूप कहा ।

अब आगे पदस्थ ध्यान को कहते हैं ।

देवच्चणा बिहाणं जं कहियं तं देसविरय्ठाणम्मि ।

होइ पयस्थं ज्ञाणं कहियं तं वरजिणंदेहि ॥

देवार्चना विधानं यत्कथितं देश विरत स्थाने ।

भवति पदस्थं ध्यानं कथितं तद्वरजिनेन्द्रेः ॥ ६२६ ॥

अर्थ— पहले देश विरत वा विरता विरत गुण स्थान के स्वरूप में जो भावना जिनेन्द्रदेव की पुजन करना समवसरण में विराजमान अष्ट प्रतिहार्य सहित अनन्त क्षतुष्टय सहित भगवान् अरहंत परमेष्ठियों का ध्यान करना आदि बतलाया है वह सब पदस्थ ध्यान है ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

एक पय मक्खरं वा अधियइ जं पंचगुरुवसंबंध ।

तं पिय होइ पयस्थं ज्ञाणं कम्माण णिद्वहणं ॥

एक पद मक्षरं वा जाप्यते यत्पंच गुरु सम्बन्धम् ।

तदपि च भवति पदस्थं ध्यानं कर्मणां निर्वहनम् ॥ ६२७ ॥

अर्थ— पंच परमेष्ठियों के वाचक एक पद के मन्त्र का जप करना

वा एक अक्षर मन्त्र का जप करना वा अधिक अक्षरों के मन्त्र का जप करना भी पदस्थ ध्यान कहलाता है। यह पदस्थ ध्यान कर्मों के नाश करने का साधन है। भावार्थ—पण्तीस सोल छप्पण चदु दुग मेगं च जवहं साएण् । परमेहि आचर्याणं अण्णं च गुरु वएसेण । अर्थात्—णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झयाणं णमो लोए सव्वसाहूणं यह पैंतीस अक्षर का मन्त्र है। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्व-साधुभ्यो नमः यह सोलह अक्षर का मन्त्र है। अ सि आ उ सा यह पांच अक्षर का मन्त्र है। अरहंत यह चार अक्षर का मन्त्र है। सिद्ध यह दो अक्षर का मन्त्र है और यह एक अक्षर का मन्त्र है। अ अरहंत का पहला अक्षर है, सि सिद्ध का पहला अक्षर है, आ आचार्य का पहला अक्षर है, उ उपाध्याय का पहला अक्षर है और सा साधु का पहला अक्षर है। इसी प्रकार ओ भी पंच परमेष्ठी का वाचक है।

अरहंसा असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो ।

पदम वखर णिप्पणो ओंकारो पंच परमेष्ठी ॥

अर्थ—अरहंत असरीरा अर्थात् सिद्ध आचार्य उपाध्याय और भुनि इन पांचों परमेष्ठियों का पहला अक्षर लेकर संधि करने से पंच परमेष्ठी का वाचक ओं सिद्ध हो जाता है। यथा अ-अ-आ, आ-आ-आ । आ+उ=ओ । ओ-म्=ओम् । इस प्रकार ओं पंच परमेष्ठी का वाचक है।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान का स्वरूप कहा।

अब आगे रूपातीत ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

णीय चित्तं वेहस्यं वेहं वहित्थं ण चित्तए किं पि ।

ण सगय परगयरुद्धं तं गयरुद्धं णिरालेद्धं ॥

नञ् चिन्तयति वेहस्यं वेहं बाह्यस्य न चिन्तयेत् किमपि ।

न स्वागत परगत रूपं तद्गत रूपं निरालम्बम् ॥ ६२८ ॥

अर्थ—जो न तो शरीर में स्थित शुद्ध आत्मा का चिंतन करता न शरीर के बाहर शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है न स्वगत आत्मा का

ध्यान करता है और न परमत पंच परमेष्ठी का ध्यान करता है किन्तु बिना किसी आलम्बन के किसी पदार्थ का ध्यान करता है अपने चित्त को अन्य समस्त चिन्तनों से हटाकर किसी एक पदार्थ में लगाता है वह रूपातीत ध्यान कहलाता है ।

जत्थ ण करणं चिन्ता अवखर रूपं ण धारणा धेयं ।

ण य वावारी कोई चित्तस्सय तं निरालंबं ॥

यत्र न करणं चिन्ता अक्षर रूपं न धारणा ध्येयम् ।

न च ध्यातारः कश्चाच्चित्तस्य च तन्निरालम्बम् ॥ ६२९ ॥

अर्थ— जिस ध्यान में किसी विशेष पदार्थ का चित्तबन्ध नहीं करना पड़ता न किसी शब्द वा अक्षर का चित्तबन्ध करना पड़ता है, जिसमें न धारणा है न ध्येय है और न जिसमें मन का कोई व्यापार होता है । ऐसे ध्यान को निरावलम्ब ध्यान कहते हैं । भावार्थ— निरालम्ब ध्यान करने वाला योगी अपने आत्मा को अपने ही आत्मा में लीन कर लेता है, अपने आत्मा के द्वारा उसी अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है । वही निरालम्ब ध्यान कहलाता है ।

इन्द्रिय विसय विधारा जत्थ खयं जंति राय दोसं च ।

मण धावारा सब्बे त गयाखुवं सुणेयव्वं ॥

इन्द्रिय विषय विकारा यत्र क्षयं यान्ति रागद्वेषौच ।

सनो व्यापाराः सर्वे तद्गतख्यं सन्तस्थम् ॥ ६३० ॥

अर्थ— जिस ध्यान में इन्द्रियों के समस्त विकार नाश हो जाते हैं जिसमें राग द्वेष सब नष्ट हो जाते हैं और मन के व्यापार सब नष्ट हो जाते हैं उसको रूपातीत ध्यान कहते हैं । इस प्रकार रूपातीत ध्यान का स्वरूप है ।

आगे ध्येय वा ध्यान करने योग्य पदार्थ को कहते हैं ।

धेयं तिब्बिह पयारं अवखररूपं तह अरुवंच ।

रूपं परमेष्ठियं अवखरयं तेसि सुच्चारं ॥

गयरूपं जंक्षेयं जिणेहि भणियं पि तं निरालंबं ।

सुण्णं पि तं ण सुण्णं जम्हा रयणत्तयाङ्गणं ॥ ६३१ ॥

ध्येय त्रिविध प्रकारं अक्षर रूपं तथाऽरूपं च ।

रूपं परमेष्ठित्तं अक्षरकं तेषामुच्चारणम् ॥ ६३१ ॥

गतरूपं तद्ध्येयं जितैर्भणितमपि तन्निरालम्बम्

शून्यमपि तस्य शून्यं यस्माद् रत्नत्रयाकीर्णम् ॥ ६३२ ॥

अर्थ— जिसका ध्यान किया जाता है उसको ध्येय कहते हैं वह ध्येय तीन प्रकार का है । अक्षर, रूप और अरूपी जो पंच परमेष्ठी का ध्यान करता है तथा उन परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का उच्चारण करता है वह अक्षर रूप ध्यान कहलाता है तथा जो रत्नत्रयस्वरूप निरालंब ध्यान किया जाता है जो रत्नत्रय से ओतप्रोत भरा हुआ है और इसी-लिये जो शून्य होकर भी शून्य नहीं कहलाता उस ध्यान को भगवान् जितेन्द्र देव ने रूपातीत ध्येय बतलाया है ।

आगे ध्यान का फल बतलाते हैं ।

ज्ञानस्य फलं त्रिविधं कर्तुं वर जोइणो विगयमोहा ।

इह भव परलोच भवं सर्वं कम्मवखाए तइयं ॥

ध्यानस्य फलं त्रिविधं कथयन्ति वर योगिनो विगतमोहाः ।

इह भव परलोक भवं सर्वं कर्मक्षये तृतीयम् ॥ ६३३ ॥

अर्थ— राग द्वेष और मोह रहित परम योगी पुरुषों ने ध्यान का

इन्द्रियाणि विलीयन्ते मनो यत्र लयं व्रजत् ।

ध्यानं ध्येय विकल्पेन तद्ध्यानं रूप वर्जितम् ॥

अमूर्तमजमव्यक्तं निर्विकल्पं चिदात्मकम् ।

स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं रूपातीतं च तद्विदुः ॥

जहाँ पर इन्द्रियों की प्रवृत्ति नष्ट हो जाय मन की प्रवृत्ति नष्ट हो जाय जहाँ पर ध्यान और ध्येय का अगल अलग विकल्प न हो, जो ध्यान अमूर्त आत्मा का किया जाय जो ध्यान अव्यक्त हो, विकल्प रहित हो शुद्ध चैतन्य स्वरूप हो । इस प्रकार जो अपने आत्माके द्वारा अपने ही शुद्ध आत्मा का चिंतन करना रूपातीत ध्यान है ।



फल तीन प्रकार बतलाया है । पहला इसी भव में होनेवाला फल, दूसरा परलोक में होने वाला फल और तीसरा समस्त कर्मों का नाश होना । इस प्रकार ध्यान के फल तीन प्रकार के होते हैं ।

ज्ञानस्य यः सत्तीए जायंति अइसयाणि विविहाणी ।

दूरालोयण पहुई ज्ञाणे आएस करणं च ॥

ध्यानस्य च शक्त्या जायन्ते अतिशयानि विविधानि ।

दूरालोकन प्रभूतीनि ध्याने आदेश करणं च ॥ ६३४ ॥

अर्थ— ध्यान की शक्ति से अनेक प्रकार के अतिशय प्राप्त हो जाते हैं, हजारों कोस दूरके पदार्थ देख लेना, दूरके शब्द सुन लेना आदि रूप से इन्द्रिय ज्ञान की वृद्धि हो जाती है तथा आदेश करने की शक्ति प्रगट हो जाती है ।

मइसुइ ओहीणानं मणउज्जय केवलं तहा पाणं ।

रिद्धीओ सव्वाओ जइपूजा इह फलं ज्ञाणे ॥

मतिश्रु तावधि ज्ञानं मनः पर्ययः केवलं तथा ज्ञानम् ।

ऋद्धयः सर्वाः यतिपूजा इह फलं ध्याने ॥ ६३५ ॥

अर्थ— मति ज्ञान श्रुत ज्ञान की वृद्धि वा पूर्णता हो जाती है अवधि ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है, समस्त ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं और यति पूजा भी होने लगती है अवधि केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जिन पूजा भी होने लगती हैं । यह इतना फल तो इसी लोक में मिल जाता है ।

आगे परलोक सम्बन्धी फल बतलाते हैं ।

सक्काई ईदत्तं अहमिदत्तं च सगलोयाम्पि ।

लोयंति य देवत्तं तं परभवगयफलं ज्ञाणे ॥

क्षकादीन्द्रत्वं अहनिन्द्रत्वं च स्वर्ग लोके ।

लौकान्तिक देवत्वं तत्परभवगत फलं ध्याने ॥ ६३६ ॥

अर्थ— स्वर्गों में जाकर इन्द्र पद की प्राप्ति, अहमिन्द्र पद की प्राप्ति होना, और लौकान्तिक पद की प्राप्ति होना आदि ध्यान का परलोक सम्बन्धी फल समझना चाहिये ।

आगे ध्यान का तीसरा फल बतलाते हैं ।

तनुषंचस्त्वय णामो सिद्धसहस्रस्य चैव उप्पत्तो ।

तिहुयण पहुस्त लाहो लाहो य अणंत विरियस्स ॥ ६३७ ॥

अष्टगुणानं लद्धी लीयं सिंहगगखेतसंवासो ।

तद्वय फलं कहिय मिणं जिणवरचंचेहि ज्ञानस्स ॥ ६३८ ॥

तनुपंचानां नाशः सिद्धस्वरूपस्य चैवोत्पत्तिः ।

त्रिभुवन प्रभुत्वलाभो लाभश्चानन्त वीर्यस्य ॥ ६३७ ॥

अष्टगुणानां लब्धिः लोक शिखराग्रक्षेत्र संवासः ।

तृतीय फलं कथितमिदं जिनवरचन्द्रं ध्यानस्य ॥ ६३८ ॥

अर्थ— श्रीदारिक आदि पाँचों शरीरों का नाश हो जाना, सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाना तीनों लोकों का प्रभुत्व प्राप्त हो जाना अनन्त वीर्य की प्राप्ति हो जाना सम्यक्त्व, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व अगुरु-लघुत्व अव्याबाध दर्शन इन आठ गुणों की प्राप्ति हो जाना और लोक शिखर के अग्रभाग पर जाकर स्थिर हो जाना यह सब ध्यान का तीसरा फल भगवान् जितेन्द्रदेव ने कहा है ।

आगे इस गुण स्थान के स्वरूप का उपसंहार करते हैं ।

एवं धम्मज्झाणं कहियं अपमत्त गुण समासेण ।

सालं व मणालं व तं मुखं इत्थं णायब्बं ॥

एवं धर्म्यध्यानं कथितं अप्रमत्तगुणे समासेन ।

सालम्बमनालम्बं तन्मुख्यं अत्र ज्ञातव्यम् ॥ ६३९ ॥

अर्थ— इस प्रकार इस सातवे अप्रमत्त गुण स्थान में होने वाले धर्म ध्यान वा स्वरूप अत्यंत संक्षेप से कहा । इस गुण स्थान में अवलम्बन सहित धर्म ध्यान भी होता है तथा इस गुण स्थान में दोनों ही ध्यानों की मुख्यता रहती है । ऐसा समझना चाहिये ।

एवमिह गुणद्वयो अस्थि आवासयाण परिहारो ।

ज्ञाण मणम्मि विरत्तं निरंतरं अस्थितं जम्हा ॥

एतस्मिन् गुणस्थाने अस्ति आवश्यकानां परिहारः ।

ध्यान मनसि स्थिरत्वं निरन्तरं अस्ति तद् यस्मात् ॥ ६४० ॥

अर्थ— इस सातवे गुण स्थान में छहो आवश्यकताओं की आवश्यकता नहीं होती और इसलिये ध्यान में लगा हुआ मन निरन्तर अत्यन्त स्थिर हो जाता है ।

सत्तमयं गुणठाणं कहियं अपमत्त नाम संजुतं ।

एतो अप्पुब्बणामं वुत्तामि जहाणुपुब्बीए ॥

सप्तकं गुणस्थानं कथितं अप्रमत्त नाम संयुतम् ।

इतोऽपूर्वनाम वक्ष्यामि ध्यानपुर्व्वम् ॥ ६४१ ॥

अर्थ— इस प्रकार अप्रमत्त संयुत नाम के सातवे गुण स्थान का स्वरूप कहा । अब इसके आगे अनुक्रम से होने वाले अपूर्व करण नाम के आठवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं ।

इस प्रकार अप्रमत्त संयुत नाम के सातवे गुण स्थान का स्वरूप कहा ।

आगे अपूर्व करण नाम के आठवे गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं ।

इं वुत्थेय पऊसं खवयं उवसामियं च णायव्वं ।

खवाए खवओ माओ उवसमए होइ उवसमओ ॥

तद्धिभेव प्रोवत्तं क्षपक मुपशमकं च ज्ञातव्यम् ।

क्षपके क्षपको भावः उपशमके भवति उपशमकः ॥ ६४२ ॥

अर्थ— इस आठवे गुण स्थान के दो भेद हैं एक औपशमिक और दूसरा क्षायिक । क्षायिक अपूर्व करण में क्षायिक भाव होते हैं औपशमिक अपूर्व करण में औपशमिक भाव होती है । भावार्थ— सातवे गुण स्थान में ध्यान करने वाले मुनि सातवे गुण स्थान के अन्त में दो प्रकार के मार्गों का अवलम्बन करते हैं । एक क्षपक श्रेणी और दूसरा उपशम श्रेणी । जो क्षपक श्रेणी में चढ़ते हैं वे अपने कर्मों का क्षय करते जाते हैं और बारहवे गुण स्थान के अन्त होने पर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं । उपशम श्रेणी चढ़ने वाले मुनि अपने ध्यान में कर्मों का क्षय नहीं करते

किन्तु कर्मों का उपशम करते जाते हैं तथा ग्यारहवें गुण स्थान में पहुँच कर उन कर्मों के उदय हो आने पर नीचे के गुण स्थानों में आ जाते हैं उपशम श्रेणी वालों के औपशमिक भाव ही होते हैं और क्षपक श्रेणी वालों के क्षायिक भाव ही होते हैं ।

आगे इस गुण में होने वाले ध्यान के भेद कहते हैं ।

खवणसु उबसमेसु य अपुष्कणामेसु हवइ तियारं ।

सुक्कज्झाणं णियमा पुहुत्त सवियक्क सवियारं ॥

क्षपकेषु उपशमेषु चापूर्वं नामसु भवति त्रिप्रकारम् ।

शुक्लध्यानं नियमाद् पृथक्त्वं सवितर्कं सविचारम् ॥ ६४३ ॥

अर्थ— इस अपूर्व करण नाम के आठवें गुण स्थान में पहला शुक्ल ध्यान होता है तथा उपशम श्रेणी वाले के और क्षपक श्रेणी वाले के दोनों के ही पहला शुक्ल ध्यान होता है । वह शुक्ल ध्यान नियम से तीन प्रकार होता है । पृथक्त्व, सवितर्क और सविचार । \*

आगे पृथक्त्व का लक्षण कहते हैं ।

पञ्जायं च गुणं वा जक्खा बब्बाण सुणइ भेएण ।

तस्मा पुहुत्तणामं भणियं भाणं मुणिदेहि ॥

पर्यायं च गुणं वा यस्माद् द्रव्याणां जानाति भेदेन ।

तस्मात्पृथक्त्वं नाम भणितं ध्यानं मुनीन्द्रैः ॥ ६४४ ॥

\* श्रुते चित्ता चित्तर्कः स्याद्विचारः संक्रमो मतः ।

पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवतेत् क्रियात्मकम् ॥

अर्थात्— श्रुत ज्ञान का चितवन करना चित्तर्क है संक्रमण होना विचार है और अनेकत्व होना पृथक्त्व है इस प्रकार पहला शुक्ल ध्यान तीन प्रकार का होता है ।

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं यति गुणाद्गुणान्तरं व्रजेत् ।

पर्यायादन्य पर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥

अर्थ— ध्यान करने वाले मुनि जिस ध्यान में द्रव्य के पर्यायों को और द्रव्यों के गुणों को पृथक् पृथक् जानते हैं उस ध्यान को मुनि राज सर्वज्ञ देव पृथक्त्व नाम का ध्यान कहते हैं ।

आगे वितर्क कालचरण कहते हैं ।

भणियं सुयं वियक्कं वद्दं सह तेण संखु अणवरय ।

तम्हा तस्स वियक्कं सवियारं पुण भणिदसामो ॥

भणितं श्रुतं वितर्कं वर्तते सहतेनतत्खल्ल अनवरतम् ।

तस्मात्तस्य वितर्कं सवीचारं पुनर्भणिय्यामः ॥ ६४२ ॥

अर्थ— वितर्क शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है जो ध्यान सदा काल श्रुत ज्ञान के ही साथ रही उस ध्यान को सवितर्क ध्यान कहते हैं ।

आगे सवीचार का लक्षण कहते हैं ।

सुशुद्धात्मानुभूत्यात्मा भाव श्रुतावलम्बनात् ।

अंतर्जल्यो वितर्कः स्याद यस्मिस्तु सवितर्कजम् ॥

अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छद्धान्तरे च संक्रमः ।

योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं ततुच्यते ।

अर्थात्— एक द्रव्य को छोड़कर दूसरे द्रव्य का चिंतन करना, एक गुण को छोड़कर दूसरे गुण का चिंतन करना और एक पर्याय छोड़कर दूसरे पर्याय का चिंतन करना सपृथक्त्व कहलाता है । जिस ध्यान में भाव-श्रुतज्ञान के आलम्बन से अत्यंत शुद्ध आत्मा अथवा शुद्ध अनुभूति स्वरूप आत्मा का स्वरूप आत्मा के ही भीतर प्रतिभासमान होता हो उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं । वितर्क शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है जो ध्यान श्रुतज्ञान सहित हो उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं जो ध्यान एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को बदल जाय एक शब्द से होने वाली चिंतन दूसरे योग्य से होने लगे उसको संक्रम का वीचार कहते हैं । पहले शुक्ल ध्यान में ये तीनों बातें होती हैं इसलिये वह शुक्ल ध्यान पृथक्त्व सवितर्क सवीचार कहलाता है ।

जोर्हि तीर्हि वियरह अवखर अस्थेसु तेण सवियारं ।

पढमं सुक्कञ्जाण अतिक्ख परसोवमं भणियं ॥

योगैस्त्रिभिः विचरति अक्षरार्थेषु तेन सवीचारम् ।

प्रथमं शुक्लध्यानं अतीक्ष्णपरशूपमं भणितम् ॥ ६४६ ॥

अर्थ— जिस ध्यान में चितवन किये हुए पदार्थ वा उनको करने वाले शब्दों का चितवन मन से वचन से काया से वा क्रम से अदल बदल कर किया जाता हो कभी काय से चितवन किया जाता हो तथा वाच से छोड़कर मन से वा वचन से चितवन किया जाता हो इस प्रकार जिसमें याग बदलते रहते ही तथा पदार्थ और उनके वाचक शब्द भी बदलते रहते हों उसको पवीचर ध्यान कहते हैं । योग पदार्थ और शब्दों का बदलना वीचार कहलाता है । तथा वीचार सहित ध्यान को सवीचार ध्यान कहते हैं यह ध्यान कर्म रूपी वृक्ष को काटने के लिये विनाधार वाले अतीक्ष्ण कुल्हाड़े के समान है जो देर से कर्मों का नाश करता है ।

जह चिरकालो लग्गइ अतिक्ख परसेण हकव विच्छेए ।

तह कम्माण य हण्णे चिरकालो पढम सुक्कमि ॥

यथा चिरकालो लगति अतीक्ष्ण परशूना वृक्षविच्छेदे ।

तथा कर्मणां च हनने चिरकालः प्रथमं शुक्ले ॥ ६४७ ॥

अर्थ— जिस प्रकार किसी वृक्ष के काटने के लिये कुल्हाड़ी तीक्ष्ण न हो पत्थरी कुल्हाड़ी हो तो उस वृक्ष के काटने में बहुत देर लगती है उसी प्रकार इस प्रथम शुक्ल ध्यान में कर्मों का नाश करने में बहुत देर लगा करती है ।

खइएण उवसमेण य कस्माणं जं अड्डव्व परिणामो ।

तम्हा तं गुणठाणं अपुब्बणामं सु तं भणियं ॥

क्षयेणोपशमेन च कर्मणः यदपूर्वपरिणामः ।

तस्मात्तद्गुणस्थानं अपूर्वनाम तु तद् भणितम् ॥ ६४८ ॥

अर्थ— इस गुण स्थान में कर्मों का क्षय होने पर अथवा कर्मों का

उपशम होने पर अपूर्व परिणाम होते रहते है जैसे शुद्ध परिणाम पहले कमी नहीं हुए थे वैसे अपूर्व शुद्ध परिणाम होने रहते है इसलिये आचार्यों ने इस गुण स्थान का नाम अपूर्व करण गुणस्थान रक्खा ।

इस प्रकार अपूर्व करण गुण स्थान का स्वरूप कहा ।

आगे अनिवृत्ति करण नाम के नीचे गुण स्थान का स्वरूप कहते है ।

जह तं अपुव्वणामं अणियट्ठी तह य होई भावव्वं ।

उव्वसम खाइय भावं हवेइ फुडु तन्नि ठाणम्मि ॥

यथा तदपूर्वनाम अनिवृत्ति तथा च भवति ज्ञातव्यम् ।

औपशमिक क्षायिक भावी भवतः स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने । ६४९।

अर्थ- जिस प्रकार उत्तरोत्तर अपूर्व अपूर्व परिणाम होने के कारण आठवे गुण स्थान का नाम अपूर्व करण गुण स्थान है उसी प्रकार अनिवृत्ति करण नाम का नीचा गुण स्थान समझना चाहिये । इस गुण स्थान में उत्तरोत्तर जो परिणामों की शुद्धता होती जाती है वह शुद्धता बढ़ती ही जाती है फिर कम नहीं होती । इसलिये इसको अनिवृत्ति करण कहते है जिसमें परिणाम की शुद्धता निवृत्त न हो सके, और बढ़ती ही चल जाय इसको अनिवृत्ति करण कहते है इस गुण स्थान में भी औप-शमिक भाव और क्षायिक भाव दोनों ही होते है । उपशम श्रेणी वाले के उपशम भाव होते है और क्षयक श्रेणी वाले के परिणाम क्षायिक होते है ।

सुक्कं तत्थ पउत्तं जिणेहि पुव्वुत्त लक्खणं ज्ञाणं ।

णत्थि णियत्तो पुनरपि जम्हा अणियद्वि तं तम्हा ॥

शुक्लं तत्र प्रोक्तं जिनेः पूर्वोक्त लक्षणं ध्यानम् ।

तस्मिन् निवृत्तिः पुनरपि यस्मात् अनिवृत्ति तत्तस्मात् ॥ ६५० ॥

अर्थ- भगवान् जिनेन्द्र देव ने इस नीचे गुण स्थान में भी पहले के अपूर्व करण गुण स्थान में कहा हुआ पहला शुक्ल ध्यान पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम का शुक्ल ध्यान कहा है । इस गुण स्थान में शुद्ध

परिणामों की निवृत्ति नहीं होती इसलिये इस गुण स्थान का नाम अनिवृत्ति करण कहा गया है ।

हन्ति अणियद्विणो ते पडिसमयं जस्स एक परिणामं ।

विमलयर क्षाण हुअवह सिहाहिं णिद्दुड्ढ कम्म वण ॥

भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषां एकपरिणामः ।

विमलतरध्यान हुतवह शिखाभिः निर्दग्ध कर्मवनाः ॥६५१॥

अर्थ— इस गुण स्थान में एक समय में जितने जीव होंगे उन सब के एक समान परिणाम होंगे और वे परिणाम निवृत्ति रूप नहीं होते । इस गुण स्थान में रहने वाले मुनियों का ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है तथा इसलिये उस निर्मल ध्यान रूपी अग्नि की शिखर में कर्म रूपी वन अवश्य जल जाने है । इस गुण स्थान के समय असंख्यात होते हैं । उन में वे ध्यानी मुनि उत्तरोत्तर समयों में बढ़ते रहते हैं । इस गुण स्थान के पहले समय में जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम एक से ही होंगे दूसरे समय में भी जितने जीव होंगे उन सब के परिणाम एक से होंगे । इसी प्रकार तीसरे चौथे पाँचवे आदि असंख्यात समयों में समझ लेना चाहिये । इस प्रकार नौवें गुण स्थान का स्वरूप कहा ।

अब आग सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं ।

जह् अणियादि पडत्तं खाइय उवसमिय सेहि संजुत्तं ।

तह् सुहमसंपराये दुव्वेयं होइ जिण कहियं ॥

यथा अनिवृत्ति प्रोक्तं क्षाहिकौपशमिकश्रेणी संयुक्तम् ।

तथा सूक्ष्मसांपरायं द्विभेद भवति जिनकथितम् ॥ ६५२ ॥

अर्थ— जिस प्रकार अनिवृत्ति करण में क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी दो प्रकार की श्रेणियां बतलाई है उसी प्रकार इस सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवें गुण स्थान में भी उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी दोनों ही श्रेणियां होती हैं ऐसा भगवान् जिनेन्द्र देव ने कहा है ।

तत्थेव हि दो भावा क्षाणं पुणु तिबिह भेय तं सुक्कं ।

लोह कसाए सेसे समलत्तं होइ चित्तस्स ॥



तत्रैव हि द्वौ भावी ध्यानं पुनः त्रिविधभेदं तच्छुषलम् ।  
लोभकषाये शेषे समलत्वं भवति चित्तस्य ॥ ६५३ ॥

अर्थ— इस गुण स्थान में भी औपशमिक और क्षायिक दो ही भाव होते हैं । उपशम श्रेणी वाले के औपशमिक भाव होते हैं और क्षयक श्रेणी वाले क्षायिक भाव होते हैं । इसी प्रकार इस गुण स्थान में पहले कहा हुआ पृथक्त्व सवितर्क सवीचार नाम का तीनों भेद वाला प्रथम शुक्ल ध्यान ही होता है इस गुण स्थान में केवल सूक्ष्म लोभ कषाय होता है इसलिये उनका चित्त कुछ थोड़ा सा समल वा मल रहित ( अत्यन्त सूक्ष्म अशुद्धता सहित ) होता है ।

जह कोसुं य वस्त्रं होइ सया सुहमराग स तुत्तं ।  
एवं सुहम कसाओ सुहम सरावोत्ति णिदिठो ॥  
यथा कौसुम्बं वस्त्रं भवति सदा सूक्ष्म राग संयुक्तम् ।  
एवं सूक्ष्म कषायः सूक्ष्म सराग इति निर्दिष्टः ॥ ६५४ ॥

अर्थ— जिस प्रकार कसुमल में रंगे हुए वस्त्रों में ( कसुमा के फूलों के रंग में रंगे हुए वस्त्र में ) लाली अत्यन्त सूक्ष्म होती है इसी प्रकार इस दशवे गुण स्थान में लोभ रूपी कषाय अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये इस गुण स्थान का नाम सूक्ष्म सांपराय कहा गया है ।

इस प्रकार सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवे गुण स्थान स्वरूप कहा ।

अब आगे उपशांत कषाय नाम के ग्यारहवे गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं ।

जो उवसमइ कसाए मोहासंबंधि पयडिबूहं च ।  
उवसामओत्ति भणिओ लवओ णाम ण सो लहइ ॥  
यः उपशमयति कषायान् मोहस्थ सन्बन्धि प्रकृति व्यूहं च ।  
उपशामक इति भणितः क्षपकं नाम न लभते ॥ ६५५ ॥

अर्थ— जो मुनि मोह की समस्त प्रकृतियों का उपशम कर देते हैं वे उपशांत कषाय नाम के ग्यारहवें गुणस्थान वर्ती मुनि कहलाते हैं ।

ग्यारहवें गुण स्थान वर्ती मुनि क्षपक कर्मों भी नहीं कहला सकते । क्योंकि जो उपशम श्रेणी में चढ़ते हैं और कर्मों का उपशम करते करते ग्यारहवें गुण स्थान तक आ जाते हैं । वे कर्मों का क्षय नहीं करते । इसलिये वे क्षपक नहीं कहला सकते । क्षपक वे ही कहलाते हैं जो क्षपक श्रेणी चढ़कर कर्मों का क्षय करते जाते हैं ।

आगे और भी कहते हैं ।

सुक्कज्ज्ञाणं पढमं भावो पुण तत्थ उवसमो भणिओ ।

मोहोदयाउ कोई पडिऊग य जाइ मिच्छतं ॥

शुक्ल ध्यानं प्रथमं भावः पुनः तत्रोपशः भणितः ।

मोहोदयात्कश्चित् प्रतिपद्य च याति मिथ्यात्वम् ॥६५६॥

अर्थ— इस गुण स्थान में पहला पृथक्त्व वितर्क बीचार नाम का शुक्ल ध्यान होता है तथा इस गुण स्थान में औपशमिक भाव ही होते हैं । इस गुण स्थान के अन्त में मोहनीय कर्म की जो समस्त प्रकृतियाँ उपशान्त हो गई थीं वे सब प्रकृतियाँ उदय में आ जाती हैं और फिर वे मुनि इस ग्यारहवें गुण स्थान से गिर जाते हैं । ग्यारहवें गुण स्थान से गिरने वाले कितने ही मुनि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाने से मिथ्यात्व गुण स्थान में भी आ जाते हैं ।

कोई पमायरहियं ठाणं आसिज्ज पुणवि अरुहइ ।

चरम सरीरो जीवो खवयसेहीं च रय हरणे ॥

कश्चित् प्रमाद रहितं स्थान माश्रित्य पुनरप्यारोहयति ।

चरम शरीरो जीवः क्षपक-श्रेणि च रजोहरणे ॥६५७॥

अर्थ— ग्यारहवें गुण स्थान से गिर कर कितने ही मुनि सातवें गुण स्थान में अप्रमत्त गुण स्थान में आ जाते हैं और सातवें गुण स्थान में आकर फिर भी श्रेणी चढ़ते हैं । यदि उन मुनियों में कोई मुनि चरम शरीरी हुए तो वे मुनि क्षपक श्रेणी में चढ़ जाते हैं तथा क्षपक श्रेणी में चढ़ कर वे जानावरण दर्शनावरण कर्मों का नाश करने के लिये उद्यम करते हैं ।

कालं काउं कोई तत्थय उवसामगे मुणहुगे ।

मुक्कज्झाणं जाइय उववज्जइ सव्वसिद्धो ॥

कालं कृत्वा कश्चित्तत्रोपशमके गुणस्थाने ।

शुक्लध्यानं ध्यात्वोत्पद्यते सर्वार्थं विद्वो ॥ ६५८ ॥

अर्थ— इसी उपाशान्त मोक्ष नाम के ग्याहरवें गुण स्थान में रहने वाले मुनि को यदि आयु पूर्ण हो जाय तो वे शुक्ल ध्यान का ध्यान करने हुए शरीर को छोड़ देते हैं और मर कर वे मुनि विषम में नारीय सिद्धि में उत्पन्न होते हैं ।

हेट्टुट्ठिओ हु चेट्टइ पंको सर गणियस्मि जह सरइ ।

तह मोहो तस्मि गुणे हेउं लहि ऊण उल्ललई ॥

अथः स्थितोहि तिष्ठति पंकः सरः पानीये यथा शरदि ।

तथा मोहस्तस्मिन् गुणे हेतुं लब्ध्वा उद्गच्छति ॥ ६५९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार शरद् ऋतु में कीचड़ सब तालाब के पानी नीचे बैठ जाती है तथापि वह वायु आदि का कारण पाकर फिर ऊपर आ जाती है उसी प्रकार आठवें नौवें दशवें ग्याहरवें गुण स्थानों में जिस मोहनीय कर्म का उपशम किया था तथा ग्याहरवें गुण स्थान में आकर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम कर दिया था वही मोहनीय कर्म इस ग्याहरवें गुण स्थान के अन्त समय में कारण पाकर उदय में आ जाते हैं । जब मोहनीय कर्म का उदय आ जाता है तब वे मुनि ग्याहरवें भगिर कर सातवें गुण स्थान में आ जाते हैं यदि उसी समय मिथ्यात्व का उदय हो जाय तो वे मुनि पहले मिथ्यात्व गुण स्थान में आ जाते हैं ।

जो खवयसेढि रुढो ण होइ उवसामिओत्ति सो जीवो ।

मोहदख्यत्कुणंतो उसो खवओ जिणिदेहि ॥

यः क्षपक श्रेण्यारूढो न भवति उपशमकः इति स जीवः ।

मोह क्षयं कुर्वन् उदतः क्षपको जिनेन्द्रे ॥ ६६० ॥

अर्थ— जो मुनि प्रारम्भ से ही क्षपक श्रेणी में बढ़ते हैं वे मुनि

कर्मों का उपशम नहीं करते किन्तु मोहनीय कर्म का क्षय करते जाते हैं इसलिये वे दशवें गुण स्थान से बारहवें गुण स्थान में नहीं आते किन्तु दशवें गुण स्थान से बारहवें गुण स्थान में पहुँच जाते हैं । इसलिये वे मुनि फिर नीचे के गुण स्थानों में फिर कभी नहीं आते हैं । फिर तो बारहवें गुण स्थान के अन्त में धातिया कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान ही प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार उपशान्त कषाय गुण स्थान का स्वरूप कहा ।

आगे क्षीण मोह वा क्षीण कषाय नाम के बारहवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं ।

निस्सेसमोहं क्षीणे क्षीण कषायं तु नाम गुणस्थानं ।

पावइ जीवो णूणं खाइयभावेण संजुसो ॥

निःशेषमोहक्षीणे क्षीण कषायं तु नाम गुणस्थानम् ।

प्राप्नोति जीवो नूनं क्षायिक भावेन संयुक्तः ॥ ६६१ ॥

अर्थ- जिस समय उन ध्यानी मुनि के समस्त मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है उस समय उन मुनि के क्षीण कषाय नाम का बारहवा गुण स्थान होता है । बारहवें गुण स्थान में उन मुनियों के क्षायिक भाव ही होते हैं ।

जहं शुद्ध फलिय भायणि क्षिप्तं नीरं खु निम्मलं शुद्धं ।

तहं निम्मल परिणामो क्षीण कषायो मुणेयव्वो ॥

यथाशुद्ध स्फटिक भाजने क्षिप्तं नीरं खलु निर्मलं शुद्धम् ।

तथा निर्मल परिणामः क्षीण कषायो मन्तव्यः ॥

अर्थ- जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक मणि के वर्तन में रक्खा हुआ शुद्ध निर्मल जल सदा शुद्ध निर्मल ही रहता है उसी प्रकार जिसके कषाय सब नष्ट हो चुके हैं ऐसे क्षीण कषाय गुण स्थान में रहने वाले मुनि के परिणाम सदाकाल निर्मल ही रहते हैं ।

आगे बारहवें गुण स्थान में कौनसा ध्यान होता है सो कहते हैं ।

सुक्कज्ज्ञाणं वीर्यं भणियं सवियक्क एक्क अवियारं ।  
 माणिकक सिहाचवलम् अत्थि तहि णत्थि संदेहो ॥  
 शुक्लध्यानं द्वितीयं भणितं सवितर्ककत्वावोचारम् ।  
 माणिक्यशिखाचपलं अस्ति तत्र नास्ति सन्देहः ॥ ६६३ ॥

अर्थ— इस गुण स्थान में एकत्व वितर्क नाम का दूसरा शुक्ल ध्यान होता है वह ध्यान वितर्क अर्थात् श्रुत ज्ञान सहित होता है किसी एक ही योग से होता है और उसमें वीचार वा संक्रमण नहीं होता वीचार रहित होता है । जिस प्रकार माणिक रत्न की शिखा निश्चल रहती है उसी प्रकार उन मुनो का ध्यान वीचार रहित निश्चल होता है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

होऊण क्षीण मोहो हणिऊण य मोह विडविवित्थारं ।  
 घाइत्तयं च छाइय द्विचरम समएसु ज्ञाणेण ॥  
 भूत्वा क्षीण मोहो हत्वा च मोह विटपि विस्तारम् ।  
 धातित्रिकं च घातयित्वा द्विचरम समयेषु ध्यानेन ॥ ६६४ ॥

अर्थ— जिस समय वे ध्यानी मुनि मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का नाश कर बारहवें गुण स्थान में पहुँच जाते हैं तब वे मुनि बारहवें गुण स्थान के उपान्त्य समय से अपने प्रउवलित ध्यान के द्वारा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्नराग कर्म इन तीनों घातियाँ कर्मों का नाश कर डालते हैं । ❀

❀ अपृथक्त्व मवीचारं सवितर्कगुणान्वितम् ।  
 सन् ध्यायत्येक योगेन शुक्ल ध्यानं द्वितीयकम् ॥

अर्थ— दूसरे एकत्वं वितर्क शुक्ल ध्यान में किसी एक ही पदार्थ का ध्यान होता है । वह किसी भी एक योग से धारण किया जाता है, श्रुत ज्ञान सहित होता है तथा विचार रहित होता है ।

निजात्मं द्रव्यमेकं वा पर्यायं मथवा गुणम् ।  
 निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥

घाट्चउष्कविनाशे उत्पद्यते सयल बिमल केवलम् ।

लोया लोय पयासं णाणं णिरुपद्दं णिच्चं ॥

घाति चतुष्क विनाशे उत्पद्यते सकलविमलकेवलकम् ।

लोकालोक प्रकाशं ज्ञानं निरुपद्रवं नित्यम् ॥ ६६५ ॥

अर्थ— जिस समय घातिया कर्मों का नाश हो जाता है उसी समय उन भगवान के पूर्ण निर्मल केवल-ज्ञान प्रगट हो जाता है । वह केवल ज्ञान लोक अलोक सबको एक साथ प्रकाशित करने वाला होता है, उसमें फिर किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता और वह ज्ञान फिर कभी भी नष्ट नहीं होता अनंतानंत काल तक बना रहता है ।

अर्थ— दूसरे शुक्ल ध्यान में वे मुनि अपने एक आत्म द्रव्य का चिंतन करते हैं अथवा उसकी किसी एक पर्याय का चिंतन करते, अथवा उसके किसी एक गुण का चिंतन करते । उनका वह ध्यान निश्चल होता है । इसको एकत्व चित्तक कहते हैं ।

तद्द्रव्य गुण पर्यायपरावर्तविवर्जितम् ।

चित्तं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥

अर्थ— इस दूसरे शुक्ल ध्यान में द्रव्य गुण पर्यायों का परिवर्तन नहीं होता यदि द्रव्य का ध्यान करता है तो द्रव्य का ही करता रहेगा । यदि गुणों का ध्यान करता है तो उस एक गुण का ही चिंतन करता रहेगा, यदि पर्याय का ध्यान करता है तो पर्याय का ही ध्यान करता रहेगा, उसे बदलेगा नहीं । क्योंकि उसका वह ध्यान निश्चल होता है इस ऐसे निश्चल ध्यान को ध्यान में अत्यन्त चतुर गणधर देव अविचार ध्यान कहते हैं ।

निज शुद्धात्म निष्ठत्वाद् भावश्रुता वलंबनात् ।

चित्तं क्रियते यत्र सचित्तं तदुच्यते ॥

अर्थ— इस ध्यान में वे मुनि अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहते हैं और भाव श्रुतज्ञान का अवलंबन होता है इस प्रकार जो शुद्ध आत्मा का चिंतन करना उसको सचित्त ध्यान कहते हैं ।

आवरणाण विनासे दंसण णाणाणि अंतरहियाणि ।

पावइ मोह विनासे अणंत सुखं च परमप्पा ॥ ६६६ ॥

विघ्न विनासे पावइ अणंतरहियं च वीर्यं परमं ।

उच्चइ सजोइकेवलं तइय ज्ञाणेण सो तइया ॥ ६६७ ॥

आवरणयोः विनाशे दर्शनं ज्ञाने अन्तः रहिते ।

प्राप्नोति मोह विनाशं अनन्तं सुखं च परमात्मा ॥ ६६६ ॥

विघ्न विनाशे प्राप्नोति अन्तः रहितं च वीर्यं परमम् ।

उच्यते सयोगि केवली तृतीय ध्यानेन स तत्र ॥ ६६७ ॥

अर्थ— ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से वह परमात्मा स्वरूप भगवान के अनन्त ज्ञान प्रगट हो जाता है, दर्शनावरण कर्म के नाश होने से अनन्त दर्शन प्रगट हो जाता है, मोहनीय कर्म के अत्यन्त नाश होने से अनन्त सुख प्राप्त हो जाता है अंतराय कर्म का अत्यन्त नाश होने से अनन्त वीर्य प्रगट हो जाता है । इस प्रकार वे भगवान अनन्त चतुष्टय को धारण कर सयोगी केवली कहलाते हैं । उन सयोगी केवली भगवान के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम तीसरा शुक्ल ध्यान होता है ।

इस प्रकार बारहवें गुण स्थान का स्वरूप कहा

आगे तेरहवें सयोगी केवली गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं ।

सुखीखाइयभीयो अविघ्नो निचंचलो जिणिदस्स ।

अत्थि तथा तं ज्ञाणं सुद्धं किरिंथा अपडिवाई ॥

शुद्ध क्षायिको भावोऽविकल्पो निश्चलो जिनेन्द्रस्य ।

अस्ति तत्र तद्ध्यानं सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति ॥ ६६८ ॥

अर्थ— तेरहवें गुण स्थान वर्ती केवली भगवान जिनेन्द्र देव के शुद्ध क्षायिक भाव होते हैं तथा वे भाव विकल्प रहित होते हैं और निश्चल होते हैं । इस तेरहवें गुण स्थान में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है ।

परिफंबो अइसुहमो जेय पसार्येण अत्थि तक्काले ।

तेणाणू आइव्वा आसविय पुणो विविहडंति ॥

परिस्पन्दोऽस्ति सूक्ष्मः जीवब्रदेशानामस्ति तत्काले ।

तेन अणवः आगत्य आलक्षयित्वा च पुनरपि विघटन्ते ॥ ६६९ ॥

अर्थ— इस तेरहवें गुण स्थान में रहनेवाले भगवान् जिनेन्द्र देव के जीव के प्रदेशों का परिस्पन्दन अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसी लिये शुभ कर्मों की वर्गणाएँ आती हैं और उसी समय चली जाती हैं । उनके आन्तः के प्रदेशों में वे कर्म वर्गणाएँ ठहरती नहीं हैं ।

आगे इसका कारण बतलाते हैं ।

जे णत्थि राय दोसो तेण ण बंधोत्तु अत्थि केवल्लिणो ।

जह सुक्क कुड्ड लग्गाल्लु झडियन्ति तह कम्मं ॥

यन्न स्तः राग द्वेषो तेन न धन्वोहि अस्ति केवलिनः ।

यथा शुक्क कुड्ध लग्नाः वालुका निपतन्ति तथा कर्म ॥ ६७० ॥

अर्थ— उन केवली भगवान् के राग द्वेष कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है इसलिये उनके कर्मों का बन्ध कभी नहीं होता । जिस प्रकार सुखी दीवाल पर लगी हुई वालू उसी समय झड़ जाती है । सूखी दीवाल पर वालू ठहरती नहीं उसी प्रकार बिना राग द्वेष के आत्मा के प्रदेशों में कर्म भी नहीं ठहरते हैं । भावार्थ— स्थिती बंध और अनुभाग बंध दोनों कषायों से होते हैं । केवली भगवान् के राग द्वेष का सर्वथा अभाव है इसलिये वहाँ पर स्थितीबंध और अनुभाग बंध भी कभी नहीं होते हैं । अत्यन्त सूक्ष्म काय योग होने से शुभ कर्म आते हैं परन्तु वे उसी समय झड़ जाते हैं । ठहरते नहीं ।

ईहा रहिया किरिया गुण वि मन्वे वि खाइया तस्स ।

सुखं सहायजायं कमकरण विधज्जियं णाणं ॥

ईहारहिता क्रिया गुणा अपि सर्वेपि धायिकास्तस्य ।

सुखं स्वभाव जातं क्रम करण विधजितं ज्ञानम् ॥ ६७१ ॥

अर्थ— भगवान् जिनेन्द्र देव की विहार, दिव्य ध्वनी आदि क्रियाएँ सब ईहा रहित वा इच्छा रहित होती हैं । इसका भी कारण यह है कि राग द्वेष के साथ ही उनकी इच्छाएँ सब नष्ट हो जाती हैं । इसीलिये उनकी समस्त क्रियाएँ इच्छा रहित होती हैं, उनके समस्त गुण धायिक



ही होते हैं उनका सुख स्वात्म जन्य स्वाभाविक ही होता है और उनका ज्ञान इन्द्रियों से रहित और अनुक्रम से रहित होता है । भावार्थ— जिस प्रकार इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान अनुक्रम से होता है उस प्रकार भगवान का ज्ञान न तो इन्द्रियों से होता है और न अनुक्रम से होता है । वे तो एक ही समय समस्त पदार्थों और उनकी समस्त पर्यायों को जान लेते हैं ।

यही बात आगे दिखलाते हैं ।

ज्ञानेन तेन जाणद्वि कालत्रयं यदिह तिष्ठवणत्थे ।

भावे समे य विसमे सञ्चेयणा चेयणे सञ्चे ॥

ज्ञानेन तेन जानाति कालत्रयं वर्तमानं त्रिभुवनार्थान् ।

भवान् समोक्ष्य विषमान् सचेतना चेतनान् सर्वान् ॥ ६७२ ॥

अर्थ— वे भगवान उस अपने केवल ज्ञान से तीनों लोकों में रहने वाले समस्त चेतन अचेतन पदार्थों को तथा सम विषम पदार्थों को और भूत भविष्यत् वर्तमान सम्बन्धी उन समस्त दार्थों की अनन्तानन्त पर्यायों को एक समय में ही जान लेते हैं ।

एकं एकस्मिन् क्षणे अणंतपञ्चायगुणं समादृणं ।

जाणद्वि जहं तहं जाणद्वि सच्चिदं ब्रह्माद्वि समयस्मि ॥

एकमेकस्मिन् क्षणे अनन्त पर्याय गुणं समाकीर्णम् ।

जानाति यथा तथा जानाति सर्वाणि द्रव्याणि समये ॥ ६७३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार वे भगवान किसी एक पदार्थ को उसकी अनन्तानन्त पर्याय और उसके समस्त गुणों को एक ही समय में जान लेते हैं उसी प्रकार वे भगवान एक ही समय में समस्त द्रव्य उनकी समस्त पर्यायों और उनके समस्त गुण एक ही समय में जान लेते हैं ।

जाणंतो पिच्छंतो कालत्रयवदियाद्वं ब्रह्माद्वं ।

उत्तो सो सच्चिद्वि परमत्मा परम जोद्विहि ॥

जानन् त्रयं कालत्रयवर्तमानानि द्रव्याणि ।

उद्विहः स सर्वज्ञः परमात्मा परमयोगिभिः ॥ ६७४ ॥

अर्थ— वे केवली भगवान सदा काल भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में हुए वा होने वाले समस्त पदार्थों को वा पदार्थों की पर्यायों को एक साथ देखते है और एक साथ जानते है । इसलिये परम योगी गणधर देव उनको सर्वज्ञ और परमात्मा कहते है ।

तित्थयरत्तं पत्ता जे ते पायंति समव सरणाइं ।

सक्कोण कयविहूई पंचकल्लाण पुज्जाय ॥

तीर्थकरत्वं प्राप्ता ये ते प्राप्नुवन्ति समवसरणादिकम् ।

शक्रेण कृतविभूतिं पंच कल्याण पूजां च ॥ ६७५ ॥

अर्थ— उन केवलियों में से जिनके तीर्थकर प्रकृति का उदय होत है वे इन्द्रों के द्वारा की हुई समवसरण आदि की महा विभूति को प्राप्त होते है तथा गर्भ कल्याणक अन्न कल्याणक दीक्षा कल्याणक ज्ञान कल्याणक और मोक्ष कल्याणक इन पांचों कल्याणकों में होने वाली परमोत्कृष्ट पूजा को प्राप्त होते है ।

समुग्धाई किरिया णाणं तह दंसणं च सुखं च ।

सर्वेसि सामण्णं अरहंताणं च इयराणं ॥

समुद्धातक्रिया ज्ञानं तथा दर्शनं च सुखं च ।

सर्वेषां सम्मानं अहंता चैतराणां च ॥ ६७६ ॥

अर्थ— जिनके तीर्थकर प्रकृति का उदय है ऐसे अरहंत केवली तथा जिनके तीर्थकर प्रकृति उदय नहीं है ऐसे सामान्य केवली इन दोनों प्रकार के केवली भगवान के समुद्धात क्रिया, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य ये सब समान होते है इसमे किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता ।

जैसि आयु समानं नाम गोत्रं च वेयणीयं च ।

ते अकय समुग्धाया सेसा य कयंति समुग्धायं ॥

येषां आयुः समानं नाम गोत्रं च वेदनीयं च ।

ते अकृत समुद्धाताः शेषाश्च कुर्वन्ति समुद्धातम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ— जिन केवली भगवान के नाम कर्म गोत्र कर्म और वेदनीय

कर्म की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्धात नहीं करते तथा जिनके नाम गोत्र वेदनीय की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली भगवान नाम गोत्र वेदनीय कर्मों की स्थिति को आयु कर्म की स्थिति के समान करने के लिये समुद्धात करते हैं । ❀

अंतर मुहुत्त कालो हवइ जहण्णो वि उत्तमो तेसि ।

गयधरिसूणा कोडी पुव्वाणं हवइ णियमेण ॥

अन्तर्मुहूर्त कालो भवति जघन्योपि उत्तमः तेषाम् ।

गत वर्षान्तो कोटिः पूर्वाणां भवति नियमेन ॥ ६७८ ॥

अर्थ— इस तेरहवें गुण स्थान की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति जितने वर्ष की आयु में केवल ज्ञान हुआ है उतने वर्ष कम एक करोड़ पूर्व है ।

इस प्रकार तेरहवें गुण स्थान का स्वरूप कहा

आगे अयोगी केवली नाम के चौदहवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं ।

पच्छा अजोइकेवलि हवइ जिणो अघाइ कम्महणमाणो ।

लहु पंचक्खर कालो हवइ फुडं तस्मि गुण ठाणे ॥

पञ्चावयोग केवली भवति जिनः अघाति कर्मणां हन्ता ।

लघुपंचाक्षर कालो भवति स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ॥ ६७९ ॥

❀ मूलसरीग्मछंडिय उत्तरदेहस्स जीव पिडस्स ।

णिग्गमणं देहादी हवइ समुग्धाइयं णाम ॥

अर्थ— मूल शरीर को न छोड़ कर जो जीव के प्रदेश बाहर निकलते हैं उसको समुद्धात करते हैं । समुद्धात करते समय केवली भगवान पहले समय में आत्मा के प्रदेशों को दंडाकार लोक पर्यन्त फैलाते हैं, दूसरे समय में कपाट रूप चौड़ाई में लोक पर्यन्त फैलाते हैं, तीसरे समय में प्रतर रूप लम्बाई में लोक पर्यन्त फैलाते हैं चौथे समय में लोक पूरण कर लेते हैं पांचवे समय में संकुचित कर प्रतर रूप छठे समय में

अर्थ- तेरहवें गुण स्थान के अनन्तर चौदहवां गुण स्थान होता है। चौदहवें गुण स्थान का नाम अयोगी केवली है। घातिया कर्मों का नाश कर भगवान् तेरहवें सयोगी केवली गुण स्थान में आते हैं और चौदहवें गुण स्थान में आकर अन्त में अघातिय कर्मों का नाश कर सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं। इस गुण स्थान का काल लवु पंचाक्षर उच्चारण मात्र है अर्थात् जितनी देर में अ इ उ ऋ लृ इन पाँचों ऋस्व अक्षरों का उच्चारण होता है उतना काल इस चौदहवें गुण स्थान का काल है।

परमोदालिय कायं सिद्धिलं होऊण भलइ तत्काले ।

थक्कइ सुद्ध सुहावो धण णिविड एस परमप्पा ॥

परमौदारिक कायः शिथिलो भूत्वा गलति तत्काले ।

तिष्ठति शुद्ध स्वभावः धननिबिडप्रदेश परमात्मा ॥६८०॥

अर्थ- इस गुण स्थान के अन्त में उनका वह परमौदारिक शरीर शिथिल होकर गल जाता है। तथा उनके धनीभूत निविड आत्मा के प्रदेश शुद्ध स्वभाव रूप होकर रह जाते हैं और इस प्रकार वे भगवान् परमात्मा हो जाते हैं।

णट्ठा किरिय पविस्ती सुक्कज्झाणं च तत्थ णिविद्धं ।

खाद्वय भावो सुद्धो निरंजणो वीयरामो य

नट्टा क्रिया प्रवृत्तिः शुक्ल ध्यानं च तत्र निदिष्टम् ।

आयिको भावः शुद्धो निरंजनो वीतरागवच ॥ ६८१ ॥

अर्थ- इस गुण स्थान में समस्त क्रियाओं की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, तथा चौथा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नाम का शुक्ल ध्यान होता

कटाट रूप, सातवें समय में दंड रूप और आठवें समय में शरीर मात्र प्रदेश कर लेते हैं। प्रदेशों के फैलाव से नाम गोत्र वेदनीय कर्मों की स्थिति आयु की स्थिति के समान हो जाती है। ब्रह्म मुनियों के छह महीने की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान होता है उनको समुद्घात अवश्य करना पड़ता है।

है । इस गुण स्थान में धार्मिक और शुद्ध भाव होते हैं और इसीलिये वे भगवान् निरंजन और परम वीतराग हो जाते हैं ।

ज्ञानं सजोद्ध केवलं जह तह अज्ञोद्धस्त णत्थि परमत्थे ।

उवयारेण पउत्तं भूयत्थणय विवक्खाए ॥

ध्यानं सयोग केवलिनो यथा तथाऽयोगिनः नास्ति परमार्थेन ।

उपचारेण प्रोक्तं भूतार्थनय विवक्षया ॥ ६८२ ॥

अर्थ— जिस प्रकार सयोग केवली भगवान् के ध्यान होता है उस प्रकार का ध्यान भी इस गुण स्थान में नहीं होता । इस गुण स्थान में वास्तव में ध्यान होता ही नहीं है । इस गुण स्थान में भूतार्थ नय की अपेक्षा से (पूर्वकाल नय की अपेक्षा से) उपचार से ध्यान माना जाता है । कर्मों का नाश बिना ध्यान के नहीं होता और चौदहवें गुण स्थान में अधातिया कर्मों का नाश होता है । इसलिये उपचार से ध्यान माना जाता है वास्तविक नहीं ।

आगे इसका कारण बतलाते हैं ।

ज्ञानं तह ज्ञायारो ज्ञेयवियप्पा य होंति मणसहिं ।

तं णत्थि केवलं कुणे तम्हा ज्ञानं ण संभवइ ॥

ध्यानं तथा ध्याता ध्येय विकल्पाइच्च भवन्ति मनः सहिते ।

तस्मास्ति केवलद्विके तस्माद् ध्यानं न संभवति ॥ ६८३ ॥

अर्थ— ध्यान, ध्यान करने वाला ध्याता और ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थों के विकल्प ये सब मन सहित जीवों के होते हैं । परन्तु वह मन सयोगी केवली तथा अयोगी केवली दोनों गुण स्थान वालों के नहीं है । इसलिये इन तेरहवें और चौदहवें गुण स्थानों में ध्यान नहीं है ।

मणसहियाणं ज्ञानं मणो विकम्माण कायजोयओ ।

तत्थ वियप्पो आयइ सुहासुहो कम्म उदाएण ॥

मनः सहितानां ध्यानं मनोपि कार्यमकाययोगात् ।

अत्र विकल्पो जायते शृभाशुभः कर्मोदयेन ॥ ६८४ ॥

अर्थ— जो जीव मन सहित है उन्हीं के ध्यान होता है । तथा मन की प्रवृत्ति कर्मण काय योग से होती है । तथा जहां पर कर्मण काय योग के निमित्त से मन की प्रवृत्ति होती है वहां पर कर्म का उदय होने से शुभ वा अशुभ विकल्प भी उत्पन्न होते हैं ।

असुहे असुहं ज्ञाणं सुहसाणं होइ सुहोपजोगेण ।

सुद्धे सुद्धं कहियं सासवाणासवं दुबिहं ॥

अशुभोऽशुभं ध्यानं शुभं ध्यानं भवति शुभोपयोगेन ।

शुद्धेशुद्धं कथितं सास्त्रवानास्रवं द्विविधम् ॥ ६८५ ॥

अर्थ— जहां पर अशुभ विकल्प वा अशुभोपयोग होता है वहां पर अशुभ ध्यान होता है, जहां पर शुभ विकल्प वा शुभोपयोग होता है वहां पर शुभ ध्यान होता है । तथा जहां पर शुभ अशुभ कोई विकल्प नहीं होता केवल शुद्ध उपयोग होता है वहां पर शुद्ध ध्यान होता है । यह शुद्ध ध्यान दो प्रकार का होता है, जिसमें आस्रव होता रहे ऐसा आस्रव सहित शुक्ल ध्यान और जिसमें आस्रव न हो ऐसा आस्रव रहित शुद्ध ध्यान वा शुक्ल ध्यान ।

पहमं वीर्यं तद्वयं सासवयं होइ इय जिणो भणइ ।

विगयासवं अउत्थं ज्ञाणं कहियं सभासेण ॥

प्रथमं द्वितीयं तृतीयं सास्रवं भवति एवं जिनो भणति ।

विगतास्रवं चतुर्थं ध्यानं कथितं समासेन ॥ ६८६ ॥

अर्थ— शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं उनमें से पहला शुक्ल ध्यान, दूसरा शुक्ल और तीसरा शुक्ल ध्यान ये तीनों शुक्ल ध्यान आस्रव सहित होते हैं अर्थात् इनमें कर्मों का आस्रव होता रहता है और चौथा शुक्ल ध्यान निरास्रव है आस्रव रहित, उसमें किसी कर्म का आस्रव नहीं होता ऐसा भगवान् जिनेन्द्र देव ने कहा है । इस प्रकार संक्षेप से इन ध्यानों का स्वरूप है ।

आगे चौदहवे गुण स्थान के अनंतर होने वाली सिद्ध अवस्था का स्वरूप कहते हैं ।

णट्ठट्ट पयडिवंधो चणमसरीरेण होइ किञ्चूणो ।  
 उड्ढं गमणसहावो समएणिक्केण पावेइ ॥  
 नष्टाष्टप्रकृति बन्धश्चरम शरीरेण भवति किञ्चोनः ।  
 ऊर्ध्वगमन स्वभावः समयैकेन प्राप्नोति ॥ ६८७ ॥

अर्थ— चौदहवे गूण स्थान के अन्तिम समय में जब आठों प्रकार का प्रकृतिबंध नष्ट हो जाता है अर्थात् समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं तब उनकी सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है । उस सिद्ध अवस्था में आत्मा का आकार चरम शरीर से कुछ कम होता है । अर्थात् उस आत्मा के आकार का घनफल शरीर के आकार के घनफल से कुछ कम होता है शरीर में जहां जहां आत्मा के प्रदेश नहीं हैं ऐसे पेट नासिका के छिद्र कान के छिद्र आदि में आत्मा के प्रदेश वहां भी नहीं इसलिये सिद्धों के आत्मा के आकार के घनफल में उतने स्थान को घनफल कम हो जाता है । इसलिये चरम शरीर के आहार के घनफल से सिद्धों के आत्मा के आकार का घनफल कुछ कम ही जाता है । इसलिये सिद्धों आकार चरम शरीर से कुछ कम बतलाया है । आत्मा का स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करता है इसलिये कर्म नष्ट होने के अनन्तर एक ही समय में सिद्ध स्थान पर जाकर बिराजमान हो जाता है ।

आगे सिद्ध स्थान कहां है सो बतलाते हैं ।

लोयग्न सिंह खत्ते जावं तणूपवण उवरिय भायं ।  
 गच्छइ ताम अयक्को धम्मत्थित्तेण आयासो ॥  
 लोक शिखर क्षेत्र यावत्तनु पवनो परिसं भागम् ।  
 गच्छति तावत् अस्ति धर्मास्ति त्वैव आकाशः ॥ ६८८ ॥

अर्थ— इस लोक शिखर के ऊपर के क्षेत्र में तनुवातबल्य के ऊपरी भाग पर जहां तक के वे सिद्ध परमेष्ठी एक ही समय में पहुँच जाते हैं ।

तत्तोपरंण गच्छइ अच्छइ कालं तु अन्तपरिहीणं ।  
 जम्हा अलोय खित्ते धम्मद्वयं णं तं अस्थि ॥  
 ततः परं न गच्छति तिष्ठति कालं तु अन्त परिहीनम् ।  
 यस्याव लोक क्षेत्रे धर्मद्वयं न तदस्ति ॥ ६८९ ॥

अर्थ— अलोकाकाश में द्रव्य नहीं है । धर्म द्रव्य लोकाकाश में ही है । लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग करने वाले धर्म द्रव्य वा अधर्म द्रव्य ही है । जहां तक धर्म द्रव्य है वही तक जीव वा पुद्गल गमन कर सकते हैं तथा जहां तक अधर्म द्रव्य है वहां तक ठहर सकते हैं, बिना धर्म द्रव्य के ठहर सकते हैं । इसलिये वे सिद्ध परमेष्ठी जहां तक धर्म द्रव्य है वही लोक शिखर के ऊपर भाग तक जाकर ठहर जाते हैं और फिर वे भगवान वहां पर अनंतानंत काल तक विराजमान रहते हैं ।

आगे सिद्धों के स्वरूप से और भी कहते हैं ।

ओ जलस्थ कम्ममुक्को जल थल अयास पव्वए नगरे ।

सो रिजुगई पवण्णो माणुस क्षेत्राउ उप्पधइ ॥ ६१० ॥

पणयालसहसहस्सा माणुस खेतं तु होइ परिमाणं ।

सिद्धाणां आवासो तित्थि मित्तम्मि आयासे ॥ ६११ ॥

यो पत्र कर्मयुक्त्तो जलस्थलाकाश पर्वते नगरे ।

स ऋजुगतिप्रपन्नः मनुष्य क्षेत्रतः उत्पद्यते ॥ ६१० ॥

पंच चत्वारिंशच्छत सहस्रं मानुष क्षेत्रस्यतु भवति परिमाणम् ।

सिद्धानामावासः तावन्मात्रे आकाशे ॥ ६११ ॥

अर्थ— सिद्ध परमेष्ठी मनुष्य क्षेत्र से ही उत्पन्न होते हैं तथा उनकी गति ऋजु गति होती है जिस क्षेत्र में कर्म नष्ट होते हैं । उसी क्षेत्र की सीमा में वे सिद्ध स्थान पर जा कर विराजमान हो जाते हैं । जल स्थल आकाश पर्वत नगर जहां से भी कर्म मुक्त होंगे उसी की सीमा से सीधे जाकर वे लोक शिखर पर विराजमान हो जायेंगे । मनुष्य क्षेत्र का परिणाम पैंतालीस लाख योजन है । इसलिये पैंतालीस लाख योजन के आकाश में ही सिद्धों का निवास स्थान है जंबूद्वीप की चौड़ाई एक लाख योजन है उसके चारों ओर लवण समुद्र है उसकी एक ओर की चौड़ाई दो लाख योजन है । लवण समुद्र के चारों ओर घातकी द्वीप है उसकी चौड़ाई एक ओर की चार लाख योजन है। घात की द्वीप के चारों ओर कालोद समुद्र है उसकी एक ओर की चौड़ाई आठ लाख



योजन है । कालोद समुद्र के चारों ओर पुष्कर द्वीप है उसकी पूरी चौड़ाई सोलह लाख योजन है । परन्तु पुष्कर द्वीप के ठीक मध्य भाग में मानुषोत्तर पर्वत है तथा मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्य क्षेत्र गिना जाता है । इसलिये आधे पुष्कर द्वीप की चौड़ाई आठ लाख योजन ही समझनी चाहिये । इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत पूर्व भाग से पश्चिम भाग तक वा उत्तर से दक्षिण तक पैंतालीस लाख योजन ही होते हैं ।

आगे और भी सिद्धों का स्वरूप कहते हैं ।

सर्वे उर्वारि सरिसा ब्रिसमाहिद्रुम्मि णिच्चलनएसा ।

अवगाहणाय जम्हा उक्कस्स जहण्णिआ दिठ्ठा ॥ ६९१ ॥

सर्वे उपरि सदृशाः विषमा अधस्तने निश्चल प्रदेशाः ।

अवगाहना च यस्मात् उत्कृष्टा जघन्याविष्टा ॥ ६९२ ॥

अर्थ— उस सिद्ध स्थान में अनंतानंत सिद्ध परमेश्वरी विराजमान है । उन समस्त सिद्धों का ऊपरी भाग समान होता है तथा नीचे का भाग ऊँचा नीचा रहता है । इसका भी कारण यह है कि सिद्धों की अवगाहना उत्कृष्ट सब पाँच सौ धनुष है और जघन्य अवगाहना साडे तीन अरन्ति है । मुठ्ठी बांधकर एक हाथ की लम्बाई को अरन्ति कहते हैं जिस आसन से जिस स्वरूप से जैसे शरीर से कर्म मुक्त होते हैं उसी आसन से उसी रूप से और उसी शरीर के समान उनके आत्माका आकार हो जाता है इसलिये ऊपर का भाग तो सबका समान होता है और नीचे का भाग समान नहीं होता ।

एकोपि अनन्ताणं सिद्धो सिद्धाण वेद अवगासं ।

जम्हा सुहमत्तगुणो अवगाह गूणो पुणो तेसि ॥ ६९३ ॥

एकोपि अनन्तातां सिद्धः सिद्धानां ववात्यवकाशम् ।

यस्मात्सूक्ष्मत्वगुणः अवगाहनगुणः पुनस्तेषाम् ॥ ६९३ ॥

अर्थ— एक सिद्ध की आत्मा में अनंतानंत सिद्ध समा जाते हैं । इसका भी कारण यह है कि आत्मा अमूर्त है, इसलिये उनमें सूक्ष्मत्व गुण है । इसके सिवाय उनमें अवगाहनत्व गुण भी है । सूक्ष्म और अवगाहनत्व गुण के कारण एक सिद्ध में भी अनंतानंत सिद्ध आ जाते हैं ।

दीपक का प्रकाश मूर्त है फिर भी एक आले में अनंत दीपको का प्रकाश समा जाता है फिर सिद्धों का आत्मा तो अमूर्त है इसलिये एक सिद्ध में भी अनंत सिद्धों का आत्मा आ जाता है ।

आगे सिद्धों के गुण कहते हैं ।

सम्भत्तणाणदंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं ।

अगुरु लघुअव्यावाहं अट्टगुणा होति सिद्धाणं ॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शन वीर्यसूक्ष्मं तथेवावगाहनम् ।

अगुरुलघु अव्यावाह्यं अष्ट गुणा भवन्ति सिद्धानाम् ॥६९४॥

अर्थ— सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन वीर्य सूक्ष्मत्व अवगाहन, अगुरु लघु अव्यावाह्य ये आठ गुण सिद्धों में होते हैं । भावार्थ— यह संसारी आत्मा अनादि काल से ज्ञानावरणादिक आठों कर्मों से जकड़ा हुआ है । वे आठों कर्म सब नष्ट हो जाते हैं तब सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है । आत्मा से ऊपर लिखे आठ गुण हैं और उनको आठों ही कर्मों ने ढक रक्खा था । इसलिये उन कर्मों के नाश होने पर ऊपर लिखे आठ गुण अपने आप प्रकट हो जाता है । मोहनीय कर्म के नाश होने से सम्यक्त्व गुण प्रगट हो जाता है, ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से अनंत ज्ञान प्रगट हो जाता है, दर्शनावरण कर्म के नाश होने से अनंत दर्शन प्रगट हो जाता है, अन्तराय कर्म के नाश होने से अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है, आयु कर्म के अभाव होने से अवगाहन गुण प्रगट हो जाता है, नाम कर्म के नाश होने से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट हो जाता है, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघु गुण प्रगट हो जाता है और वेदनीय कर्म के अभाव से अव्यावाह्य गुण प्रगट हो जाता है इस प्रकार आठों कर्मों के नाश हो जाने से सिद्धों में ऊपर लिखे आठ गुण प्रगट हो जाते हैं ।

जाणहिच्छिद्द सपलं लोयालोयं च एकहेलाए ।

सुखं सहाय जायं अणोवमं अंतपरिहीणं ॥

जानाति पश्यति सकलं लोकालोकं च एक हेलाया ।

सुखं स्वभाव जाति अंतुपमं अन्तपरिहीनम् ॥ ६९५ ॥

अर्थ— वे सिद्ध भगवान् एक ही समय में समस्त लोकाकाश और समस्त अलोकाकाश को जानते हैं तथा सबको एक ही साथ एक ही समय में देखते हैं। उन समस्त सिद्धों का शुद्ध शुद्ध आत्मा अन्य स्वाभाविक है, संसार के सुख की तथा उनकी कोई उपमा नहीं है और न कभी उन सिद्धों का अन्त होता है। वे सदा काल विराजमान रहते हैं।

रवि मेरु चंद्रसागरगणार्द्धं तु णत्थि जह लोए ।

उवमाणं सिद्धाणं णत्थि तहा सुखसंधाए ॥

रवि मेरुचन्द्र सागर गमनादिकं तु नास्ति यथा लोके ।

उपमानं सिद्धानां नास्ति तथा सुख संधाते ॥ ६९६ ॥

अर्थ— सूर्य, चन्द्रमा, मेरु पर्वत समुद्र आकाश आदि इस लोक संबंधी समस्त पदार्थ सिद्धों के उपमान नहीं हो सकते, अर्थात् संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा सिद्धों को दे सकें। इसी प्रकार उनके अनन्तसुखका भी कोई उपमान नहीं है।

चलणं वलणं चिन्ता करणीयं किं पिणत्थि सिद्धाणं ।

जम्हा अइंदियत्तं कम्माभावे समुत्पण्णं ॥

चलनं बलनं चिन्ता करणीयं किमपि नास्ति सिद्धानाम् ।

यस्मादतीन्द्रियत्वं कर्माभावेन समुत्पन्नम् ॥ ६९७ ॥

अर्थ— उन सिद्ध परमेष्ठी को न कहीं गमन करना पड़ता है; न अन्य कोई क्रिया करनी पड़ती है और न किसी प्रकार की चिन्ता करनी पड़ती है। इसका भी कारण यह है कि उनके समस्त कर्मों का अभाव हो गया है इसलिये उनके अतीन्द्रियत्व प्राप्त हो गया है। भावार्थ-संसार में जितनी क्रियायें हैं वे सब इंद्रियों के द्वारा होती हैं। सिद्ध परमेष्ठी के शरीर और इन्द्रियां सभी नष्ट हो गई हैं। इसलिये उनको कोई भी क्रिया कभी नहीं करनी पड़ती है।

आगे आचार्य अन्तिम मंगल करते हैं।

णठ्ठु कम्मबंधण जाइ आरामरण विप्पमुक्काणं ।

अट्ठवरिठ्ठुणाणं णमोणमो मच्च सिद्धाणं ॥

नष्टाष्टकर्मबन्धनजातिजरा मरण विप्रमुक्तेभ्यः ।

अष्टवरिष्ठ गुणेभ्यो नमो नमः सर्वसिद्धेभ्यः ॥ ६९८ ॥

अर्थ - जिनके आठों कर्मों का बंधन नष्ट हो गया है, जन्म मरण बुढ़ापा आदि सांसारिक समस्त दोष जिनके नष्ट हो गये हैं और ऊपर लिखे सर्व श्रेष्ठ आठ गुण प्रगट हो गये हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को मैं श्री देवमेन आचार्य बार बार नमस्कार करता हूँ ।

जिणवर सासन मतुलं जयतु चिरं सूरि सपर उदयारी ।

पाठय सांहूवि तथा जयंतु भव्वा वि भुवणयले ॥

जिनवर शासन मतुलं जयतु चिरं सूरिः स्वपरोपकारी ।

पाठकः साधु रपि तथा जयन्तु भव्या अपि भुवन तले ॥ ६९९ ॥

अर्थ - संसार में जिसका कोई उपमा नहीं ऐसा यह भगवान् जिनेन्द्र देव का कहा हुआ शासन सदाकाल जयशील रहे । इसी प्रकार अपने आत्मा कल्याण करने वाले और अन्य अनेक भव्य जीवों का कल्याण करने वाले आचार्य परमेष्ठी सदा काल जयशील रहे । इसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी तथा साधु परमेष्ठी सदा काल जयवंत रहे तथा तीनों लोकों में रहने वाले भव्य जीव भी सदा जयवंत रहे ।

जो पठइ सुणइ अक्खइ अण्णेसि भाव संगहं सुत्तं ।

सहणइ गियय कम्मं कमेण सिद्धालयं जाइ ॥

यः पठति शृणोति कथयति अन्येषां भाव संग्रहं सूत्रम् ।

सन्ति निजकर्म कमेण सिद्धालयं याति ॥ ७०० ॥

अर्थ - इस प्रकार कहे हुए इस भाव संग्रह के सूत्रों को जो पढ़ता है सुनता है अथवा अन्य भव्यजीवों को सुनाता है वह पुरुष अनुक्रम से अपने कर्मों को नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है ।

सिरिद्धिमलसेण गणहर सिस्सो णामेण देवसेणोत्ति ।

अधुह जण बोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥

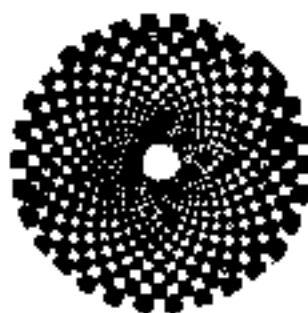
श्री विमलसेनगणधर शिष्यो नाम्ना देवसेन इति ।

अधुधजन बोधनार्थं तेनेवं विरचितं सूत्रम् ॥ ७०१ ॥

अर्थ— श्री विमलसेन गणधर वा आचार्य के शिष्य श्री देवसेन आचार्य ने अज्ञानी लोगों को समझाने के लिये इस भावसंग्रह सूत्र की रचना की है ।

इस प्रकार अयोग केवली गुणस्थान का स्वरूप कहा ।

इस प्रकार आचार्य श्री देवसेन विरचित  
भाव संग्रह ग्रंथ की धर्मरत्न, सरस्वती  
दिवाकर, पंडित लालाराम शास्त्री  
द्वारा निर्मित यह भाषा टीका  
समाप्त हुई ।



# उपसंहार

इस भावसंग्रह ग्रन्थ में चौदह गुणस्थानों का स्वरूप है। उस स्वरूप में सब गुणस्थानों की क्रियाएँ भाव आदि बतलाये हैं, तथापि थोड़ासा स्वरूप और लिखा जाता है जिससे उनका पूर्ण ज्ञान हो जाय।

गुणों के स्थानों को गुणस्थान कहते हैं, मोह और योग के निमित्त से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूप आत्मा के गुणों की तारतम्यरूप अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

वे सब गुणस्थान चौदह हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, सम्यग्दृष्टी, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्व करण, अनि वृत्ति करण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोगिकेवली।

इन्में से पहला गुणस्थान दर्शन मोहनीय के उदय से होता है, इसमें आत्मा के परिणाम मिथ्यात्व रूप होते हैं, चौथा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम से होता है। इस गुणस्थान में आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है। तीसरा गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहमोहनीय कर्म के उदय से होता है। इस गुणस्थान में आत्मा के परिणाम सम्यग्मिथ्यात्व अर्थात् उभय रूप होते हैं। पहले गुणस्थान में औदयिकभाव, चौथे गुणस्थान में औपशमिक क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव और तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव होते हैं। परन्तु दूसरा गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म का उदय उपशम क्षय और क्षयोपशम इन चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता है। इसलिये यहां पर दर्शनमोह कर्म की अपेक्षा से पारिणामिक भाव है किन्तु अनंतानुबन्धी रूप चारित्र्यमोहनीय कर्म की अपेक्षा से औदयिक भाव भी कहे जा सकते हैं। इस गुणस्थान में अनंतानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व घात हो गया है इसलिये वहां सम्यक्त्व नहीं है और मिथ्यात्व का भी उदय नहीं आया है इसलिये

मिथ्यात्व परिणाम भी नहीं है । जतएव यह गुणस्थान मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से अनुदय रूप है । पाँचवे गुणस्थान प दशवे गुण-स्थान तक छह गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं इसलिये इन गुणस्थानों में क्षायोपशमिक भाव होते हैं । इन गुणस्थानों में सम्यक्चारित्र गुण की कम से वृद्धि होती जाती है । ग्यारहवां गुण-स्थान चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से होता है इसलिये ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक भाव होते हैं । यद्यपि यहाँ पर चारित्र मोहनीय कर्म का पूर्णतया उपशम हो गया है तथापि योग का सद्भाव होने से पूर्ण चारित्र नहीं है । क्योंकि सम्यक् चारित्र के लक्षण में योग और कषाय के अभाव से सम्यक् चारित्र होता है ऐसा लिखा है । बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से होता है इसलिये यहाँ क्षायिक भाव होते हैं । इस गुणस्थान में भी ग्यारहवें गुणस्थान की तरह सम्यक् चारित्र की पूर्णता नहीं है । सम्यग्ज्ञान गुण यद्यपि चौथा गुणस्थान में ही प्रगट हो चुका था । भावार्थ— यद्यपि आत्मा का ज्ञान गुण अनादिकाल से प्रवाह रूप चला आ रहा है तथापि दर्शन मोहनीय कर्म उदय होने से वह ज्ञान मिथ्यारूप था परन्तु चौथे गुणस्थान में जब दर्शनमोहनीय कर्म के उदय का अभाव हो गया तब वही आत्मा का ज्ञान गुण सम्यग्ज्ञान कहलाने लगा । पंचमादि गुणस्थानों में तप-श्चरणादिक के निमित्त से अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान भी किसी किसी जीव के प्रगट हो जाते हैं तथापि केवल ज्ञान के हुए बिना सम्यग्ज्ञान की पूर्णता नहीं हो सकती । इसलिये बारहवें गुणस्थान तक यद्यपि सम्यग्दर्शन की पूर्णता हो गई है ( क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व के बिना क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता और क्षपक श्रेणी के बिना बारहवां गुणस्थान नहीं होता ) तथापि सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र अभी तक अपूर्ण है । इसलिये अभी तक मोक्ष नहीं होता । तेरहवां गुणस्थान योगों के सद्भाव की अपेक्षा से होता है । इसलिये इसका नाम सयोग और केवलज्ञान के निमित्त से सयोग केवली है । इस गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है परन्तु चारित्र गुण की पूर्णता न होने से मोक्ष नहीं होता । चौदहवां गुणस्थान योगों के अभाव की अपेक्षा से है इसलिये इसका नाम अयोग केवली है । इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य इन तीनों गुणों की पूर्णता हो जाती है अतएव मोक्ष भी अब दूर नहीं रहा, अर्थात् अ इ उ ऋ लृ इन पांच ऋस्व स्वरों के उच्चारण करने में जितना काल लगता है उतने ही काल में मोक्ष हो जाता है ।

आगे सक्षय से सत्र गुणस्थानों का स्वरूप कहते हैं ।

मिथ्यात्व गुणस्थान— मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अतस्त्वार्थ श्रद्धा न रूप आत्मा के परिणाम विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं । इस मिथ्यात्व गुणस्थान में रहने वाला जीव विपरित श्रद्धान करता है और सच्चे धर्म की ओर इसकी रुचि नहीं होती । जैसे पित्तज्वर वाले रोगी को दुग्ध आदि मीठे रस कड़वे लगते हैं उसी प्रकार इसको भी समीचीन धर्म अच्छा नहीं लगता ।

इस गुणस्थान में कमों की एक सौ अड़तीस प्रकृतियों में से स्पर्शादिक, बीस प्रकृतियों का अभेद विवक्षा से स्पर्शादिक चार में और बंधन पांच संघात पांच का अभेद विवक्षा से पांच शरीरों में अन्तर्भाव होता है इस कारण भेद विवक्षा से सब एक सौ अड़तालीस और अभेद विवक्षा से एक सौ बाईस प्रकृति है । सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है । क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता सम्यक्त्व परिणामों से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खंड करने से होती है । इस कारण अनादि मिथ्यादृष्टी जीव की बन्ध योग्य प्रकृति एकसौ बीस और सत्त्व योग्य प्रकृति एक सौ छयालीस है । मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों का बंध सम्यग्दृष्टि के ही होता है । इसलिये इस गुणस्थान में एक सौ बीस में से तीन घटाने पर एक सौ सत्रह प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व समग्मिथ्यात्व आहारक शरीर आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति इन पांच प्रकृतियों का इस गुणस्थान में उदय नहीं होता । इसलिये एक सौ बाईस में से पांच घटाने पर एक सौ सत्रह प्रकृतियों का उदय होता है । तथा एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ।



सासादन गुणस्थान— प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में जब अधिक से अधिक छह आदली और कमसे कम एक समय शेष रहता है तब अनंतानुबंधी कषाय की किसी एक प्रकृति का उदय होने से सम्यक्त्व का नाश हो जाता है तथा मिथ्यात्ववादि होता नहीं इसलिये उस समय वह जीव सासादन गुणस्थान वाला कहलाता है ।

मिथ्यात्व गुणस्थान में एक सौ सत्रह प्रकृतियों का बंध होता था उनमें से उसी मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक वेद, नरकगति नरकगत्यनूपूर्वी, नरकायु असंप्राप्ताष्टपाटक संहनन, एकेन्द्रिय जाति विकलत्रय तीन स्थावर आताप सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है इसलिये एक सौ सत्रह में से सोलह घटाने पर एक सौ प्रकृतियों का बंध इस गुणस्थान में होता है पहले गुणस्थान में एक सौ सत्रह प्रकृतियों का उदय होता है उसमें से मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है अतएव पांच घटाने पर एक

✽ सम्पक्त्व के तीन भेद हैं । दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति और अनन्तानुबंधी की चार प्रकृति इस प्रकार इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्पक्त्व होता है । इन सातों प्रकृतिगो क्षय होने से जो सम्पक्त्व होता है वह क्षायिक है तथा छह प्रकृतियों के अन्तर्ग्रह और सम्यक् प्रकृति नाम की प्रकृति के उदय होने से जो सम्पक्त्व होता है उसको क्षयोपशमिक सम्पक्त्व कहते हैं । उपशम सम्पक्त्व के दो भेद हैं एक प्रथमोपशम सम्पक्त्व और दूसरा द्वितीयोपशम सम्पक्त्व । अनादि मिथ्यादृष्टि के पांच और सादि मिथ्या दृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशम होने से जो सम्पक्त्व होता है उसको प्रथमोपशम सम्पक्त्व कहते हैं ।

सातवे गुणस्थान में क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणी चढ़ने के सन्मुख अवस्था में अनंतानुबंधी चतुष्टय का विसंयोजन ( अप्रत्याख्यानादि रूप ) करके दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का उपशम करके जो सम्पक्त्व को प्राप्त होता है उसको द्वितीयोपशम सम्पक्त्व कहते हैं ।

सी बारह प्रकृतियाँ रही। परन्तु नरक गत्यानुपूर्वी का उदय इस गुण स्थान में नहीं होता इसलिये इस गुणस्थान में एक सी ग्यारह प्रकृतियों का उदय होता है तथा सत्त्व एक सी ४५ प्रकृतियों का होता है। यहाँ पर तीर्थकर प्रकृति आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों की सत्ता नहीं रहती।

मिश्र गुणस्थान—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के न तो केवल सम्यक्त्व परिणाम होते हैं और न केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम होते हैं किन्तु मिले हुए दही गुड के स्वाद के समान एक भिन्न जाति के मिश्र परिणाम होते हैं इसको मिश्र गुण स्थान कहते हैं।

दूसरे गुण स्थान में बन्ध प्रकृति एक सी एक थी। उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ स्थानमृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, दुर्भग दुःस्वर अनादेय, यप्रोध संस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, वज्रनाराच संहनन नाराच संहनन अर्द्धनाराच संहनन, कीलित संहनन, अप्रशस्त विहायो गति, स्त्रीवेद, नीच गोत्र, तिर्यग्गति तिर्यग्गत्यानुपूर्वी तिर्यगायु, उद्योत, इन पच्चीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होने से शेष छिहत्तरि प्रकृतियाँ रहती हैं। इस गुण स्थान में किसी भी आयु कर्म का बंध नहीं होता इसलिये इन छिहत्तरि में से मनुष्यायु और देवायु इन दो के घटाने पर चोहत्तरि प्रकृतियों का बंध होता है। नरकायु की पहले गुण स्थान में और तिर्यगायु की दूसरे गुणस्थान में व्युच्छित्ति हो चुकी है।

इस गुण स्थान में एक सी प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि दूसरे गुण स्थान में एक सी ग्यारह प्रकृतियों का उदय था उनमें से अनन्तानुबन्धी चार, एकेन्द्रियादिकि चार, स्थावर एक इस प्रकार नौ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होने पर एकसौ दो प्रकृतियाँ रह जाती हैं। इनमें से नरकगत्यानु पूर्वी दूसरे गुण स्थान में घट चुकी है और देवगत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानु पूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी इन प्रकृतियों का उदय इस गुण स्थान में नहीं होता क्योंकि इस गुण स्थान में मरण नहीं होता। इस प्रकार शेष नित्यानवे प्रकृति रह जाती है। तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय इस गुण स्थान में रहता है। इस प्रकार इस गुण स्थान में सौ

प्रकृतियों का उदय रहता है। इस गुण स्थान में तीर्थंकर प्रकृति के बिना एक सौ सेतालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थान— दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम तथा क्षय अथवा क्षयोपशम होने से और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उदय से व्रत रहित सम्यग्दृष्टी मुख्य चौथे गुणस्थान वर्ती कहल्यता है।

तीसरे गुणस्थान में चौहत्तर प्रकृतियों का बंध होता है उनमें मनुष्यायु देवायु और तीर्थंकर प्रकृति इन प्रकृतियों सहित सत्तर प्रकृतिगणों का बंध होता है।

तीसरे गुणस्थान में सौ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से सम्यग्मिथ्यात्व की व्युच्छिन्ति हो जाती है तथा चार आनुपूर्वी और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियों के मिलाने से एक सौ चार प्रकृतियों का उदय होता है।

इस गुण स्थान में एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एक सौ इकतालीस प्रकृतियों का ही सत्त्व रहता है।

पांचवां देश विरत गुण स्थान— प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उदय में यद्यपि संयम भाव नहीं होता तथापि अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उपशम के श्रावक व्रत रूप देश चारित्र्य होता है। इसी को देश विरत नामक पांचवां गुण स्थान कहते हैं। पांचवे आदि उग्र के समाप्त गुण स्थानों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान अवदय होता है। इनके बिना पांचवे छट्ट आदि गुण स्थान नहीं होते।

जिस गुणस्थान में कम प्रकृतियों के बंध उदय अथवा सत्त्व की व्युच्छिन्ति कही हो उस गुणस्थान तक ही उन प्रकृतियों का बंध उदय अथवा सत्त्व माना जाता है आगे के किसी भी गुण स्थान में उन प्रकृतियों का बंध उदय अथवा सत्त्व नहीं होता है इसीको व्युच्छिन्ति कहते हैं।

चौथे गुणस्थान में जो सत्तत्तरि प्रकृतियों का बंध कहा है उनमें से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी मनुष्यायु औदारिक शरीर औदारिक अंगोपांग वयवृषभनाराच महत्तन इन दश प्रकृतियों की व्युच्छित्ति इस गुणस्थान में हो जाती है। इसलिये सत्तत्तर में से दश घटाने पर शेष सड़सठ प्रकृतियों का बंध इस गुणस्थान में होता है।

चौथे गुणस्थान में एक सौ चार प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, देवगति देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकायु, नरक गति नरक गत्यानुपूर्वी, वैक्रियक शरीर वैक्रियक अंगोपांग, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयत्नकीर्ति इन सत्तत् प्रकृतियों की व्युच्छित्ति इस गुणस्थान में हो जाती है इसलिये एक सौ चार में से सत्रह घटाने पर सत्तासी प्रकृतियों का उदय होता है।

चौथे गुणस्थान में एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति एक नरकायु के बिना एक सौ सैंतालीस का सत्त्व रहता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी की अपेक्षा में एक सौ चालीस का ही सत्त्व रहता है।

छठा प्रमत्तविरत गुणस्थान— संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय से संयम भाव तथा मल जनक प्रमाद ये दोनों ही युग्मत् एक साथ होते हैं इसलिये इस गुणस्थानवर्ती मुक्ति को प्रमत्तविरत अथवा चित्रलाचरणी कहते हैं।

यद्यपि संज्वलन और नोकषाय का उदय चारित्र्य गुण का विरोधी है तथापि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम होने से प्रादुर्भूत सकल संयम के घात करने में समर्थ नहीं है। इस कारण उपचार से संयम का उत्पादक कहा है।

पांचवे गुणस्थान में सड़सठ प्रकृतियों का बंध होता है उनमें से प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये इन चार के घटाने पर शेष त्रैसठ प्रकृतियों का

बन्ध होता है ।

पांचवेगुण स्थान में सत्तासी प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें भे प्रत्याख्यानवरण क्रोध मान माया लोभ तिर्षगति तिर्षगायु उद्योत और नीच गोत्र इस आठ प्रकृतियों की व्युच्छिति हो जाती है इसलिये इन आठ प्रकृतिगोत्रों के घटाने पर शेष उनासी प्रकृतियां रह जाती हैं । उनमें आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग मिलानेमें इक्कासी प्रकृतियों का उदय रहता है ।

पांचवे गुणस्थान में एक सौ सत्तालीस प्रकृतियों की सत्ता कही है उनमें से तिर्षगायु की व्युच्छिति हो जाती है इसलिये शेष एक सौ छयालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है । किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी की अपेक्षा से एक सौ उन्तालीस का सत्त्व रहता है ।

सातवां अप्रमत्त विरत गुणस्थान— संज्वलन और नो कषाय के के मंद प्रकाश होने से प्रमाद रजित संयम भाव होते हैं । इस कारण इस गुणस्थानवर्ती मुनि को अप्रमत्त विरत कहते हैं । इस गुणस्थान के स्वस्थान अप्रमत्त विरत और सातिशय अप्रमत्त विरत ऐसे दो भेद हैं । जो मुनि हजारों बार छठे से सातवे में और सातवे से छठे गुणस्थान में आवे-जावे उसका स्वस्थान अप्रमत्त विरत कहते हैं तथा जो श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होते हैं उनको सातिशय अप्रमत्त विरत कहते हैं ।

इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी ही श्रेणी चढ़ते हैं । प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टी जीव पद्मोपशम सम्यक्त्व को छोड़कर क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टी होकर प्रथम ही अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ का विसंयोजन करके दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करके यातो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी हो जाय अथवा तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टी हो जाय तब श्रेणी चढ़ सकता है ।

जहां चारित्र्य मोहनीय की शेष रही इक्कीस प्रकृतियों का क्रम से उपशम तथा क्षय किया जाय उसको श्रेणी कहते हैं । उस श्रेणी के दो भेद हैं । उपशम श्रेणी और क्षयक श्रेणी जिसमें चारित्र्य मोहनीय की

इकईस प्रकृतियोंका उपशम किया जाय उसको उपशम श्रेणी कहते हैं और जिसमें उन इकईस प्रकृतियों का क्षय किया जाय उसको क्षपक श्रेणी कहते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टी दोनों ही श्रेणी चढ़ सकता है। द्वितीयपक्षम सम्यग्दृष्टी जीव उपशम श्रेणी ही चढ़ता है। क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता। उपशम श्रेणी के आठवां नीचा दसवां और ग्यारहवां गुण स्थान है तथा क्षपक श्रेणी के आठवां नीचा दसवां और बारहवां गुण स्थान है।

चारित्र्य मोहनीय कर्म की इकईस प्रकृतियों को उपशम करने के लिये अथवा क्षय करने के लिये अधः करण अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण ये तीन प्रकार के परिणाम निमित्त कारण होते हैं।

इनमें से जिस करण में परिणामों के समूह ऊपर के समयवर्ती तथा नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हो और विसदृश भी हो। उसको अधः करण कहते हैं। यह अधः करण सातवे गुण स्थान में ही होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है।

किसी राजा के यहां ३०७२ तीन हजार बहत्तर आदमी काम करते हैं वे सब सोलह महकमों में भी बंटे हुए हैं। पहले महकमे में एक सौ १६२ आदमी हैं दूसरे में एक सौ छयासठ, तीसरे में एक सौ सत्तर, चौथे में एक सौ चौहत्तर, पांचवे में एक सौ अठत्तर, छठे में एक सौ ब्यासी, सातवे में एक सौ छियासी, आठवे में एक सौ नब्बे, नौवे में एक सौ चौरानवे, दशवे में एक सौ अठानवे, ग्यारहवे में दो सौ दो बारहवे में दो सौ छह, तेरहवे में दो सौ दस, चौदहवे में दो सौ चौदह, पन्द्रहवे में दो सौ अठारह और सोलहवे में दो सौ बाईस आदमी काम करते हैं।

पहले महकमेके एकसौ बासठ आदमियों में से पहले आदमी का वेतन एक रुपया दूसरे का दो रुपया तीसरे का तीन रुपया इस प्रकार एक एक बढ़ते हुए एकसौ बासठवे आदमी का वेतन एकसौ बासठ रुपया है। दूसरे महकमेमें एक सौ छयासठ आदमी काम करते हैं उनमें से पहले आदमी का वेतन चालीस रुपया है। दूसरे तीसरे आदि आदमियों का वेतन क्रमसे एक एक रुपया बढ़ता हुआ एकसौ छयासठवे आदमी

का वेतन दो सौ पांच रुपया है। तीसरे महकमेमें एक सौ सत्तर आदमी काम करते हैं इन्में से पहले आदमी का वेतन अस्सी रुपया है फिर आगे एक एक रुपया बढ़ता गया है इसलिये एकसौ सत्तरिवें आदमी का वेतन दो सौ उनचास रुपया है। चौथे महकमे में एकसौ चौहत्तर आदमी काम करते हैं। पहले आदमी का वेतन एकसौ इकईस रुपया है तथा आगे आगे के आदमियों का वेतन एक एक रुपया बढ़ता गया है इसलिये एकसौ चौहत्तरिवे आदमी का वेतन दोसौ चौरानवे रुपया है। इसी क्रम से सोलहवें महकमे में दो सौ दसगुणवे आदमी का वेतन गौसो बारह रुपया है। इस उदाहरण में पहले महकमे के उन्तालीस आदमियों का वेतन ऊपर के महकमे के किसी भी आदमी के वेतन से नहीं मिलता। तथा अन्त के सत्तावन आदमियों का वेतन नीचे के महकमे के किसी भी आदमी के वेतन से नहीं मिलता। शेष वेतन ऊपर नीचे के महकमों के वेतनों के साथ यथा संभव समान भी है। इसी प्रकार यथार्थ में भी ऊपर के समय संबंधी परिणामों और नीचे के समय संबंधी परिणामों सदृशता यथासंभव जानना। विशेष गोभट्टसार से जानना चाहिये।

छठे गुणस्थान में तिरेसठ प्रकृतियों का बंध कहा था उनमें से अस्थिर अशुभ असाता, अयशस्कीर्ति अरति शोक इन छह प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है उनके घटाने से सत्तावन प्रकृति रही। उनमें आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग के पिलाने से उनसठ प्रकृतियों का बंध होता है।

छठे गुणस्थान में इक्यासी प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें से आहारक शरीर आहारक अंगोपांग, निद्रा निद्रा प्रचला प्रचला, और स्थानगृद्धि इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है। इसलिये इन पांच के घटाने से शेष छिहत्तर प्रकृतियों का उदय इस सातवें गुणस्थान में रहता है।

छठे गुणस्थान के समान इस गुणस्थान में भी एकसौ छयालीस की सत्ता रहती है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एक सौ उन्तालीस प्रकृतियों का ही सत्त्व रहता है।

आठवाँ अपूर्व करणगुणस्थान— जिस करण में उत्तरोत्तर अपूर्व परिणाम होते जाय अर्थात् भिन्न समय वर्ती जीवों के परिणाम सदा विसदृश ही हो और एक समय वर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हो और विसदृश भी हों उसको अपूर्व करण कहते हैं और यही आठवाँ गुणस्थान है ।

सातवें गुणस्थान में उनसठ प्रकृतियों का बंध कहा है उनमें से एक देवायु प्रकृति की व्युच्छिन्ति हो जाती है शेष अट्ठावन प्रकृतियों का बंध इस आठवें गुणस्थान में होता है ।

सातवें गुणस्थान में जो छिहत्तर प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें से सम्यक् प्रकृति अर्द्ध नाराच कीलक असंमाप्तासृषाटक इन चार प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है इसलिये चारके घटाने पर शेष बहत्तर प्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में होता है ।

सातवें गुणस्थान में एकसौ छियालीस प्रकृतियों का सत्त्व कहा है उनमें से अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है इस लिये द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के तो एकसौ व्यालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है किंतु क्षायिक सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति रहित एकसौ अस्तालीस प्रकृतियों का सत्त्व है और क्षयक श्रेणी वाले के अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ दर्शन मोहनीय की तीन और देवायु इन प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है । इसलिये एकसौ छियालीस में से आठ घटाने पर शेष एकसौ अडतालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ।

अनिवृत्तिकरण— जिस करण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही हो उसको अनिवृत्ति करण कहते हैं । यही नौवाँ गुणस्थान है ।

इन तीनों ही करणों के परिणाम प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता लिये होते हैं ।

आठवें गुणस्थान में अट्ठावन प्रकृतियों का बंध कहा है उनमें में निद्रा, प्रचला, तीर्धकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तेजस शरीर, कामेण शरीर, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, सम-



चतुरस्र संस्थान, वैकल्पिक शरीर देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, रूप, रस, मध, स्पर्श, अगुरु लघुत्व, उपधात परधात, उच्छ्वास, श्वास, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन छत्तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इन छत्तीस को घटाने पर शेष बाईस प्रकृतियों का बंध इस नौवें गुणस्थान में होता है।

आठवें गुणस्थान में जो बहत्तर प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से हास्य, रति, शक्ति, शोक, शय, जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष छयासठ प्रकृतियों का उदय इस नौवें गुणस्थान में रहता है।

इस गुणस्थान में आठवें गुणस्थान के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के एकसौ ब्यालीस प्रकृतियों का, क्षायिक सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के एकसौ उन्तालीस और क्षयक श्रेणी वाले के एकसौ अड़तीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

दशवां सूक्ष्म सांपरायगुणस्थान— अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभ कषाय के उदय को अनुभव करते हुए जीव के सूक्ष्म सांपराय नामका दशवां गुणस्थान होता है।

नौवें गुणस्थान में बाईस प्रकृतियों का बंध होता है। उनमें से पुरुष वेद संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है शेष सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है।

तीनवें गुणस्थान में जो छयासठ प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध मान माया इन छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसलिये इन छह प्रकृतियों के घटाने पर शेष साठ प्रकृतियों का उदय दशवें गुणस्थान में रहता है।

उपशम श्रेणी में नौवें के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी के एकसौ ब्यालीस, और क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एकसौ उन्तालीस और क्षयक श्रेणी वाले के नौवें गुणस्थान में जो एकसौ अड़तीस प्रकृतियों का सत्त्व है उनमें से तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय की तीन, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, रत्यानमृद्धि, उद्योत आतप, ऐकेंद्रिय, साधारण, सूक्ष्म,

स्थावर अप्रत्याख्यानावरण की चार, प्रत्याख्यानावरण की चार, नोकषाय की नौ, संज्वलन क्रोध मान माया, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी इन छत्तीस प्रकृतियों को व्युच्छिन्ति हो जाती है। इसलिये इनको घटाने पर शेष एकसौ दो प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

ग्यारहवां उपशांत मोह गुणस्थान— चारित्र्य मोहनीय की इकईस प्रकृतियों के उपशान्त होने से यथाख्यात चारित्र्य को धारण करने वाले मुनि के ग्यारहवां उपशांत मोह नामक गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल समाप्त होनेपर मोहनीय के उदय से जीव नीचले गुणस्थानों में आ जाता है।

दशवें गुणस्थान में सत्रह प्रकृतियों का बंध होता था। उनमें से जानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पांच, यशः कीर्ति उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है। शेष एक सातवेदनीय का बंध होता है।

दशवें गुणस्थान में साठ प्रकृतियों का बंध होता है उनमें से एक संज्वलन लोभ की व्युच्छिन्ति हो जाती है। शेष उनसाठ प्रकृतियों का उदय होता है।

नौवें और दशवें गुणस्थान के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी के एकसौ ब्यालीस और क्षाधिक सम्यग्दृष्टी के एकसौ उन्तालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

बारहवां क्षीणमोह गुणस्थान— मोहनीय कर्म के अत्यंत क्षय होने से स्फटिक भाजन में रखे हुए निर्मल जल के समान अत्यन्त निर्मल अविनाशी यथाख्यात चारित्र्य के धारक मुनि के क्षीण मोह गुणस्थान होता है।

इस गुणस्थान में केवल सात वेदनीय कर्म का बंध होता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में उनसठ प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से वज्र नाराच और नाराच इन दो प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है शेष सत्तावन प्रकृतियों का उदय होता है।

दशवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाले की अपेक्षा एकसौ दो प्रकृतियों का सत्त्व है, उनमें से संज्वलन लोभ की व्युच्छिष्टि हो जाती है उसके घटाने पर एकसौ एक प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ।

तेरहवां संयोग केवली गुणस्थान— मोहनीय की अट्ठाईस, ज्ञानावरण की पांच दर्शनावरण की नौ अन्तराय की पांच इस प्रकार धातिया कर्मों की सैंतालिस प्रकृतियां तथा नरक गति, तिर्यग्गति, नरक गत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी विकलत्रय की तीन देवायु मनुष्यायु, तिर्यगायु, उद्योग, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म स्थावर इस प्रकार तिरेसठ प्रकृतियों का क्षय होने से लोकाकाश प्रकाशक केवलज्ञान तथा मनोयोग \* वचन योग और काय योग के धारक अरहंत भट्टारक के संयोग केवली नामक तेरहवां गुणस्थान होता है । यही केवली भगवान अपनी दिव्य ध्वनि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसार में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं ।

इस गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय का बंध होता है ।

बारहवें गुणस्थान में जो सत्तावन प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से ज्ञानावरण की पांच, अन्तराय की पांच, दर्शनावरण की चार निद्रा प्रचला इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छिष्टि हो जाती है इस प्रकार शेष इकतालीस प्रकृतियां रहती हैं । इनमें तीर्थंकर प्रकृति मिला देने से व्यालीस प्रकृतियों का उदय होता है ।

बारहवें गुणस्थान में जो एकसौ एक प्रकृतियों का सत्त्व है उनमें से ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पांच, निद्रा प्रचला इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छिष्टि हो जाती है । शेष पिचासी प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ।

अयोग केवली चौदहवां गुणस्थान— मन वचन काय के योगों से रहित केवल ज्ञान सहित अरहंत भट्टारक के चौदहवां गुणस्थान होता है, इस गुणस्थान का काल अ इ उ ऋ लृ इन पांच जह्रस्व स्वरों के उच्चारण मात्र जितना है । अपने गुणस्थान के काल के द्विचरम समय में सत्ता

की पिचासी प्रकृतियों में से बहत्तर प्रकृतियों का और चरम समय में तेरह प्रकृतियों का नाश करके अरहंत भगवान मोक्ष वाम को पधार जाते हैं ।

तेरहवें गुणस्थान में जो एक साता वेदनीय का बंध होता था उसकी उसी गुणस्थान में व्युच्छिन्ति होने से इस गुणस्थान में किसी का भी बंध नहीं होता । तेरहवें गुणस्थान में जो विद्यालीय प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से वेदनीय, वज्र वृषभ नाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्त विहायो गति, अप्रशस्त विहायो गति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुंडक, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरु लघुत्व, उपधात, परधात, उच्छवास, प्रत्येक इन तीस प्रकृतियों की व्युच्छिन्ति हो जाती है । शेष वेदनीय, मनुष्यगति मनुष्यायु पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, वस, वादर, पर्याप्त आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थकर प्रकृति और उच्चगोत्र इन बारह प्रकृतियों का उदय रहता है ।

तेरहवें गुणस्थान के समान इस गुणस्थान में पिचासी प्रकृतियों का सत्त्व है परन्तु द्विचरम समय में बहत्तर और अंतिम समय में तेरह प्रकृतियों का सत्त्व नष्ट करके अरहंत भगवान मोक्ष में जा विराजमान होते हैं । यह उपसंहार आवश्यकता समझकर जैन सिद्धांत प्रवेशिका से लिखा है ॥



## अन्तिम मंगलाचरण

ध्वजे वीर जिनेन्द्रं तत्ताणीं वीरसारं वंदे ।  
तद्धोषितजिनधर्मं वंदेऽहं बोधिसाभाय ॥

अर्थ— अंत में मैं जिनेन्द्र देव भगवान् वर्द्धमान स्वामी की नमस्कार करता हूँ, उनके मुख से प्रगट हुई द्वादशांग वाणी को नमस्कार करता हूँ और विद्यमान आचार्य वर्य श्रीवीर सागरजी महाराज की वंदना करता हूँ एवं रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये उनके द्वारा कहे हुए जिनधर्म की वंदना करता हूँ ।

जयतु सदा जिनधर्मः सूरिः श्री शान्ति सागरो जयतु ।  
यच्चरणसेवया मां प्राप्ता स्वल्पा हि जिनभक्ति ॥

अर्थ— यह जैनधर्म सदा जयवंत हो तथा जिनके चरणकमलों की सेवा करने से मुझे थोड़ी सी जिनभक्ति प्राप्त हुई है ऐसे भाद्रपद शुक्ल २ विक्रम संवत् २०१२ को ८४ वर्ष की आयु में दिवंगत आचार्य वर्य श्री शान्ति सागर जी महाराज सदा जयवंत रहें ।

समाप्तोऽयं ग्रंथः



## अमृतवाणी

जागृत हो धर्मवीर !

धर्म निर्मूल विध्वंस सहस्ते न प्रभावका ।

विना सावद्यलेशेन न स्याद्धर्म प्रभावना ॥

आजन्म दिगम्बर भगवत् जिनसेनाचार्य

धर्म निर्मूल विनाशको धर्मवीर, कर्तव्यनिष्ठ, धर्मप्रभावक मनुष्य सहन नहीं करते है । धर्मरक्षाके लिये यत्किञ्चित पाप भी होता है वह नगण्य है । " सावद्य लेशो बहु पुण्य राशौ " न्यायानुसार पाप कर्म पुण्य अधिक होने से दोषकर नहीं है, बिना स्वल्प पापसे धर्म प्रभावना नहीं हो सकती है ।



### चेतावन

धर्मनाशो क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तस्य विप्लवे ।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपं प्रकाशने ॥ " ज्ञानार्णव "

धर्मनाशमे, क्रियाध्वंसे अर्थात् धार्मिक सम्यक् क्रियाओं के लोपमे सुआगम सम्मत सिद्धांत का विकल्प होने पर, बिना पूछे भी उनका कथन करने के लिये बोलना चाहिये ।



### महापाप

जिणवर आणा भंग उरसूत्त लेस देक्षणयं ।

आणा भंगे पावंता जिनसमय दुकरं घम्म ॥ (उपदेशरत्नमाला)

जिनाज्ञा उल्लंघन करके उन्मार्ग उत्सूत्र का जो अंशमात्रभी उपदेश देता है वह जिनाज्ञा भंग करता है । उससे ऐसा पाप होता है जिससे उसको जिनधर्म पाना दुष्कर हो जाता है ।

## अजितशत्रू

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।  
न गर्जन्ति महाशक्तिर्यावद् स्याद्वाद केशरी ॥

तब तक शास्त्ररूपि शृगाल गर्जन करता है, जब तक महशक्ति-  
वान स्याद्वादसिंह गर्जन नहीं करता है ।

\*\*\*

## सत्याग्रह

पक्षपाति न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु ।  
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यपरिश्रमः ॥

मेरे वीरप्रति पक्षपात नहीं कपिलादि प्रति द्वेष नहीं । किंतु  
जिनका वचन युक्तियुक्त है उन्हीं का अनुकरण करो ।

\*\*\*

## हिन्दी बोझ

विषयसुख का लालची सुन अध्यात्म वाद ।  
त्याग धर्म को त्यागकर करे साधु अपवाद ॥  
समकित समकित रटनतै समकित कवहुँन होय ।  
बीतराग की भगति बिन समकित कहते होय ॥  
कायपात्र कर तप नहीं किना आगम पढकर न मिटि कषाय ।  
घन को जोड़ि दान नहीं दिना तो तु क्या किया इत आन ॥  
कहते है करते नहीं मुंह के बड़े लबाब  
कालां मुंह होयेगा कर्म के दरबार ॥  
क्या क्या देखी बीतरागमे तू क्या जाने वीरा रे ।  
बीतराग की बाणी द्वार दूर करो भवपीरा रे ॥